卐 श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः 卐

सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

भारतीय प्राच्य-तत्त्व प्रकाशन समिति-पिण्डवाडा-सञ्चालितायां
आचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरकर्मसाहित्यजैनग्रन्थमालायाः त्रयोदशो १३ ग्रन्थः

बंधविहाणं

तत्थ

उत्तरपयडिरसबंधो (२)

(उत्तरप्रकृतिरसबन्ध उत्तरार्धः)

'प्रेमप्रभा' टीकासमलङ्कृतः



प्रेरका मार्गदर्शका संशोधकाश्च :-
सिद्धान्तमहोदधि–कर्मशास्त्रनिष्णाता आचार्यदेवाः

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वराः

प्रकाशिका—भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन-समितिः, पिण्डवाड़ा ।

* प्राप्तिस्थान *

भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति
C/o रमणलाल लालचंद शाह
१३५/१३७ झवेरी बाजार, बम्बई २

•

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
C/o शा समरथमल रायचंदजी
पिंडवाडा, (राज०)
स्टे० सिरोही रोड (W R)

•

भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति
शा रमणलाल वजेचन्द,
C/o दिलीपकुमार रमणलाल
मस्कती मार्केट
अहमदाबाद २

•

मुद्रक—
ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस, पिंडवाड़ा

Acharyadeva-Shrimad-Vijaya-Premasurishwara-Karma-Sahitya-Granthmala
GRANTH NO. 13

AN A VI ANAM

UTTARAPAYADI

A A A

Second Part

[Along with "PREMA PRABHA" commentary]

By

A GROUP OF DISCIPLES



Inspired and Guided by

His Holiness Acharya Shrimad Vijaya

PREMASURISHWARJI MAHARAJA

the leading authority of the day

on Karma philosophy

Published by–
haratiya rachya Tattva Prakasana Sa iti, indwara

AVAILABLE FROM :

1. Bharatiya Prachya Tattva Prakashan Samiti
C/o. Shah Ramanlal Lalchand,
135/137 Zaveri Bazzar
BOMBAY-2.
(INDIA)



2. Bharatiya Prachya Tattva Prakashan Samiti
C/o Shah Samarathmal Raychandji,
PINDWARA, (Rajasthan)
St. Sirohi Road (W. R)
(INDIA)



3. Bharatiya Prachya Tattva Prakashan Samiti
Shah Ramanlal Vajechand,
C/o Dilipkumar Ramanlal,
Maskati Market,
AHMEDABAD- 2
(INDIA)



Printed by :
Gyanodaya Printing Press
PINDWARA. (Raj.)
St. Sirohi Road, (W.R)
(INDIA)

— पदार्थसंग्रहकारा —

कर्मशास्त्रधुरीण-गच्छाधिपा-ऽऽचार्यदेव-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वर-विनीत-विनेय-प्रभावक-प्रवचनकारा-ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वर-विनेयमुनिवर्यश्री-धर्मघोषविजयान्तिपदो विद्वद्वर्य-गीतार्थमुनिश्री-जयघोषविजयाः, आचार्यदेव-श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वर-विनेया मुनिश्री-धर्मानन्दविजयाः, गच्छाधिपतिविनीतविनेय-गीतार्थमूर्धन्य-आचार्यदेव श्रीमद्विजयहीरसूरीश्वरविनेय-मुनिराजश्री-ललितशेखरविजय-शिष्यरत्न-मुनिवर्यश्री-राजशेखरविजय-शिष्याणवो मुनिश्रीवीरशेखरविजयाश्च

★

— मूलगाथाकारा —

प्राकृतविशारदा मुनिश्रीवीरशेखरविजयाः।

★

— टीकाकारौ सम्पादकौ च: —

सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्यनिष्णात सच्चारित्रचूडामणि स्वर्गस्था-ऽऽचार्यदेव श्रीमद्विजय-प्रेमसूरीश्वर-विनेय-विद्वद्वर्य-प्रभावकप्रवचनकार-आचार्यदेवश्रीमद्विजयभुवन-भानुसूरीश्वर-विनेयमुनिवर्य-धर्मघोषविजय-विनेय-मुनि-श्रीजयघोषविजयः आचार्यदेव-श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वरविनेयमुनि-श्रीजितेन्द्रविजयश्च

★

सह संपादका -

मुनिराजश्रीधर्मजितविजयगणिवर-मुनिराजश्रीजगच्चन्द्र विजय-वीरशेखरविजयाः

★

— संशोधका —

कर्मशास्त्रविशारद-गच्छाधिपति-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वरपट्टप्रभावका आगमप्रज्ञा-ऽऽचार्यदेव-श्रीमद्-विजयजम्बूसूरीश्वराः पदार्थसंग्रहकारमुनिवराश्च

सम्पादकीय

सर्व सत्त्व सुखकर परमात्म-शासन की परम्परा में होने वाले महापुरुषों के उपकारों की कोई सीमा नहीं होती है। ऐसे ही महापुरुषों में स्व० प० पू० आचार्यदेव सिद्धान्त महोदधि साहित्य निष्णात परमाराध्यपाद श्रीमद्विजय सूरीश्वरजी महाराजा तथा युवाजन प्रतिबोधक प० पूज्य आचार्यदेव श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजादि ने भी भवसागर में बुडने वाले हमें संयम-नौका प्रदान की। तत्पश्चात् पूर्णवात्मल्य से ग्रहण-शिक्षा और आसेवन शिक्षा द्वारा हमारे पर जो उपकार किया उसी का आनुषङ्गिकफल प्रस्तुत संपादन है।

इस ग्रन्थ के पदार्थ संग्रह गाथा रचना-वृत्ति संशोधनसंपादनादि कार्यों में प० पू० आचार्यदेव आगमप्रज्ञ श्रीमद्विजय जम्बूसूरीश्वरजी म०, विद्वान गणिवर्यश्री धर्मजित् वि य म०, मुनिराजश्री जगच्चन्द्रविजयजी म०, मुनिराजश्री वीरशेखरविजयजी म० तथा महेसाणा जैन श्रेयस्कर मण्डल पाठशाला के प्रधानाध्यापक श्राद्धवर्यश्री पुखराजजी का सहयोग अविस्मरणीय है। प्रेस-कोपी और शुद्धि-पत्रक का कार्य पण्डितवर्य वसंतलालजी ने किया तथा पिंडवाडा जैन धार्मिक पाठशाला के अध्यापक श्री चम्पकलाल जैन ने प्रुफ रिडिंग किया सो उल्लेखनीय है। इसी तरह प्रस्तुत ग्रन्थ में साक्षात्-या परम्परा से सहकार देकर श्रुतभक्ति का लाभ लिया हो उन सब के प्रति हम कृतज्ञता और धन्यवाद को प्रदर्शित करते है।

अन्त में पदार्थ, भाषा आदि की शुद्धि के लिए जागरुक रहने पर भी छाद्मस्थ्य दोष से क्षति रह गई हो तो मिथ्यादुष्कृत देते है।

—मुनिश्री जयघोषविजय तथा मुनिश्री जितेन्द्रविजय



सकलागमरहस्यवेदि–सुरिपुरन्दर–बहुश्रुतगीतार्थ–परमज्योतिर्विद–परमगुरुदेव



स्व. परमपूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी महाराजा



प्रकाशकीय

आत्मा स्वभाव से ही स्फटिकसदृश स्वच्छ और अचिन्त्य शक्ति से युक्त परमात्म-स्वरूप होने पर भी स्वभाव के अज्ञान के कारण स्वकृतकर्म के परिणाम की विचित्रता से संसार के विविध रंगी रंग मंच पर एक नट की भाँति अनेक रूपों को धारण करते हुए सतत खेलता रहता है।

कभी बुद्धि के बल से अदल इन्साफ के आसन पर शान्त और गम्भीर तो कभी मति मन्दता से सडक पर बेशुध अशान्त और निःसत्त्वरूप में । कभी नेत्रादि इन्द्रियों की पटुता के कारण विज्ञान के शिखरों पर विजय प्राप्त करता हुआ तो कभी उन्ही इन्द्रियों की क्षीणता से घर-आङ्गण में लडखडाता। कभी आरोग्यादि से हृष्ट-पुष्ट आनन्द भरपुर तो कभी क्षय कॅसर आदि असाध्य रोगों से निःस्तेज शोकातुर। क्षण में आसक्त क्षण में विरक्त । क्षण में शान्त क्षण मे अशान्त।

किसी जन्म में दीर्घायु तो किसी जन्म में जात मात्र ही मरण के शरण । किसी जन्म में नरेन्द्र देवेन्द्र तो कभी कीट और पतङ्ग के रूपमें। कभी मुकुटादि से शोभित उत्तमाङ्ग को लेकर सुन्दर रूप में तो कभी पशु जन्म में शृङ्ग रूप मुकुट धारण किये भयङ्कर रूप में । कभी चमर युगल से सेवित तो कभी मच्छरादि के त्रास से विडम्बित सतत पृच्छरूप चमर को स्वयं वींझते हुए। कभी दिगन्तगामी यशोगान से सम्मानित तो कभी घोर अपयश से अपमानित कभी रथ्या से राज्य सिंहासन पर तो कभी सिंहासन से शूली पर सतत उपस्थित होता है।

इस तरह उत्थान पतन, सुख दुःख, शान्ति अशान्ति, अनुकूलता प्रतिकूलता के द्वन्द का असहिष्णु जीव सम भाव को खो कर और इन क्षण-विनश्वर भावों में रक्त द्विष्ट होकर नये कर्म के बन्धनो से स्वयं को बांध लेता है।

कर्मबन्ध के समय कर्म के दल (पुद्गल) में जीव राग द्वेप रूप स्व परिणाम से जो शक्ति उत्पन्न करता है उसे 'रस बन्ध' कहा जाता है ।

'उत्तर-प्रकृतिरस-बन्ध' नामक ग्रन्थ के उत्तरार्ध रूप प्रस्तुत ग्रन्थ में उसी रस बन्ध का विशद-विचार कर्म प्रकृति के भेद प्रभेदो से किया गया है इस ग्रन्थ के प्रकाशन

अवसर पर हर्ष के प्रकर्ष के साथ गौरव की गरिमा का भी अनुभव करते हैं क्योंकि प्रस्तुत प्रकाशन का पूर्वार्ध नुतन कर्म साहित्य सर्जन के प्रेरक और मार्गदर्शक स्व० आचार्यदेव सिद्धान्तमहोदधि-कर्मसाहित्यनिष्णात परमनिःस्पृह १००८ प. पूज्य श्रीमद्विजय **प्रेमसूरीश्वरजी** महाराज से साक्षात् संशोधित है । प पू आगमप्रज्ञ आचार्यदेव श्रीमद्विजय **जम्बूसूरीश्वरजी** म. पू० गणिवर्य श्री**जयघोषविजयजी** म. पू० गणिवर्य **धर्मजित्विजयजी** म. (पू० धर्मानंदविजयजी म) पू० मुनिराजश्री **जिनेन्द्रविजयजी** म, पू० मुनिराजश्री **जगच्चन्द्रविजयजी** म., तथा पू० मुनिराज श्री **योगेश्वरविजयजी** म. आदि ने पूरी लगन से पदार्थसंग्रह-गाथा रचना टीका-संशोधन-संपादन कार्य किया अतः इस अवसर पर अन्तःकरण से सभी के प्रति का आभार व्यक्त करते है ।

ग्रन्थ प्रकाशन में खंभात निवासी दलाल मुलचन्द डाह्याभाइ शाह तथा शाह रमणलाल वजेचन्द ने मिल कर रू १०००० (दस हजार) की विपुल धनराशि द्रव्यसहायरूप से समर्पण कर अपूर्व श्रुतभक्ति का लाभ लिया वह अनुमोदनीय है ।

ज्ञानोदय मुद्रणालय पिंडवाडा के व्यवस्थापक ब्यावर निवासी फतेहचन्दजी जैन (हालावाले) और अन्य कर्मचारिओ की सेवा भी अविस्मरणीय है ।

उत्तरोत्तर अधिक ग्रन्थों के प्रकाशन की आशा से-

भवदीय-

शा. समरथमल रायचंदजी (मंत्री)

शा. लालचंद छगनलालजी (मंत्री)

भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति

(I) पिंडवाडा
स्टे सिरोहीरोड (राजस्थान)

(II) १३५/१३७ जौहरी बाजार
बम्बई-२



जिनकी तत्त्वदृष्टि और वात्सल्यपूर्ण प्रेरणा से हमारे में यत्किञ्चित् ज्ञान का प्रकाश और संयम सात्मी-भाव को प्राप्त हुआ । जिन्होने असीम कृपा कर श्रुत भक्ति का अवसर प्रदान किया । उन्ही युगपवित्रपुरुष सिद्धान्त महोदधि कर्मसाहित्य निष्णात स्व. पूज्य आचार्यदेव–

श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा

की पुण्य–स्मृति में. ..

卐

निर्मलरत्नत्रयेप्सु–

मुनि जयघोषविजय 卐 मुनि जितेन्द्रविजय



द्वितीयो भूयस्काराधिकारः

तृतीयः पदनिक्षेपाऽधिकारः

॥ रसबन्धः समाप्तः ॥

प्रथमाधिकारे क्षेत्रद्वारादि विषयकं अशुद्धि-विशोधनम्

पृष्ठम्	पङ्क्ति	अशुद्धि	विशुद्धि
१	२	द्वा	द्वारं
१०	१४	०क आयु०	०कमायु०
१२	१५	०रिक्ता०	०तिरिक्ता०
१५	२१	अथा	अथ
१७	११	पदेऽनु	पदे अनु०
२३	७	०मिषत्प्रा०	०मीपत्प्रा०
२४	४	मनुष्य०	मनुष्ये०
२४	५	०भात्र०	०मात्र०
३०	१६	०बधी	वधी
३४	१४	षड्ध्र्व०	षड्ध्र्वे०
४१	१	०स्पशना	०स्पर्शना
४६	१६	मरणा०	मारणा०
४६	१६	०बधा०	०वधा०
४७	१६	०तिरश्च	०तिर्यञ्च
४६	१	०स्पशना	०स्पर्शना
४६	२४	०एगिदि०	०एगिंदि०
५१	२३	०णाकोन०	०णामेकोन०
५२	१	०बधा	०वधो
५२	१५	भागा	भागा
५७	२०	०वग	०वग
५७	४	०काया	०कायौ
५७	३०	०रिशत	०रिंशत्
६२	२४	ति	त्ति
६३	४	ति	त्ति
६४	१४	भागा	भागा
७१	१४	०रणामेव	०राणामेव
७१	२६	०तेज०	०तेज ०
७४	२६	०रिंश०	०रिंश०
७४	३०	ति	त्ति
७६	२४	०बधी	०वधी
८०	२३	ति,	त्ति,
८३	१३	०बधी	०वधी

पृष्ठम	पङ्क्तिम	अशुद्धि	विशुद्धि
८३	१५-१९	हुडक०	हुण्डक०
८५	१७	हुड०	हुण्ड०
८६	१७	०पचिंदि	०पचिंदि०
८७	८	०खसो	०खसो
८६	२६	विविक्षता०	विवक्षिता०
९३	११	०रुसस्स	०रसस्स
१०३	८	०विंश०	०विंश०
१०४	२	ध्रव०	ध्रुव०
१०४	२५	०न्वि०	०वन्धि०
१०४	१७	आवलिऽसं०	आवलिकाऽसं०
१०५	१५	०असख्य०	०ऽसख्य०
१०५	२३	०अस०	०ऽस०
१०६	८	समय	समय
१०७	३	०रापका०	०रात्का०
१०७	११	मार्गणा	मार्गणा
१०८	२५	०मागत्	०मगात
११३	१६	०मुप०	०मुपशम०
११७	८	"सेसाण" त्ति	"सेसपयडीण" ति
११६	१४	०मार्गणा०	०मार्गणा०
११९	२१	बादरेसु	बायरेसु
१२०	२६	०ययौघादि०	०यौघादि०
१२१	११	भगो०	भगो०
१२१	१६	वेतिहेतो.	वेति हेतो
१२७	११	ज्ञानावरणस्स	णाणावरणस्स
१३४	२३	त्रय०	०त्रय०
१३५	३	गते उ	गतेरु
१४२	२३	०सघयण०	०संहनन०
१४५	१३	०यहुत्व०	०बहुत्व०
१४६	८	०ऽनु०	०ऽऽनु०
१५२	२२	०सहन०	०संहनन०
१५४	१४	स्त्यानद्धे०	स्त्यानर्द्धे०
१६४	१८	०तगुण	०न्तगुण

तृतीयः पदनिक्षेपाऽधिकारः

॥ रसबन्धः समाप्तः ॥

प्रथमाधिकारे क्षेत्रद्वारादि विषयकं अशुद्धि-विशोधनम्

पृष्ठम्	पङ्क्ति	अशुद्धि	विशुद्धि
१	२	द्वा'	द्वार
१०	१४	०क आयु०	०कमायु०
१३	१५	०रिक्ता०	०तिरिक्ता०
१५	२१	अथा	अथ
१७	११	पदेऽनु	पदे अनु०
२३	७	०मिषत्प्रा०	०मीपत्प्रा०
२४	४	मनुष्य०	मनुष्ये०
२४	५	०भात्र०	०मात्र०
३०	१६	०बधी	वधी
३४	१४	षड्ध्वे०	षडूर्ध्वे०
४१	१	०स्पशना	०स्पर्शना
४६	१६	मरणा०	मारणा०
४६	१६	०बधा०	०बधा०
४७	१६	०तिरश्च	०तिर्यञ्च
४६	१	०स्पशना	०स्पर्शना
४६	२४	०एगिदि०	०एगिदि०
५१	२३	०णाकोन०	०णामेकोन०
५२	१	०बधा	०बधो
५२	१५	मागा	भागा
५२	२०	०वग	०वग
५७	४	०काया	०कायौ
५७	३०	०रिशत्	०रिंशत्
६२	२४	ति	त्ति
६३	४	ति	त्ति
६४	१४	भागा	भागा
७१	१४	०रणामेव	०राणामेव
७१	२६	०तेज०	०तेज ०
७४	२६	०रिंश०	०रिंश०
७४	३०	ति	त्ति
७६	२४	०बधी	०बधी
८०	२३	ति,	त्ति,
८३	१३	०बधी	०बधी
८३	१५-१९	हुडक०	हुण्डक०
८५	१७	हुड०	हुण्ड०
८६	१७	०पचिंदि	०पचिंदि०
८७	८	०खसो	०खमो
८६	२६	विविक्षता०	विवक्षिता०
९३	११	०रुसस्स	०रसस्स
१०३	८	०विंश०	०त्रिंश०
१०४	२	ध्रव०	ध्रुव०
१०४	२५	०न्धि०	०बन्धि०
१०४	१७	आवलिऽस०	आवलिकाऽस०
१०५	१५	०असख्य०	०ऽसख्य०
१०५	२३	०अस०	०ऽस०
१०६	८	समय	समय
१०७	३	०रापका०	०राप्का०
१०७	११	मार्गणा	मार्गणा
१०८	२५	०मागात्	०मगात्
११३	१६	०मुप०	०मुपशम०
११७	८	"सेसाण" त्ति	"सेसपयडीण" ति
११६	१४	०मार्गणा०	०मार्गणा०
११९	७१	बादरेसु	बायरेसु
१२०	२६	०ययौघादि०	०यौघादि०
१२१	११	भगो०	भगो०
१२१	१६	वेतिहेतो०	वेति हेतो
१२७	११	ज्ञानावरणस्स	णाणावरणस्स
१३४	२३	त्रय०	०त्रय०
१३५	३	गते तु	गतेरु
१४२	२३	०सघयण०	०सहनन०
१४५	१३	०यहुत्व०	०बहुत्व०
१४६	८	०ऽनु०	०ऽऽनु०
१५२	२२	०सहन०	०संहनन०
१५४	१४	स्त्यानद्धे०	स्त्यानर्द्धे०
१६४	१८	०तगुण	०न्तगुण

पृष्ठम्	पङ्क्ति	अशुद्धि	विशुद्धि
१६७	२५	०मुञ्ज	०मुञ्ज
१६९	२	०नाम्नो य०	०नाम्नोर्य०
१७०	१७	०वोघ०	०वौघ०
१७४	२	औदा।ीक०	औदारिक०
१७७	१३	वर्णाद्यपट्क	वर्णाद्यष्टक
१७९	२०	०रसत अन०	०रसतोऽन०
१८४	२२	णीआण	णीआण
१८६	२	०पणिदि०	०पणिंदि०
१८८	७	०णोघ०	०णौघ०
१८९	२५	०गुणा०	०गुण०
२०१	१९	उर्द्ध्व०	ऊर्द्ध्व०
२०१	२३	०दयो०	०दयोरु०
२०८	६	०नद्व०	०नर्द्ध०
२१०	१४	०नान्त०	०नन्त०
२१३	१	प्रथमा०	प्रथमा०
२१४	२३	०प्रशक्ति	०प्रसक्ति
२१६	२९	दर्श्यते	दश्यते
२१९	१६	व्यतित्य	व्यतीत्य
२२३	१९	०विशति०	०विंशति०
२२३	२५	०नरकायुपतो०	०नरकायुष्कतो०
२२५	१४	तयो,	तयो
२२७	१०	०याषि	०यपि

भूयस्काद्यधिकार विषयकं अशुद्धि-विशोधनम्

पृष्ठम्	पङ्क्ति	अशुद्धि	विशुद्धि
१	१०	व्याख्यापथा.	व्याख्यापथानि
२	१३	अथोघतो०	अथौघतो०
५	१	सत्पद	सत्पदम्
११	६	०वर्ति०	०वर्ति०
११	२५	०टिका०	०टीका०
११	२५	०कार०	०कारा०
१२	२५	०रोहकाना	०रोहकाणा
१५	८	टिका	टीका
१८	२८	०मेबा०	०मेवा०
१६	१५	०साधिकास्व०	०साधिका स्व०
१९	१५	०स्थिति अ	०स्थिति, अ०
१६	१९	०तेके०	०ते के०
२१	३०	०मन्तरम	०मन्तरम्,
२५	७	प्रकृतिना०	प्रकृतीना०
२५	२०	रूगोना	रूपोना
२५	२०	भङ्गा	भङ्गाः
२६	२८	तमो०	तदो०
२८	७	परिमाणस्तु	परिमाण तु
३०	५	०भेदा त्रि०	०भेदास्त्रि०
३२	२७	०युज्यवि०	०युज्य वि०
३३	५	०शामक०	०शमक०
३३	१०	०भागेनत०	०भागेन त०
३३	२९	श्री ग्रेम०	श्रीप्रेम०
३६	१४	श्री प्रेम०	श्रीप्रेम०
३९	६	०रेबम्	०रेवम्
३९	१३	०रिशद्०	०रिंशद्०
४०	१७	०हूतेना०	०हूर्तेना०
४०	५	प्रस्तुतेमा०	प्रस्तुते मा०
५३	२५	१७५	७५
५४	५	०ऽवस्थान।	०ऽवस्थानम्।
५५	१	द्वारो	द्वारे
५६	१	विहाण	विहाणे
५८	२१	कुर्वश्च०	कुर्वंश्च०
५६	१	०स्वामित्व	०स्वामित्वम्
६१	१	०स्वामित्व	०स्वामित्वम्
६१	१८	०दग्रेव०	०दग्रे व०
६२	१	०बघो	०बघो
६३	२	बन्ध	बन्ध
६४	१	विहाण	विहाणे
६४	२६	०स्वामिन०	०स्वामिनः

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धि	विशुद्धि
६७	२६	०चर०	०चरम०
६८	१	०शर्दन०	०दर्शन०
६९	४	०वोघ०	०वौघ०
७१	१	०निक्षपा०	०निक्षेपा०
७१	३०	०नाम-०	०नामा ०
७२	२३	०नास०	०ना स०
७२	३०	०स्वामिनो	०स्वामिन
७४	१५	द्वाचत्व०	द्वाचत्वा०
७६	५	०शामको	०शमको
७७	२८	मुखावा-	मुखाय
८१	६	०विशुद्धाभूत्वा	०विशुद्धो भूत्वा
८१	२६	०तिर्यग्	०तिर्यङ्
८४	८	०दर्शना-	०दर्शना-
८४	८	चतुविंश०	चतुर्विंश०
८४	११	०स्वामिन	०स्वामिनो
८४	१६	०क-द्विक	०कद्विक०
८५	६	०पर्याप्त०	०पर्याप्ति०
८८	९	०शामक०	०शमक०
९०	२५	०रोघोवता	०रोघोकता
९१	६	प्रकृत्यो०	प्रकृतयो०
९४	८	०शामको	०शमको
९५	१५	०शामक०	०शमक०
९५	१६	०सक्लेशतोर०	सक्लेशतर०
९८	२४	०धिका	०धिका
१०१	१०	०नन्तराय०	०न्तराय०
१०२	१४	०नो रेक०	०नोरेक०
१०२	२४	विंशतौ	विंशतौ
१०३	०	०न्तगुणा	०नन्तगुणा
१०३	३	ततो	ततो
१०९	१७	अमोवलि	आवलि
११०	४	०बन्धका	०बन्धका
१११	१	वृद्ध्याधि०	वृद्ध्यधि०
१११	५	कार्येति	कार्या इति
१११	१३	असख०	असंख०
११४	२५	०धिका०	०विकाराऽ०
११५	१५	नन्विमा	नन्विय
११६	७	०ष्वुत्कृष्ट०	०पुत्कृष्ट०
११६	८	सभवद् वृ०	समवद्वृ०
११६	२९	रस-	
११७	५	०मागच्छति	०दागच्छति
११७	२८	५६	१५६
११८	१	वध०	वध०
११८	७	०न्यश्रित्य	०न्याश्रित्य
११८	२८	-णाहारक०	-नाहारक०
१२०	८	दर्शित०	दर्शिताऽ०
१२३	६	०वसाया०	०वसाय०
१२६	८	०धिका	०धिका
१२६	९	नूतनैव प्राप्यते।	नूतना एव प्राप्यन्ते
१२६	२६	भवति	भवन्ति
१२८	१६	१६२-१६५	१६१-१६४
१२९	१२	१६६ इत गाथाक्रमादारभ्य गाथाक्रम एकैकेन पूर्व-पूर्वो वाच्यः, यथा १६६=१६५, १६७=१६६ इत्यादि	
१३२	२३	वाच्या	वाच्या
१३२	२९	०तया.	०तया
१४०	७	०प्रमाणा	प्रमाणा
१४१	१	०मदता	मन्दता
१४२	८	०योनामु०	०योनायामु०
१४३	१	०मदता	मन्दता
१४३	२	य"	च"
१४३	१४	०स्थितिनां	०स्थितीनां
१४७	२६	०नुक्ता	०नुक्ता
१४७	२६	०मुव	०मुक्तम्
१६०	५	०ममुप०	०मुप०
१६०	८	१६४	१७६

विशेष शुद्धिपत्रकम्



कर्मसाहित्य-सत्के सप्तमपुस्तके बन्धविधान-ग्रन्थविभागे उत्तरप्रकृतिबन्धे

४३७-५० जग छुद्दिअ सेसाण सव्वजग ॥११७३॥	० जगमजसस्स तेर इयराण सव्वजग ॥११७३॥
४३७ २५ 'सेसाण' इत्यादि,	अजसस्स' इत्यादि, अयश कीर्तेर्बन्धकैस्त्रयोदशभागा स्पृष्टा भवन्ति, यश कीर्तिबन्धकस्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वात् केवलिसमुद्घातगतानामिहाऽप्रवेशात्तदतिरिक्ताना क्षपकश्रेण्यादिगताना लोकाऽसङ्ख्येयभागतोऽधिकस्पर्शनाया असम्भवात्, 'इयराणे' त्यादि,
४३७ २९/३० दु स्वरायश कीर्तिपरा/० अष्टपञ्चा०	दु स्वरपरा० \सप्तपञ्चा०

दशमपुस्तके उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे द्वितीयाग भूयस्काराधिकारे

३६ २२/२३ मनु², देव²/३२	मनु¹ देव³ ।३४
३६-२५ दे० म० आयुषी/४७	।४५
१०८ ६ ऊणा तेत्तीसुदही दुवीसथीआइवइराण ॥१७२॥	थीआइदुवीसवइरउज्जोआणूणजलहितेत्तीसा ॥१७२॥ (गीति)
१०६ १४ "दुवीसथीआइवइराण" ति	"थीआइदुवीसवइरउज्जोआण" त्ति।
१०६ १७ ०स्य/ऊणा तेत्तीसुदही	०स्योद्योतस्य/ऊणजलहि तेत्तीसा

卐

प्रस्तुत ग्रन्थे उत्तर विभागे

२	रसस्य	रसस्स
१२८/७	प्रभृत्या	०प्रभृति
१४१/१९	निर्वर्तन	निर्वतन

॥ अथ त्रयोदशं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्तं क्षेत्रद्वारं विवरिषुरादौ तावदोघत उत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं दर्शयति—

लोगासंखियभागे सव्वेसिं बंधगा गुरुरसस्स ।
णिरयसुरणराउ-विउव्वछक्काहारदुग-तित्थाणं* ॥१॥
लोगासंखियभागेऽणुक्कोसरसस्स बंधगा णेया ।
होअन्ति बंधगा खलु सेसाणं सव्वलोगम्मि ॥२॥

(प्रे०) '**लोगासंखियभागे**' इत्यादि. इह क्षेत्रं नाम विवक्षितसमये विवक्षितप्रकृतेरुत्कृष्टादिरसबन्धकैर्लोकस्य यावान्भागो व्याप्तः स्यात् सोऽत्र क्षेत्रमिति उच्यते, तस्य प्ररूपणमस्मिन् तत् क्षेत्रद्वारम् । '**सव्वेसिं**' ति चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रत्येकमिति गम्यते '**गुरुरसस्स**' त्ति उत्कृष्टरसस्य बन्धकाश्चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्यैकस्मिन्नसंख्येयतमे भागे, वर्तन्ते इति शेषः, संज्ञिनामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् संज्ञिव्याप्तक्षेत्रस्य चोत्कृष्टतोऽपि लोकासंख्येयभागमात्रत्वात् । इत्योघत उत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रप्ररूपणम् ।

अथ अनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं—'**णिरयसुरे**' त्यादि, नरकायुर्देवायुर्मनुष्यायुर्वैक्रियषट्कमाहारकद्विकं जिननामेति द्वादशानां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसस्य बन्धका लोकस्यैकस्मिन्नसंख्येयतमे भागे ज्ञेयाः, तत्रैकादशानां पञ्चेन्द्रियस्यैव बन्धकत्वात् केवलिसमुद्घातं विहाय तद्व्याप्तक्षेत्रस्योत्कृष्टतोऽपि तावन्मात्रत्वात् । यद्यपि मनुष्यायुषो बन्धका एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियावसाना जीवाः सन्ति तथापि तेषां श्रेण्यसंख्येयभागगताऽऽकाशप्रदेशप्रमितमात्रत्वात् लोकाऽसंख्येयभाग एव क्षेत्रम् । तथा '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणां द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, सम्पूर्णो लोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, सूक्ष्माणामपि तद्बन्धकत्वात् तेषाञ्च सर्वलोकव्यापित्वात् ॥१-२॥

अथ मार्गणासु आयुर्वर्जानां रसबन्धकक्षेत्रं दिदर्शयिषुरादौ तावदुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं दर्शयन् सर्वसूक्ष्मभेदेष्वाह—

सव्वसुहुमभेएसुं सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
होअन्ति बंधगा खलु तिव्वऽ भागस्स सव्वजगे ॥३॥

(प्रे०) '**सव्वे**'त्यादि, सर्वसूक्ष्मभेदेष्वष्टादशसु सूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणास्वित्यर्थः, प्रत्येकं '**सप्पाउग्गाण**' त्ति देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजिननामरूपाणां नवाना-

---

* १७८८ गाथा अन्योत्तरप्रकृतिरसबन्धस्य द्वादशद्वारात्मके पूर्वार्द्धे विवृता सन्ति ।

मिह बन्धानर्हत्वात् 'आउवज्जाणं' इति, तेषां पृथग् वक्ष्यमाणत्वाच्च सूक्ष्मैकेन्द्रियपृथ्व्यप्-निगोदसत्कद्वादशमार्गणासु एकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकम्, तिसृषु तेजःकायमार्गणासु तिसृषु वायुकायमार्गणासु च प्रत्येकमष्टोत्तरशतस्यैव, अत्र मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरपि बन्धानर्हत्वादुत्कृष्ट-रसबन्धकाः 'सव्वजगे' ति संपूर्णलोके भवन्ति, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, स्वस्थानक्षेत्रस्य सर्वलोकत्वात् ॥३॥

अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

एगिंदियतब्बायर–बायरपज्जेसु वंधगा भागे ।
लोगस्स असखयमे विण्णेया णरदुगुच्चाणं ॥४॥
होअन्ति तिवट्ठीए सुहुमेगिंदियऽरिहाण असुहाणं ।
सव्वजगे सेसाणं सय च्चिय णाऊण विण्णेया ॥५॥

(प्रे०) 'एगिंदिये'त्यादि, एकेन्द्रियौघः 'तब्बायर' त्ति बादरैकेन्द्रियः 'बायरपज्ज' त्ति पर्याप्तबादरैकेन्द्रियश्चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृती-नामुत्कृष्टरसबन्धका लोकस्याऽसंख्येयतमे एव भागे विज्ञेयाः, वायुकायिकस्य तद्बन्धाभावेन शेष-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् वायुभिन्नपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां च स्वस्थान-क्षेत्रस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । न च मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तमतोऽधिकतरं भवि-ष्यति क्षेत्रमिति वाच्यम्, मनुष्यतयोत्पित्सूनामेव मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तद्बन्धसम्भवेन संख्यातानामेव तद्बन्धकत्वान्न ततोऽधिकतरक्षेत्रस्य प्राप्तिरिति ।

तथा 'सुहुमेगिंदियऽरिहाण' त्ति सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातेऽपि सम्भाव्य-मानोत्कृष्टरसानां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः, असातं, हास्यरती, शोकारती, नपुंसकवेदः, तिर्यग्द्विकम्, एकेन्द्रियजातिः, हुंडकसंस्थाननाम, दुःस्वरवर्जस्थावरनवकम्, स्वरस्य त्रसवेद्यत्वात् नीचैर्गोत्रमिति त्रिषष्टेरशुभानां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, यतो मार्गणागतजीवा अनन्ताः, तेषां सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां पारभविकोत्पत्तिस्थानं सर्वलोकस्ततः सूक्ष्मतयोत्पित्सुभिर्मारणान्तिकसमुद्घातगतैर्ज्ञानावरणाद्युत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्ट इति ।

तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां स्त्रीपुरुषवेदौ, सातवेदनीयम्, विकलत्रिकम्, पञ्चेन्द्रिय-जातिः, औदारिकद्विकम्, संहननषट्कम्, हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकम्, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, विहायोगतिद्विकम्, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम, आतपनामोद्योतनाम, दुःस्वरनाम, त्रसदशक-ञ्चेति पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं स्वयमेव ज्ञात्वा विज्ञेयम् । तज्ज्ञात-

सकाशादिति शेषः । कोऽर्थः ? प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं कथितप्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धकानामनन्तत्वेऽपि तेषां समुद्घातक्षेत्रस्यापि लोकासंख्येयभागमितत्वेनाकिञ्चित्करत्वात् स्वस्थानक्षेत्रस्य देशोनलोकव्यापित्वात् पर्याप्तबादरवायुकायिकानां प्राधान्यम् । ते च पर्याप्तबादरवायुकायिका उक्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका आवलिकाऽसंख्येयभागगतसमयमिताः पल्योपमाऽसंख्येयभागमिता वैव स्युः, तर्हि तेषां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागो भवति, उत्कृष्टरसबन्धार्हाणां जीवानां देशोनलोकव्यापित्वेऽपि उत्कृष्टरसबन्धकानां स्वल्पमात्रत्वात् । यदि उत्कृष्टरसबन्धका असंख्यप्रतरादिमिता भवेयुः तर्हि देशोनलोकस्तेषां क्षेत्रम्, तद्बन्धकानां प्रभूतत्वात् बादरवायुकायस्वस्थानस्य तावत्प्रमाणत्वाच्च, किन्त्वत्र दुष्षमकालानुभावेन विशेषोपदेशाऽदर्शनात् न किञ्चिदपि स्पष्टमुक्तं ग्रन्थकृतेति । लोकाऽसंख्येयभागस्तेषां क्षेत्रमिति अस्माकमभिप्रायः, उत्कृष्टरसबन्धार्हाणां जीवानां देशोनलोकव्यापित्वेऽपि वायुकायिकापेक्षया उत्कृष्टरसबन्धकानां स्वल्पमात्रत्वात्, अत्र तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति ॥४-५॥

अथ अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियवायुकायमार्गणयोराह—

लोगा-संखियभागे बायरएगिंदियासमत्तम्मि ।
णरदुगउच्चाणं इह तह बायरवाउ-असमत्ते ॥६॥
होन्ति तिवट्ठीए सुहुमेगिंदियऽरिहाण असुहाणं ।
सव्वजगे सेसाणं णेया देसूणलोगम्मि ॥७॥

(प्रे०) '**लोगासखियभागे**'इत्यादि, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका लोकाऽसंख्येयभागे, वायुकायिकानां तद्बन्धाभावाद् वायुवर्जाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्च ।

तथा 'इह'त्ति प्रस्तुतायां मार्गणाया '**बायरवाउअसमत्ते**' त्ति अपर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायाञ्च '**सुहुमेगिंदिय**' त्ति एकेन्द्रियौघमार्गणाविवरणोक्तानामप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनां त्रिषष्टेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तेषाञ्च सर्वलोकव्यापित्वात् । तथा '**सेसाणं**' ति एकेन्द्रियौघादिमार्गणाविवरणे नामग्राहमुक्तानां स्त्रीवेदादीनां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका देशोने लोके ज्ञेयाः, देशोनलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, तच्चाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायामपि अपर्याप्तबादरवायुप्राधान्यादेव, जीवानामसंख्येयलोकमितत्वात् तेषां स्वस्थानस्य देशोनलोकप्रमितत्वाच्च ॥६-७॥

मिह बन्धानर्हत्वात्'आउ णं' इति, तेषां पृथग् वक्ष्यमाणत्वाच्च सूक्ष्मैकेन्द्रियपृथ्व्यप्-निगोदसत्कद्वादशमार्गणासु एकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकम्, तिसृषु तेजःकायमार्गणासु तिसृषु वायुकायमार्गणासु च प्रत्येकमष्टोत्तरशतस्यैव, अत्र मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरपि बन्धानर्हत्वादुत्कृष्ट-रसबन्धकाः 'सव्वजगे' त्ति संपूर्णलोके भवन्ति, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, स्वस्थानक्षेत्रस्य सर्वलोकत्वात् ॥३॥

अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

एगिंदियतब्बायर-बायरपज्जेसु बंधगा भागे ।
लोगस्स असखयमे विण्णेया णरदुगुच्चाणं ॥४॥
होअन्ति तिवट्ठीए सुहुमेगिंदियऽरिहाण असुहाणं ।
सव्वजगे सेसाणं सय च्चव णाऊण विण्णेया ॥५॥

(प्रे०) 'एगिंदिये'त्यादि, एकेन्द्रियौघः 'तब्बायर' त्ति बादरैकेन्द्रियः 'बायरपज्ज' त्ति पर्याप्तबादरैकेन्द्रियश्चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृती-नामुत्कृष्टरसबन्धका लोकस्याऽसंख्येयतमे एव भागे विज्ञेयाः, वायुकायिकस्य तद्बन्धाभावेन शेष-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् वायुभिन्नपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां च स्वस्थान-क्षेत्रस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । न च मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तमतोऽधिकतरं भवि-ष्यति क्षेत्रमिति वाच्यम्, मनुष्यतयोत्पित्सूनामेव मारणान्तिकसमुद्घातगताना तद्बन्धसम्भवेन संख्यातानामेव तद्बन्धकत्वान्न ततोऽधिकतरक्षेत्रस्य प्राप्तिरिति ।

तथा 'सुहुमेगिंदियऽरिहाण' त्ति सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातेऽपि सम्भाव्य-मानोत्कृष्टरसानां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः, असातं, हास्यरती, शोकारती, नपुंसकवेदः, तिर्यग्द्विकम्, एकेन्द्रियजातिः, हुंडकसंस्थाननाम, दुःस्वरवर्जस्थावरनवकम्, स्वरस्य त्रसवेद्यत्वात् नीचैर्गोत्रमिति त्रिषष्टेरशुभानां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, यतो मार्गणागतजीवा अनन्ताः, तेषा सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां पारभविकोत्पत्तिस्थानं सर्वलोकस्ततः सूक्ष्मतयोत्पित्सुभिर्मारणान्तिकसमुद्घातगतैर्ज्ञानावरणाद्युत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्ट इति ।

तथा 'सेसाणं'ति उक्तशेषाणां स्त्रीपुरुषवेदौ, सातवेदनीयम्, विकलत्रिकम्, पञ्चेन्द्रिय-जातिः, औदारिकद्विकम्, संहननषट्कम्, हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकम्, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, विहायोगतिद्विकम्, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम, आतपनामोद्योतनाम, दुःस्वरनाम, त्रसदशक-ञ्चेति पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं स्वयमेव ज्ञात्वा विज्ञेयम् । तज्ज्ञातृ-

सकाशादिति शेषः। कोऽर्थः ? प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं कथितप्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धकाना-मनन्तत्वेऽपि तेषां समुद्घातक्षेत्रस्यापि लोकासंख्येयभागमितत्वेनाकिञ्चित्करत्वात् स्वस्थान-क्षेत्रस्य देशोनलोकव्यापित्वात् पर्याप्तबादरवायुकायिकानां प्राधान्यम्। ते च पर्याप्तबादरवायु-कायिका उक्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका आवलिकाऽसंख्येयभागगतसमयमिताः पल्योपमाऽ-संख्येयभागमिता वैव स्युः, तर्हि तेषां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागो भवति, उत्कृष्टरसबन्धार्हाणां जीवानां देशोनलोकव्यापित्वेऽपि उत्कृष्टरसबन्धकानां स्वल्पमात्रत्वात्। यदि उत्कृष्टरसबन्धका असंख्यप्रतरादिमिता भवेयुः तर्हि देशोनलोकस्तेषां क्षेत्रम्, तद्बन्धकानां प्रभूतत्वात् बादरवायुकाय-स्वस्थानस्य तावत्प्रमाणत्वाच्च, किन्त्वत्र दुष्षमकालानुभावेन विशेषोपदेशाऽदर्शनात् न किञ्चिदपि स्पष्टमुक्तं ग्रन्थकृतेति। लोकाऽसंख्येयभागस्तेषां क्षेत्रमिति अस्माकमभिप्रायः, उत्कृष्टरसबन्धार्हाणां जीवानां देशोनलोकव्यापित्वेऽपि वायुकायिकापेक्षया उत्कृष्टरसबन्धकानां स्वल्पमात्रत्वात्, अत्र तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति ॥४-५॥

अथ अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियवायुकायमार्गणयोराह—

लोगा-संखियभागे बायरएगिंदियासमत्तम्मि ।
णरदुगउच्चाणं इह तह बायरवाउ-असमत्ते ॥६॥
हो न्ति तिवट्ठीए सुहुमेगिंदियऽरिहाण असुहाणं ।
सव्वजगे सेसाणं णेया देसूणलोगम्मि ॥७॥

(प्रे०) **'लोगासखियभागे'** इत्यादि, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चै-र्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका लोकाऽसंख्येयभागे, वायुकायिकानां तद्बन्धा-भावाद् वायुवर्जाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्च।

तथा **'इह'** त्ति प्रस्तुतायां मार्गणायां **'बायरवाउअसमत्ते'** त्ति अपर्याप्तबादरवायुकायमार्ग-णायाञ्च **'सुहुमेगिंदिय'** त्ति एकेन्द्रियौघमार्गणाविवरणोक्तानामप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनां त्रिषष्टेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घात-गतानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तेषाञ्च सर्वलोकव्यापित्वात्। तथा **'सेसाणं'** ति एकेन्द्रियौ-घादिमार्गणाविवरणे नामग्राहमुक्तानां स्त्रीवेदादीनां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरस-बन्धका देशोने लोके ज्ञेयाः, देशोनलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, तच्चाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणाया-मपि अपर्याप्तबादरवायुप्राधान्यादेव, जीवानामसंख्येयलोकमितत्वात् तेषां स्वस्थानस्य देशोन-लोकप्रमितत्वाच्च ॥६-७॥

अथ वायुकायौघादिष्वाह—

सव्वाण वाउकाये वायरवाउम्मि तस्स पज्जत्ते ।
सप्पाउग्गाणं खलु सयं च्चिअ णाऊण विण्णेया ॥८॥

(प्रे०) 'सव्वाणे'त्यादि, वायुकायौघे बादरवायुकायौघे 'तस्स पज्जत्ते' त्ति पर्याप्त-बादरवायुकाये चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं स्वप्रायोग्याणामष्टोत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः स्वयमेव ज्ञात्वा विज्ञेयाः । किमुक्तं भवति ? तेषां कियत् क्षेत्रम् ? तत् तज्ज्ञातृभ्यः सकाशात् स्वयमेव ज्ञातव्यमित्यर्थः, हेतुरत्र एकेन्द्रियौघमार्गणायां स्त्रीवेदादीनां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रोपपादने य उक्तः स एव ज्ञातव्यः, उत्कृष्टरस-बन्धकपरिमाणदर्शनविषयकविशेषोपदेशादर्शनात् ॥८॥

अथ बादराऽपर्याप्तपृथ्व्यादिमार्गणास्वाह—

बायर-अपज्ज-पुढवी-दगतेऊसुं अपज्ज-पत्तेए ।
वणकायम्मि णिगोए तस्स सयल-बायरेसुं च ॥९॥
होअन्ति सव्वलोगे सुहुमेगिंदियरिहाण असुहाणं ।
सेसाण असंखंसे जगस्स सेसासु सव्वेसिं ॥१०॥

(प्रे०) 'बायरअपज्जे'त्यादि, बादरापर्याप्तपृथ्व्यादयस्त्रयः अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिः वनस्पतिकायौघः 'णिगोए' त्ति साधारणवनस्पतिकायौघः 'तस्स' त्ति साधारणवनस्पतिकायस्य सकलबादरभेदास्ते च त्रय इति सर्वसंख्यया नवसु मार्गणासु प्रत्येकं सूक्ष्मैकेन्द्रियार्हाणां सूक्ष्मैके-न्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामसुमतां संभाव्यमानोत्कृष्टरसबन्धानां प्रकृतीना-मित्यर्थः, यद्वा सूक्ष्मनाम्ना सह बध्यमानोत्कृष्टरसानां, यद्वा यासामुत्कृष्टरसबन्धेन सह सूक्ष्मनाम बध्यत एव, तासामेकेन्द्रियौघमार्गणाविवरणोक्तानामशुभानां त्रिषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्ट-रसबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, मार्गणागतजीवानामसंख्येयलोकादिमितत्वेन सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मरणसमुद्घातगतानां तेषां सर्वलोकव्यापित्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति बादराऽपर्याप्ततेजःकायमार्ग-णायामेकेन्द्रियौघमार्गणाविवरणोक्तानां स्त्रीवेदादीनां पञ्चचत्वारिंशतोऽष्टासु तु मनुष्यद्विकोच्चै-र्गोत्रयोश्चोत्कृष्टरसबन्धका लोकस्यासंख्येयतमे भागे भवन्ति, स्वस्थानक्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वात् मरणसमुद्घातगतानान्तु त्रसादितयोत्पित्सूनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तेषाञ्चात्यल्पत्वात् लोकाऽसंख्येयभाग एव क्षेत्रम् ।

अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह—अष्टौ नरकाः, पञ्च तिर्यग्गतिभेदाश्चत्वारो भेदा मनुष्यगतेस्त्रिंशद्देवभेदाः, नव विकलेन्द्रियास्त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, ओघपृथ्व्यप्तेजस्का-

यिकास्ते च त्रयः, बादरपृथ्व्यप्तेजस्कायिकास्त्रयः, पर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजसकायिकास्तेऽपि त्रयः,प्रत्येकवनस्पतिकायौघः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायस्त्रयस्त्रसकायभेदाः, अष्टादश योगभेदास्त्रयो वेदाः, अवेदश्चत्वारः कपायाः, सप्त ज्ञानमार्गणाः, सप्त संयममार्गणास्त्रीणि दर्शनानि, लेश्याषट्कम् , भव्याभव्यौ, सप्त सम्यक्त्वमार्गणाः, मज्ञ्यसंज्ञ्याहार्यनाहारीत्युक्तशेषासु पञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं सम्भाव्यमानबन्धानां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका लोकस्यैकस्मिन्नसंख्येयतमे भागे भवन्ति. कुतः ? उच्यते, इह बहुषु मार्गणासु जीवानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् , तथा तिर्यग्गत्योघ ओघपृथ्व्यप्तेजस्कायिकाः काययोगौघ औदारिककाययोगस्तन्मिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगो नपुंसकवेदश्चत्वारः कपाया अज्ञानद्विकम् अयतोऽचक्षुरप्रशस्तलेश्यात्रिकं भव्याभव्यौ मिथ्यात्वमसंज्ञ्याहार्यनाहारीति षड्विंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं जीवानामनन्तादित्वेऽप्युत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वादिति ॥९-१०॥

अथ मार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं दिदर्शयिषुस्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु तद्दर्शयन्नाह—

तिरिये एगिंदियपणकायणिगोएसु सव्वसुहमेसुं ।
कायोरालदुगेसुं कम्मणपुंचउकसायेसुं ॥११॥
अण्णाणदुगे अजए अचक्खुदंसणतिअसुहलेसासुं ।
भवियेयरमिच्छेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥१२॥
ओघव्व बंधगा खलु अत्थि अणुक्कोसियाणुभागस्स ।
सप्पाउग्गाणं खलु पयडीणं आउवज्जाणं ॥१३॥
बायरपुढवाइचउसु पत्तेअवणम्मि मिं पज्जेसुं ।
बायरसव्वेगिंदिय-णिगोभेएसु विण्णेया ॥१४॥
एगूणासीईए सुहमेगक ारिहाण सव्वजगे ।
सेसाणं णेया गुरुरसव्व सेसासु सव्वेसिं ॥१५॥
णवरं जेसिं खेत्तं सय ज्झं बंधगाऽत्थि ऊणजगे ।
सिं बायरएगिंदियवाऊसुं तस्समत्तेसुं ॥१६॥

(प्रे०) 'तिरिये'इत्यादि, इह तिर्यग्गत्योघादिषु अष्टचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकास्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, ओघवद् ति, कुतः ? सूक्ष्मजीवानां मार्गणान्तःप्रवेशात् तेषामपि तद्बन्धकत्वाच्च । तद्यथा—तिर्य-

गगत्योघः, अज्ञानद्विकम्, मिथ्यात्वमभव्योऽसंज्ञीति षट्सु प्रत्येकं वैक्रियषट्कस्यानुत्कृष्टरसबन्धका लोकस्यासंख्येयतमे भागे वर्तन्ते, पञ्चेन्द्रियाणामेव तद्बन्धकत्वात्। तथाऽऽहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धानर्हत्वान्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां शेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वलोके, सूक्ष्माणामपि तद्बन्धकत्वात्।

तथा एकेन्द्रियौघः, पृथ्व्यादिकायपञ्चकस्य ओघभेदाः पञ्च, साधारणवनस्पतिकायौघः, अष्टादश सूक्ष्मभेदा इति पञ्चविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति। तथा काययोगौघ औदारिककाययोगो नपुंसकवेदश्चत्वारः कषाया अचक्षुर्दर्शनं भव्य आहारीति दशसु मार्गणासु प्रत्येकं वैक्रियषट्कमाहारकद्विकं जिननामेति नवानां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागः, हेतुरोघवत्। शेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं तत्सर्वलोकः।

तथौदारिकमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगोऽनाहारीति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जिननाम्नश्चेति पञ्चानां प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागस्तथा नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोरिह बन्धानर्हत्वात् शेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं सर्वलोकः।

तथाऽयतस्तिस्रोऽप्रशस्तलेश्या इति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं वैक्रियषट्कं जिननामेति सप्तानां प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागः। शेषैकादशोत्तरशतप्रकृतीनां सर्वलोकः।

तथा बादरौघपृथ्व्यादिचतुष्कं प्रत्येकवनस्पत्योघः, '**सि अपज्जेसु**'त्ति अपर्याप्तबादरपृथ्व्यादिचतुष्कमपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः '**बायर-सव्वेगिंदिय**' बादरैकेन्द्रियसर्वभेदास्ते च त्रयो बादरनिगोदभेदास्तेऽपि त्रय इति षोडशसु मार्गणासु प्रत्येकमेकपञ्चाशद् ध्रुवबन्धिन्यः सातासाते हास्यरती शोकारती नपुंसकवेदस्तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरनाम हुंडकसंस्थाननाम पराघातोच्छ्वासौ पर्याप्तचतुष्कं दुःस्वरवर्जस्थावरनवकं, स्वरनाम्नो द्वीन्द्रियादिप्रायोग्यत्वात्, नीचैर्गोत्रमित्येकोनाशीतेः सूक्ष्मैकेन्द्रियार्हाणां तैरपि वेद्यानामित्यर्थः, अनुत्कृष्टरसबन्धकाः '**सव्वजगे**'त्ति सर्वलोके, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयलोकादिमितत्वात् सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मरणसमुद्घातेऽपि तद्बन्धोपलम्भाच्च। ततः किम्? मरणसमुद्घातगतानां तद्बन्धकानां सर्वलोकव्यापित्वात्। तथा '**सेसाणं**'त्ति स्त्रीपुरुषवेदौ मनुष्यद्विकं विकलत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकं विहायोगतिद्विकमातपनामोद्योतनाम त्रसनाम बादरनाम सुभगचतुष्कं दुःस्वरं उच्चैर्गोत्रमिति द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां तेजोवायुभेदेषु च मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रवर्जानामेकोनत्रिंशतः प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं '**गुरुरसव्व**' त्ति तासामुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवल्लोकाऽसंख्येयभागः, स्वस्थानक्षेत्रस्यै-

तावन्मात्रत्वात् । न च मरणसमुद्घातगतानाश्रित्य तत्सर्वलोक इति वाच्यम् , मरणसमुद्घाते त्रसादित्रयोरिपत्तृनामेव तद्बन्धोपलम्भात् ।

तथा '**सेसासु**'ति उक्तशेषासु षड्त्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रम् '**गुरुरसव्व**' त्ति उत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवद् भवति । यत्रातिदेशेन याः काश्चिदतिप्रसक्तयस्ता उद्धर्तुकामः '**णवरि**' इत्यादिना आह-गाथार्थः सुगमः । भावार्थः पुनरेवं-बादरैकेन्द्रियौघे बादरवायुकायौघे तथा पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां स्त्रीवेद-पुरुषवेद-विकलत्रिक-पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम-संहननषट्कहुंडवर्जसंस्थानपञ्चकखगति-द्विकातपोद्योत-त्रसबादरसुभगचतुष्कदुःस्वररूपाणामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां '**सेसाणं णेया गुरुरसव्व**' इत्यनेनातिदेशेन तथा "**गुरुरसव्व सेसा सव्वेसि**" इत्यनेनातिदेशेन बादर-पर्याप्तवायुकायमार्गणायां सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रं स्वयमूह्यमित्युक्तं, तदत्र देशोन-लोकप्रमाणमवगन्तव्यम् , मार्गणागतबादरवायुकायिकानां तद्बन्धकत्वात् तेषां च स्वस्थान-क्षेत्रस्य देशोनलोकप्रमाणत्वाच्च । षड्त्तरशतमार्गणा नामत इमाः- अष्टौ नरकभेदाः, पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्भेदास्ते च चत्वारः, तावन्त एव मनुष्यभेदाः, त्रिंशद्देवभेदाः, नव विकलेन्द्रियास्त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तबादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कम् , पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायस्त्रयस्त्रसकायभेदाः, मनोयोगाः पञ्च, वचनयोगाः पञ्च, वैक्रियकाययोगः, वैक्रियमिश्रकाययोगः, आहारककाययोगः, आहारकमिश्रकाययोगः, स्त्रीपुरुषवेदौ अवेदः, ज्ञानानि चत्वारि, विभङ्गज्ञानम् , अयतवर्जसंयम-मार्गणाषट्कमयते उक्तत्वात् , चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनम् , प्रशस्तलेश्यात्रिकम् , मिथ्यात्ववर्ज-सम्यक्त्वमार्गणाषट्कम् , मिथ्यात्वे उक्तत्वात् , संज्ञी चेति मार्गणानां षड्त्तरशतम् ॥११ १६॥

अथ मार्गणास्वायुषां रसबन्धकक्षेत्रं प्रचिकटयिषुरादौ तावत् तेषामुत्कृष्टरसबन्धक-क्षेत्रं दर्शयन्नाह—

सव्वासु मग्गणासु उक्कोसरसस्स बंधगा णेया ।
लोगाऽसंखियभागे सप्पाउग्गाण आऊणं ॥१७॥

(प्रे०) '**सव्वासु**'इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगो अवेदः सूक्ष्म-सम्परायचारित्रमुपशमसम्यक्त्वं मिश्रसम्यक्त्वमनाहारी चेति सप्तसु मार्गणास्वायुषो बन्धाभावात् त्रिषष्ट्युत्तरशतलक्षणासु सर्वासु मार्गणासु प्रत्येकं ' **पाउग्गाण**'त्ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणा-मायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका लोकाऽसंख्येयतमे भागे भवन्ति, लोकाऽसंख्येयभागस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, संज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायुर्बन्धकानामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । ततः किम् ? उत्कृष्टरसबन्धकानामुत्कृष्टतोऽपि आवलिकाऽसंख्येयभागगतसमयराशिप्रमितत्वात् संख्येय-भागत्वाद् वा ॥१७॥

अथ मार्गणास्वायुषामनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं प्रकटयन्नाह—

तिरिये एगिंदियपणकायणिगोएसु सव्वसुहमेसुं ।
कायोरालदुगेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥१८॥
अण्णाणदुगे अजए अचक्खुदंसण-तिअसुहलेसासुं ।
भवियेयर-मिच्छेसुं असण्णिआहारगेसुं च ॥१९॥
सप्पाउग्गाऊणमणुक्कोसरसस्स अत्थि ओघव्व ।

(प्रे०) 'तिरिये'इत्यादि, तिर्यग्गत्योघ एकेन्द्रियौघः 'पणकाय'त्ति पृथ्व्यादिकायपञ्चकस्य ओघभेदाः पञ्च, साधारणवनस्पतिकायौघः 'सव्वसुहमेसु' ति अष्टादश सूक्ष्मभेदाः काययोगौघ औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोगः नपुंसकवेदश्चत्वारः कषाया अज्ञानद्विकमयतोऽचक्षुर्दर्शनं तिस्रोऽप्रशस्तलेश्याः भव्याभव्यौ मिथ्यात्वमसंज्ञी आहारी चेति षट्चत्वारिंशत्संख्याकासु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकास्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः ओघवद् भवति, सूक्ष्माणामपि मार्गणान्तःप्रवेशात् । ओघवच्चैवम्—नरकदेवमनुष्यरूपाणां त्रयाणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागः, हेतुस्त्वोघवत् । तिर्यगायुषस्तु सर्वलोकः, सूक्ष्माणामपि तन्निर्वर्तकत्वात् ॥१८-१९॥

अथ बादरैकेन्द्रियादिमार्गणास्वाह—

सव्वेसुं लु बायर-एगिंदियवाउभेएसुं ॥२०॥
तिरियाउस्सूणजगे मणुआउस्सऽत्थि जगअसंखंसे ।
सेसासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आऊण ॥२१॥

(प्रे०) 'सव्वेसु'मित्यादि, बादरैकेन्द्रियौघः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियोऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय इति त्रिलक्षणेषु सर्वेषु बादरैकेन्द्रियभेदेषु त्रिषु बादरवायुकायभेदेषु च प्रत्येकं तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः 'ऊणजगे'त्ति देशोने लोके वर्तन्ते, कुतः ? बादरैकेन्द्रियौघादिषु वायुकायिकानामप्यन्तःप्रवेशात् तेषां स्वस्थानक्षेत्रस्य यथोक्तप्रमाणत्वाच्च । मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागः, इह बादरपृथ्व्यब्वनस्पतिकायिकानामेव तद्बन्धकत्वात् तेषां स्वस्थानक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् । तथा 'सेसासु'त्ति उक्तशेषास्वेकादशोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं 'जगअसंखंसे' इति पदस्यानुकर्षणात् लोकाऽसंख्येयभागः, कुतः ? स्वस्थानादिक्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वात् मरणसमुद्घाते आयुषां बन्धाभावाच्च ।

अथोक्तशेषा मार्गणाः—अष्टौ नरकमार्गणाश्चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाश्चत्वारोऽपि मनुष्यभेदाः त्रिंशद्देवभेदा नव विकलेन्द्रियभेदाः त्रयः पञ्चेन्द्रिया ओघादिभेदभिन्ना नव बादरपृथ्व्यप्तेजस्कायमार्गणाः त्रयो बादरनिगोदभेदाः त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदास्त्रयस्त्रसकायभेदाः पञ्च मनोयोगाः पञ्च वचनयोगा वैक्रियकाययोग आहारककाययोग आहारकमिश्रकाययोगः स्त्रीपुरुषवेदौ ज्ञानचतुष्कं विभङ्गज्ञानं संयमौघः सामायिकं छेदोपस्थापनीय परिहारविशुद्धिकं देशविरतिश्चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं तिस्रः प्रशस्तलेश्याः सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकं क्षायिक सास्वादनं सञ्ज्ञीत्येकादशोत्तरशतं मार्गणानाम् ॥२०-२१॥

अथ जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं दिदर्शयिपुस्तावदोघतस्तद्दर्शयति—

णिरयसुरतिगणराऊ विणाऽत्थि जाण परियत्तपरिणामो ।
च्चत्ताअ सिमखिलजगे हवन्ति मंदाणुभागस्स ॥२२॥
लोगासंखियभागे सेसाणं बंधगा मुणेयव्वा ।

(प्रे०) 'णिरये'त्यादि, नरकत्रिकादीनां जघन्यरसस्य परावर्तपरिणामेन बध्यमानत्वेऽपि तद्बन्धकक्षेत्रस्योत्कृष्टतो लोकासंख्येयभागमात्रत्वात् पठति 'णिरयसुरतिगणराऊ विणा' त्ति नरकत्रिकदेवत्रिकमनुष्यायूरूपाः सप्त प्रकृतीः वर्जयित्वा यासा 'च्चत्ताअ'त्ति सातवेदनीयाद्योऽष्टौ जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ता मनुष्यद्विकादय एकत्रिंशत् तिर्यगायुश्चेति चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः 'सिं' ति तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका अखिले लोके, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, सूक्ष्माणामपि तद्बन्धकत्वात् । तथा 'सेसाणं'ति उक्तशेषाणां चतुरशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका लोकासंख्येयतमे भागे भवन्ति, कुतः ? तत्र मनुष्यायुषो जघन्यरसस्य सूक्ष्माणामपि बन्धकत्वेऽपि तद्बन्धकानां श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशितोऽप्यल्पत्वात् आवलिकाऽसंख्यभागमात्रत्वाद्वा, यतो मनुष्यायुर्बन्धका उत्कृष्टतोऽपि श्रेण्यसंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिमिता एव । त्र्यशीतेस्तु प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकस्य पञ्चेन्द्रियमात्रत्वात् । अत्र त्र्यशीतिः प्रकृतयः—एकपञ्चाशद् ध्रुवबन्धिन्यो हास्यरती शोकारती त्रयो वेदा नरकत्रिकं देवत्रिकं तिर्यग्द्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं पराघातोच्छ्वासौ आतपनामोद्योतनाम जिननाम त्रसचतुष्कं नीचैर्गोत्रञ्चेति ॥२२॥

अथौघतोऽजघन्यरसबन्धकक्षेत्रस्य दिदर्शयिषयाऽनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवदतिदिशन्नाह—

अगुरुरसव्व हवन्ते अजहण्ण-रसस्स सव्वेसिं ॥२३॥

अथ मार्गणास्वायुषामनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं प्रकटयन्नाह—

तिरिये एगिंदियपणकायणिगोएसु सव्वसुहमेसु ।
कायोरालदुगेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥१८॥
अण्णाणदुगे अजए अचक्खुदंसण-तिअसुहलेसासुं ।
भवियेयर-मिच्छेसुं असण्णिआहारगेसुं च ॥१९॥
सप्पाउग्गाऊणमणुक्कोसरसस्स अत्थि ओघव्व ।

(प्रे०) 'तिरिये'इत्यादि, तिर्यग्गत्योघ एकेन्द्रियौघः 'पणकाय'त्ति पृथ्व्यादिकायपञ्चकस्य ओघभेदाः पञ्च, साधारणवनस्पतिकायौघः 'सव्वसुहमेसु' ति अष्टादश सूक्ष्मभेदाः काययोगौघ औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोगः नपुंसकवेदश्चत्वारः कषाया अज्ञानद्विकमयतोऽचक्षुर्दर्शनं तिस्रोऽप्रशस्तलेश्याः भव्याभव्यौ मिथ्यात्वमसंज्ञी आहारी चेति षट्चत्वारिंशत्संख्याकासु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकास्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः ओघवद् भवति, सूक्ष्माणामपि मार्गणान्तःप्रवेशात् । ओघवच्चैवम्—नरकदेवमनुष्यरूपाणां त्रयाणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागः, हेतुस्त्वोघवत् । तिर्यगायुषस्तु सर्वलोकः, सूक्ष्माणामपि तन्निर्वर्तकत्वात् ॥१८-१९॥

अथ बादरैकेन्द्रियादिमार्गणास्वाह—

सव्वेसुं लु बायर-एगिंदियवाउभेएसुं ॥२०॥
तिरियाउस्सूणजगे मणुआउस्सऽत्थि जगअसंखंसे ।
सेसासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आऊण ॥२१॥

(प्रे०) 'सव्वेसु'मित्यादि, बादरैकेन्द्रियौघः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियोऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय इति त्रिलक्षणेषु सर्वेषु बादरैकेन्द्रियभेदेषु त्रिषु बादरवायुकायभेदेषु च प्रत्येकं तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः 'ऊणजगे'त्ति देशोने लोके वर्तन्ते, कुतः ? बादरैकेन्द्रियौघादिषु वायुकायिकानामप्यन्तःप्रवेशात् तेषां स्वस्थानक्षेत्रस्य यथोक्तप्रमाणत्वाच्च । मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागः, इह बादरपृथ्व्यब्वनस्पतिकायिकानामेव तद्बन्धकत्वात् तेषां स्वस्थानक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् । तथा 'सेसासु'त्ति उक्तशेषास्वेकादशोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं 'जगअसंखंसे' इति पदस्यानुकर्षणात् लोकाऽसंख्येयभागः, कुतः ? स्वस्थानादिक्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वात् मरणसमुद्घाते आयुषां बन्धाभावाच्च ।

अथोक्तशेषा मार्गणाः—अष्टौ नरकमार्गणाश्चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाश्चत्वारोऽपि मनुष्यभेदाः त्रिंशद्देवभेदा नव विकलेन्द्रियभेदाः त्रयः पञ्चेन्द्रिया ओघादिभेदभिन्ना नव बादरपृथ्व्यप्तेजस्कायमार्गणाः त्रयो बादरनिगोदभेदाः त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदास्त्रयस्त्रसकायभेदाः पञ्च मनोयोगाः पञ्च वचनयोगा वैक्रियकाययोग आहारककाययोग आहारकमिश्रकाययोगः स्त्रीपुरुषवेदौ ज्ञानचतुष्कं विभङ्गज्ञानं संयमौघः सामायिकं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकं देशविरतिश्चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं तिस्रः प्रशस्तलेश्याः सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकं क्षायिकं सास्वादनं संज्ञीत्येकादशोत्तरशतं मार्गणानाम् ॥२०-२१॥

अथ जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं दिदर्शयिपुस्तावदोघतस्तद्दर्शयति—

णिरयसुरतिगणराऊ विणाऽत्थि जाण परियत्तपरिणामो ।
सत्ताअ सिमखिलजगे हवन्ति मंदाणुभागस्स ॥२२॥
लोगासंखियभागे सेसाणं बंधगा मुणेयव्वा ।

(प्रे०) 'णिरये'त्यादि, नरकत्रिकादीनां जघन्यरसस्य परावर्तपरिणामेन बध्यमानत्वेऽपि तद्बन्धकक्षेत्रस्योत्कृष्टतो लोकासंख्येयभागमात्रत्वात् पठति **'णिरयसुरतिगणराऊ विणा'** त्ति नरकत्रिकदेवत्रिकमनुष्यायूरूपाः सप्त प्रकृतीः वर्जयित्वा यासा 'सत्ताअ'त्ति सातवेदनीयाद्योऽष्टौ जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ता मनुष्यद्विकादय एकत्रिंशत् तिर्यगायुश्चेति चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः **'सि'** ति तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका अखिले लोके, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, सूक्ष्माणामपि तद्बन्धकत्वात् । तथा **'सेसाणं'**ति उक्तशेषाणां चतुरशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका लोकासख्येयतमे भागे भवन्ति, कुतः ? तत्र मनुष्यायुषो जघन्यरसस्य सूक्ष्माणामपि बन्धकत्वेऽपि तद्बन्धकानां श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशितोऽप्यल्पत्वात् आवलिकाऽसंख्यभागमात्रत्वाद्वा, यतो मनुष्यायुर्बन्धका उत्कृष्टतोऽपि श्रेण्यसंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिमिता एव । त्र्यशीतेस्तु प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकस्य पञ्चेन्द्रियमात्रत्वात् । अत्र त्र्यशीतिः प्रकृतयः—एकपञ्चाशद् ध्रुवबन्धिन्यो हास्यरती शोकारती त्रयो वेदा नरकत्रिकं देवत्रिकं तिर्यग्द्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमाहारकद्विक पराघातोच्छ्वासौ आतपनामोद्योतनाम जिननाम त्रसचतुष्कं नीचैर्गोत्रञ्चेति ॥२२॥

अथौघतोऽजघन्यरसबन्धकक्षेत्रस्य दिदर्शयिपयाऽनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवदतिदिशन्नाह—

अगुरुरसव्व हवन्ते अजहण्ण-रसस्स सव्वेसिं ॥२३॥

(प्रे०) 'अणुक्करसव्वे' त्यादि, सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धकास्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः अनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवद् भवति कुतः ? यस्याः प्रकृतेरनुत्कृष्टरसबन्धकाः असंख्येयलोकादिमितास्ततो न्यूना वा तस्या अजघन्यरसबन्धका अपि तावन्त एव । ततः किम् ? तयोः प्रत्येकं स्वस्थानादिक्षेत्रस्य तुल्यत्वादिति ॥२३॥

अथादेशतो जघन्यरसबन्धकक्षेत्र प्रचिकटयिषुस्तिर्यग्गत्योघादिषु तत् प्रकटयन्नाह—

ओघव्व बधगा खलु मदऽणुभागस्स आउवज्जाण ।
तिरिकायुरलदुगेसुं कम्मणपुंसगकसायेसुं ॥२४॥
अण्णाणदुगे अजए अचक्खुदंसण-तिअसुहलेसासुं ।
भवियेयरमिच्छेसु असण्णि-आहारगियरेसुं ॥२५॥
णवरं सयमुज्झ तिरिउरालदुगणीलकाउअमणेसुं ।
तिरिदुगणीआण अखिलजगम्मि सव्वाण सव्वसुहमेसु ॥२६॥(गीतिः)

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि इह नामग्राहं दर्शितासु तिर्यग्गत्योघादिषु त्रयोविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं आयुर्वर्जानां बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकक्षेत्रमोघवद् भवति. कुतः ? सूक्ष्मैकेन्द्रियादिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियावसानानां जीवानां मार्गणाप्रविष्टत्वात् । ततः किम् ? सूक्ष्मानाश्रित्य परावर्तमानपरिणामबध्यमानजघन्यरसानां प्रकृतीनां क्षेत्रम् ओघवत् सर्वलोकः । पञ्चेन्द्रियानाश्रित्य शेषाणामोघवल्लोकासंख्येयभागक्षेत्रं प्राप्यते । इति सामान्योक्तिः, कस्यचिद् विशेषस्य 'णवर' मित्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् । अथ विशेषमेव दर्शयति 'णवर' ति तिर्यग्गत्योघः औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोगो नीललेश्या कापोतलेश्याऽसञ्ज्ञीति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धकक्षेत्र स्वयमूह्यं तज्ज्ञातृभ्यः सकाशादिति शेषः । कुत इयमुक्तिरिति चेदुपदेशाभावात् । तद्यथा—तिर्यग्गत्योघादिषु मार्गणासु प्रत्येकं पर्याप्तबादरवायुकायिकास्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धकाः ते चाऽऽवलिकाऽसंख्येयभागादिमिता उताऽसंख्येयप्रतरादिमिता इति विशेषोपदेशाभावात् न किञ्चित् स्पष्टमुक्तं ग्रन्थकृता । यदि विवक्षितसमये तज्जघन्यरसबन्धका आवलिकाऽसंख्येयभागादिमितास्तर्हि तेषां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागः । यदि असंख्येयप्रतरादिमितास्तर्हि देशोनलोकः, बन्धकानां प्रभूतत्वाद् बादरवायुस्वस्थानस्य देशोनलोकत्वाच्च । लोकाऽसंख्येयभागस्तत्क्षेत्रमित्यस्मन्मतिः, जघन्यरसबन्धस्थानस्यैकमात्रत्वेन तन्निर्वर्तकानां स्वल्पत्वसंभवात् । कुतस्तज्ज्ञायत इति चेदुच्यते—यथा त्रसकायौघादिषु मार्गणासु असंख्येयलोकेभ्यो न्यूना जीवाः, जघन्यरसबन्धकास्तु आवलिका-

ऽसंख्येयभागमिताः तथैव पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायां जीवा असंख्येयलोकेभ्यो न्यूनाः, ततो जघन्यरसबन्धका आवलिकाऽसंख्येयभागमिताः सम्भवन्ति । ततः किम् ? यस्यां मार्गणायां विवक्षितप्रकृतेर्जघन्यरसबन्धका आवलिकाऽसंख्येयभागमिता यावत् प्रतराऽसंख्येयभागमिता वा, तस्यां तत्प्रकृतेर्जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभाग एव, तदपि न केवलं स्वस्थानप्रयुक्तं किन्तु मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तमपि । तदपि कुतो ज्ञायते ? पर्याप्तबादरपृथ्व्यादीनां प्रत्येकं प्रतराऽसंख्येयभागमितत्वे सति तेष्वनुत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रस्य लोकाऽसंख्येयभागतया प्रागिहैव प्रतिपादितत्वात् । अत्र तत्त्व तु बहुश्रुतगम्यम् ।

अथात्र 'णवर' मित्यादिना दर्शितविशेषान्वितमेवौघवद् भावयामः—तिर्यग्गत्योघमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायाश्च प्रत्येकं सातवेदनीयादीनामष्टानां जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतश्च प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं सर्वलोकः, सूक्ष्माणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्तु अचिरादिहैवोक्तम् । तथा आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावात् शेषाणां पञ्चसप्ततेर्लोकाऽसंख्येयभागः, पञ्चेन्द्रियाणामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषाञ्चासंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । काययोगौघो नपुंसकवेदश्चत्वारः कषाया अचक्षुर्दर्शन भव्य आहारीति नवसु मार्गणासु प्रत्येकं सातवेदनीयादीनामष्टानां मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतश्च जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं सर्वलोकः । शेषाणामेकाशीतेर्लोकाऽसंख्येयभागः, हेतुः पूर्ववत् । औदारिककाययोगमार्गणायां सर्वं काययोगौघवत् , नवरं शेषाणामष्टसप्ततेरिति वाच्यम् , तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धकक्षेत्रस्य ग्रन्थकृता पृथग् निर्दिष्टत्वात् , औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां सातवेदनीयादीनामष्टानां मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतः पञ्चेन्द्रियजाति त्रस-बादरत्रिकनाम्नाञ्चेति सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं सर्वलोकः । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरनन्तरोक्तवत् । तथाऽऽहारकद्विकनरकद्विकयोरत्र बन्धानर्हत्वात् शेषाणामेकोनसप्ततेर्लोकासंख्येयभागः । कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोः प्रत्येकं सर्वमौदारिकमिश्रकाययोगवद् नवरं शेषाणां सप्तसप्ततेरिति वाच्यं, पञ्चेन्द्रिय-त्रस-बादरत्रिकनाम्नां लोकासंख्यभागः, सर्वसंक्लिष्टपञ्चेन्द्रियाणां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरपि जघन्यरसबन्धकक्षेत्रस्येह लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । कुतः ? तज्जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानस्थसप्तमपृथ्वीनरकस्वामिकत्वात् । तथाऽज्ञानद्विकम् , अभव्यः, मिथ्यात्वमिति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सातवेदनीयादीनामष्टानां मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतश्च जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं सर्वलोकः, लोकाऽसंख्येयभागस्तु शेषाणामष्टसप्ततेः, आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धानर्हत्वात् । अयतकृष्णलेश्यामार्गणयोः प्रत्येकं सातवेदनीयादीनामष्टानां मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतश्च सर्वलोकः, आहारकद्विकस्यात्र बन्धाभावात् ,

शेषाणां नवसप्ततेर्लोकासंख्येयभागः । नीलकापोतलेश्ययोः प्रत्येकं सर्वं कृष्णलेश्यावत्, नवरं शेषाणां षट्सप्ततेरिति वाच्यं, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः पृथग् निर्दिष्टत्वात् ।

तथा **"सव्वसुहमेसु"** ति अष्टादशसु सूक्ष्मजीवभेदेषु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकः, तेषामसंख्येयलोकादिमितत्वे सति सर्वलोकव्यापित्वात् ॥२४-२६॥

अथैकेन्द्रियौघमार्गणायामाह—

एगिंदियम्मि मज्झिमपरिणामो जाण मिं तह सुहाणं ।
सुहमारिहाण खिलं लोए सेसाण सयमुज्झं ॥२७॥

(प्रे०) **"एगिंदिये"** त्यादि, एकेन्द्रियौघमार्गणायां सातवेदनीयादयोऽष्टौ 'णरदुगुच्चाणि संघयणागिइछक्क खगइदुग सुहगदुहगतिग। एगिंदि थावर सुहमविगलतिगे' ति मनुष्यद्विकादय एकत्रिंशत्, त्रसनाम, पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकञ्चेति यासां चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः 'सि' ति तासां **"तह सुहाणं"** ति तथाऽष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः पराघातोच्छ्वासौ औदारिकशरीरनामेति सूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्याणामेकादशानां प्रशस्तानामिति सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकः, तत्र चतुश्चत्वारिंशतो जघन्यरसस्य सूक्ष्माणामपि बन्धकत्वात् तेषाञ्च सर्वलोकव्यापित्वात् । एकादशानान्तु जघन्यरसस्य सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां बादरनिगोदानां मरणसमुद्घातगतानामपि बन्धकत्वात्, मरणसमुद्घातगतानाञ्च तेषां सर्वलोकव्यापित्वात् । तथा **"सेसाण"** त्ति मार्गणाबन्धार्हाणामुक्तशेषाणां षट्पञ्चाशतो जघन्यरसबन्धकास्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, स्वयमूह्यम् । हेत्वादिकमत्र यत् प्राक् तिर्यग्गत्योघमार्गणायां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रविषये उक्तं तदेवाऽवसातव्यम् ॥२७॥

अथ बादरैकेन्द्रियौघमार्गणायामाह—

जाण सुहमजोग्गाणं बायरएगिंदियेऽत्थि मज्झिमगो ।
ताण तह सुहाण सुहमजोग्गाणं सव्वलोगम्मि ॥२८॥
लोगाऽसंखयभागे णरदुगउच्चाण जाण सेसाण ।
मज्झिमपरिणामो सिं ऊणजगेऽण्णाण सयमुज्झं ॥२९॥

(प्रे०) **"जाणे"**त्यादि, बादरैकेन्द्रियौघमार्गणायां **"सुहम-जोग्गाण"** ति सूक्ष्मैकेन्द्रियवेदनप्रायोग्याणां साताऽसाते, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, एकेन्द्रियजातिः, हुंडकसंस्थाननाम, स्थावरचतुष्कम्, पर्याप्तनाम, प्रत्येकनाम, दुर्भगनामाऽनादेयनामाऽयशः-

कीर्त्तिनामेति यासां सातवेदनीयादीनां सप्तदशप्रकृतीनां "**मज्झिमगो**" त्ति जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः तासां तथा "**सुहाण सुहमजोग्गाण**" ति प्रशस्तध्रुवबन्धि-पराघातोच्छ्वासौदारिकशरीरनामरूपाणां प्रशस्तानां सूक्ष्मवेदनयोग्यानां तैरपि वेद्यानामि-त्यर्थः, एकादशानामिति सर्वसंख्यया‌ऽष्टाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः सर्वलोके सूक्ष्म-तयोत्पित्सूनामनन्तत्वे सति तेषां मारणान्तिकसमुद्घातक्षेत्रस्य सर्वलोकत्वात् । तद्गतानामपि तेषां जघन्यरसबन्धकत्वाच्च ।

तथा "**णरदुग**" त्ति मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका लोकाऽसंख्येयभागे, वायुकायिकानां तद्बन्धानर्हत्वात् प्रस्तुतमार्गणागतपृथ्व्यादीनां स्वस्थानादि-क्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तेषां तद्बन्धाभावाच्च । तथा '**सेसाणं**" ति सूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्याणां सातवेदनीयादीनामत्रैवोक्तत्वात् तद्व्यति-रिक्तानां विकलत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः संहननषट्कं हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकं त्रसनाम बादरनाम सुभगचतुष्कं दुःस्वरनाम चेति यासां द्वाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यम-परिणामः तासां जघन्यरसबन्धकानां क्षेत्रं देशोनलोकः, अपर्याप्तबादरवायुकायिकक्षेत्रप्राधा-न्यात् । तथा "**अण्णाण**" त्ति इहोक्तातिरिक्तानामष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः स्वयमूह्याः. तज्जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं स्वयमेव ज्ञेयमित्यर्थः, तज्ज्ञातृसकाशादिति शेषः, हेत्वा-दिक्रमत्र यथा तिर्यग्गत्योघे तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रविषयकम् तथैव । अथाऽष्टपञ्चाशत् प्रकृतयः-अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत् हास्यरती शोकारती त्रयो वेदास्तिर्यग्द्विकमौदारिकाङ्गो-पाङ्गनाम खगतिद्विकमातपनामोद्योतनाम नीचैर्गोत्रमिति ॥२८-२९॥

अथ बादरपर्याप्तैकेन्द्रियमार्गणायामाह—

सुहमारिहाण बायरपज्जत्तेगिंदिये सुहाण तहा ।
मज्झिमपरिणामो खलु जेसि सुहमारिहाणं सिं ॥३०॥
इइ अडवीसा अरि ललोए होअन्ति णरदुगुच्चाणं ।
लोगासंखियभागे सेसाण सयं मुणेयव्वा ॥३१॥

(प्रे०) "**सुहुमारिहाणे**" त्यादि, बादरपर्याप्तैकेन्द्रियमार्गणायां सर्वमनन्तरोक्तबादरै-केन्द्रियमार्गणावद् वाच्यम् । नवरं शेषाणामशीतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं स्वयमूह्य-मिति वाच्यम् । किमुक्तं भवति ? अनन्तरमार्गणायां विकलत्रिकादीनां द्वाविंशतेर्जघन्यरस-बन्धकक्षेत्रं देशोनलोक इत्युक्तम् , अपर्याप्तानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । इह तु तासामपि तत्स्वयमूह्यमित्येव वाच्यम् , कुतः? अपर्याप्तानां प्रकृतमार्गणाबाह्यत्वात् ॥३०-३१॥

अथ बादराऽपर्याप्तैकेन्द्रियमार्गणायामाह—

सुहमाऽरिहाण बायर-अपज्जएगिंदिये सुहाण तहा ।
मज्झिमपरिणामो खलु जेर्मि सुहमाऽरिहाणं सि ॥३२॥
इइ अडवीसाअ अखिललोए होअन्ति णरदुगुच्चाणं ।
लोगासंखियभागे देसूणजगम्मि सेसाणं ॥३३॥

(प्रे०) "सुहमारिहाणे" त्यादि, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां सर्वं बादरैकेन्द्रियौघमार्गणावद् वाच्यम् । नवरं तत्र देशोनलोकः क्षेत्रं विकलत्रिकादीनां द्वाविंशतेरेव जघन्यरसबन्धकानामुक्तमिह तु शेषाणां सर्वासामशीतिरूपाणां तद् देशोनलोकः, कुतः? पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां मार्गणाबाह्यत्वेन विकलत्रिकादिद्वाविंशतेरिवाऽप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनामष्टपञ्चाशतोऽपि जघन्यरसस्याऽपर्याप्तबादरैरेव वध्यमानत्वात् अपर्याप्तबादरवायुक्षेत्रप्राधान्याच्च ॥३२-३३॥

अथ पृथ्वीकायौघादिमार्गणास्वाह—

पुहवीदगतेऊसु जाण हवेज्ज परियत्तपरिणामो ।
ताणऽत्थि सव्वलोए सेसाण जगअसंखंसे ॥३४॥

(प्रे०) "पुहवी"त्यादि, पृथ्वीकायौघमार्गणायामप्कायौघमार्गणायां तेजःकायौघमार्गणायाञ्च प्रत्येकं 'जाण' त्ति सातादयोऽष्टौ जघन्यरसबन्धस्वामित्वप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तमनुष्यद्विकादय एकत्रिंशत् तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकञ्चेति यासां सप्तचत्वारिंशतः, तेजःकायमार्गणायां तु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धाभावात् तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरन्यथा वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जानां यासामेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः, तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः सर्वलोके, सूक्ष्माणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा "सेसाण" ति उक्तशेषाणामत्र बन्धार्हाणां चतुःषष्टेः प्रकृतीनां तेजःकायमार्गणायां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति सप्तषष्टेः प्रकृतीनां लोकाऽसंख्येयभागे, बादरपर्याप्तानामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषाञ्च स्वस्थानक्षेत्रस्योत्कृष्टतोऽपि एतावन्मात्रत्वात् । सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मरणसमुद्घातगतानां केषाञ्चिदसुमतां प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकत्वेऽपि बादरपर्याप्तपृथ्व्यादिकायिकानामसंख्येयलोकमितत्वाभावाद् मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तमपि यथोक्तमेव क्षेत्रमिति ॥३४॥ अथ वनस्पतिकायौघादिमार्गणयोराह—

जाण परियत्तमाणो ताण तह सुहाण सुहमजोग्गाण ।
हरिअणिगोएसु अखिललोए सेसाण जगअसंखंसे ॥३५॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'जाण' इत्यादि, वनस्पतिकायौघसाधारणवनस्पतिकायौघमार्गणयोः प्रत्येकमनन्तरगाथाविवरणोक्तानां परावर्तमानपरिणामबध्यमानजघन्यरसानां सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनां तथा प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पराघातोच्छ्वासौ औदारिकशरीरनामेति सूक्ष्मैकेन्द्रियवेद्यानां प्रशस्तानामेकादशप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका निखिले लोके भवन्ति ।

तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो हास्यरती शोकारती त्रयो वेदा औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम आतपनामोद्योतनामेति त्रिपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका लोकाऽसंख्येयतमे भागे, पर्याप्तबादरजीवानामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तत्स्वस्थानक्षेत्रस्य चैतावन्मात्रत्वात् । न च मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तमतोऽपि अधिकतरं क्षेत्रं भविष्यतीति वाच्यम्, एतासां जघन्यरसं बध्नतां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तिर्यग्लोक एवोत्पादेन तेषां पारभविकोत्पत्तिक्षेत्रस्यापि लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् ॥३५॥

अथ बादरपृथ्वीकायौघादिमार्गणास्वाह—

बायरपुहविदगागणिपत्तेअवणेसु मज्झिमो जेसिं ।
सुहमारिहाण तेसिं सव्वजगेऽण्णाण जगअसंखंसे ॥३६॥ (गीतिः)

(प्रे०) "बायरपुहवी" त्यादि, बादरपृथ्वीकायौघः बादराप्कायौघ, बादरतेजःकायौघः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघ इति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं 'सुहमारिहाण' ति सूक्ष्मपृथ्व्यादिजीववेद्यानां यासां साताऽसाते स्थिराऽस्थिरे शुभाशुभेऽयशःकीर्तिः एकेन्द्रियजातिः हुंडकसंस्थानं स्थावरचतुष्कं पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम दुर्भगनामाऽनादेयनामेति सप्तदशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः तासां जघन्यरसबन्धकाः 'सव्वजगे' त्ति सर्वलोके, बादरापर्याप्तपृथिव्यादिकायिकानामपि जघन्यरसबन्धकत्वात्, तत्समुद्घातक्षेत्रस्य च तावत्प्रमाणत्वात् । अथ 'ऽण्णाण' त्ति अन्यासामुक्तातिरिक्तानामत्र बन्धार्हाणां चतुर्नवतेः तेजःकायमार्गणायान्तु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धाभावात् तद्वर्जानामेकनवतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका लोकाऽसंख्येयभागे, तदीयस्वस्थानक्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वात्, न च चतुर्नवत्याद्यन्तर्गतानां प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पराघातोच्छ्वासौ औदारिकशरीरनामेति एकादशानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः सर्वलोके भविष्यन्ति, सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मरणसमुद्घातगतानामपर्याप्तबादराणामपि तद्बन्धकत्वादिति वाच्यम्, इह पर्याप्तबादरपृथ्व्यादीनामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषाञ्च सर्वलोकव्यापित्वाभावात् ॥३६॥ अथ बादरनिगोदादिष्वाह—

बायर-सव्वणिगोअ-अपज्जपुहवि-सलिल तेउकायेसु ।
पत्तेअ-वण-अपज्जे जेसिं परियत्तपरिणामो ॥३७॥

सुहमाविहाण तेसिं तहा पमत्थाण सुहमजोग्गाणं ।
सव्वजगे विण्णेया सेमाणं जग-असंखंसे ॥३८॥

(प्रे०) "बायर-सव्वे"त्यादि, बादरसाधारणवनस्पतिकायः पर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकायः अपर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकायः द्वन्द्वादौ श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति वचनाद् 'बायर' त्ति पदस्यात्रापि सम्बन्धाद् बादरापर्याप्तपृथ्व्यादयस्त्रयः अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय इति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकमनन्तरगाथाविवरणोक्तानां सूक्ष्मैकेन्द्रियवेद्यानां यासां सातवेदनीयादीनां सप्तदशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तासां तथा सूक्ष्मवेद्यानां प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनामेकादशानामिति सर्वसंख्यया ऽष्टाविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः सर्वलोके सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मरणसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् तत्समुद्घातक्षेत्रस्य च सर्वलोकत्वात् । तथा 'सेसाण' ति तत्र षड्मार्गणासु प्रत्येकमुक्तशेषाणां त्र्यशीतेः, अपर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धानर्हत्वादशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका लोकाऽसंख्येयभागे भवन्ति, समुद्घातक्षेत्रस्य सर्वलोकत्वेऽपि सूक्ष्मत्वाभिमुखानां तज्जघन्यरसबन्धकत्वाभावात्, तत्राऽप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यरसबन्धो नास्ति, कासाञ्चिन्मनुष्यद्विकादीनान्तु बन्धाभाव एव वर्तत इति भावः ॥३७-३८॥

अथ वायुकायौघमार्गणायामाह—

वाउम्मि जाण मज्झिमपरिणामो अत्थि एगचत्ताए ।
ताणऽत्थि सव्वलोए सेसाण सयं मुणेयव्वं ॥३९॥

(प्रे०) 'वाउम्मी'त्यादि, वायुकायौघमार्गणायां सातवेदनीयादयोऽष्टौ जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः संहननषट्कादयोऽष्टाविंशतिस्त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकमिति यासामेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, सूक्ष्माणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा 'सेसाण'त्ति उक्तशेषाणां सप्तषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां क्षेत्रं स्वयमेव बोध्यम्, तज्ज्ञातृसकाशाज्ज्ञात्वेति शेषः । अत्र हेत्वादिकं यथा तिर्यग्गत्योघे तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रविषयमुक्तं तथैवाऽवसातव्यम् । अथोक्तशेषाः सप्तषष्टिः प्रकृतयः,—एकपञ्चाशद् ध्रुवबन्धिन्यो हास्यरती शोकारती त्रयो वेदास्तिर्यग्द्विकम् औदारिकद्विकं पराघातोच्छ्वासौ आतपनामोद्योतनाम नीचैर्गोत्रम् इति सप्तषष्टिः ॥३९॥ अथ बादरवायुकायमार्गणायामाह—

जाण परियत्तमाणो बायरवाउम्मि सुहमजोग्गाणं।
सव्वजगे ऊणजगेऽण्णेसि सेसाण सयमुज्झं ॥४०॥

(प्रे०) 'जाणे'त्यादि. बादरवायुकायौघमार्गणायां यासां सूक्ष्मयोग्यानां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामः, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तासां जघन्यरसबन्धकाः 'सर्वलोके' निखिले लोके सन्ति, सम्पूर्णो लोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्, मार्गणाजीवानामसंख्येयलोकमितत्वाच्च। सप्तदश प्रकृतयस्त्विमाः—सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे एकेन्द्रियजातिहुंडकसंस्थाननाम स्थावरचतुष्कं पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम दुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिनामानि चेति। तथा 'अण्णंसि' ति सप्तदशव्यतिरिक्तानामित्यर्थः, 'जाण परियत्तमाणो' यासां परावर्तमानपरिणामश्चेति पदेऽनुवर्तेते तेनाऽन्यासां यासा विकलत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः संहननषट्कं हुडवर्जसंस्थानपञ्चकं खगतिद्विकं त्रसनाम बादरनाम सुभगचतुष्कं दुःस्वरनाम चेति चतुर्विंशतेः प्रकृतीना जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामः तासां जघन्यरसबन्धका देशोनलोके भवन्ति, अपर्याप्तानां तज्जघन्यरसबन्धकत्वेऽपि सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तद्बन्धासंभवात् तेषां स्वस्थानस्य देशोनलोकत्वे सति परिमाणतोऽसंख्येयलोकमितत्वाच्च।

तथा 'सेसाण'त्ति उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां सप्तषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं स्वयमूह्य तज्ज्ञातृसकाशाज्ज्ञात्वेति शेषः, हेतुः प्राक् तिर्यग्गत्योघमार्गणायां यस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रविषयक उक्तः सोऽत्रापि बोध्यः। इमाश्च ताः सप्तषष्टिः प्रकृतयः- ध्रुवबन्धिन्य एकपञ्चाशत् हास्यरती शोकारती त्रयो वेदास्तिर्यग्द्विकमौदारिकद्विकं पराघातनामोच्छ्वासनाम आतपनामोद्योतनाम नीचैर्गोत्रञ्चेति ॥४०॥

अथ बादराऽपर्याप्तवायुकायादिमार्गणास्वाह—

बायरवाउअपज्जे सव्वजगम्मि सुह-सुहमजोग्गाण।
तह मज्झिमपरिणामो जेसिं सिं सुहमजोग्गाणं ॥४१॥
सेसाणूणजगे सयमुज्झं बायरसमत्तवाउम्मि।
सव्वेसि सेमासु लोगस्स असंखभागम्मि ॥४२॥

(प्रे०) 'बायरवाउ' इत्यादि, अपर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायां 'सुहसुहम' त्ति शुभानां प्रशस्तानां सूक्ष्मयोग्यानां-सूक्ष्मनाम्ना सह बध्यमानानां, स्वस्थानसंक्लेशेन बध्यमानजघन्यरसानामिति शेषः, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः पराघातोच्छ्वासौ औदारिकशरीरनाम चेत्येकादशानां

सुहमारिहाण तेसिं तहा पमत्थाण सुहमजोग्गाणं ।
सव्वजगे विण्णेया सेसाणं जग-असंखंसे ॥३८॥

(प्रे०) "बायर-सव्वे"त्यादि, बादरसाधारणवनस्पतिकायः पर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकायः अपर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकायः द्वन्द्वादौ श्रूयमाणं पद प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति वचनाद् 'बायर' त्ति पदस्यात्रापि सम्बन्धाद् बादरापर्याप्तपृथ्व्यादयस्त्रयः अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय इति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकमनन्तरगाथाविवरणोक्तानां सूक्ष्मैकेन्द्रियवेद्यानां यासां सातवेदनीयादीनां सप्तदशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तासां तथा सूक्ष्मवेद्याना प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनामेकादशानामिति सर्वसंख्यया ऽष्टाविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः सर्वलोके सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मरणसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् तत्समुद्घातक्षेत्रस्य च सर्वलोकत्वात् । तथा 'सेसाण' ति तत्र षड्मार्गणासु प्रत्येकमुक्तशेषाणां त्र्यशीतेः, अपर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धानर्हत्वादशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येक जघन्यरसबन्धका लोकाऽसंख्येयभागे भवन्ति, समुद्घातक्षेत्रस्य सर्वलोकत्वेऽपि सूक्ष्मत्वाभिमुखाना तज्जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् , तत्राऽप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यरसबन्धो नास्ति, कासाञ्चिन्मनुष्यद्विकादीनान्तु बन्धाभाव एव वर्तत इति भाव' ॥३७ ३८॥

अथ वायुकायौघमार्गणायामाह—

वाउम्मि जाण मज्झिमपरिणामो अत्थि एगचत्ताए ।
ताणऽत्थि सव्वलोए सेसाण सयं मुणेयव्वं ॥३९॥

(प्रे०) 'वाउम्मी'त्यादि, वायुकायौघमार्गणायां सातवेदनीयादयोऽष्टौ जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसग्रहगाथोक्ताः संहननपट्कादयोऽष्टाविंशतिस्त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकमिति यासामेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, सूक्ष्माणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा 'सेसाण'त्ति उक्तशेषाणां सप्तषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाना क्षेत्रं स्वयमेव बोध्यम् , तज्ज्ञातृसकाशाज्ज्ञात्वेति शेषः । अत्र हेत्वादिकं यथा तिर्यग्गत्योघे तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रविषयमुक्तं तथैवाऽवसातव्यम् । अथोक्तशेषाः सप्तषष्टिः प्रकृतयः,–एकपञ्चाशद् ध्रुवबन्धिन्यो हास्यरती शोकारती त्रयो वेदास्तिर्यग्द्विकम् औदारिकद्विकं पराघातोच्छ्वासौ आतपनामोद्योतनाम नीचैर्गोत्रम् इति सप्तषष्टिः ॥३९॥ अथ बादरवायुकायमार्गणायामाह—

जाण परियत्तमाणो बायरवाउम्मि सुहमजोग्गाणं।
सव्वजगे ऊणजगेऽण्णेसि सेसाण सयमुज्झं ॥४०॥

(प्रे०) 'जाणे'त्यादि, बादरवायुकायौघमार्गणायां यासां सूक्ष्मयोग्यानां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामः, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तासां जघन्यरसबन्धकाः 'सर्वलोके' निखिले लोके सन्ति, सम्पूर्णो लोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्, मार्गणाजीवानामसंख्येयलोकमितत्वाच्च। सप्तदश प्रकृतयस्त्विमाः–साताऽसाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे एकेन्द्रियजातिहुँडकसंस्थाननाम स्थावरचतुष्कं पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम दुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिनामानि चेति। तथा 'अण्णेसि' ति सप्तदशव्यतिरिक्तानामित्यर्थः, 'जाण परियत्तमाणो' यासां परावर्तमानपरिणामश्चेति पदेऽनुवर्तेते तेनाऽन्यासां यासां विकलत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः संहननषट्कं हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकं खगतिद्विकं त्रसनाम बादरनाम सुभगचतुष्कं दुःस्वरनाम चेति चतुर्विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामः तासां जघन्यरसबन्धका देशोनलोके भवन्ति, अपर्याप्तानां तज्जघन्यरसबन्धकत्वेऽपि सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तद्बन्धासंभवात् तेषां स्वस्थानस्य देशोनलोकत्वे सति परिमाणतोऽसंख्येयलोकमितत्वाच्च।

तथा 'सेसाण'त्ति उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां सप्तषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं स्वयमूह्यं तज्ज्ञात्सकाशाज्ज्ञात्वेति शेषः, हेतुः प्राक् तिर्यग्गत्योघमार्गणायां यस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रविषयक उक्तः सोऽत्रापि बोध्यः। इमाश्च ताः सप्तषष्टिः प्रकृतयः- ध्रुवबन्धिन्य एकपञ्चाशत् हास्यरती शोकारती त्रयो वेदास्तिर्यग्द्विकमौदारिकद्विकं पराघातनामोच्छ्वासनाम आतपनामोद्योतनाम नीचैर्गोत्रञ्चेति ॥४०॥

अथ बादराऽपर्याप्तवायुकायादिमार्गणास्वाह—

बायरवाउअपज्जे सव्वजगम्मि सुह-सुहमजोग्गाणं।
तह मज्झिमपरिणामो जेसिं सिं हमजोग्गाणं ॥४१॥
सेसाणूणजगे सय ज्झं बायरसमत्तवाउम्मि।
सव्वेसि सेसासुं लोगस्स असंखभागम्मि ॥४२॥

(प्रे०) 'बायरवाउ' इत्यादि, अपर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायां 'ह हम' त्ति शुभानां प्रशस्तानां सूक्ष्मयोग्यानां-सूक्ष्मनाम्ना सह बध्यमानानां, स्वस्थानसंक्लेशेन बध्यमानजघन्यरसानामिति शेषः, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः पराघातोच्छ्वासौ औदारिकशरीरनाम चेत्येकादशानां

प्रकृतीनां तथाऽनन्तरोक्तमार्गणाविवरणे नामग्राहं दर्शितानां यासां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तासां सातवेदनीयादीनां सप्तदशानामिति सर्वसंख्ययाऽष्टाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः सर्वजगति भवन्ति सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्, जघन्यरसबन्धकानामसंख्येयलोकमितत्वाच्च। किमुक्तं भवति? यत्र विवक्षितप्रकृतेर्जघन्यरसं सूक्ष्मैकेन्द्रियत्वेनोत्पित्सवो मारणान्तिकसमुद्घातगता अपि बध्नन्ति किन्तु जघन्यरसबन्धका जीवा असंख्येयलोकमिता न भवन्ति, तत्र तज्जघन्यरसबन्धकानां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तमपि क्षेत्रं सर्वलोको नैव भवति। अत्र तु तेषां असंख्येयलोकमितत्वात् क्षेत्रं सर्वलोको भवति। तथा '**सेसाण**' त्ति उक्तशेषाणामशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका देशोने लोके देशोनो लोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः मार्गणाजीवानामसंख्येयलोकमितत्वात् तेषाञ्च स्वस्थानक्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वात् सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तज्जघन्यरसबन्धाभावाच्च।

अथ बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायामाह '**बायरसम्मत्ते**'त्यादिना, बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायाम् '**सव्वेसि**' ति बन्धार्हाणामष्टोत्तरशतरूपाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं स्वयमेवोह्यम्, असंख्येयानामसंख्येयभेदभिन्नत्वेन तिर्यगोघे तिर्यग्द्विकादिजघन्यरसबन्धकपरिमाणवत् तज्जघन्यरसबन्धकानां परिमाणस्य सम्यगपरिज्ञानात्।

अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह–'**सेसासु**'ति उक्तशेषासु पञ्चोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनाम् एकैकस्या जघन्यरसबन्धका लोकाऽसंख्येयभागे भवन्ति, प्रत्येकं स्वस्थानादिक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात्। न च मारणान्तिकसमुद्घातेन ततोऽधिकमपि भविष्यति तज्जघन्यरसबन्धकक्षेत्रमिति वाच्यम्, तासु प्रत्येकं जीवानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात्। अथोक्तशेषाः पञ्चोत्तरशतमार्गणाः- अष्टौ नरकमार्गणाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यभेदाश्चत्वारः, त्रिंशद्देवभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजःकायिकाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, त्रयस्त्रसकायभेदाः पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचनयोगाः, वैक्रियकाययोगः, वैक्रियमिश्रकाययोगः, आहारककाययोगः, आहारकमिश्रकाययोगः, स्त्रीपुरुषवेदौ, अवेदः, ज्ञानचतुष्कम्, विभङ्गज्ञानं, संयममार्गणाः षट्, अयते पृथगुक्तत्वात्, चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनम्, तिस्रः प्रशस्तलेश्याः, सम्यक्त्वमार्गणाः षड्, मिथ्यात्वे प्रागुक्तत्वात्, संज्ञी चेति पञ्चोत्तरशतं मार्गणानाम्। इत्युक्तं मार्गणासु सप्तकर्मणां जघन्यरसबन्धकक्षेत्रम् ॥४१ ४२॥

अथ मार्गणासु तेषामजघन्यरसबन्धकक्षेत्रम् आयुषाञ्च जघन्याजघन्यरसयोः प्रत्येकं बन्धकक्षेत्रमतिदिशन्नाह—

सव्वासु बंधगा खलु अजहण्णरसस्स आउवज्जाणं ।
दुविहरसाणाऊण अत्थि अतिव्वाणुभागव्व ॥४३॥
णवरं खेत्तं उज्झं सय खलु जहण्णयाणुभागस्स ।
तिरियाउगस्स बायर-एगिंदिय-वाउपज्जेसु ॥४४॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, सर्वासु सप्तत्युत्तरशतरूपासु मार्गणास्विति गम्यते प्रत्येकं संभाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धकानां तथा 'सव्वासु' इति पदस्यानुकर्षणात् सर्वासु आयुर्बन्धयोग्यासु त्रिषष्टयुत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणामायुषामेकैकस्य 'दुविहरसाण'त्ति जघन्यरसबन्धकानामजघन्यरसबन्धकानाञ्च क्षेत्रमनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवद् भवति । कुतः ? तत्राऽनुत्कृष्टरसबन्धकानामजघन्यरसबन्धकानाञ्च प्रत्येकं स्वस्थानादिक्षेत्रस्य तुल्यत्वात्, तदपि कुतः ? यथाऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः स्वप्रायोग्यासु सर्वासु गत्यादिषूत्पत्तुमर्हन्ति तथैवाजघन्यरसबन्धका अपीति ।

आयुषां जघन्यरसबन्धकक्षेत्रातिदेशविषया भावना त्वेवम्—तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धका यथा तद्बन्धकानामनन्ततमे भागे वर्तन्ते; न तथा जघन्यरसबन्धकास्ते तु असंख्येयतमे एव भागे, निगोदानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्, एवं बन्धकबाहुल्यात् यथाऽनुत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रं सम्पूर्णो देशोनो वा लोकस्तथा जघन्यरसबन्धकानामपीति जघन्यरसबन्धकक्षेत्रमुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवदनतिदिश्याऽनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवदतिदिष्टम् । शेषाणां त्रयाणामायुषान्तु प्रत्येकमुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रयोरविशेषात् उभयत्र लोकाऽसंख्येयभाग एव, एवं जघन्याजघन्यरसबन्धकक्षेत्रयोरप्यविशेषः । अथाऽतिप्रसक्तिं परिहरति **'णवर'** मित्यादिना, **'बायरएगिंदियवाउपज्जेसु'** ति पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायाञ्च प्रत्येकं तिर्यगायुषो जघन्यरसबन्धकानां क्षेत्रं स्वयमूह्यम् । अत्रेदमुक्तं भवति--प्रस्तुतमार्गणयोः प्रत्येकं तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रन्तु देशोनलोकः, वायुकायिकप्राधान्यात् तेषाञ्च स्वस्थानस्य देशोनलोकत्वात् । जघन्यरसबन्धकानां बादरवायुकायिकानां तु स्वल्पमात्रत्वेन वायुवर्जपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेन तिर्यगायुषो जघन्यरसबन्धकक्षेत्रस्य लोकाऽसंख्येयभागमितस्यैव संभवात् । यदि च तिर्यगायुषो जघन्यरसबन्धकाः पर्याप्तबादरवायुकायिकाः प्रभूता असंख्येयप्रतरमितास्तर्हि तेषां क्षेत्रं देशोनलोकः सम्भवति, पर्याप्तबादरवायूनां स्वस्थानमाश्रित्य । परन्तु पर्याप्तबादरवायुषु जघन्यरसबन्धकानां परिमाणस्य विशेषोपदेशाभावेन सम्यगपरिज्ञानादुक्तं ग्रन्थकृता स्वयमूह्यमिति ॥४३-४४॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने महाग्रन्थे उत्तरप्रकृतिरसबन्धे क्षेत्रद्वारम् ॥

प्रकृतीनां तथाऽनन्तरोक्तमार्गणाविवरणे नामग्राहं दर्शितानां यासां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमान-मध्यमपरिणामस्तासां सातवेदनीयादीनां सप्तदशानामिति सर्वसंख्ययाऽष्टाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्य-रसबन्धकाः सर्वजगति भवन्ति सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणा-न्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् , जघन्यरसबन्धकानामसंख्येयलोकमित-त्वाच्च। किमुक्तं भवति? यत्र विवक्षितप्रकृतेर्जघन्यरसं सूक्ष्मैकेन्द्रियत्वेनोत्पित्सवो मारणान्तिक-समुद्घातगता अपि बध्नन्ति किन्तु जघन्यरसबन्धका जीवा असंख्येयलोकमिता न भवन्ति, तत्र तज्जघन्यरसबन्धकानां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तमपि क्षेत्रं सर्वलोको नैव भवति। अत्र तु तेषां असंख्येयलोकमितत्वात् क्षेत्रं सर्वलोको भवति। तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणामशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका देशोने लोके-देशोनो लोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः मार्गणाजीवा-नामसंख्येयलोकमितत्वात् तेषाञ्च स्वस्थानक्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वात् सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मारणा-न्तिकसमुद्घातगतानां तज्जघन्यरसबन्धाभावाच्च।

अथ बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायामाह 'बायरसम्मत्ते'त्यादिना, बादरपर्याप्तवायुकाय-मार्गणायाम् 'सव्वेसिं' ति बन्धार्हाणामष्टोत्तरशतरूपाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्य-रसबन्धकक्षेत्रं स्वयमेवोह्यम् , असंख्येयानामसंख्येयभेदभिन्नत्वेन तिर्यगोघे तिर्यग्द्विकादिजघ-न्यरसबन्धकपरिमाणवत् तज्जघन्यरसबन्धकानां परिमाणस्य सम्यगपरिज्ञानात्।

अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह–'सेसासु'ति उक्तशेषासु पञ्चोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनाम् एकैकस्या जघन्यरसबन्धका लोकाऽसंख्येयभागे भवन्ति, प्रत्येकं स्वस्थानादिक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात्। न च मारणान्तिकसमुद्घातेन ततोऽधिकमपि भविष्यति तज्जघन्यरसबन्धकक्षेत्रमिति वाच्यम् , तासु प्रत्येकं जीवानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्प-त्वात्। अथोक्तशेषाः पञ्चोत्तरशतमार्गणाः- अष्टौ नरकमार्गणाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यभेदाश्चत्वारः, त्रिंशद्देवभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, बादरपर्याप्त-पृथ्व्यप्तेजःकायिकाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, त्रयस्त्रसकायभेदाः पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचनयोगाः, वैक्रियकाययोगः, वैक्रियमिश्रकाययोगः, आहारककाययोगः, आहारकमिश्र-काययोगः, स्त्रीपुरुषवेदौ, अवेदः, ज्ञानचतुष्कम् , विभङ्गज्ञानं, संयममार्गणाः षट् , अयते पृथगु-क्तत्वात् , चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनम् , तिस्रः प्रशस्तलेश्याः, सम्यक्त्वमार्गणाः षड् , मिथ्यात्वे प्रागुक्तत्वात् , सञ्ज्ञी चेति पञ्चोत्तरशतं मार्गणानाम्। इत्युक्तं मार्गणासु सप्तकर्मणां जघन्यरसबन्धकक्षेत्रम् ॥४१ ४२॥

अथ मार्गणासु तेषामजघन्यरसबन्धकक्षेत्रम् आयुषाञ्च जघन्याजघन्यरसयोः प्रत्येकं बन्धकक्षेत्रमतिदिशन्नाह—

सव्वासु बंधगा खलु अजहण्णरसस्स आउवज्जाणं ।
दुविहरसाणाऊण अत्थि अतिव्वाणुभागव्व ॥४३॥
णवर खेत्तं उज्झं सय खलु जहण्णयाणुभागस्स ।
तिरियाउगस्स बायर-एगिंदिय-वाउपज्जेसु ॥४४॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि. सर्वासु सप्तत्युत्तरशतसंख्यासु मार्गणास्विति गम्यते प्रत्येकं संभाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धकानां तथा 'सव्वासु' इति पदस्यानुकर्षणात् सर्वासु आयुर्बन्धयोग्यासु त्रिषष्टयुत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणामायुषामेकैकस्य 'दुविहरसाण'त्ति जघन्यरसबन्धकानामजघन्यरसबन्धकानाञ्च क्षेत्रमनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवद् भवति । कुतः ? तत्राऽनुत्कृष्टरसबन्धकानामजघन्यरसबन्धकानाञ्च प्रत्येकं स्वस्थानादिक्षेत्रस्य तुल्यत्वात् , तदपि कुतः ? यथाऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः स्वप्रायोग्यासु सर्वासु गत्यादिषूत्पत्तुमर्हन्ति तथैवाजघन्यरसबन्धका अपीति ।

आयुषां जघन्यरसबन्धकक्षेत्रातिदेशविषया भावना त्वेवम्–तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धका यथा तद्बन्धकानामनन्ततमे भागे वर्तन्ते; न तथा जघन्यरसबन्धकास्ते तु असंख्येयतमे एव भागे, निगोदानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् , एवं बन्धकबाहुल्यात् यथाऽनुत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रं सम्पूर्णो देशोनो वा लोकस्तथा जघन्यरसबन्धकानामपीति जघन्यरसबन्धकक्षेत्रमुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवदनतिदिश्याऽनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवदतिदिष्टम् । शेषाणां त्रयाणामायुषान्तु प्रत्येकमुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रयोरविशेषात् उभयत्र लोकाऽसंख्येयभाग एव, एवं जघन्याजघन्यरसबन्धकक्षेत्रयोरप्यविशेषः । अथाऽतिप्रसक्तिं परिहरति **'णवर'** मित्यादिना, **'बायरएगिंदियवाउपज्जेसु'** त्ति पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणाया पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायाश्च प्रत्येकं तिर्यगायुषो जघन्यरसबन्धकानां क्षेत्रं स्वयमूह्यम् । अत्रेदमुक्तं भवति--प्रस्तुतमार्गणयोः प्रत्येकं तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रन्तु देशोनलोकः, वायुकायिकप्राधान्यात् तेषाञ्च स्वस्थानस्य देशोनलोकत्वात् । जघन्यरसबन्धकानां बादरवायुकायिकानां तु स्वल्पमात्रत्वेन वायुवर्जपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेन तिर्यगायुषो जघन्यरसबन्धकक्षेत्रस्य लोकाऽसंख्येयभागमितस्यैव संभवात् । यदि च तिर्यगायुषो जघन्यरसबन्धकाः पर्याप्तबादरवायुकायिकाः प्रभूता असंख्येयप्रतरमितास्तर्हि तेषां क्षेत्रं देशोनलोकः सम्भवति, पर्याप्तबादरवायूनां स्वस्थानमाश्रित्य । परन्तु पर्याप्तबादरवायुषु जघन्यरसबन्धकानां परिमाणस्य विशेषोपदेशाभावेन सम्यगपरिज्ञानादुक्तं ग्रन्थकृता स्वयमूह्यमिति ॥४३-४४॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने महाग्रन्थे उत्तरप्रकृतिरसबन्धे क्षेत्रद्वारम् ॥

॥ अथ चतुर्दशं स्पर्शनाद्वारम् ॥

गत क्षेत्रद्वारम्। आयातश्च क्रमप्राप्तं स्पर्शनाद्वारम्। तत्रादौ तावद् वक्ष्यमाणार्थे उपयोगित्वात् कतिपयप्रकृतीः संगृह्याऽऽह—

सुरदुग-उच्च-पुम-सुहगतिग-सुखगइआगिई-छसंघयणा।
मज्झिमसंठाणित्थी उरलोवग तसपणिंदी ॥४५॥
दुस्सर-कुखगइ-णारग-विउव्वदुग णपुम-असाय-अरइदुगं।
पण अथिराई हुंडं णीअं असुहसुहधुवबंधी ॥४६॥
परघूसासा पज्जं पत्तेअं बायरं य उज्जोओ।
जसुरलतिरिदुग-थावर-एगिंदिय-हस्सरइपयडी ॥४७॥
सुहमतिग थिरसाया सुहमिह आइम्मि ज करिअ एत्तो।
जावइआ जा वोच्छं तावइआ ता कमा गेज्झा ॥४८॥

(प्रे०) "सुरदुग" इत्यादि, यावतीर्याः प्रकृतीरिति गम्यते वक्ष्यामि तावत्यस्ताः क्रमाद् ग्राह्या इति चतुर्थगाथोत्तरार्द्धेन योगः। किमुक्तं भवति ? 'सुरदुगे'त्यादिगाथाभिः संगृहीताभ्यः प्रकृतिभ्यो यां काञ्चन सुरद्विकादिरूपां प्रकृतिं पुरस्कृत्य "जावइआ"त्ति द्व्यादीर्यत्र यावतीः प्रकृतीर्वक्ष्ये तत्र मार्गणादौ ताः तावत्य आनुपूर्व्या ग्राह्याः। यथा इह वक्ष्यमाणषष्ठ-गाथापूर्वार्द्धे चतुःपञ्चाशतो नपुंसकादीनामिति वक्ष्यते, तत्र 'णपुमअसाय अरइदुग। पणअथिराई हुंड णीअ असुह-धुवबंधी' ति चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनां ग्रहणम्, एवमन्यत्राऽपि। अथ सार्ध-त्रिगाथाभिः संगृहीताः प्रकृतयः—देवद्विकम् उच्चैर्गोत्रं पुरुषवेदः सुभगत्रिकं सुखगतिस्तथा-ऽऽकृतिशब्दस्य संस्थानवाचित्वात् सुसंस्थानं समचतुरस्राख्यं प्रथमसंस्थाननामेत्यर्थः, षट् संहननानि चत्वारि मध्यमसंस्थानानि स्त्रीवेद औदारिकाङ्गोपाङ्गं त्रसनाम पञ्चेन्द्रिय-जातिरिति त्रयोविंशतिः प्रकृतयः प्रथमगाथायाम्।

दुःस्वरः कुखगतिर्नरकद्विकं वैक्रियद्विकं नपुंसकवेदोऽसातवेदनीयमरतिशोकरूपमरतिद्विकं दुःस्वरनाम्नः पृथगुक्तत्वात् अस्थिराऽशुभदुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्त्तिरूपाः पञ्चाऽस्थिरादयो हुंडकसंस्थानं नीचैर्गोत्रमप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशद्रूपा अष्टौ च "सुह" त्ति प्रशस्तध्रुव-बन्धिन्य इति द्वितीयगाथायामष्टषष्टेः प्रकृतीनां संग्रहः। तथा पराघातनाम उच्छ्वासनाम

पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम बादरनाम उद्योतनाम यशःकीर्त्तिनौदारिकशरीरं तिर्यग्द्विकं स्थावरनामैकेन्द्रियनाम हास्यरती इति चतुर्दश प्रकृतयस्तृतीयगाथायाम् । तथा सूक्ष्मत्रिकं स्थिरनाम सातवेदनीयं शुभनामेति षट्प्रकृतयश्चतुर्थगाथापूर्वार्द्धे इति एकादशोत्तरशतप्रकृतीनां सग्रहः ॥४५-४८॥

अथ प्रस्तुतस्पर्शनाद्वारेऽग्रतः—"त्रयोदशादयो भागाः स्पृष्टाः" इति वक्ष्यते, कियत्प्रमाणास्ते भागा इत्याशङ्क्याह—

फुसणाअ वुच्चिरे इह जे भागा भाजिआअ चउदसहिं ।
तसणाडीअ लहे जं णेया ते तावइअमाणा ॥४९॥

(प्रे०) "फुसणाअ" इत्यादि, इह प्रस्तुतग्रन्थे स्पर्शनायां ये त्रयोदशादयो भागा उच्यन्ते ते चतुर्दशरज्जूच्चैरेकरज्जुवृत्तविस्तृतायां त्रसनाड्यां चतुर्दशभिर्भाजितायां सत्यां यावल्लभ्येत भागफलमितिशेषः तावत्प्रमाणास्ते भागा ज्ञेयाः, ते च किञ्चिन्न्यूनघनरज्जुप्रमाणा भवन्तीति ।

अथ आस्तां सर्वम् , का स्पर्शना नाम ? उच्यते, उत्कृष्टादिरसबन्धकैर्जीवैः स्वस्थानैः स्वगमनागमनैर्मारणान्तिकसमुद्घातैर्वा यावत्क्षेत्रं स्पृष्टम् तदिह तैर्जीवैः कृता स्पर्शना भण्यते । न च क्षेत्रस्पर्शनयोः कः प्रतिविशेषः ? क्षेत्रद्वारव्याख्याया अपि तथात्वादिति वाच्यम् , क्षेत्रन्तु विवक्षितवर्त्तमानादिविवक्षितैकसमयमाश्रित्य गण्यते, स्पर्शना तु अतीतादिकानप्यनन्तान् समयानाश्रित्येति । अत्रार्थे अन्यदपि वक्तव्यमस्ति तत्तु अस्मत्सहाध्यायिना श्रीजगच्चन्द्रेण मुनिपुङ्गवेन विवृत्तात् मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थादेव विलोकनीयम् ॥४९॥

अथौघत उत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनां प्रचिकटयिपुराह—

छुहिआऽत्थि बधगेहिं चउत्तणाअ णपुमाइगाण तहा ।
तिरियजुगलस्स तेरस भागा तिव्वाणुभागस्स ॥५०॥
थी-पणसंघयणागिइचउग-पुम-कुखगइ-दुस्सराणऽत्थि ।
बारस भागा छुहिआ पणहस्साईण सव्वजग ॥५१॥
णिरयदुगस्स छ भागा विण्णेया फोसिआऽत्थि अडभागा ।
मणुओरालदुग-वइर-आयवणामाण परिपुट्ठा ॥५२॥
णव भागा परिपुट्ठा एगिंदिय-थावराण सेसाणं ।
चत्ताअ असंखयमो भागो लोगस्स परिछुहिओ ॥५३॥

(प्रे०) "छुहिआ" इत्यादि, प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां नपुंसकवेदादीनां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनां, तिर्यग्द्विकस्य च प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैस्त्रयोदश भागास्त्रयोदशरज्ज्वात्मकाः प्राग्निर्दिष्टस्वरूपाः स्पृष्टाः । तत्र ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्त भागा भवनपत्यादीशानान्तदेवानाश्रित्याधोलोकसत्काश्च ते षट् सप्तमपृथ्वीनारकान् संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चो वाश्रित्येति । तद्यथा-स्वस्थानादिगता भवनपत्यादयो गमनागमनं कुर्वन्तः सौधर्मादयो वा देवा एकरज्जुवृत्तविस्तृततिर्यग्लोके सर्वत्र भवितुमर्हन्ति, तत्रस्थास्ते ईषत्प्राग्भारपृथ्व्यां पृथ्वीकायतयोत्पित्सवः कदाचिन्मारणान्तिकसमुद्घातं सम्प्राप्ताः स्वाऽऽत्मप्रदेशैस्तिर्यग्लोकादाऽऽसिद्धशिलं त्रसनाडीगतं सप्तरज्ज्वात्मकमशेषं क्षेत्रं निरुन्धन्ति-स्पृशन्ति । न चेषत्प्राग्भारायाः पृथिव्याः पञ्चचत्वारिंशल्लक्षयोजनमात्राऽऽयामविस्तृतत्वेन तत्परितोऽसंख्येययोजनात्मकस्य क्षेत्रस्य स्पर्शनाऽसंगतेति वाच्यम्, स्वयंभूरमणपरिसरवर्तिजगतीप्रतिष्ठितैः प्रद्युम्नैर्मारणान्तिकसमुद्घातैर्वक्रगत्या तत्स्पर्शनात् । न च स्वयम्भूरमणजगतीप्रतिष्ठानं कदाचित्केषांचिदेव स्यात् देवानामिति, स्पर्शनाया अतीताद्यनन्तकालविषयत्वेनानन्तानां देवानां स्वयम्भूरमणजगतीप्रतिष्ठितानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानाम् ईषत्प्राग्भारापार्श्ववर्तिनः समग्रस्यापि क्षेत्रस्य स्पर्शनाविषयत्वात् । इत्येवं यत्र स्पर्शकानां स्वस्थानादिक्षेत्रं पारभविकोत्पत्तिक्षेत्रं वा आयामविष्कम्भाभ्यां रज्ज्वाद्यात्मकं भवति, तयोरन्तरालमप्येकादिरज्ज्वात्मकं तत्र अन्यतरक्षेत्रस्य संख्येययोजनादिमितत्वेऽपि उक्तनीत्या एकादिरज्ज्वाद्यात्मिका स्पर्शना सामान्यतो लभ्यत इति ।

अधोलोकसत्काः षड्भागास्त्वेवम्-सप्तमपृथ्वीनारकाः मारणान्तिकसमुद्घातगताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तयोत्पित्सवः स्वस्थानत आतिर्यग्लोकं स्वात्मप्रदेशैः स्पृशन्ति, सप्तमपृथिव्याः प्रथमपृथिव्युपरितलरूपतिर्यग्लोकान्तरं षड् रज्जवः, अत्रापि तिर्यग्लोकस्य वृत्तविस्तृतैकरज्ज्वात्मकत्वेऽपि सप्तमनरकनारकाणां स्वस्थानक्षेत्रस्य स्वल्पत्वात् कथं सम्पूर्णषड्रज्जुस्पर्शनेत्याशङ्का पूर्ववदेव समाधेया । न च पृथ्वीतयोत्पित्सवो भवनपत्यादयो देवा एवाधःसप्तम्यां पृथिव्यामुत्पद्यमाना अधोलोकसत्काः षड्रज्जूः स्पृशन्तीति अलं सप्तमनरकनारकस्पर्शनयेति वाच्यम्, तथास्वाभाव्येन रत्नप्रभापृथ्वीतोऽधस्तादुत्तमरत्नादिपृथ्वीनामभावेन देवानामधोलोके पृथ्वीतयोत्पत्तिप्रतिषेधात् । नपुंसकवेदादीनां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकानामधोलोके षड्रज्जुस्पर्शना तु तिरश्च आश्रित्यापि भवति, संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां सप्तमभेदिन्यामुत्पादस्याप्रतिषेधात् । तिर्यग्द्विकस्य तु सा नारकानेवाश्रित्य घटते, कुतः ? तिरश्चां तदुत्कृष्टरसबन्धाभावात् । **अत्रायं निष्कर्षः**-तिर्यग्लोकस्था भवनपत्यादयो देवा मरणसमुद्घातगता ईषत्प्राग्भारायां पृथिव्यां पृथ्वीतयोत्पित्सवः सर्वसंक्लिष्टाः सन्तः नपुंसकवेदादीनां चतुःपञ्चाशतः तिर्यग्द्विकस्य चोत्कृष्टरसबन्धं कुर्वन्ति अकुर्वन् करिष्यन्ति च, तानाश्रित्य त्रसनाड्यामूर्ध्वलोक-

सत्काः सप्ताऽपि रज्जवो नपुंसकवेदाद्युत्कृष्टरसबन्धकैः स्पृष्टाः समुद्घातगतैः सप्तमपृथ्वीनारकैश्च प्रस्तुतषट्पञ्चाशत्प्रकृत्युत्कृष्टरसबन्धकैः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तयोत्पद्यमानैरधोलोकसत्काः षड् रज्जवः स्पृष्टाः, सप्तमपृथिवीतिर्यग्लोकयोरन्तरालस्य षड्रज्ज्वात्मकत्वात् । अधोलोकसत्काः षड्रज्जवस्तु तिर्यग्द्विकवर्जचतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैस्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिरपि स्पृष्टा इति प्रागुक्तमेव, स्वप्रायोग्यनिकृष्टपारभविकगत्यादिबन्धकानामेवाऽप्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकत्वेन तिर्यग्लोके संस्थितानां तिरश्चामिषत्प्राग्भारायां बादरपृथ्वीतया लोकान्ते बादरवायुकायादितया वोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां नपुंसकवेदादीनामुत्कृष्टरसबन्धो न भवति, नरकगतेरेव तेषां पारभविकनिकृष्टोत्पत्तिस्थानत्वात्, मनुजानान्तु स्वस्थानस्याऽपि संख्येययोजनमात्रत्वादित्यपि परिहारो बोध्यः । तृतीया नरकभूमिगतान् देवानप्याश्रित्य अधोलोकसत्का रज्जुद्वयस्पर्शना प्राप्यते तथापि समग्रा स्पर्शना तु त्रयोदशरज्जुरूपात्त्रयोदश भागा एव ।

तथा "थी"त्ति स्त्रीवेदः, आद्यस्य पृथग् वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जसंहननपञ्चकं मध्यमसंस्थानचतुष्कं पुरुषवेदोऽप्रशस्तविहायोगतिदुःस्वरनामेति त्रयोदशानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैर्द्वादशरज्ज्वात्मका द्वादश भागाः स्पृष्टाः । तत्र षड् भागा ऊर्ध्वलोकसत्का भवनपत्यादीनां देवानामाच्युताद् गमनसंभवेन गमनागमनकृता मारणान्तिकसमुद्घातकृता वा तेषां स्पर्शना । अधोलोकसत्काः षड् भागास्तु पूर्ववत् । नवरं तिरश्चोऽप्याश्रित्य ते प्राप्यन्ते इति न वाच्यम्, कुतः ? यथासंभवं पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्या मनुष्यप्रायोग्या वा प्रकृतीर्बध्नतामेव तिरश्चां स्त्रीवेदादीनामेकादशानामुत्कृष्टरसबन्धस्य लाभेन लोकासंख्येयभागमात्राया एव स्पर्शनाया लाभात् नरकाभिमुखानां मरणसमुद्घातगतानां तिरश्चां नरकप्रायोग्यप्रकृतिबन्धकत्वेन स्त्रीवेदादीनामेकादशानां बन्धाभावाच्च । अप्रशस्तविहायोगतिदुःस्वरयोस्तु नरकाभिमुखानां तिरश्चामप्युत्कृष्टरसबन्धसद्भावेन प्राप्यत एव तदुत्कृष्टरसबन्धकानां षड्भागस्पर्शना तिरश्चोऽप्याश्रित्येति ।

तथा "पणहस्साईण"त्ति हास्यरती सूक्ष्मत्रिकमिति पञ्चानामुत्कृष्टरसबन्धकैर्निखिलं जगत् स्पृष्टं तेषां सर्वलोकः स्पर्शना इतियावत् । कुतः ? सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पत्सुभिः संज्ञितिर्यग्मनुष्यैर्मरणसमुद्घातगतैः सर्वलोकस्य स्पृष्टत्वात् । तथा नरकद्विकस्योत्कृष्टरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, ते च संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिः सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पद्यमानैः मारणान्तिकसमुद्घातगतैरिति ।

मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनाम आतपनामेति षण्णां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरष्ट भागाः परिस्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् । न च

षष्ठनरकानुत्तरसुरापेक्षया मनुष्यपञ्चकस्य अधिकस्पर्शनाया लाभो वाच्यः, एकेन मतेन नारका मनुष्यपञ्चकस्योत्कृष्टरसं न बध्नन्ति, मतान्तरेण तु बध्नन्ति, तथापि मनुष्यपञ्चकबन्धकानां मरणसमुद्घातगतानां नारकसुराणां मनुष्यत्वेनोत्पादेन स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकासंख्येयभागमात्रत्वात्। ततः किम् ? तेषां समुद्घातस्पर्शनाया अपि लोकासंख्येयभागमात्रत्वेनाकिञ्चित्करत्वात्। तथा एकेन्द्रियस्थावरनाम्नोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्नव-रज्ज्वात्मका नव भागाः परिस्पृष्टाः। तत्राऽष्टौ भागास्तदुत्कृष्टरसबन्धकानां गमनागमनमाश्रित्यैकश्च मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तः, अथवाऽधोलोकसत्कौ द्वौ भागौ गमनागमनप्रयुक्तौ, ऊर्ध्वलोकसम्बन्धिनः सप्त च देवानां मरणसमुद्घातप्रयुक्ताः।

"सेसाणं चत्ताअ"त्ति उक्तशेषाणां [1]जस[2]सायाणि। उच्च[3]पणिंदि[4]तसचउग [5]परघूसास [6]सुखगइ [7]पणथिराई। [8]सुहधुवबंधागिइ [9]जिण[10]सुर [11]विउव्वा [12]हारजुगलाणीति उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां उद्योतनाम्नो विकलत्रिकस्य चतुर्णामायुषाञ्चेति सर्वसंख्यया चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयभागः परिस्पृष्टः। तत्र यशःकीर्त्यादीनां द्वात्रिंशत उत्कृष्टरसस्य क्षपकैर्महर्षिभिर्बध्यमानत्वात्, क्षपकाणाञ्च स्वस्थानस्य लोकासंख्येयभागमात्रत्वात्। उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकाः सम्यक्त्वाभिमुखाः सप्तमपृथिवीनारकाः, तेषामपि स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्। न च मारणान्तिकसमुद्घातगतानाश्रित्य षड्भागस्पर्शनासंभव इति वाच्यम्, सम्यक्त्वाभिमुखानां तेषां मरणाभावेन मारणान्तिकसमुद्घाताभावात्। विकलत्रिकस्योत्कृष्टरसबन्धकाः पर्याप्तमनुष्याः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्च, तेषां स्वस्थानस्य तिर्यग्लोकत्वेन तदासन्नत्वेन वा लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्। मारणान्तिकसमुद्घातगता अपि ते विकलत्रिकोत्कृष्टरसबन्धकाः केवलं तिर्यग्लोकं तदासन्नं वा स्प्रष्टुमर्हन्ति, विकलानां स्वस्थानस्य तिर्यग्लोके तदासन्ने वा भावात्। नरकतिर्यग्मनुष्यायुषामुत्कृष्टरसबन्धकाः स्वस्थानगताः संज्ञितिर्यग्मनुष्या एव, तेषां च स्वस्थानक्षेत्रस्य लोकासंख्यभागमात्रत्वात् स्पर्शनाऽपि तावत्प्रमाणा उक्ता। तथा देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकाः संयमिनः स्वस्थानगता एव, अतः स्पर्शना अपि लोकासंख्यभागप्रमाणा एव प्राप्यते ॥५०-५३॥

अथानुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शनाया अवसरः सामान्यवक्तव्यतायां तथापि लाघवार्थमायुःसहितसर्वप्रकृतीनामोघे तथा आयुःसहितबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां मार्गणासु अनुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धवदतिदिशन्नाह ग्रन्थकारः—

ओहेणाएसेण वि सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं।
अणुक्कठिइव्व फरिसणा अत्थि अतिव्वा भागस्स ॥५४॥

(प्रे०) "ओहेण" इत्यादि, ओघे तथा सर्वमार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शनाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रस्तावे यासु यासु यासां यासां प्रकृतीनां यथा दर्शिता तथैवात्राऽविशेषेण तासु तासां प्रकृतीनां वक्तव्या, ग्रन्थगौरवभयात् न पुनः प्रदर्श्यते ॥५४॥

अथाऽऽदेशत उत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनां दिदर्शयिषुः पञ्चेन्द्रियौघादिषु कतिपयमार्गणासु ओघवदतिदिशन्नाह—

ओघव्व जाणियव्वा तिव्वऽणुभागस्स आउवज्जाणं ।
सप्पाउग्गाणं खलु फुसणा दुपणिदिय-तसेसु ॥५५॥
पणमणवयकायेसुं चउकसाय-तिअणाण-अजएसुं ।
णयणे-यर-भवियेसुं मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥५६॥

(प्रे०) "ओघव्वे" त्यादि, ओघ-पर्याप्तरूपौ द्वौ पञ्चेन्द्रियभेदौ, तादृशौ एव द्वौ त्रसकायभेदौ, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचोयोगाः, काययोगौघः, चत्वारः कषायाः, त्रीणि अज्ञानानि, अयतः, चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुर्दर्शनम्, भव्यः, मिथ्यात्वम्, संज्ञी, आहारी चेति एकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमुत्कृष्टरसस्य बन्धकानामिति प्रकरणाद् गम्यते, स्पर्शना ओघवद् भवति । कासां प्रकृतीनामित्याह—आयुर्वर्जानां प्रकृतीनाम्, सप्तकर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनामेव प्रस्तुतत्वात् । तथा "सप्पाउग्गाणं" ति तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनाम्, त्र्यज्ञानादिमार्गणासु जिननामादीनां बन्धाऽनर्हत्वात् । ननु कथमिहौघवत् स्पर्शना ? उच्यते—ओघप्ररूपणायां यस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसस्य ये बन्धकाः, प्रस्तुतमार्गणासु तेषामप्यन्तर्भावात् । न चौघप्ररूपणायां यशःकीर्त्तिनामादीनां प्रस्तुतस्पर्शना क्षपकानाश्रित्योक्ताः ततोऽज्ञानत्रिकादिमार्गणासु सा कथं संगच्छेदिति वाच्यम्, ओघप्ररूपणायां क्षपकश्रेणिविशिष्टा मनुष्याः, अज्ञानत्रिकादिमार्गणासु तु संयमाभिमुखत्वविशिष्टा मनुष्या इति उभयत्र समुद्घातरहितपर्याप्तमनुष्यत्वाऽविशेषात् । नवरमोघप्ररूपणायां शेषाणां चत्वारिंशतः प्रकृतीनां लोकाऽसंख्येयभाग उक्तः, इह तु अज्ञानत्रिकं मिथ्यात्वम् इति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं शेषाणां त्रयस्त्रिंशत इत्येव वाच्यम्, जिननामाऽऽहारकद्विकरूपाणां तिसृणां बन्धस्यैवाऽभावात् चतुर्णामायुषां वक्ष्यमाणत्वाच्च । तथा अयतमार्गणायां शेषाणां चतुस्त्रिंशत इति वाच्यम्, जिननाम्नो बन्धसद्भावात्, शेषं सर्वमोघवत् । तथाऽज्ञानत्रिकादिवर्जासु चतुर्विंशतौ मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शनाऽविशेषेणौघवद् बोद्धव्या, सा तु तत एवाऽवधारणीया । नवरमिह सप्तकर्मणां प्रक्रान्तत्वात् शेषाणां षट्त्रिंशत इति वाच्यम्, न तु चत्वारिंशत इति ॥५५-५६॥

नरकौघादिषु मार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

णिरयचरमणिरयेसु सुविसुद्धो जाण सिं दुतीसाए ।
लोगासंखियभागो छुहिआ भागा छ सेसाणं ॥५७॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकौघः सप्तमनरक इति द्वयोर्मार्गणयोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां यशःकीर्त्तिनामादीनां षड्विंशतेर्मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानामुद्योतनाम्नश्चेति सर्वसंख्यया यासां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसबन्धकः सुविशुद्धः "सिं"ति तासामुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, तद्यथा— सप्तमनरकमार्गणायामुद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकाः सम्यक्त्वाभिमुखाः, यशःकीर्त्यादीनाञ्च सम्यग्दृष्टयः, सम्यक्त्वाभिमुखानां सर्वत्र मरणसमुद्घाताभावाद् इह तु सम्यग्दृशामपि मरणसमुद्घाताभावात् तत्स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्च । नरकौघमार्गणायामपि उद्योतनाम्नो भावना सप्तमनरकवत् । शेषाणामेकत्रिंशत उत्कृष्टरसबन्धकानां षष्ठादिनरकनारकानाश्रित्य मरणसमुद्घातसद्भावेऽपि तत्स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेन मरणसमुद्घातकृता स्पर्शनाऽपि तावती एव । तथा 'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः' इह सप्तमनरकमार्गणायामेकत्रिंशत एव लोकाऽसंख्येयभागो वाच्यः, जिननाम्नो बन्धाऽभावात् । "सेसाणं"ति उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणामेकसप्ततेः प्रकृतीनामित्यर्थः, प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः षड्रज्ज्वात्मकास्त्रसनाडीसत्काः षड्भागाः स्पृष्टाः, सप्तमपृथ्वीनारकस्य मरणसमुद्घातक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वाद्, मरणसमुद्घातेऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवाच्च ॥५७॥

अथ प्रथमनरकादिमार्गणास्वाह—

लोगासंखियभागो सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
परिपुट्ठो पढमणिरय-गेविज्जाइसुरभेएसु ॥५८॥
विक्कियमीसाहारगजुगल-अवेअ-मणपज्जवेसु तहा ।
संजमसामइएसु छेए परिहारसुहमेसु ॥५९॥

(प्रे०) "लोगाऽसंखियभागो" इत्यादि. स्वप्रायोग्याणां तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः परिस्पृष्टः । अथ कासु मार्गणास्वित्याह— "पढमणिरये"त्यादि, प्रथमनरकः, नवग्रैवेयकाः पञ्चाऽनुत्तरवासिनः सुरा इति चतुर्दश देवभेदाः, वैक्रियमिश्रकाययोगः, आहारककाययोगः, तन्मिश्रकाययोगः, अवेदः, मनःपर्यवज्ञानम्, संयमौघादयः पञ्चसंयममार्गणा इति सर्वसंख्यया पञ्चविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकमिति । ननु कुतो

क्षेत्रस्य च तावन्मात्रत्वात्, कुत्रचिद् ग्रैवेयकादिषु मरणसमुद्घातादिसद्भावेऽपि स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्। प्रथमनरकमार्गणायां मरणसमुद्घातसद्भावेऽपि स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरन्तरालस्य रज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वात्। तद्यथा-वैक्रियमिश्रकाययोग आहारकमिश्रकाययोग इति द्वयोर्मार्गणयोर्मारणान्तिकसमुद्घाताभावः, शेषासु प्रथमनरकवर्जद्वाविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं मरणसमुद्घातादिसद्भावेऽपि स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वम्। प्रथमनरकनारकाणां तु पारभविकोत्पत्तिस्थानस्यैकरज्जुवृत्तविस्तृतस्य निखिलस्य तिर्यग्लोकस्य संभवेऽपि तद्बाहल्यस्याल्पत्वात्, तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरन्तरालस्य सख्येययोजनमात्रत्वादिति भावः। एतासु स्वप्रायोग्यप्रकृतयस्तु स्वामित्वद्वारतोऽवसेयाः ॥५८-५९॥

अथ द्वितीयादिनरकमार्गणास्वाह—

बीआइणिरयपणगे सुविसुद्धो जाण एगतीसाए ।
मिं लोगासंखभो सेसाण इग-दु-ति-चउ-पणभागा ॥६०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "बीआइ" इत्यादि, द्वितीयादिपष्ठावसाने नरकपञ्चके, पञ्चसु नरकमार्गणास्वित्यर्थः, प्रत्येकं यासां नरकौघमार्गणोक्तानामुद्योतनामवर्जयशःकीर्तिनामादीनामेकत्रिंशतः प्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसबन्धकः सुविशुद्धः, तासामुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, भावना नरकौघवत्, तथा व्याख्यानाच्चतुर्थादिनरकत्रिके त्रिंशतः प्रकृतीनामिति वाच्यम्, जिननाम्नो बन्धाभावात्। तथा 'सेसाण' ति उक्तशेषाणां द्विसप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैः यथाक्रमम् एको द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च भागाः पूर्वोक्तस्वरूपाः स्पृष्टाः, मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता इय स्पर्शना, पारभविकोत्पत्तिस्थानस्यैकरज्जुवृत्तविस्तृतत्वे सति स्वस्थानोत्पत्तिस्थानयोरन्तरालस्य यथाक्रममेकादिरज्ज्वात्मकत्वात् ॥६०॥ अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनामाह—

अइसंकिट्ठो सामी जेमिं तिरियतिपणिंदितिरियेसु ।
अडवणाअ छ भागा मिं णवरं पण तिरिच्छीए ॥६१॥
जेमि देसजई सिं गुणतीसाअ छहिआऽत्थि पण भागा ।
णवतिरियाईण अखिललोगो सेसाण जगअसखंसो ॥६२॥ (गीतिः)

(प्रे०) "अइसंकिट्ठो" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघः अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां वक्ष्यमाणत्वात् पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिरश्चीति त्रयः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाश्चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकमसातं नपुंसकवेदः शोकारती नीचैर्गोत्रं नरकद्विकं

हुंडकसंस्थाननाम अस्थिरषट्कं कुखगतिरिति पञ्चदश, त्रिचत्वारिंशच्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्य इति सर्वसंख्यया 'जेसिं' ति यासामष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां स्वामी, उत्कृष्टरसबन्धस्येति प्रक्रमगम्यम्, अतिसङ्क्लिष्टो भवति, तासां षड् भागाः स्पृष्टाः, उत्कृष्टरसबन्धकैरिति तु अनुवृत्त्या प्रस्तावाद् वा ज्ञेयम्, मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता एतावती स्पर्शना । किमुक्तं भवति ? संज्ञितिरश्चां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेऽपि सप्तमनरकनारकतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां स्पर्शनायाः षड् रज्ज्वात्मकत्वात् । तथा 'णवर' ति तिरश्चीमार्गणायां पञ्च एव भागाः, तिरश्चीनामुत्कृष्टतोऽपि षष्ठनरकं यावदेवोत्पादात् ।

न च संक्लिष्टानां संज्ञितिरश्चां मरणसमुद्घातक्षेत्रस्य सर्वलोकत्वेन भवत्विह सर्वलोकः स्पर्शनेति वाच्यम्, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टानां मरणसमुद्घातक्षेत्रस्याऽनन्तकालमाश्रित्य सर्वलोकत्वेऽपि तेषां तदानीं नपुंसकवेदाद्युत्कृष्टरसबन्धस्याभावात् । तथा यासां 'जस-सायाणि । उच्चपणिंदि तसचउग-परघूसास-सुखगइ पणथिराई । सुहधुवबधागिइ' इति यशःकीर्तिनामादीनां पञ्चविंशतेः देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्चेति एकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको देशयतिर्देशविरत इत्यर्थस्तासामुत्कृष्टरसबन्धकैः पञ्च भागाः प्राक्प्रकटितस्वरूपाः स्पृष्टाः, देशविरततिरश्चामासहस्रारमुत्पादश्रवणात्, तिर्यग्लोकसहस्रारसुरालययोरन्तरालस्य पञ्चरज्ज्वात्मकत्वेन मरणसमुद्घातगतैर्देशविरततिर्यग्भिः पञ्चानामपि रज्जूनां स्पृष्टत्वात् । तथा प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां तिर्यग्द्विकादीनां नवानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैरखिलो लोकः स्पृष्टः, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टानामेव तेषां तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् सूक्ष्मतयोत्पित्सुभिस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टैर्मारणान्तिकसमुद्घातप्राप्तैः सर्वलोकस्य स्पृष्टत्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धासंभवादुक्तशेषाणां स्त्रीपुरुषवेदौ संहननषट्कं मध्यमसंस्थानचतुष्कं मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं विकलत्रिकम् आतपनामोद्योतनामेति एकविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्जगतोऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, मनुष्यप्रायोग्याणां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याणां विकलेन्द्रियप्रायोग्याणां ज्योतिष्कविमानगतपर्याप्तबादरपृथ्वीकायप्रायोग्याणामेव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टैर्बन्धकैरुत्कृष्टरसबन्धस्य निर्वर्त्तनीयत्वात् । ततः किम् ? मरणसमुद्घातस्याऽपि तिर्यग्लोकतदासन्नक्षेत्रमात्रविषयत्वात्, तिर्यग्लोकस्य च लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । न च देवीतयोत्पित्सूनामपि तत्प्रायोग्यक्लिष्टानां स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसबन्धसद्भावेन भविष्यति स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शना सार्धरज्जू, तिर्यग्लोकेशानसुरालयान्तरालस्य सार्धरज्जूप्रमाणत्वादिति वाच्यम्, स्त्रीवेदस्य पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमस्थितिबन्धकस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तावत्याः स्थितेर्बन्धकानां देवीतयोत्पादाभावात् । तिरश्चीतयोत्पित्सूनामेव पञ्चदशकोटिकोटिस्थितिबन्धकानां स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् तिरश्चीनां तिर्यग्लोकतत्प्रत्यासन्नमात्रवर्त्तित्वाच्च यथोक्तताया लोकाऽसंख्येय-

भागमात्राया-एव स्पर्शनायाः सङ्गतत्वात् ॥६१-६२॥ अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वाह—

अममत्तपणिंदितिरियमणुमपणिंदितससव्वविगलेसुं ।
पुहविदगऽग्गिणिगोएसु सिं सयलबायरेसु वणे ॥६३॥
पत्तेअवणतिग-उरलमीसेसु अखिलजग भवे पुट्ठ ।
तिरियाईण णवण्ह तह चउवण्णणपुमाईण ॥६४॥
लोगासंखियभागो सेसाण णवरि ताण सयमुज्झा ।
पत्तेअतिगे भूदगणिगोअतस्समव्ववायरेसु वणे ॥६५। (गीतिः)

(प्रे०) "अ त्त" इत्यादि, अममाप्तशब्दस्येहाऽपर्याप्तवाचित्वात् 'तस' इतिपदान्तमनुवर्त्तनाच्च अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्, अपर्याप्तमनुष्यः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, तथा सर्वे नवसंख्याका विकलेन्द्रियभेदाः, पृथ्व्यप्तेजःसाधारणवनस्पतिकायिकानाञ्चत्वार ओघसत्कभेदाः, 'सिं' ति तषां पृथ्व्यादीनामोघ-पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदभिन्ना द्वादशबादरसत्कभेदा वनस्पतिकायौघः 'पत्तेअवणतिग' त्ति ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः प्रत्येकवनस्पतिकायसत्कास्त्रयो भेदाः, औदारिकमिश्रकाययोगश्चे ति चतुस्त्रिंशति मार्गणासु प्रत्येकं प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां तिर्यग्द्विकादीनां नवानां नपुंसकवेदादीना चतुःपञ्चाशतश्च प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरखिलं जगत् स्पृष्टम्, अखिलोऽपि लोकस्तेषां स्पर्शनाविषय इति भावः, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मरणसमुद्घातगतानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् एतासु सर्वसंक्लिष्टानां सूक्ष्मापर्याप्तनिगोदप्रायोग्यप्रकृतीनामेव निर्वर्तनात् । तथा "सेसाण" ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामुक्तशेषाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्यैकोऽसंख्येयतमो भागः परिस्पृष्टो ज्ञातव्यः, तदुत्कृष्टरसबन्धकजीवानां स्वस्थानस्य समुद्घातगतक्षेत्रस्य च लोकासंख्येयभागमात्रत्वात् । शेषप्रकृतय इमाः-सातवेदनीयपुरुषस्त्रीवेदमनुजद्विकद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कौदारिकद्विकसंहननषट्कसंस्थानपञ्चक--खगतिद्विकातपोद्योतपराघातोच्छ्वासत्रसदशकदुःस्वरशुभध्रुवाष्टकोच्चैर्गोत्ररूपा अष्टचत्वारिंशत्प्रकृतयः । अत्र यासु मार्गणासु शेषप्रकृतीनां स्पर्शना स्पष्टतया न प्रतिभासते तत्र 'णवरि' इत्यादिना विशेषं दर्शयति-प्रत्येकवनस्पतित्रिके पृथ्व्यब्निगोदसामान्यभेदत्रये तेषां नवसंख्याकेषु सर्वबादरभेदेषु इति सर्वसंख्यया पञ्चदशमार्गणासु शेषप्रकृतीनां स्पर्शना स्वयं कथनीया ॥६३-६५॥

अथ मनुष्यौघादिष्वाह—

तिणरेसु सव्वलोगो तिरियाईणं णवण्ह परिपुट्ठो ।
सेसाण असंखयमो भागो लोगस्स बोद्धव्वो ॥६६॥

(प्रे०) 'तिणरेसु' इत्यादि अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामचिरादेवोक्तत्वात् मनुष्यौघः पर्याप्तमनुष्यो मानुषीति तिसृषु मनुष्यगतिमार्गणासु प्रत्येकं 'तिरिदुग-थावर एगिंदि-हस्सरइ-पयडी। सुहमतिग' मिति नवानां प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां तिर्यग्द्विकादीनां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः परिस्पृष्टः, सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मरणसमुद्घातगतानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवात् । तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयतमो भागः परिस्पृष्टो बोद्धव्यः, तत्र कासाञ्चित्प्रकृतीनां ज्येष्ठरसस्य स्वस्थानगतैरेव मनुष्यैर्बध्यमानत्वात् तेषां स्वस्थानस्य च तावन्मात्रत्वात् , तथा कासाञ्चित्प्रकृतीनां ज्येष्ठरसस्य मारणान्तिकसमुद्घाते बध्यमानत्वेऽपि सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां तदुत्कृष्टरसबन्धाऽसंभवेन पारभविकोत्पत्तिस्थानस्यापि लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेन मारणान्तिकसमुद्घातक्षेत्रस्यापि लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्च ॥६६॥

अथ देवगत्योघादिमार्गणास्वाह—

सुरईसाणतेसु चउवण्णाअ णपुमाइगाण तहा ।
छण्ह तिरियाईणं णव भागा अट्ठ सेसाण ॥६७॥

(प्रे०) "सुरईसाणंतेसु" मित्यादि, देवौघो भवनपत्यादयः पञ्च देवभेदाश्चेति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं 'णपुम-असाय-अरइदुग। पणअथिराई हुड णीअ असुह धुवबंधी' ति चतुःपञ्चाशतो नपुंसकवेदादीनाम् 'तिरियदुग थावर-एगिंदि-हस्स-रइ' इति षण्णां तिर्यग्द्विकादीनाञ्च प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्नव भागा एकरज्जुवृत्तविस्तृताः त्रसनाडीसत्का नव रज्जवः इत्यर्थः स्पृष्टाः, पूर्वसाङ्गतिकैरच्युतसुरालये नीतानामष्टौ भागा गमनागमनप्रयुक्ताः, एकश्चेषत्प्राग्भारायामुत्पित्सूनाश्रित्य मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तः । अथवा नवाऽपि भागा मरणसमुद्घातप्रयुक्ताः, तृतीयनरकभूमौ गतानां मरणसमुद्घातेनेषत्प्राग्भारायामुत्पादात् । अथवाऽतोऽन्यथाऽपि आगमाविरोधेन भावनीयम् ।

तथा "सेसाण" ति देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकरूपाणां चतुर्दशानामिह बन्धाऽसंभवादुक्तशेषाणां षट्चत्वारिंशतः, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कदेवमार्गणासु जिननाम्नोऽपि बन्धासंभवात् पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः परिस्पृष्टाः, एकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तदुत्कृष्टरसबन्धाभावात् , तद्गमनागमनक्षेत्रस्य चाऽष्टरज्जुमात्रत्वात् । अथोक्तशेषाः प्रकृतयः—सातवेदनीयं स्त्रीपुरुषवेदौ मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टक संहननषट्कं हुंडकस्योक्तत्वात् तद्वर्जसंस्थानपञ्चकं विहायोगती पराघातोच्छ्वासौ आतपोद्योतनाम्नी जिननाम त्रसदशक दुःस्वरनाम उच्चैर्गोत्रम् इतिषट्चत्वारिंशदिति ॥६७॥

अथ सनत्कुमारप्रभृतिदेवादिमार्गणास्वाह--

सव्वाण अट्ठ भागा तइआइगअट्ठमतदेवेसु ।
चउआणताइगेसु छ सव्वजगं सव्वसुहमेसु ॥६८॥

(प्रे०) "सव्वाण" इत्यादि, तृतीयाद्यष्टमान्तेषु षट्सु देवभेदेषु प्रत्येकं 'सव्वाण' त्ति तत्तन्मार्गणासु बन्धार्हाणां त्र्युत्तरशतरूपाणां सर्वासां प्रकृतीनामायुर्वर्जानामिति त्विः यथासंभवमन्यत्राऽपि चानुवर्त्तते, सप्तकर्मणामेव प्रस्तुतत्वात्, अष्टौ भागा उत्कृष्टरसबन्धकैः स्पृष्टा इति प्रकरणगम्यम्, तथास्वाभाव्यात् सनत्कुमारादिदेवानां पृथिव्यादितयोत्पादाभावात्, तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य च तावत्प्रमाणत्वात्। तथा 'चउआणताइगेसु' त्ति आनतप्राणताऽरणाऽच्युतरूपासु चतसृषु देवगतिमार्गणासु प्रत्येकं 'सव्वाणे' ति पदस्याऽनुवर्तनात्, बन्धार्हाणां सर्वासां शतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, तिर्यग्लोकात् परतोऽधोनरकभूमौ गमनागमनाभावेन तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य षड्रज्जुमात्रत्वात्। न चाच्युतसुरपतेः सीतेन्द्रस्याधोगमनश्रवणादतोऽधिकाऽपि स्पर्शना भवतीति वाच्यम्, तस्य कादाचित्कत्वेनेहाऽनधिकृतत्वात्। तथा 'सव्वसुहमेसु' ति सर्वासु अष्टादशसंख्याकासु सूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, तेषां स्वस्थानस्याऽपि सर्वलोकत्वात् ॥६८॥

अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

एगिंदियम्मि तदखिलबायरभेएसु णरदुगुच्चाणं ।
लोगासंखियभागो इह तह चउवाउभेएसुं ॥६९॥
छुहिअ तेवट्ठीए एगिंदियजोग्गअसुहपयडीणं ।
सव्वजगं बिण्णेयं सेसाणं अत्थि ऊणजगं ॥७०॥

(प्रे०) 'एगिंदियम्मि' इत्यादि, एकेन्द्रियौघः 'तदखिल' त्ति त्रयो बादरैकेन्द्रियभेदाश्चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, तेजोवायूनां तद्बन्धाभावात् पर्याप्तबादरपृथ्वीजलवनस्पतीनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वाच्च। ततः किम्? तेषां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् मनुष्यद्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धकानां मारणान्तिकसमुद्घातप्राप्तानां मनुष्यक्षेत्राद् बहिरुत्पादाभावेन मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताया अपि स्पर्शनाया यथोक्तप्रमाणत्वाच्च। तथा 'इह' त्ति अनन्तरोक्तासु एकेन्द्रियौघादिषु चतसृषु मार्गणासु 'तह चउवाउभेएसु' ति सूक्ष्मेषूक्तत्वात् वायुकायौघस्त्रयो बादरवायुभेदाश्चेति चतसृषु वायुकायमार्गणासु च प्रत्येकं 'तेवट्ठीए' त्ति अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशदसातं

हास्यरती शोकारती नपुंसकवेदस्तिर्यग्द्विकम् एकेन्द्रियजातिः हुंडकसंस्थान स्थावरचतुष्कमस्थिराशुभे दुर्भगनाम अनादेयद्विकं नीचैर्गोत्रञ्चेति सूक्ष्मैकेन्द्रियवेद्यानां त्रिपञ्चाशत्प्रशस्तप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मारणान्तिकसमुद्घातप्राप्तानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात्। तथा 'सेसाण' ति सातं स्त्रीपुरुषवेदौ पञ्चेन्द्रियजातिः विकलेन्द्रियत्रिकम् औदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं संहननपट्कं हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकं विहायोगती पराघातोच्छ्वासौ आतपोद्योतनाम्नी त्रसदशकं दुःस्वरनामेति उक्तशेषाणामत्र बन्धार्हाणां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्देशोनं जगत् स्पृष्टम्, बादरवायुकायिकानां स्वस्थानस्य देशोनजगद्व्यापित्वात् चतसृषु एकेन्द्रियौघादिषु मार्गणास्वपि वायुकायिकानामन्तः प्रवेशाच्च ॥६९-७०॥

अथौदारिककाययोगमार्गणायामाह—

उरले जेसिं खवगो सिं बत्तीसाअ फोसिओ णेयो।
लोगासंखियभागो तिरियव्व हवेज्ज सेसाणं ॥७१॥

(प्रे०) 'उरले' इत्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायां 'जेसि बत्ती अ' त्ति 'जससायाणि उच्चगणिंदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइजिणसुरविउव्वाहारजुगलाणि' इति यासां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः क्षपकः 'सि' ति तासां लोकस्याऽसंख्येयतमो भागः स्पृष्टः, उत्कृष्टरसबन्धकैरिति प्रस्तावाद् गम्यते, क्षपकाणां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्। तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणामष्टाशीतेः प्रकृतीनां 'तिरियव्व' त्ति तिर्यग्गत्योघमार्गणावद् भवेत्। कुतः ? तिर्यक्प्राधान्यात्। तिर्यग्वत्स्पर्शना एवम्—नरकद्विकं नपुंसकवेदः असातं शोकारती हुंडकं नीचैर्गोत्रमस्थिरषट्कं कुखगतिरप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशच्चेति अष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः एकरज्जुवृत्तविस्तृतषड्रज्ज्वाऽयतात्मकाः षड् भागाः स्पृष्टाः, संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां सप्तमपृथिव्यां मारणान्तिकसमुद्घातेनाप्युत्पादात्। तथा तिर्यग्द्विकं स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनाम हास्यरती सूक्ष्मत्रिकमिति नवानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरखिलो लोकः स्पृष्टः। तथा स्त्रीपुरुषवेदौ संहननषट्कं मध्यमसंस्थानचतुष्कं मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं विकलत्रिकमातपोद्योतनाम्नी इत्येकविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयतमो भागः स्पृष्टः, हेतुस्तिर्यग्गत्योघमार्गणावत् ॥७१॥

अथ वैक्रियकाययोगमार्गणायामाह—

विउवे तेरस भागा चउवण्णाअ णपुमाइगाण तहा।
हस्सरइतिरिदुगाण एगिंदियथावराण नव भागा ॥७२॥ (गीतिः)

जाण विसुद्धो सम्मो तेसिं तह आयवस्स अड भागा ।
लोगासंखियभागो उज्जोअस्सऽत्थि बार सेसाणं ॥७३॥(गीतिः)

(प्रे०) 'विउवे' इत्यादि, वैक्रियकाययोगमार्गणायां प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां नपुंसकवेदादीनां चतुःपञ्चाशतो हास्यरतितिर्यग्द्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनाञ्च प्रत्येक-मुत्कृष्टरसबन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः, तत्र ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्तेषत्प्राग्भाराया(?)पृथ्वीपत्सुभिः मारणान्तिकसमुद्घातगतैः व्यन्तरादिदेवैरधोलोकसत्काश्च षट् सप्तमपृथ्वीनारकैः तिर्यक्तयोत्पि-त्सुभिः मारणान्तिकसमुद्घातगतैः स्पृष्टाः । एकेन्द्रियस्थावरनाम्नोरुत्कृष्टरसबन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टाः, तत्राऽष्टौ गमनागमनं कुर्वद्भिर्देवैः एकश्च मारणान्तिकसमुद्घातगतैस्तैरिति । तथा 'जाण' त्ति अनन्तरमार्गणोक्तानां यशःकीर्तिनामादीनां जिननामपर्यवसानानां षड्विंशतेः मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानाञ्चेति सर्वसंख्यया यासामेकत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरस-बन्धकः सुविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः तासामातपनाम्नश्च प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वात् । तथोद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, सप्तमपृथ्वीनारकाणां स्वस्थानस्य तावन्मात्रत्वात् । तथा 'सेसाण' ति देवद्विकनरकद्विक-वैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकरूपाणां चतुर्दशानामिह बन्धाभावात् उक्तशेषाणां स्त्रीपुरुषवेदौ आद्यवर्जसंहननपञ्चक मध्यमसंस्थानचतुष्कमशुभविहायोगतिदुःस्वर इति त्रयो-दशानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टाः, तत्राऽधोलोकसत्काः षट् सप्तमपृथ्वीनारकैः मारणान्तिकसमुद्घातगतैः स्पृष्टाः, ऊर्ध्वसत्काश्च षड् गमनागमनं कुर्वद्भिः सहस्रारान्तदेवै-रिति ॥७२-७३॥

अथ कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोराह—

कम्माणाहारेसुं सामी सम्मोऽत्थि पंचतीसाए ।
जेसिं सिं तह ायवदुगस्स फुसणा सयं णेया ॥७४॥
लोगाऽसंखियभागे विगलतिगसुहमतिगाण उ दिवड्ढा ।
एगिंदिथावराण व भागा बारस य सेसाणं ॥७५॥

(प्रे०) "कम्म" इत्यादि, कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये सम्यग्दृष्टिज्येष्ठरसबन्धस्वामिकानां पञ्चत्रिंशतः सातवेदनीयादिशुभप्रकृतीनामातपोद्योतनाम्नोश्चोत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना स्वय-मागमानुसारेण ज्ञेया । तत्र सातवेदनीयादीनां षड्विंशतेः प्रकृतीनां स्पर्शना तिर्यग्भ्यो देवेषूत्प-द्यमानापेक्षया पञ्चरज्जुप्रमाणा भवितुमर्हति । देवेभ्यश्च मनुष्येषूत्पद्यमानापेक्षया त्वष्टरज्जुमाना

लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा वा स्यात् । श्रेणितः कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यमानापेक्षया तु लोकाऽसंख्येयभागमात्रैवेति नानामतसद्भावेन स्वयं ज्ञेया सा बहुश्रुतादिति ।

मनुष्यपञ्चकस्य तु लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा रज्जुपृथक्त्वप्रमाणा वा स्पर्शना स्यात् । देवचतुष्कस्यापि रज्जुपृथक्त्वप्रमाणा लोकासंख्येयभागप्रमाणा वा। आतपनाम्नो ज्येष्ठरसबन्धकतया देवानामेव स्वामित्वे सार्धरज्जुप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते । त्रिगतिकानां स्वामित्वे तु रज्जुपृथक्त्वप्रमाणा स्यात् । उद्योतनाम्नस्तु सप्तमनरकस्वामित्वेन षड्रज्जुप्रमाणा, लोकासंख्येयभागप्रमाणा वा स्पर्शना स्यात् ।

विकलत्रिकसूक्ष्मत्रिकयोर्ज्येष्ठरसबन्धकाः संज्ञितिर्यग्मनुष्येभ्यः संज्ञितिर्यग्मनुष्येषूत्पद्यमाना भवन्ति, अतो लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते । एकेन्द्रियस्थावरनाम्नोः स्पर्शना देवानां ज्येष्ठरसबन्धस्वामित्वे सार्धरज्जुप्रमाणा प्राप्यते । अत्र वाकारो मतान्तरख्यापकः; तेन मतान्तरेण देवेभ्यश्च्युतानां तिरश्चामपेक्षया यावती स्पर्शना स्यात् तावत्यप्यत्र विज्ञेया ।

उक्तशेषाणामेकसप्ततेः ज्येष्ठरसबन्धकानां स्पर्शना नैरयिकेभ्यो देवेभ्यश्च तिर्यक्षूत्पद्यमानजीवापेक्षया द्वादशरज्जुप्रमाणा प्राप्यते, षडधोलोकसत्काः षडूर्ध्वलोकसत्काश्चेति । शेषप्रकृतयो नामतः पुनरिमाः--ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकाऽसातवेदनीयमोहनीयसत्कषड्विंशति-तिर्यग्द्विक-द्वितीयादिसंहननपञ्चक-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक-कुखगत्यशुभवर्णादिचतुष्कोपघातनामाऽस्थिरषट्क-नीचैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकरूपा एकसप्ततिरिति ॥७४-७५॥ अथ स्त्रीवेदमार्गणायामाह—

थीए फुसिआ णेया चउवण्णाअ णपुमाइगाणऽत्थि ।
बारस भागा छुहिय पणहस्साईण सव्वजगं ॥७६॥
विण्णेया परिपुट्ठा भागा पंच चउदुस्सराईणं ।
णव भागा तिरियजुगल-एगिंदिय-थावराण तु ॥७७॥
जेसिं खवगो तेसि बत्तीसाअ तह विगलजाईणं ।
लोगासंखियभागो छुहिओ सेसाण अड भागा ॥७८॥

(प्रे०) 'थीए' इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां 'णपुमअसाय अरइदुग । पण अथिराई हुंड णीअ असुहधुववधी' इति चतुःपञ्चाशतो नपुंसकवेदादीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टाः, तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्त तिर्यग्लोकसंस्थिताभिः ईषत्प्राग्भारायामुत्पित्सुभिर्मरणसमुद्घातप्राप्ताभिर्देवीभिः स्पृष्टाः, अधोलोकसत्काः पञ्च, ते च षष्ठपृथिव्यामुत्पित्सुभिः तिरश्चीभिरिति । हास्यरतिसूक्ष्मत्रिकरूपाणां पञ्चानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, तिरश्चीनां मानुषीणाञ्च

सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । तथा दुःस्वरनामाऽप्रशस्तविहायोगतिर्नरकद्विकमिति चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः; ते च षष्ठनरकाभिमुखानां तिरश्चीनां मरणसमुद्घातमाश्रित्य ज्ञेयाः । तथा तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनामेति चतसृणां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्नव भागाः परिस्पृष्टाः, तत्र अष्टौ देवीनां गमनागमनप्रयुक्ता एकश्च पृथ्वीतयोत्पित्सूनां तासां मरणसमुद्घातप्रयुक्तः, यद्वा नवाऽपि भागा मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता लभ्यन्ते । एतच्च **योगशास्त्र**वृत्त्याद्यभिप्रायेण, श्री**प्रज्ञापना**द्यभिप्रायेण तु तिर्यग्लोकत ऊर्ध्वलोकसत्काः पञ्चरज्जवो गमनागमनापेक्षया तथैव ऊर्ध्वलोकसत्कैव सप्तरज्जुस्पर्शना मरणसमुद्घातापेक्षया प्राप्यते, अधोलोकसत्करज्जुद्वयं गमनागमनप्रयुक्तं मरणसमुद्घातप्रयुक्तं च प्राप्यत इति । तथा यासां 'जससायाणि। उच्चपणिंदितसचउरपरघूसास-सुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइजिणसुरविउवाहारजुगलाणी' ति द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां क्षपकः, उत्कृष्टरसबन्धक इति शेषः तासां तथा '**विगलजाईणं**' ति विकलत्रिकस्य प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, तत्र क्षपकाणां मरणसमुद्घाताभावात् तेषां स्वस्थानस्य च लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । विकलत्रिकोत्कृष्टरसबन्धकानां तिरश्चीमानुषीणां स्वस्थानस्य मारणान्तिकसमुद्घातक्षेत्रस्य चाऽपि तिर्यग्लोकमात्रत्वेन लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । तथा '**सेसाणं**' ति स्त्रीपुरुषवेदौ संहननषट्कं मध्यमसंस्थानचतुष्कं मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकमातपोद्योतनाम्नी इत्युक्तशेषाणामष्टादशानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवीनां विहारवत्क्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् ॥७६-७८॥ अथ पुरुषवेदमार्गणायां प्रस्तुता स्पर्शनां दर्शयन्नाह-

पुरिसे तेरस भागा चउवण्णाअ णपुमाइगाणऽत्थि ।
चउदुस्सराइगाणं ओघव्वियराण इत्थिव्व ॥७९॥

(प्रे०) '**पुरिसे**' इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां स्त्रीवेदमार्गणाविवरणोक्तानां नपुंसकवेदादीनां चतुष्पञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः, तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्त देवानां मरणसमुद्घातप्रयुक्ता अधोलोकसत्काः षट् संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां सप्तमपृथिव्यामुत्पित्सूनां मरणसमुद्घातप्रयुक्ताः । तथा 'चउ' त्ति दुःस्वरः कुखगतिर्नरकद्विकमिति चतसृणां प्रत्येकमोघवत्, तद्यथा-दुःस्वरकुखगत्योः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टाः, तत्रोर्ध्वलोकसत्काः षट् सनत्कुमारादीनां गमनागमनप्रयुक्ताः, अधोलोकसत्काश्च षट् सप्तमपृथ्व्यामुत्पित्सूनां तिरश्चां मरणसमुद्घातप्रयुक्ताः । नरकद्विकस्य षड् भागाः, ते च सप्तमनरकनारकतयोत्पित्सून् तिरश्च आश्रित्याधोलोकसत्का एव । तथा '**इयराण**' त्ति उक्तेतरासां द्वाषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनन्तरोक्तस्त्रीवेदमार्गणावद् वाच्यम् । तद्यथा-हास्यरतिसूक्ष्मत्रिकरूपाणां पञ्चानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनामेति

चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं नव भागाः । स्त्रीवेदमार्गणोक्तानां यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशतो विकलत्रिकस्य च लोकाऽसंख्येयभागः । तथा स्त्रीवेदमार्गणोक्तानां स्त्रीवेदादीनामष्टादशानां प्रत्येकमष्टौ भागाः ॥७९॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनां दर्शयति—

णपुमे असंखभागो जगस्स छुहिओऽत्थि जाण खवगो मि ।
तह मणुयोरालियदुग-विगल-वइर-आयवदुगाण ॥८०॥
सव्वजग परिपुट्ठं णेयं सत्तण्ह थावराईणं ।
भागा अत्थि छ छिविया सेसाणं एगसयरीए ॥८१॥

(प्रे०) 'णपुमे' इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणाया यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः क्षपकः, तासां स्त्रीवेदमार्गणाविवरणोक्तानां यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां तथा मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं विकलत्रिकं वज्रर्षभनाराचनाम आतपोद्योतरूपमातपद्विकमिति दशानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्जगतोऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, तत्र क्षपकाणां स्वस्थानस्य, जिननामापेक्षया चारित्रमोहोपशामकसत्कस्पर्शना क्षेत्रस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानामुत्कृष्टरसबन्धकाः सम्यग्दृष्टिनारकाः, तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेन मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताया अपि स्पर्शनाया लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । विकलत्रिकस्योत्कृष्टरसबन्धकाः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः, तेषां स्वस्थानस्य विकलतयोत्पित्सूनां मरणसमुद्घातगतानां समुद्घातक्षेत्रस्य च तिर्यग्लोकतदासन्नमात्रत्वेन लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । आतपनाम्नोऽपि भावना विकलत्रिकवदेव । कुतः ? नारकाणां तद्बन्धाभावात्, सुराणां मार्गणाऽनन्तःपातित्वाच्च । उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकाः सम्यक्त्वाभिमुखाः सप्तमपृथ्वीनारकाः, तेषां स्वस्थानस्य यथोक्तमानत्वात् । न च मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता भविष्यति स्पर्शना षड् रज्जव इति वाच्यम्, सम्यक्त्वाद्यभिमुखानां मरणसमुद्घातायोगात् । तथा 'सत्तण्ह' ति 'थावर एगिंदियहस्सरइपयडी । सुहमतिगमिति सप्तानां स्थावरनामादीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वं जगत् परिस्पृष्टम्, तदुत्कृष्टरसबन्धकानां संज्ञित्वेऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तेषां तदुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवात् । ततः किम् ? सूक्ष्माणां सर्वलोकव्यापित्वेन स्पर्शनाया अनन्तकालविषयत्वेन च परिस्पृश्यते निखिलो लोकः सूक्ष्मतयोत्पित्सुभिर्मरणसमुद्घातगतैः संज्ञिभिरपीति । तथा 'एगसयरीए' त्ति अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशदसातं शोकारती त्रयो वेदास्तिर्यग्द्विकं नरकद्विकमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरस्थिरषट्कं नीचैर्गोत्रञ्चेति उक्तशेषाणामेकसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः षड् भागा

उक्तस्वरूपाः स्पृष्टाः, तत्र नरकद्विकस्य यथोक्तस्पर्शना संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पित्सूनां मरणसमुद्घातमाश्रित्य तथा स्त्रीपुरुषवेदौ तिर्यग्द्विकं संहननपञ्चकं मध्यमसंस्थानचतुष्कमिति त्रयोदशानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तयोत्पित्सूनां सप्तमपृथ्वीनारकाणां मरणसमुद्घातमाश्रित्य, असातं शोकारती नपुंसकवेदः हुंडकसंस्थानम् अप्रशस्तविहायोगतिः अस्थिरषट्कं नीचैर्गोत्रमिति त्रयोदशानामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनाञ्च मारणान्तिकसमुद्घातगतान् सप्तमपृथ्वीनारकान् तादृशस्तिरश्चो वाऽऽश्रित्य सा ज्ञेया ॥८०-८१॥

अथ ज्ञानत्रिकादिमार्गणास्वाह—

खवगो बत्तीसाए जाण तिणाणोहिसम्मखइएसु ।
सिं लोगाऽसंखंसो छुहिओ भागाऽट्ठ सेसाणं ॥८२॥

(प्रे०) 'खवगो' इत्यादि, त्रीणि ज्ञानानि अवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वम् इति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं यासां स्त्रीवेदमार्गणाविवरणोक्तानां यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः क्षपकस्तेषामुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, क्षपकाणां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । तथा 'सेसाणं' ति प्रस्तुतमार्गणाबन्धार्हाणामुक्तातिरिक्तानामेकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् ॥८२॥ अथ देशविरतिमार्गणायामाह—

देसे हस्सरईणं पण भागा फोसिआ गुणेयव्वा ।
सेसाण असंखयमो भागो लोगस्स परिपुट्ठो ॥८३॥

(प्रे०) 'देसे' इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां हास्यरत्योः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः, ते च तिरश्चां सहस्रारसुरालय उत्पित्सूनां मरणसमुद्घातमाश्रित्येति । तथा उक्तशेषाणामष्टषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं त्रैलोक्यस्याऽसंख्येयतमो भागः परिस्पृष्टः, तदुत्कृष्टरसबन्धकानां गुणाद्यभिमुखत्वेन मारणान्तिकसमुद्घाताभावात् तेषां स्वस्थानस्य च तिर्यग्लोकमात्रत्वेन लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् ॥८३॥

अथाप्रशस्तलेश्यात्रिके आयुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणामुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनामाह—

सुरविउवदुगविगलतिगजिणाण छुहिओ तिअसुहलेसासु ।
लोगासंखियभागो उज्जोअस्स अवि किण्हाए ॥८४॥
उज्जोअं विण अडियरसुहाण एगिंदिथावराण णव ।
सुहमतिगस्सऽखिलजगं रइहस्साणं पि किण्हाए ॥८५॥

भागा णपुमाईणं चउवण्णाए तहा तिरिदुगस्स ।
तेरस एगारस णव एवं दोसु रइहस्साणं ॥८६॥
णिरयदुगछिवट्ठकुसरखगईणं फोसिआ छ चउरो दो ।
कमसो भागा बारस दस अड सेसाण परिपुट्ठा ॥८७॥
तीसु वि पणतीसखुसुरणरारिहविगलतिगायवाण परे ।
बिंति जगअसंखंसो उज्जोअस्स अवि किण्हाए ॥८८॥
सगथावराइगाणं सव्वजगं णवरि णीलकाऊसु ।
हस्सरइवज्जिआणं छत्तउदु भागाऽत्थि सेसाणं ॥८९॥

(प्रे०) '**सुर**' इत्यादि, अप्रशस्तलेश्यामार्गणासु तिसृषु प्रत्येकं देवद्विकाद्विजिननामान्तानामष्टानामुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्यासंख्येयतमो भागः स्पृष्टः । तत्र देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननाम्नां पञ्चानामुत्कृष्टरसस्य प्रस्तुतमार्गणासु यथासम्भवं सम्यग्दृष्टिमनुष्यतिर्यग्भिरेव बध्यमानत्वात्, तेषां च देवेषु वैमानिकदेवत्वेनैव उत्पादभावेन मारणान्तिकसमुद्घाताभावात् । ततः किम्? स्वस्थानप्रयुक्ता लोकासंख्येयभाग एव स्पर्शनेति ।

विकलत्रिकस्य तु बन्धका वेदकाश्च तिर्यग्लोके तदासन्ने वा भवन्ति, ततो मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताऽपि लोकासंख्येयभाग एव स्पर्शना ।

'**उज्जोअस्स**' त्ति कृष्णलेश्यामार्गणायामुद्योतनाम्नोऽपि उत्कृष्टरसबन्धकस्य लोकासंख्येयभागः स्पर्शना भवति, सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमपृथ्वीनारकस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तस्य च मरणसमुद्घाताभावेन स्वस्थानप्रयुक्ता यथोक्ता एव स्पर्शना ।

नीलकापोतलेश्यामार्गणयोस्तु भवनपतिव्यन्तरदेवा यथासम्भवमाद्यनरकपञ्चकनारकास्तत्प्रायोग्यविशुद्धास्तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकास्तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनः, अतो देवानाश्रित्याष्ट रज्जवो नारकांश्चाश्रित्य कापोतलेश्यामार्गणायां रज्जुद्वयम्, नीललेश्यायां पुनश्चतस्रो रज्जवः स्पर्शना भवति । अतः समुदितस्पर्शना कापोतलेश्यायामष्टौ रज्जवः, अधोलोकसत्काद्यरज्जुद्वयस्पर्शनाया देवनारकोभयसाधारणत्वेनैकश एव तद्ग्रहणात् । नीललेश्यायाञ्च दश रज्जवः स्पर्शनोद्योतनाम्नो जायते । अतोऽत्र चतुर्थगाथाप्रान्ते शेषप्रकृतितया तत् संगृहीतमस्ति ।

'**उज्जोअ विण**' त्ति उद्योतनाम विना '**इयरसुहाण**' त्ति इतरशुभानामनन्तरगाथोक्तसुरद्विकादिशुभप्रकृतिवर्जानां शेषशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्य स्पर्शनाऽष्टौ रज्जवो भवति, तिसृष्वप्यशुभलेश्यास्विति प्रकरणाद् गम्यते । इमाश्च ताः शेषप्रकृतयः-मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजाति-

रौदारिकद्विकं तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम समचतुरस्रसंस्थाननाम वज्रर्षभनाराचसंहनननाम सुखगतिर्वर्णचतुष्कमगुरुलघुनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम निर्माणनाम त्रसदशकमातपनाम सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्येकत्रिंशत् । आसामष्टरज्जुस्पर्शना देवानाश्रित्य भवति, यत आस्य आतपनाम विहाय त्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धो नारकाणामपि भवति, तथापि तानाश्रित्य लोकासंख्येयभाग एव स्पर्शना, स्वस्थानापेक्षया मारणान्तिकसमुद्घातगतान् मनुष्यतर्यतिप-त्त्रनाश्रित्य वा तत्प्राप्तेः ।

तिर्यग्मनुष्यानाश्रित्य त्वासामुत्कृष्टरसबन्ध एव न भवति, तेषामनवस्थितलेश्यावत्वे-नैतावद्विशुद्धौ नाऽशुभलेश्याना सद्भाव इति ।

मनुष्यतिरश्चामातपनाम्नः केषाञ्चिन्मते भवति ज्येष्ठरसबन्धः, केषाञ्चिन्मतेन तु नास्ति । यद्यस्ति तर्हि लोकासंख्येयभाग एव, तद्बन्धकास्तद्वेदकाश्च तिर्यग्लोके तदासन्ने चैव भवन्ति इति कृत्वा । एवमेकत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षयाऽष्टौ रज्जवो भवति ।

इह देवद्विकादिप्रशस्तप्रकृतिपञ्चकस्यानन्तरमेव पृथग् दर्शितम् । उद्योतस्य कृष्णायां दर्शितम्, द्वयोश्चाग्रे दर्शयिष्यते । आयुषामत्रानधिकारः, अतः प्रशस्तायुष्कत्रयमत्र न गृहीतम् । आहारकद्विकस्याप्रशस्तलेश्यास्वबन्ध एव अतस्तदपि न गृहीतम् । एवमेकादश प्रकृतीविहाये-तरप्रकृतितयैकत्रिंशत् प्रकृतयो गृहीताः सन्ति ।

"**एगिंदियथावराण**" त्ति एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः प्रस्तुतस्पर्शना नव रज्जवो देवानाश्रित्य भवति, नारकास्त्वबन्धकाः । मनुष्यतिर्यञ्चस्तूत्कृष्टरसबन्धायानर्हाः ।

'**हुमतिगस्स**' त्ति सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणनामरूपस्य सूक्ष्मत्रिकस्योत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकः, तद्बन्धकानां संज्ञिमनुष्यतिरश्चां स्वस्थानस्य लोकासंख्येयभागमात्रत्वेपि तद्वेदकानां सूक्ष्मजीवानां सर्वलोकव्यापित्वात् । ततः किम् ? मारणान्तिकसमुद्घातमाश्रित्य सर्वलोकः स्पर्शना भवति, अप्रशस्तलेश्यात्रिक इति अनुवर्त्तते ।

'**रइहस्साण**' मिति कृष्णलेश्यामार्गणायान्तु हास्यरत्योरपि सर्वलोकः, उत्कृष्टरसबन्धक-स्पर्शनेति प्रकरणगम्यम् । कुतः सर्वलोक इति चेदुच्यते-प्रस्तुतलेश्यायां चातुर्गतिकास्तदुत्कृष्ट-रसबन्धकाः, तेषु मनुष्यतिर्यञ्चः सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पद्यमाना मारणान्तिकसमुद्घातगता अपि तदुत्कृष्टरसबन्धं कुर्वन्तीति कृत्वा ।

नीलकापोतलेश्यामार्गणयोर्हास्यरत्युत्कृष्टरसबन्धं देवनारका एव कुर्वन्ति, दशकोटाकोटि-सागरोपममितस्थितिबन्धकानामेव तद्भावात्, मनुष्यतिरश्चां तु प्रस्तुतमार्गणयोरन्तःकोटा-

भागा णपुमाईणं चउवण्णाए तहा तिरिदुगस्स ।
तेरस एगारस णव एवं दोसु रइहस्साणं ॥८६॥
णिरयदुगछिवट्ठकुसरखगईणं फोमिआ छ चउरो दो ।
कमसो भागा बारस दस अड सेसाण परिपुट्ठा ॥८७॥
तीसु वि पणतीससुसुरणरारिहविगलतिगायवाण परे ।
बिंति जगअसंखंसो उज्जोअस्स अवि किण्हाए ॥८८॥
सगथावराइगाणं सव्वजगं णवरि णीलकाऊसु ।
हस्सरइवज्जिआणं छचउदुभागाऽत्थि सेसाणं ॥८९॥

(प्रे०) 'सुर' इत्यादि, अप्रशस्तलेश्यामार्गणासु तिसृषु प्रत्येकं देवद्विकादिजिननामान्तानामष्टानामुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्यासंख्येयतमो भागः स्पृष्टः । तत्र देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननाम्ना पञ्चानामुत्कृष्टरसस्य प्रस्तुतमार्गणासु यथासम्भवं सम्यग्दृष्टिमनुष्यतिर्यग्भिरेव बध्यमानत्वात्, तेषां च देवेषु वैमानिकदेवत्वेनैव उत्पादभावेन मारणान्तिकसमुद्घाताभावात् । ततः किम्? स्वस्थानप्रयुक्ता लोकासंख्येयभाग एव स्पर्शनेति ।

विकलत्रिकस्य तु बन्धका वेदकाश्च तिर्यग्लोके तदासन्ने वा भवन्ति, ततो मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताऽपि लोकासंख्येयभाग एव स्पर्शना ।

'उज्जोअस्स' त्ति कृष्णलेश्यामार्गणायामुद्योतनाम्नोऽपि उत्कृष्टरसबन्धकस्य लोकासंख्येयभागः स्पर्शना भवति, सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमपृथ्वीनारकस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तस्य च मरणसमुद्घाताभावेन स्वस्थानप्रयुक्ता यथोक्ता एव स्पर्शना ।

नीलकापोतलेश्यामार्गणयोस्तु भवनपतिव्यन्तरदेवा यथासम्भवमाद्यनरकपञ्चकनारकास्तत्प्रायोग्यविशुद्धास्तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकास्तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनः, अतो देवानाश्रित्याष्ट रज्जवो नारकांश्चाश्रित्य कापोतलेश्यामार्गणायां रज्जुद्वयम्, नीललेश्याया पुनश्चतस्रो रज्जवः स्पर्शना भवति । अतः समुदितस्पर्शना कापोतलेश्यायामष्टौ रज्जवः, अधोलोकसत्काद्यरज्जुद्वयस्पर्शनाया देवनारकोभयसाधारणत्वेनैकश एव तद्गणनात् । नीललेश्यायाञ्च दश रज्जवः स्पर्शनोद्योतनाम्नो जायते । अतोऽत्र चतुर्थगाथाप्रान्ते शेषप्रकृतितया तत् संगृहीतमस्ति ।

'उज्जोअ विण' त्ति उद्योतनाम विना 'इयरसुहाण' त्ति इतरशुभानामनन्तरगाथोक्तसुरद्विकादिशुभप्रकृतिवर्जानां शेषशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्य स्पर्शनाऽष्टौ रज्जवो भवति, तिसृष्वप्यशुभलेश्यास्विति प्रकरणाद् गम्यते । इमाश्च ताः शेषप्रकृतयः-मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजाति-

रौदारिकद्विकं तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम समचतुरस्रसंस्थाननाम वज्रर्षभनाराचसंहनननाम सुखगतिर्वर्णचतुष्कमगुरुलघुनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम निर्माणनाम त्रसदशकमातपनाम सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्येकत्रिंशत्। आसामष्टरज्जुस्पर्शना देवानाश्रित्य भवति, यत आभ्य आतपनाम विहाय त्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धो नारकाणामपि भवति, तथापि तानाश्रित्य लोकासंख्येयभाग एव स्पर्शना, स्वस्थानापेक्षया मारणान्तिकसमुद्घातगतान् मनुष्यतयोत्पित्सूनाश्रित्य वा तत्प्राप्तेः।

तिर्यग्मनुष्यानाश्रित्य त्वासामुत्कृष्टरसबन्ध एव न भवति, तेषामनवस्थितलेश्याकत्वेनैतावद्विशुद्धौ नाऽशुभलेश्याना सद्भाव इति।

मनुष्यतिरश्चामातपनाम्नः केषाञ्चिन्मते भवति ज्येष्ठरसबन्धः, केषाञ्चिन्मतेन तु नास्ति। यद्यस्ति तर्हि लोकासंख्येयभाग एव, तद्बन्धकास्तद्वेदकाश्च तिर्यग्लोके तदासन्ने वैव भवन्ति इति कृत्वा। एवमेकत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षयाऽष्टौ रज्जवो भवति।

इह देवद्विकादिप्रशस्तप्रकृतिपञ्चकस्यानन्तरमेव पृथग् दर्शितम्। उद्योतस्य कृष्णायां दर्शितम्, द्वयोश्चाग्रे दर्शयिष्यते। आयुषामत्रानधिकारः, अतः प्रशस्तायुष्कत्रयमत्र न गृहीतम्। आहारकद्विकस्याप्रशस्तलेश्यास्वबन्ध एव अतस्तदपि न गृहीतम्। एवमेकादश प्रकृतीर्विहायेतरप्रकृतितयैकत्रिंशत् प्रकृतयो गृहीताः सन्ति।

"**एगिदियथावराण**" त्ति एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः प्रस्तुतस्पर्शना नव रज्जवो देवानाश्रित्य भवति, नारकास्त्वबन्धकाः। मनुष्यतिर्यञ्चस्तूत्कृष्टरसबन्धायानर्हाः।

'**हुमतिगस्स**' त्ति सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणनामरूपस्य सूक्ष्मत्रिकस्योत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकः, तद्बन्धकानां संज्ञिमनुष्यतिरश्चां स्वस्थानस्य लोकासंख्येयभागमात्रत्वेपि तद्वेदकानां सूक्ष्मजीवानां सर्वलोकव्यापित्वात्। ततः किम्? मारणान्तिकसमुद्घातमाश्रित्य सर्वलोकः स्पर्शना भवति, अप्रशस्तलेश्यात्रिक इति अनुवर्त्तते।

'**रइहस्साण**' मिति कृष्णलेश्यामार्गणायान्तु हास्यरत्योरपि सर्वलोकः, उत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनेति प्रकरणगम्यम्। कुतः सर्वलोक इति चेदुच्यते-प्रस्तुतलेश्यायां चातुर्गतिकास्तदुत्कृष्टरसबन्धकाः, तेषु मनुष्यतिर्यञ्चः सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पद्यमाना मारणान्तिकसमुद्घातगता अपि तदुत्कृष्टरसबन्धं कुर्वन्तीति कृत्वा।

नीलकापोतलेश्यामार्गणयोर्हास्यरत्युत्कृष्टरसबन्धं देवनारका एव कुर्वन्ति, दशकोटाकोटिसागरोपममितस्थितिबन्धकानामेव तद्भावात्, मनुष्यतिरश्चां तु प्रस्तुतमार्गणयोरन्तःकोटा-

कोटिसागरोपमतोऽधिको नास्ति स्थितिबन्धः, अतो देवनारकानाश्रित्य नीललेश्यायामेकादश रज्जवः, कापोतलेश्यायाञ्च नव रज्जवः स्पर्शना भवति. सा चात्र तृतीयगाथाप्रान्ते दर्शयिष्यते मूलकारेणेति ।

'भागा णपुमाईणं' इत्यादि, प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनां तिर्यग्द्विकस्य चेति समुदितानां षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकानां कृष्णलेश्यायां त्रयोदश रज्जवः, नीललेश्यायामेकादश रज्जवः, कापोतलेश्यायाञ्च नव रज्जवः स्पर्शना । सा चैवम्—नपुंसकवेदः, असातवेदनीयम्, शोकारती, अस्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामानि, हुंडकसंस्थानम्, नीचैर्गोत्रम्, अशुभध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशदिति चतुष्पञ्चाशतः प्रकृतीनां तिर्यक्षूत्पित्सून् नारकानाश्रित्य कृष्णलेश्यायां षड् रज्जवः, नीललेश्यायां चतस्रो रज्जवः, कापोतलेश्यायां द्वे रज्जू स्पर्शनाधोलोकसत्का भवति, मनुष्यानाश्रित्य तु कृष्णायां लोकासंख्येयभाग एव स्पर्शना भवति, साऽपि नारकतयोत्पित्सूनाश्रित्यैव ।

देवानाश्रित्योर्ध्वलोकसत्काः सप्त रज्जवोऽधोलोकसत्के द्वे रज्जू स्पर्शना भवति । अतो देवान् नारकांश्चाश्रित्य समुदिता स्पर्शना कृष्णलेश्यायां त्रयोदश रज्जवः । तद्यथा—ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्त रज्जवः, अधोलोकसत्काश्च षड्रज्जव इति । नीललेश्यायामेकादश रज्जवः । तद्यथा-ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्ताधोलोकसत्काश्च चतस्रो रज्जव इति । कापोतलेश्यायां नव रज्जवः । तद्यथा—ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्ताधोलोकसत्के च द्वे इति । तिर्यग्द्विकस्यापि नारकान् देवांश्चाश्रित्य समुदिता स्पर्शनाऽनन्तरोक्तवत् त्रयोदशादिरज्जुमिता भवति। मनुष्यतिरश्चान्तु तिर्यग्द्विकस्योत्कृष्टरसबन्धो न भवति, ततस्तानाश्रित्य प्रस्तुतस्पर्शना न चिन्तनीया । तथा नपुंसकवेदादीनां चतुष्पञ्चाशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धकानां कृष्णायां नरकेषूत्पित्सून् तिरश्च आश्रित्य षड्रज्जुप्रमाणस्पर्शनाया भावः, नीलकापोतयोस्त्वासां चतुष्पञ्चाशतस्तिर्यग्मनुष्याणां ज्येष्ठरसबन्धाभावात्तत्र न तत्स्पर्शना वाच्या इति ।

'एव दोसु' इत्यादि, इह तृतीयगाथायास्तृतीयपादेन नीलकापोतयोर्हास्यरत्योः स्पर्शना दर्शिता । सा च नीललेश्याया देवापेक्षया सप्त रज्जवः देवनारकापेक्षया नारकापेक्षया च प्रत्येकं रज्जुद्वयमिति एकादश रज्जवः । कापोतलेश्यायान्तु सप्त रज्जवो देवापेक्षया द्वे रज्जू देवनारकानपेक्ष्येति नव रज्जवः स्पर्शनोत्कृष्टरसबन्धकस्येति ।

'णिरयदुग' इत्यादि, नरकद्विकम्, दुःस्वरः, अशुभविहायोगतिरिति प्रकृतिपञ्चकस्य कृष्णलेश्यायामुत्कृष्टरसबन्धं तिर्यग्मनुष्याः कुर्वन्ति । नरकद्विकं विहाय शेषप्रकृत्योर्नारका अपि कुर्वन्ति, किन्तु देवा द्वाभ्यां कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धका न सन्ति । ततो नरकेषूत्पद्य-

मानान् तिरश्चः तिर्यक्षूत्पद्यमानान नारकांश्च मारणान्तिकसमुद्घातगतानाश्रित्य कृष्णलेश्यायां सप्तमनरकापेक्षया षड् रज्जवः, नीललेश्याया पञ्चमनरकापेक्षया चतस्रो रज्जवः, कापोतलेश्याया तृतीयनरकापेक्षया द्वे रज्जू स्पर्शना भवति। सेवार्तसंहननस्य पुनर्नारका एव ज्येष्टरसबन्धस्वामिनो भवन्ति, अतस्तानपेक्ष्य दुःस्वरनामवत् षडादिरज्जवः स्पर्शना भावनीया। नीलकापोतलेश्ययोः नारकापेक्षया एव कुखगतिदुःस्वरनाम्नोर्ज्येष्ठरसबन्धकानां स्पर्शना भावनीया इति।

'सेसाण' त्ति, स्त्रीपुरुषवेदादीनां कृष्णलेश्यायां द्वादश रज्जवः, नीललेश्याया दश रज्जवः, कापोतलेश्यामार्गणायामष्टौ रज्जवः स्पर्शना भवति। इमाश्च ताः शेषप्रकृतयः- स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, मध्यमसंस्थानचतुष्कम्, मध्यमसंहननचतुष्कमिति दश प्रकृतयः, एतासामुत्कृष्टरसबन्धकान् देवानाश्रित्याऽष्टौ रज्जवः स्पर्शना भवति, एताः प्रकृतय एकेन्द्रियप्रायोग्या न सन्ति, अतो नवमी रज्जुर्न भवति। मनुष्यतिरश्च आश्रित्य तु कृष्णायां लोकासंख्येयभाग एव भवति। नीलकापोतयोस्तु तिर्यग्मनुष्यास्तज्ज्येष्ठरसबन्धका एव न भवन्ति।

नारकापेक्षया कृष्णलेश्यायां षड् रज्जवः, नीललेश्यायां चतस्रो रज्जवः, कापोतलेश्यायां द्वे रज्जू स्पर्शना भवति। अतो देवनारकाणां समुदिताः पूर्वोक्ताः कृष्णादिलेश्यासु यथाक्रमं द्वादश दश अष्टौ रज्जवः स्पर्शना भवति। अत्राधोलोकमस्तके आद्ये द्वे रज्जू देवान् नारकांश्चाश्रित्य भवतः। अतोऽधोलोकमस्तके द्वे रज्जू द्विर्न गणनीये। अत्र नीलकापोतलेश्ययोरुद्योतनामापि शेषप्रकृतितया गणनीयम्। इति चतसृभिर्गाथाभिः स्वमतेनाशुभलेश्यामार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना वर्णिता।

अथ येषां मते पर्याप्तावस्थायां देवानामशुभलेश्या न स्वीक्रियन्ते, तेषां मतेन अधुनाऽऽह-'तीसु वि' इत्यादि, इह पूर्वोक्तद्वितीयगाथाटीकायां दर्शिताभ्य एकत्रिंशत्प्रकृतिभ्य आतपनाम विहाय शेषत्रिंशत्प्रकृतयो देवद्विकं वैक्रियद्विकं जिननाम चेति पञ्चत्रिंशतो देवमनुष्यप्रायोग्यशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना यथासंभवं मनुष्यतिर्यग्नारकानाश्रित्य तिसृष्वपि अप्रशस्तलेश्यामार्गणासु लोकासंख्येयभाग एव भवति। देवानां त्वस्मिन् मते उत्कृष्टरसबन्धो नास्ति इति कृत्वा। तत्र तिर्यग्मनुष्याणां तु स्वस्थानत एव तल्लाभात् न तिर्यश्चमधिकृत्य पञ्चरज्जुस्पर्शनाया अवकाश इति।

"विगलतिगायवाण" त्ति, विकलत्रिकस्योत्कृष्टरसबन्धकानामुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शना स्वमतवद् अस्मिन् मतऽपि लोकाऽसंख्येयभागो भवति।

आतपनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकस्य लोकासंख्येयभागः स्पर्शना, यतोऽस्मिन् मते मनुष्यतिरश्चामेव तदुत्कृष्टरसबन्धो भवति। तथा तद्बन्धका वेदकाश्च तिर्यग्लोके तदासन्ने चैव भवन्ति, ततो यथोक्ता एव स्पर्शना लोकासंख्येयभागमिता भवति।

उद्योतनाम्नः कृष्णलेश्यायां स्वमतवदस्मिन् मतेऽपि लोकासंख्येयभाग एव भवति, भावनापि पूर्ववदेव । 'सगथावराइगाण' ति. स्थावरनामहास्यरतिसूक्ष्मत्रिकैकेन्द्रियजातिरूपाणां सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्य कृष्णलेश्यायां सर्वलोकः स्पर्शना ज्ञेया ।

नीलकापोतयोस्तु हास्यरतिवर्जपञ्चानां सर्वलोकः । स्वमते सूक्ष्मत्रिकस्य सर्वलोकः स्पर्शना यथा भाविता तथैव अस्मिन् मते एकेन्द्रियस्थावरनाम्नोरपि सर्वलोकः स्पर्शना भावनीया ।

हास्यरत्योस्तु स्वमतवदेव बोध्यम् ।

शेषप्रकृतयः कृष्णलेश्यायामेकसप्ततिः । नीलकापोतलेश्ययोस्तु प्रत्येकं हास्यरत्युद्योतसहिताश्चतुःसप्ततिः । आसां शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैः कृष्णलेश्यायां षड् रज्जवः, नीललेश्यायां चतस्रो रज्जवः, कापोतलेश्यायां द्वे रज्जू स्पृष्टे । अत्र नरकद्विकरहितानामनन्तरोक्तप्रकृतीनां स्पर्शना नारकापेक्षया प्राप्यते । कृष्णायां ज्ञानावरणादयश्चतुष्पञ्चाशत् , कुखगतिः दुःस्वरश्चेति षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनां नरकेषूत्पद्यमानतिर्यगपेक्षयापि प्राप्यते, नरकद्विकस्य केवलं तिर्यगपेक्षया, तिर्यग्द्विकस्य सेवार्त्तस्य च केवलं नरकापेक्षया प्राप्यते, उत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनेति प्रकरणगम्यम् । शेषप्रकृतय इमाः—ज्ञानावरणादयश्चतुष्पञ्चाशत् , तिर्यग्द्विकम् , नरकद्विकादयः पञ्च, स्त्रीवेदादयो दशेति एकसप्ततिः । हास्यरत्युद्योतसहितास्तु चतुःसप्ततिरिति ॥८४-८६॥

अथ तेजोलेश्यामार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनामाह—

> तेऊए लेसाए चउवण्णाअ णपुमाइगाण तहा ।
> छण्ह तिरियाईणं णव भागा फरिसिआ हुन्ते ॥९०॥
> जेसिं अपमत्तजई सिं बत्तीसाअ अत्थि परिपुट्ठो ।
> लोगाऽसंखियभागो दिवड्ढा भागाऽट्ठ सेसाणं ॥९१॥

(प्रे०) 'तेऊए' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां 'णपुमअसायअरइदुग । पण अथिराई हुंड णीअ असुह कुखबंधी' त्ति चतुष्पञ्चाशतो नपुंसकवेदादीनां 'तिरिदुगथावरएगिंदियहस्सरइपयडी' त्ति तिर्यग्द्विकादीनां षण्णाञ्च प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टाः, ईषत्प्राग्भारायामुत्पित्सूनां मरणसमुद्घातगतानां नपत्यादीनां देवानां तदुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवाद् ऊर्ध्वलोकसत्काः भागा मारणान्तिकसमुद् प्रयुक्ता द्वौ चाऽधोलोकसत्कौ गमनागमनप्रयुक्तौ मरणसमुद्घातप्रयुक्तौ वा । वा भागा ग युक्ता एकश्च मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तः ।

'जससायाणि । चउ-पणिंदि उग परघूसास--सुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइजिणसुर-

विउव्वाहारजुगलाणी' ति यासां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामप्रमत्तयतिः, उत्कृष्टरसबन्धक इति गम्यते तासामुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः परिस्पृष्टः, अप्रमत्तयतीनां स्वस्थानस्य पारभविको-त्पत्तिस्थानस्य च प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेन मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताया अपि स्पर्शनाया लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । तथा 'अट्ठ सेसाण' ति उक्तशेषाणां विंशतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, ईषत्प्राग्भारायामुत्पित्सूनां देवानां मरणसमुद्-घातावस्थायां तासां प्रकृतीनामबन्धकत्वेनोत्कृष्टरसाबन्धकत्वेन वा गमनागमनक्षेत्रस्यैव लाभात्, तस्य च तावन्मात्रत्वात् । अथोक्तशेषाः प्रकृतयः-स्त्री-पुरुषवेदौ मनुष्यद्विकमौदारिक-द्विकं संहननषट्कं मध्यमसंस्थानचतुष्कं कुखगतिरातपनामोद्योतनाम दुःस्वर इति विंशतिः ।

नन्विह आतपनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना नव भागाः कुतो नोच्यन्ते, मारणान्तिक-समुद्घातगतानामपीशानान्तदेवानां तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्तनात्, तेषाञ्च मारणान्तिकसमुद्घात-क्षेत्रस्य नवभागप्रमाणत्वादिति चेत्? न, रविबिम्बे बादरपर्याप्तपृथ्वीकायतयोत्पद्यमानानामेव मार-णान्तिकसमुद्घातप्राप्तानां तद्बन्धकत्वेन गमनागमनप्रयुक्तस्पर्शनातोऽविशेषात्, गमनागमनप्रयु-क्तायाः स्पर्शनायाश्चाऽष्टभागप्रमाणत्वात् । एवमेवोद्योतनाम्नोऽपि अष्टावेव भागाः, तद्यथा-यद्यपि स्वस्थानस्था गमनागमनक्षेत्रगता वा भवनपत्यादयो देवा ईषत्प्राग्भारायामुत्पित्सव उद्योतनाम बध्नन्ति, किन्तु न तदा तेषां तदुत्कृष्टरसबन्धः, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यबन्धकानामेव तदुत्कृष्टरस-बन्धकत्वात्, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तयोत्पित्सूनां तु स्वस्थानतस्समुद्घातप्रयुक्ता सार्धरज्जुमिता एव सा भवति, गमनागमनप्रयुक्तास्तु अष्टौ भागाः, एवमुद्योतनामोत्कृष्टरसबन्धकानामपि नव भागाः स्पर्शना न भवतीति भावः ॥९०-९१॥ अथ पद्मलेश्यादिमार्गणास्वाह—

जाणोहे खवगो सिं पम्हुवसमवेअगेसु विण्णेयो ।
लोगासंखियभागो छिहिओ भागाऽट्ठ सेसाण ॥९२॥

(प्रे०) 'जाणोहे' इत्यादि, पद्मलेश्या उपशमसम्यक्त्वम् 'वेअग' त्ति क्षायोपशमिक सम्यक्त्वम् इति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं 'जाणोहे' त्ति यासां यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामोघप्ररूपणायां प्रस्तुतमार्गणासु क्षपकश्रेणेरसम्भवात्, उपशमसम्य क्त्वे उपशामकः, शेषमार्गणाद्वये अप्रमत्तयतिः, उत्कृष्टरसबन्धक इति प्रकरणगम्यम्, तासामुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, कुतः? उच्यते—अप्रमत्तादयो यतय आसा-मुत्कृष्टरसबन्धकास्तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । तथा 'भागाऽट्ठ सेसाण' ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामुक्तशेषाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्ध कैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, प्रकृतमार्गणागतानां देवानामेकेन्द्रियतयोत्पादाभावात् तेषां गमनागमन-

क्षेत्रस्य च तावन्मात्रत्वात् ॥९२॥ अथ शुक्ललेश्यायाम्—

सुक्काअ जाण खवगो मिं बत्तीसाअ फोसिओ णेयो।
लोगासंखियभागो छिविआ भागा छ सेसाणं ॥९३॥

(प्रे०) 'सुक्काअ' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायाम् 'जाण खवगो' इत्यादि सुगमम्। नवरं लोकाऽसंख्येयभागः, क्षपकाणां स्वस्थानस्य तावन्मात्रत्वात्। तथा उक्तशेषाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, आनतादिदेवानां गमनागमन क्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वात् ॥९३॥ अथाऽभव्यमार्गणायामाह—

अभवे तेरस भागा तिरियदुगस्स णपुमाइगाणं च।
चउवण्णाए छुहिआ सुरविउवदुगाण पण भागा ॥९४॥
णि यदुगुज्जोआणं भागा छ णरदुगआयवुच्चाण।
अड भागा परिपुट्ठं पणहस्साईण सव्वजगं ॥९५॥
परिपुट्ठा णव भागा एगिंदियथावराण विगलाणं।
लोगासखियभागो बारस भागाऽत्थि सेसाणं ॥९६॥

(प्रे०) 'अभवे' इत्यादि, अभव्यमार्गणायां तिर्यग्द्विकं तथा प्रकृतद्वारप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ता नपुंसकवेदादयश्चतुष्पञ्चाशदिति सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः, तत्र ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्त अधोलोकसत्काश्च ते षड्, भावना त्वोघवत्। तथा देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रत्येकं पञ्च भागाः, ते च तिरश्चामासहस्रारं मारणान्तिकसमुद्घातमाश्रित्य। न च प्रकृतमार्गणावर्त्तिनां मनुष्याणां नवमग्रैवेयके उत्पादश्रवणादाशङ्कनीया अत्र सप्त भागाः, तेषां तादृशां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेन तैर्लोकाऽसंख्येयभागमात्रस्यैव स्पृष्टत्वात्। तथा नरकद्विकस्योद्योतनाम्नश्चेति तिसृणां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरितीहाऽन्यत्र चानुवर्तते षड् भागाः स्पृष्टाः, ते च नरकद्विकस्यौघवत् तिरश्चां सप्तमनरकं प्रति मारणान्तिकसमुद्घातमाश्रित्य, उद्योतनाम्नस्तु सप्तमपृथ्वीनरकस्य तिर्यक्षु मारणान्तिकसमुद्घातमाश्रित्य। तथा मनुष्यद्विकम् आतपनाम उच्चैर्गोत्रञ्चेति चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकमष्टौ भागाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात्। हास्यरतिसूक्ष्मत्रिकरूपाणां पञ्चानां हास्यादीनां प्रत्येकं सर्वं जगत्, सूक्ष्मत्वाभिमुखानां मरणसमुद्घातगतानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात्। तथा एकेन्द्रियस्थावरनाम्नोः प्रत्येकं

नव भागाः, देवानां मारणान्तिकसमुद्घातक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् । तथा 'विगलाणं' विकल-त्रिकरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागः, भावनौघवत् । तथा 'सेसाणं' त्ति उक्तशेषाणां सातं स्त्रीपुरुषवेदौ पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकद्विकं संहननषट्कं हुंडवर्ज-संस्थानपञ्चकं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ त्रसदशकं दुःस्वर-नामेति चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टाः; तत्रोर्ध्वलोकसत्काः षड् भवनपत्यादीनां देवानां गमनागमनप्रयुक्ताः, अधोलोकसत्काश्च ते षट् सप्तमपृथिवीनारकाणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां च यथासंभवं मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता बोद्धव्याः । अधोलोकसत्कौ द्वौ भागौ गमनागमनप्रयुक्तावपि ॥९४-९५-९६॥

अथाऽभव्यमार्गणायामेव प्रकारान्तरेणाऽऽह—

जइ दव्वसंजयो खलु सामितया गेज्झए तया फुसणा ।
सप्पाउग्गाण भवे ओघव्वुज्जोअवज्जाणं ॥९७॥

(प्रे०) 'जइ' इत्यादि, अभव्यमार्गणायामित्यनुवर्तते 'जइ' त्ति यदि द्रव्यसंयत एव स्वामितया गृह्यते, देवबेद्यप्रशस्तप्रकृतीनामिति शेषः, तर्हि 'सप्पाउग्गाण' त्ति आहारद्विक-जिननाम्नोरत्र बन्धाऽनर्हत्वाद् उद्योतनाम्नोऽन्यथा प्राप्यमाणत्वात् तद्वर्जसर्वासां षोड-शोत्तरशतरूपाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शनौघवद् ज्ञातव्या । कुतः ? द्रव्यसंयतानां मनुष्यलोकवर्तित्वेन यासां यशःकीर्तिनामादीनां क्षपकानामप्यौघे लोकाऽसंख्येयभागमात्रस्पर्शना तासामिहाऽपि सा तावती एव, द्रव्यसंयतानां मनुष्यक्षेत्ररूपस्य स्वस्थानस्य पारभविकोत्पत्ति-स्थानरूपाणां ग्रैवेयकादिसुरालयानाञ्च लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । अथौघवत्—नपुंसक-वेदादीनां चतुःपञ्चाशतस्तिर्यग्द्विकस्य च त्रयोदश भागाः । स्त्रीवेद आद्यवर्जसंहननपञ्चकं मध्यमसंस्थानचतुष्कं पुरुषवेदः कुखगतिः दुःस्वरनामेति त्रयोदशानां द्वादशभागाः । हास्यादीनां पञ्चानां सर्वं जगत् । नरकद्विकस्य षड् भागाः । मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्र-र्षभनाराचनामाऽऽतपनामेति षण्णामष्टौ भागाः । एकेन्द्रियस्थावरनाम्नोः प्रत्येकं नव भागाः । तथा यशःकीर्तिनाम सातमुच्चैर्गोत्रं पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसचतुष्कं पराघातोच्छ्वासौ सुखगतिः स्थिरपञ्चकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ समचतुरस्रसंस्थाननाम देवद्विकं वैक्रियद्विकं विकलत्रिक-ञ्चेति द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागः, तत्रैकोनत्रिंशतः, द्रव्यसंयतानामेवोत्कृष्ट-रसबन्धकत्वात्, विकलत्रिकोत्कृष्टरसबन्धकानां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं तिर्यग्लोकमात्रत्वात्, अत्रेदं हृदयम्—यदा देववेद्यानां प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य न केवलं द्रव्यसंयतः स्वामी तदा तु देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां पञ्चभागाः,

'जस-सायाणि । उच्चगणिंदि-तसचउग-परघूसास-सुखगइ-पणथिराई । सुहधुवबंधागिइ' इति पञ्चविंशतेर्द्वादश भागाः तदुत्कृष्टरसबन्धकैः स्पृष्टाः प्राप्यन्ते, यथासंभवं चातुर्गतिकानां तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । यदा तु द्रव्यसंयत एव तदुत्कृष्टरसबन्धकस्तदाऽऽसारे कोनत्रिंशतोऽपि उत्कृष्टरसबन्धकानां लोकाऽसंख्येयभागमात्रस्पर्शना भवति, द्रव्यसंयतानां मनुष्यत्वे सति तेषां पारभविकोत्पत्तिस्थानस्योत्कृष्टतया नवमग्रैवेयकसुरालयत्वेन स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् ॥९७॥ अथ सास्वादनमार्गणायामाह—

सासाणे पण भागा सुरविउवदुगाण फोसिआ णेया ।
लोगाऽसंखियभागो छुहिओ उज्जोअणामस्स ॥९८॥
सेसाण वि द्धयमो जेसिं तीसाअ मिं मुणेयव्वा ।
अड भागा परिपुट्ठा बारस भागाऽवसेसाणं ॥९९॥

(प्रे०) 'सासाणे' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः, सहस्रारदेवतयोत्पित्सूनां मरणसमुद्घातगतानामपि तिरश्चां तदुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवात् । तथोद्योतनाम्नो लोकाऽसंख्येयभागः, प्रस्तुतमार्गणायां सप्तमपृथ्वीनारकस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तत्स्वस्थानस्य च लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । न च मरणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता अधिकाऽपि स्पर्शनेति वाच्यम्, मारणान्तिकसमुद्घातगतानां सप्तमपृथ्वीनारकाणां नियमतो मिथ्यादृष्टित्वेन तेषां प्रकृतमार्गणाबाह्यत्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति शेषाणां 'जस-सायाणि । उच्चपणिंदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइ' इति यशःकीर्तिनामादयः पञ्चविंशतिः मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनाम चेति यासां त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको विशुद्धतमः, तासामुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः परिस्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वात् । तथा 'ऽवसेसाण' ति उक्तातिरिक्तानां सप्तषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं द्वादश भागाः । तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्त ते चेषत्प्राग्भारायां पृथ्वीतयोत्पित्सून् मारणान्तिकसमुद्घातगतान् देवानाश्रित्य, अधोलोकसत्काः पञ्च, ते च मारणान्तिकसमुद्घातगतान् षष्ठपृथ्वीनारकानाश्रित्य । अथोक्तातिरिक्ताः प्रकृतयः-मिथ्यात्ववर्जा अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो द्विचत्वारिंशत् हास्यरती शोकारती स्त्रीपुरुषवेदौ तिर्यग्द्विकं सेवार्तवर्जं संहननपञ्चकं मध्यमसंस्थानचतुष्कं कुखगतिरस्थिरषट्कं नीचैर्गोत्रमिति सप्तषष्टिरिति ॥९८-९९॥ अथ मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

लोगाऽसंखियभागो सुरविउवदुगाण फोसिओ मीसे ।
पारा । अड भागा चउसयरीअ अवसेसाणं ॥१००॥

(प्रे०) 'लोगासंखियभागो' इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां स्वस्थानस्यैतावन्मात्रत्वात् प्रस्तुतमार्गणायां मरणाऽसंभवेन मारणान्तिकसमुद्घाताऽभावाच्च । तथा 'अवसेसाणं' ति उक्तशेषाणां प्रकृतमार्गणाबन्धार्हाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनामष्टौ भागाः परिस्पृष्टाः, प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरिति प्रकरणाद् गम्यते, तासां प्रत्येकं देवानां बन्धार्हत्वात् तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य चैतावन्मात्रत्वात् ॥१००॥

अथाऽसंज्ञिमार्गणायाम्—

अमणम्मि सव्वलोगो तिरियाईणं णवण्ह परिपुट्ठो ।
विण्णेयो सेसाण लोगस्स असखभागोऽत्थि ॥१०१॥

(प्रे०) 'अमणम्मि' त्यादि, असंज्ञिमार्गणायाम्, तिरिदुग-थावर-एगिंदिय हस्सरइपयडी । सुहमतिग'मिति प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां तिर्यग्द्विकादीनां नवानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः परिस्पृष्टः, पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वेऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्भवात् । तथा 'सेसाणं' ति, आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावाद् उक्तशेषाणामष्टोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं लोकस्याऽसंख्येयो भागः । कुतः ? आसामुत्कृष्टरसबन्धकाः पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चः तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरन्तरालस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । अथाऽष्टोत्तरशतप्रकृतयः—ध्रुवबन्धिन्य एकपञ्चाशत् साताऽसाते शोकारती त्रयो वेदा मनुष्यद्विकं देवद्विकं नरकद्विकं वैक्रियद्विकम् औदारिकद्विकम् एकेन्द्रियवर्जजातिचतुष्कं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासौ आतपोद्योतनाम्नी त्रसदशकमस्थिरषट्कं गोत्रद्विकञ्चेति ।

अथात्रैव लोकाऽसंख्येयभागविषये सविशेषं चिन्त्यते, तत्र त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः असातं शोकारती नपुंसकवेदो नरकद्विकं हुंडकसंस्थानम् अप्रशस्तविहायोगतिरस्थिरषट्कं नीचैर्गोत्रमिति अष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनामप्रशस्तत्वेन नरकवेद्यप्रकृतिबन्धकानामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वेऽपि तेषामुत्कृष्टतः प्रथमनरकचतुर्थप्रस्तर एवोत्पादात् । : किम् ? उत्कृष्टरसबन्धकानां स्वस्थानस्यैकरज्ज्वात्मकसम्पूर्णतिर्यग्लोकत्वेऽपि तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरन्तरालस्य संख्येययोजनमात्रत्वेन तेषां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्तापि स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभाग एव । तथा स्त्रीपुरुषवेदौ प्रथमवर्जसंहननपञ्चकं मध्यमसंस्थानचतुष्कम् उद्योतनाम इति द्वादशानामुत्कृष्टरसबन्धो यथायोगं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यप्रकृतिबन्धकानां सम्भवति, तेषां मारणान्तिकसमुद्घातक्षेत्रस्यापि तिर्यग्लोकमात्रत्वात् लोकाऽसंख्येय-

भाग एव स्पर्शना। तथा सातवेदनीयं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसदशकम् उच्चैर्गोत्रमिति एकोनत्रिंशत उत्कृष्टरसं देवप्रायोग्यप्रकृतिबन्धका बध्नन्ति, तेषां देवत्वे भवनपतिव्यन्तरतयैव उत्पत्तिसंभवेन मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताया अपि स्पर्शनाया लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्। तथा मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं प्रथमसंहननम् इति पञ्चानां प्रकृतीनां मनुष्यतयोत्पित्सूनामेव पञ्चेन्द्रियाणां मारणान्तिकसमुद्घाते उत्कृष्टरसबन्धः, तेषां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताया अपि स्पर्शनाया लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्। तथा विकलत्रिकोत्कृष्टरसबन्धकैर्मारणान्तिकसमुद्घातगतैरपि तिर्यग्लोकमात्रस्पृष्टत्वाद् यथोक्ता लोकाऽसंख्येयभागमिता स्पर्शना। तथा आतपनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकानां पारभविकोत्पत्तिस्थानस्य सूर्यविमानत्वेन सूर्यविमानानाञ्च तिर्यग्लोकमात्रव्यापित्वेन तेषां मारणान्तिकसमुद्घातक्षेत्रस्यापि लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वादिति।

अथ प्राक् चतुष्पञ्चाशत्तमायां गाथायां मूलकारेणातिदिष्टामनुत्कृष्टरसबन्धस्पर्शनां मार्गणासु स्वस्मृत्यर्थं किञ्चिद् विस्तरतो दर्शयामः, तद्यथा—काययोगौघः चत्वारः कषायाः अचक्षुर्दर्शन भव्य आहारी चेति, अष्टसु मार्गणासु आहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः। नरकद्विकस्य तैः षड् भागाः, देवद्विकस्यानुत्कृरसबन्धकैः पञ्च भागाः, वैक्रियद्विकस्यैकादश भागाः, जिननाम्नोऽष्टौ भागाः स्पृष्टाः, अनुत्कृष्टरसबन्धकैरिति यथासंभवमिहान्यत्र च ज्ञेयम्। उक्तशेषाणामायुर्वर्जानामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः। अयतमार्गणायामाहारकद्विकस्य बन्धाभावात् तद् वर्जयित्वा शेषमर्वमनन्तरोक्तवद् वाच्यम्। तिर्यग्गत्योघोऽज्ञानद्विकमभव्यो मिथ्यात्वमिति पञ्चसु मार्गणासु जिननाम्नोऽपि बन्धाभावात् जिननामाऽऽहारकद्विकवर्जानां सप्तदशोत्तरशतरूपाणामेवायूरहितानां मर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतस्पर्शनाऽनन्तरोक्तकाययोगौघादिमार्गणावज्ज्ञेया।

नरकौघमार्गणायां मनुष्यद्विकजिननामोच्चैर्गोत्ररूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयभागः स्पृष्टः। शेषाणां मार्गणाबन्धार्हाणां नवनवतेः प्रकृतीनां षड् भागाः। सप्तमनरकमार्गणायां जिननाम्नो बन्धाभावात् तद्वर्जं सर्वमनन्तरोक्तवद् वेदितव्यम्।

प्रथमनरको नव ग्रैवेयकसुरभेदाः पञ्चाऽनुत्तरसुरा वैक्रियमिश्र आहारकतन्मिश्रकाययोगौ अवेदो मनःपर्यवज्ञानं मयमौघः सामायिकचारित्र छेदोपस्थापनीय परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसंपरायश्चेति पञ्चविंशतौ मार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासा प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकाना स्पर्शना लोकाऽमंख्येयभागः, तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोस्तदन्तरालस्य वा लोकामंख्येयभागमितत्वात्।

द्वितीयतृतीयनरकमार्गणयोः जिननाममनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्राणां चतुर्थपञ्चमषष्ठनरकमार्गणासु तु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः । शेषाणां नवनवतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैर्द्वितीयनरकमार्गणायामेकः तृतीयायां द्वौ चतुर्थ्यां त्रयः पञ्चम्यां चत्वारः षष्ठ्यां पञ्च भागाः स्पृष्टाः ।

पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगिति मार्गणाद्विके 'णपुम-असाय-अरइदुग । पणअथिराई दुइ पीअ असुहसुहधुवबधी । परघूसासा पज्ज पत्तेअ' मिति स्पर्शनाद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः षट्षष्टिः 'उरलतिरिदुगथावरणगिदियहस्सरइपयडी ॥ सुहगतिग थिरसाया सुह' मिति त्रयोदश चेति सर्वसंख्यया एकोनाशीतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः । 'सुरदुगउच्चपुमसुहगतिगसुवगइआगिई' इति देवद्विकादीनां नवानां तैः पञ्च भागाः, दुःस्वरः कुखगतिर्नरकद्विकमिति चतसृणां षड् भागाः, स्त्रीवेदस्य सार्धो भागः, पञ्चेन्द्रियजातिनाम वैक्रियद्विकं त्रसनामेति चतसृणां प्रकृतीनामेकादश भागा अनुत्कृष्टरसबन्धकैः स्पृष्टाः । बादरनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शना देशोनलोकः । यशःकीर्तिनामोद्योतनाम्नोरनुत्कृष्टरसबन्धकैः सप्त भागाः स्पृष्टाः । मनुष्यद्विकमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं मध्यमसंस्थानचतुष्कं विकलत्रिकमातपनाम चेति सप्तदशानां लोकाऽसंख्येयभागः ।

तिरश्चीमार्गणायां सर्वमनन्तरोक्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणावत्, नवरं दुःस्वरः, कुखगतिः, नरकद्विकमिति चतसृणां प्रकृतीनां पञ्च भागाः, नत्वनन्तरोक्तवत् षड् भागाः । तथा पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां चतसृणां दश भागाः, न तु अनन्तरोक्तवदेकादश, तिरश्चीनां सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पादाभावेनाऽधोलोकसत्कानां पञ्चानामेव भागानां स्पृष्टत्वात् ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणा, अपर्याप्तमनुष्यः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, बादरपृथ्वीकायास्त्रयः, त्रयो बादराऽप्कायाः, त्रयो बादरतेजःकायिकाः, त्रयो बादरसाधारणवनस्पतिकायभेदाः, त्रयो भेदाः प्रत्येकवनस्पतिकायस्येति अष्टाविंशतौ मार्गणासु 'णपुमअसायअरइदुग । पणअथिराई दुइ पीअ असुहसुहधुवबंधी ॥ परघूसासा पज्ज पत्तेअ' मिति नपुंसकवेदादीनां षट्षष्टेः 'उरलतिरिदुगथावरणगिदियहस्सरइपयडी ॥ सुहमतिग थिरसाया सुह' मिति त्रयोदशानामौदारिकशरीरनामादीनाञ्चानुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वः लोकः स्पृष्टः । बादरनाम्नो देशोनलोकः । अपर्याप्तमनुष्यः बादरपृथ्वीकायादिप्रत्येकवनस्पतिकायान्ताश्च पञ्चदशेति षोडशसु मार्गणासूद्योतनामयशःकीर्तिनामरूपयोर्द्वयोः प्रकृत्योरनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शना स्वयं ज्ञातव्या । किमुक्तं भवति ? अपर्याप्तमनुष्य', त्रिबादरतेजःकायिकाश्चेति चतसृषूद्योतनामयशःकीर्तिनाम्नोरनुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकासंख्येयभागः स्पृष्टः संभाव्यते । कुतः ?

स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येक लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् , तद्यथा—मनुष्या बादरतेजःकायिकाश्च पञ्चचत्वारिंशल्लक्षवृत्तविस्तृतेऽष्टादशयोजनशतबाहल्ये मनुष्यक्षेत्रमात्रे वर्तन्ते, ततस्तेषां स्वस्थानं लोकाऽसंख्येयभागमात्रम् । तथा तेषामेवोद्योतयशःकीर्त्तिबन्धकानामीषत्प्राग्भारायामप्युत्पद्यमानानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां परभविकोत्पत्तिस्थानं लोकाऽसंख्येयभागमात्रम् , ईषत्प्राग्भाराया मनुष्यक्षेत्रतुल्यवृत्तविस्तृतत्वात् । त्रिबादरपृथ्वीकायाः, त्रिबादराप्कायाः, त्रिबादरसाधारणवनस्पतिकायाः, त्रिप्रत्येकवनस्पतिभेदा इति द्वादशमार्गणासूद्योतनामयशःकीर्त्तिनाम्नोरनुत्कृष्टरसबन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः संभाव्यन्ते, सप्तमपृथ्व्यधोवर्त्तिघनोदधिवलये वर्त्तमानानामप्कायवनस्पतिकायजीवानां सप्तमपृथ्वीवर्त्तिबादरपृथ्वीजीवानां चेषत्प्राग्भारायामुत्पादाप्रतिषेधात् , मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता चैतावती स्पर्शनेति भावः, न च घनोदधिवलये कुतो वनस्पतिजीवा इति वाच्यम् 'जत्थ जलं तत्थ वण'मिति वचनात् सन्ति एवेति । केचित्तु इहोक्तासु अष्टाविंशतौ मार्गणासूद्योतनामबादरनामयशःकीर्त्तिनामरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैः सप्त भागाः स्पृष्टा इति वदन्ति तदभिप्रायन्तु वयं न विद्मः । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् , अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, नव विकलाक्षा इति द्वादशमार्गणासु यशःकीर्त्युद्योतनाम्नोरनुत्कृष्टरसबन्धकैः सप्त भागाः स्पृष्टाः । शेषाणामेकोनत्रिं : प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः । इमाश्च ता एकोनत्रिंशत्प्रकृतयः—स्त्रीपुरुषवेदौ मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः विकलत्रिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकं द्वे विहायोगती आतपनाम त्रसनाम सुभगत्रिकं दुःस्वरनाम उच्चैर्गोत्रञ्चेति । त्रितेजःकायमार्गणासु त्वनन्तरोक्ताः षड्विंशतिरेव शेषप्रकृतयो बोध्याः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां बन्धाऽनर्हत्वात् । तथा बादरपृथ्व्यप्प्रत्येकसाधारणवनस्पतिसत्कद्वादशमार्गणासु शेषैकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां स्वयमागमानुसारेण वाच्यम् , सप्तरज्जूनां त्रयोदशरज्जूनां वा सम्भवात् ।

मनुष्यौघः, पर्याप्तमनुष्यः, मानुषीति तिसृषु मार्गणासु नपुंसकवेदादीनां षट्षष्टेरौदारिकशरीर दीनां त्रयोदशानाञ्चानुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वो लोकः स्पृष्टः । बादरनामोद्योतनामयशःकीर्त्तिनामरूपाणां तिसृणां तीनां प्रागुक्ताऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद् वाच्या । शेषाणात्रिंशतः प्रकृतीना त्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स : । इमाश्च ता अष्टात्रिंशत्प्रकृतयः—अ रोक्ताः स्त्रीवेदादय एकोनत्रिंशत् देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजिन चेति ।

देवौघे भवनपत्यादीशानान्तेषु प देवभेदेषु च 'णपुमअसायअरइदुग । पणअथिराई

' णीअ असुहसुहधुवबंधी। परघूसासा पज्जं पत्तेअ बायरं य उज्जोओ। जसुरलतिरिदुग-थावरएगिंदिय-

हस्सरइपयडी ॥'त्ति नपुंसकवेदादयः षट्सप्ततिः स्थिरनाम सातं शुभनाम चेत्येकोनाशीतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टाः । शेषाणां सप्तविंशतेः प्रकृतीनां तैरष्टौ भागाः स्पृष्टा इति । इमाश्च ताः शेषप्रकृतयः—स्त्रीपुरुषवेदौ मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संस्थानषट्कं हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकं द्वे विहायोगती त्रसनाम सुभगत्रिकं दुःस्वरनामाऽऽतपनाम जिननामोच्चैर्गोत्रञ्चेति सप्तविंशतिरिति । भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्केषु षड्विंशतिरिति वाच्यम्, जिननाम्नो बन्धाभावात् । सनत्कुमारादिसहस्रारान्तेषु षट्सु देवभेदेषु बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः । आनतादिषु चतुर्षु देवभेदेषु बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वात् ।

एकेन्द्रियौघः पृथ्व्यादिकायपञ्चकसत्काः पञ्चौघभेदाः साधारणवनस्पतिकायौघः सर्वे सूक्ष्मभेदास्ते चाऽष्टादशेति पञ्चविंशतौ मार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासामनुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः । त्रयो बादरैकेन्द्रियाः, बादरवायुकायौघः, अपर्याप्तबादरवायुकाय इति पञ्चसु मार्गणासु एकपञ्चाशद् ध्रुवबन्धिन्यः, सातासाते, हास्यरती, शोकारती, नपुंसकवेदस्तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरनाम, हुंडकसंस्थाननाम, पराघातोच्छ्वासौ, पर्याप्तचतुष्क, स्वरवर्जस्थावरनवकं, नीचैर्गोत्रञ्चेति एकोनाशीतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः । तथा स्त्रीवेदपुरुषवेदौ मनुष्यद्विकं जातिचतुष्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकं विहायोगती आतपनामोद्योतनाम त्रसनाम बादरनाम सुभगचतुष्कं दुःस्वर उच्चैर्गोत्रमिति द्वात्रिं :, वायुभेदयोस्तु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रवर्जानामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैर्देशोनलोकः स्पृष्टः ।

पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायाम् 'पापुमअसाय-अरइदुग । पणमथिराई हुड पीअ असुहेसुह-धुवबधी परघूसासा पज्ज पत्तेअ' मिति नपुंसकवेदादयः षट्षष्टिः 'उरलतिरिदुगथावर-एगिंदियहस्सरइपयडी ॥ सुहुमतिगं थिरसाया सुह' मिति औदारिकशरीरनामादयस्त्रयोदश चेति एकोनाशीतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः । उक्तशेषाणामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैर्देशोनलोकः स्पृष्टः, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तद्बन्धाभावात् ।

द्विपञ्चेन्द्रियौ, द्वित्रसकायौ, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचनयोगाः, चक्षुर्दर्शनं, सञ्ज्ञी चेति षोडशसु मार्गणासु अनन्तरोक्तानामेकोनाशीतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः । 'पुमसुहगतिगसुखगइ आगिई-छसघयणा । मज्झिमसठाणत्थी। उरलाङ्ग तसपणिंदी ॥ दुस्सरकुखगइ' इति पुरुषवेदादीनां द्वाविंशतेर्द्वादश भागाः, नरकद्विकस्य षट्

भागाः, देवद्विकस्य पञ्च भागाः मनुष्यद्विकजिननामाऽऽतपोच्चैर्गोत्राणामष्टौ भागाः, द्वित्रि-चतुरिन्द्रियजातिनामाऽऽहारकद्विकानां लोकाऽसंख्येयभागः, वैक्रियद्विकस्यैकादश भागाः स्पृष्टाः, उद्योतयशःकीर्तिनाम्नोः त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः बादरनाम्नस्तु देशोनलोकः स्पृष्टः। अनुत्कृष्ट-रसबन्धकैरिति सर्वत्र बोध्यम् ।

औदारिककाययोगमार्गणायां जिननामाऽऽहारकद्विकरूपाणां तिसृणा मनुत्कृष्टरसबन्धकैं र्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, नरकद्विकस्य षड् भागाः, देवद्विकस्य पञ्च भागाः, वैक्रियद्विकस्यै-कादश भागाः, शेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां सर्वलोकः स्पृष्टः। अनुत्कृष्टरसबन्धकैरित्य-त्रापि बोध्यम् ।

औदारिकमिश्रयोगः, कार्मणकाययोगः, अनाहारक इति तिसृषु मार्गणासु देवद्विकं वैक्रियद्विकं जिननाम चेति पञ्चानामनुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः। आहारक-द्विकनरकद्विकयोरत्र बन्धाभावात् शेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीना सर्वलोकः । वैक्रियकाय योगमार्गणायां हास्यरतिसातवेदनीयस्थिरशुभनाम्ना 'णपुमअसाय-अरइदुग। पण अथिराई हुड णीअ असुहसुहधुवबधी ॥ परघूसासा पज्ज पत्तेअ बायर य उज्जोओ । जसुरलतिरिदुगे' ति नपुंसक-वेदादीनां द्विसप्ततेश्चानुत्कृष्टरबन्धकैस्त्रयोदश भागा स्पृष्टाः। प्रकृतद्वारप्रकृतिसंग्रहगाथागताना-न्तरोक्तानां पुरुषवेदादीनां द्वाविंशतेः द्वादश भागाः। मनुष्यद्विकजिननामाऽऽतपोच्चैर्गोत्रा-णामष्टौ भागाः। एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोर्नव भागा अनुत्कृष्टरसबन्धकैः स्पृष्टाः।

स्त्रीवेदमार्गणायां प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां नपुंसकवेदादीनां प्रत्येकनामपर्य-वसानानां षट्षष्टेः त्रयोदशानाञ्चौदारिकशरीरनामादीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः। 'पुमसुहगतिगसुखगइआगिई-छसघयणा। मज्झिमसठाणित्थी उरलोवग' मिति पुरुषवेदादीनामष्टाद-शानां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्राऽऽतपनाम्नाञ्चाऽष्टौ भागाः। नरकद्विकदेवद्विकरूपाणां चतसृणां पञ्च भागाः। त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिदुःस्वरकुखगतीनामेकादश भागाः। यशःकीर्त्युद्योतनाम्नोर्नव भागाः। द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनामाऽऽहारकद्विकजिननाम्नां लोकाऽसंख्येयभागः। वैक्रियद्विकस्य दशभागाः। बादरनाम्नस्तु देशोनलोकः। पुरुषवेदमार्गणायामनन्तरोक्तानां पुरुषवेदादीनामष्टा-दशानामनुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः। 'णपुमअसाय-अरइदुग। पण अथिराई हुंड णीअ असुहसुहधुवबंधी॥ परघूमासा पज्ज पत्तेअ' मिति नपुंसकवेदादीनां प्रत्येकनामपर्यवसानानां षट्षष्टेः 'उरलतिरिदुगथावरएगिंदियहस्सरइपयडी सुहमतिग थिरसाया सुह' मिति त्रयोदशाना-मौदारिकशरीरनामादीनाञ्चानुत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः। त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिदुः-स्वरनाम कुखगतिश्चेति चतसृणां प्रकृतीनां द्वादशभागाः, नरकद्विकस्य षड् भागाः, देवद्विकस्य

पञ्च भागाः, मनुष्यद्विकजिननामाऽऽतपनामोच्चैर्गोत्राणामष्टौ भागाः, द्वित्रिचतुरिन्द्रियजाति-नामाऽऽहारकद्विकानां लोकाऽसंख्येयभागः, वैक्रियद्विकस्यैकादश भागाः, उद्योतनामयशः-कीर्त्तिनाम्नोर्नवभागाः, बादरनाम्नो देशोनलोक उत्कृष्टरसबन्धकैः स्पृष्ट इति ।

नपुंसकवेदमार्गणायामाहारकद्विकजिननामरूपाणां तिसृणां लोकाऽसंख्येयभागः, नरक-द्विकस्य षड्भागाः, देवद्विकस्य पञ्च भागाः, वैक्रियद्विकस्यैकादश भागाः, शेषाणामेकाद-शोत्तरशतप्रकृतीनां सर्वलोकोऽनुत्कृष्टरसबन्धकैः स्पृष्टः ।

ज्ञानत्रिकमवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वञ्चेति षट्सु मार्गणासु आहा-रकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः । देवद्विकवैक्रियद्विकयोः पञ्च भागाः, शेषाणां स्वप्रायोग्याणां पञ्चसप्ततेश्चाष्ट भागा इति ।

विभङ्गज्ञानमार्गणायां सर्वमविशेषेण प्रागुक्तद्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणावद् बोध्यम् । देशविरतिमार्गणायां जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः । शेषाणां स्वप्रायोग्याणामेकोनसप्ततेः पञ्च भागा इति ।

तिसृषु अप्रशस्तलेश्यामार्गणासु देवद्विकजिननाम्नोरनुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयो भागः स्पृष्टः । नरकद्विकवैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टरसबन्धकैः कृष्णायां षड्भागाः, नीलायां चतुर्भागाः, कापोतलेश्यायाञ्च द्वौ भागौ स्पृष्टौ । शेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां तिसृष्वपि सर्वलोकोऽनुत्कृष्टरसबन्धकैः स्पृष्ट इति ।

तेजोलेश्यामार्गणायां मनुष्यद्विकाऽऽतपनाम्नोः प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताना पुरुषवेदादीनां कुखगतिपर्यवसानानां द्वाविंशतेः प्रकृतीनां जिननामोच्चैर्गोत्रयोश्चेति सर्वसंख्यया सप्तविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शनाऽष्टौ भागाः । देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां सार्धो भागः, आहारकद्विकस्य लोकाऽसंख्येयभागः, शेषाणां स्वप्रायोग्या-णामेकोनाशीतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टाः ते चाधोलोके संस्थितानी-शत्प्राग्भारायां पृथ्वीतयोत्पित्सून् सुरानाश्रित्य प्राप्यन्ते ।

पद्मलेश्यामार्गणायामाहारकद्वि य लोकाऽसंख्येयभागः, सुरद्विकवैक्रियद्विकयोः पञ्च भागाः, शेषाणां त्र्युत्तरशतप्रकृतीनामष्टौ भागाः ते च देवानां गमनप्रयुक्ता द्रष्टव्याः ।

शुक्ललेश्यामार्गणायामाहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः, शत तीनां षड्भागाः, सुरद्विकवैक्रियद्विकयोः स्वयमूह्या, अनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनेति प्रकरणाद् गम्यते ।

क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामुपशमसम्यक्त्वमार्गणायाञ्च देवद्विकं वैक्रियद्विकमाहारक-द्विकमिति षण्णां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स ः । शेषाणां योग्याणां पञ्चसप्ततेरष्टौ भागाः ।

मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्लोकाऽसंख्येयभागः। शेषाणामिह बन्धप्रायोग्याणां चतुःसप्ततेरष्टौ भागाः।

सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां सुरद्विकवैक्रियद्विकयोः पञ्च भागाः। मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरष्टौ भागाः। शेषाणां मार्गणाप्रायोग्यबन्धानां पञ्चनवतेः प्रकृतीनां द्वादश भागाः।

असंज्ञिमार्गणायां वैक्रियद्विकं देवद्विकं नरकद्विकमिति षण्णां लोकाऽसंख्येयभागः। शेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां सर्वलोकः, सूक्ष्माणामपि तद्बन्धकत्वात् ॥१०१॥

तदेवं मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनां प्रदर्श्य तत्रैवाऽऽयुषां तद्दिदर्शयिषुरादौ तावदुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनां दर्शयन्नाह-

तिरियम माउगाणं देवसहस्सारअंतविउवेसु।
हि ाऽत्थि बंधगेहि तिव्व भागस्स अड भागा ॥१०२॥

(प्रे०) 'तिरिये' त्यादि, देवौघादिसहस्रारान्ता देवभेदा द्वादश, वैक्रियकाययोगश्चेति त्रयोदशसु मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यगायुषो मनुष्यायुषश्चोत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः। गमना- कुर्वतामपि देवानामायुर्बन्धस्य संभवात् तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य चैतावन्मात्रत्वात् ॥१०२॥

अथाऽऽनतादिदेवेष्वाह-

फुसि । णराउगस्स भागा चउ ।णताइसुक्कासु।
क्काअ सं सो जगस्स छुहिओ राउस्स ॥१०३॥

(प्रे०) ' सिआ' इत्यादि, आनतप्रमुखाऽच्युतान्ताश्चत्वारः सुरभेदाः शुक्ललेश्या चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, आनतादिसुराणामधोलोके नाभावेन तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वात्। शुक्ललेश्यामार्गणायामपि आनतादिदेवानेवाश्रित्य यथोक्ता स्पर्शना ज्ञेया, शुक्ललेश्याकमनुष्यतिरश्चां मनुष्यायुषो बन्धा त् नारकाणान्तु शुक्ललेश्याकत्वायोगात्। तथा ' क्काअ' त्ति शुक्ललेश्यामार्गणायां देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, आयुषि बध्यमाने मरणसमुद्घाताभावेन सर्वत्र देवनारकायुषोर्बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभाग एव भवतीति ॥१०३॥ -सर्वसूक्ष्मादिमार्गणास्वाह-

सव्वजगं आऊणं सप्पाउग्गाण सव्वसुहमेसु।
पुट्ठं देसूणजगं बायरवाऊसु सव्वेसु ॥१०४॥

(प्रे०) 'सव्वजग' मित्यादि, सर्वेषु अष्टादशलक्षणेषु सूक्ष्मभेदेषु सप्पाउग्गाण' त्ति त्रयः सूक्ष्मवायुभेदाः त्रयश्च सूक्ष्मतेजस्कायभेदा इति षट्सु मार्गणासु केवलं तिर्यगायुषः शेषासु द्वादशसु प्रत्येकं तिर्यगायुषो मनुष्यायुषश्चोत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम् । सूक्ष्माणां स्वस्थानस्य सर्वलोकत्वात् । तथा 'बायरवाऊसु सव्वेसु' त्ति बादरवायुकायः पर्याप्तबादरवायुकायः अपर्याप्तबादरवायुकाय इति लक्षणासु सर्वासु तिसृषु बादरवायुकायमार्गणासु प्रत्येकम् 'आऊणं सप्पाउग्गाण' इति पदयोरत्राभिसम्बन्धात् वायुकायिकानामनन्तराऽऽगामिभवे मनुष्यतयोत्पादाभावेन केवलं तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धकैर्देशोनो लोकः स्पृष्टः, स्पर्शनाया अनन्तकालविषयत्वात् बादरवायूनां स्वस्थानस्य चैतावत्प्रमाणत्वात् ॥१०४॥ अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

एगिंदियवाऊ बायरएगिंदियेसु सव्वेसु ।
तिरियाउस्सूणजगं भवे णराउस्स जगअसंखंसो ॥१०५॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'एगिंदिये' त्यादि, एकेन्द्रियौघः वायुकायौघः त्रयो बादरैकेन्द्रियभेदाश्चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धकैर्देशोनं जगत् स्पृष्टम् , सर्वत्र बादरवायुप्राधान्याद् बादरवायूनां च स्वस्थानस्य यथोक्तमानत्वात् । तथा मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टो भवेत् , तेजोवायूनां तद्बन्धाभावात् बादरपृथ्व्यादीनां स्वस्थानस्य च यथोक्तमानत्वात् ॥१०५॥ अथ ज्ञानत्रिकादिमार्गणास्वाह—

णाणतिगोही तहा सम्म इअवेअगेसु अड भागा ।
मणुआउस्स फरिसि ! भवे सुराउस्स ओघव्व ॥१०६॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' त्यादि, ज्ञानत्रिकमवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमिति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, ते च देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया बोद्धव्याः । तथा देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना ओघवद् भवति, लोकाऽसंख्येयभाग इत्यर्थः, ॥१०६॥ अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोराह-

तेउपउमासु णेया हि अ भागाऽट्ठ तिरिणराऊणं ।
देवाउस्सोघव्व य सप्पाउग्ग सेसासु ॥१०७॥

(प्रे०) 'तेउ' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायाञ्च तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् । तथा देवायुषः 'ओघव्व' त्ति ओघवत् लोकाऽसंख्येयभाग इत्यर्थः, सर्वत्र तथैव भावात् ।

मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्लोकाऽसंख्येयभागः। शेषाणामिह बन्ध प्रायोग्याणां चतुःसप्ततेरष्टौ भागाः।

सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां सुरद्विकवैक्रियद्विकयोः पञ्च भागाः। मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरष्टौ भागाः। शेषाणां मार्गणाप्रायोग्यबन्धानां पञ्चनवतेः प्रकृतीनां द्वादश भागाः।

असंज्ञिमार्गणायां वैक्रियद्विकं देवद्विकं नरकद्विकमिति षण्णां लोकाऽसंख्येयभागः। शेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां सर्वलोकः, सूक्ष्माणामपि तद्बन्धकत्वात् ॥१०१॥

तदेवं मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनां प्रदर्श्य तत्रैवाऽऽयुषां तद्दिदर्शयिषुरादौ तावदुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनां दर्शयन्नाह–

तिरियम माउगाणं देवसहस्सारअंतविउवेसु ।
हि ।ऽत्थि बंधगेहि तिव्व भागस्स अड भागा ॥१०२॥

(प्रे०) 'तिरिये' त्यादि, देवौघादिसहस्रारान्ता देवभेदा द्वादश, वैक्रियकाययोगश्चेति त्रयोदशसु मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यगायुषो मनुष्यायुषश्चोत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः। गमनाग ं कुर्वतामपि देवानामायुर्बन्धस्य संभवात् तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य चैतावन्मात्रत्वात् ॥१०२॥

अथाऽऽनतादिदेवेष्वाह–

फुसि । णराउगस्स भागा चउ ।णताइसुक्कासु ।
क्काअ सं सो जगस्स छुहिओ सुराउस्स ॥१०३॥

(प्रे०) ' सिआ' इत्यादि, आनतप्रमुखाऽच्युतान्ताश्चत्वारः सुरभेदाः शुक्ललेश्या चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, आनतादिसुर धोलोके गमनाभावेन तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वात्। शुक्ललेश्यामार्गणायामपि आनतादिदेवानेवाश्रित्य यथोक्ता स्पर्शना ज्ञेया, शुक्ललेश्याकमनुष्यतिरश्चां मनुष्यायुषो बन्धा त् नारकाणान्तु शुक्ललेश्याकत्वायोगात्। तथा ' ।अ' त्ति शुक्ललेश्यामार्गणायां देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, आयुषि बध्यमाने मरणसमुद्घाताभावेन सर्वत्र देवनारकायुषोर्बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभाग एव भवतीति ॥१०३॥ अथ-सर्वसूक्ष्मादिमार्गणास्वाह–

सव्वजगं ।ऊणं सप्पाउग्गाण सव्वसुहमे ।
पुट्ठ देसूणजगं यरवाऊसु सव्वेसु ॥१०४॥

(प्रे०) 'सव्वजग' मित्यादि, सर्वेषु अष्टादशलक्षणेषु सूक्ष्मभेदेषु 'सप्पाउग्गाण' त्ति त्रयः सूक्ष्मवायुभेदाः त्रयश्च सूक्ष्मतेजस्कायभेदा इति षट्सु मार्गणासु केवलं तिर्यगायुषः शेषासु द्वादशसु प्रत्येकं तिर्यगायुषो मनुष्यायुषश्चोत्कृष्टरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम् । सूक्ष्माणां स्वस्थानस्य सर्वलोकत्वात् । तथा 'बायरवाऊसु सव्वेसु' त्ति बादरवायुकायः पर्याप्तबादरवायुकायः अपर्याप्तबादरवायुकाय इति लक्षणासु सर्वासु तिसृषु बादरवायुकायमार्गणासु प्रत्येकम् 'आऊणं सप्पाउग्गाण' इति पदयोरत्राभिसम्बन्धात् वायुकायिकानामनन्तराऽऽगामिभवे मनुष्यतयोत्पादाभावेन केवलं तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धकैर्देशोनो लोकः स्पृष्टः, स्पर्शनाया अनन्तकालविषयत्वात् बादरवायूनां स्वस्थानस्य चैतावत्प्रमाणत्वात् ॥१०४॥ अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह–

एगिंदियवाऊसुं बायरएगिंदियेसु सव्वेसुं ।
तिरियाउस्सूणजगं भवे णराउस्स जगअसंखंसो ॥१०५॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'एगिंदिये' त्यादि, एकेन्द्रियौघः वायुकायौघः त्रयो बादरैकेन्द्रियभेदाश्चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धकैर्देशोनं जगत् स्पृष्टम्, सर्वत्र बादरवायुप्राधान्याद् बादरवायूनां च स्वस्थानस्य यथोक्तमानत्वात् । तथा मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टो भवेत्, तेजोवायूनां तद्बन्धाभावात् बादरपृथ्व्यादीनां स्वस्थानस्य च यथोक्तमानत्वात् ॥१०५॥ अथ ज्ञानत्रिकादिमार्गणास्वाह–

णाणतिगोही तहा सम्म इअवेअगेसु अड भागा ।
मणुमाउस्स फरिसि । भवे सुराउस्स ोघव्व ॥१०६॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' त्यादि, ज्ञानत्रिकमवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमिति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, ते च देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया बोद्धव्याः । । देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना ओघवद् भवति, लोकाऽसंख्येयभाग इत्यर्थः, ॥१०६॥ अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोराह–

तेउपउमासु णेया हि । भागाऽट्ठ तिरिणराऊणं ।
देवाउस्सोघव्व य सप्पाउग्ग सेस ॥१०७॥

(प्रे०) 'तेउ' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायाञ्च तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् । तथा देवायुषः 'ओघव्व' त्ति ओघवत् लोकाऽसंख्येयभाग इत्यर्थः, सर्वत्र व भावात् ।

तथा 'सेसासु' त्ति उक्तशेषासु दशोत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणामायुषामुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शना ओघवद् भवति, लोकाऽसंख्येयभागमात्रा भवतीत्यर्थः। कुतः ? कुत्रचिद् नरकौघादिमार्गणागतजीवानां लोकाऽसंख्येयभागमात्रवर्तित्वात्, तिर्यग्गत्योघादिषु मार्गणाजीवानां लोकव्यापित्वेऽपि आयुष उत्कृष्टरसबन्धकानां लोकाऽसंख्येयभागमात्रगतत्वात्। अथोक्तशेषा मार्गणाः- अष्टौ नरकमार्गणाः पञ्चतिर्यग्गतिभेदाः, चत्वारो मनुष्यभेदाः, नवग्रैवेयकसुराः, अनुत्तरसुरभेदाः पञ्च, विकलाक्षभेदा नव, त्रिपञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथ्वीकायौघः, बादरपृथ्वीकायास्त्रयः, अप्कायौघः, बादराऽप्कायास्त्रयः, तेजःकायौघः, बादरतेजःकायास्त्रयः, वनस्पतिकायौघः, प्रत्येकवनस्पतिकायास्त्रयः, साधारणवनस्पतिकायौघः, त्रिबादरसाधारणवनस्पतिकायाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, वैक्रियकाययोगस्य उक्तत्वाद् वैक्रियमिश्रकार्मणयोगयोरायुर्बन्धाभावात् तद्वर्जाः पञ्चदश योगभेदाः, त्रयो वेदाः, चत्वारः कषायाः, मनःपर्यवज्ञानम्, अज्ञानत्रिकम्, सूक्ष्मसंपराये आयुर्बन्धाभावात् तद्वर्जाः षट् संयममार्गणाः, चक्षुर्दर्शनम्, अवधिदर्शनम्, अप्रशस्तलेश्यात्रिकम्, भव्याभव्यौ, सास्वादनम्, मिथ्यात्वम्, संज्ञी, असंज्ञी, आहारीति मार्गणानां दशोत्तरशतम् ॥१०७॥

अथ मार्गणास्वायुषामनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनां दर्शयन् तत्समानवक्तव्यत्वात् कासुचिन्मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनावदतिदिशन्नाह-

तिव्वरसव्वाऊणं अगुरुरसस्स समदेवविउवेसु ।
णाणतिगोहि-सुलेसा-सम्मखइअवेअगेसु च ॥१०८॥

(प्रे०) 'तिव्वरसव्वे'त्यादि, 'समदेव' त्ति समे देवभेदास्ते च त्रिंशद् वैक्रियकाययोगः ज्ञानत्रिकम् अवधिदर्शनम् 'सुलेसा' त्ति तिस्रः प्रशस्तलेश्याः सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम् इति एकचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषां स्वप्रायोग्याणामिति शेषः अनुत्कृष्टरसस्य उत्कृष्टरसवद् भवति, बन्धकस्पर्शना इति प्रकरणगम्यम्। कुतः ? प्रकृतमार्गणासु गमनागमनं स्वस्थानं वाऽऽश्रित्याऽयुर्बन्धकानां स्पर्शना प्राप्यते, गमनागमनस्वस्थानक्षेत्रयोस्तु उत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धकानामविशेषात्। अथ कुत्र कियती स्पर्शना तत्तु अनन्तरप्ररूपितोत्कृष्टरसबन्धकप्ररूपणात एव ज्ञेयम् ॥१०८॥

अथ द्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वाह-

दुपणिंदिय-तसपणमणवयइत्थि-पुरिसविभंग-चक्खूसु ।
सासायणसण्णीसु णिरयसुराऊण ओघव्व ॥१०९॥

तिरियमणुस्साऊणं अड भागा फोसिआ मुणेयव्वा ।

(प्रे०) 'दुपणिंदिये'त्यादि, ओघपर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ पञ्चेन्द्रियौ, तादृशौ द्वौ त्रसकायौ, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचोयोगाः, स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, विभङ्गज्ञानम्, चक्षुर्दर्शनम्, सास्वादनम्, संज्ञीति विंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं नरकायुषो देवायुषश्चानुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शना ओघवत्, लोकाऽसंख्येयभाग इत्यर्थः, तद्बन्धकानां स्वस्थानमाश्रित्यैतावती स्पर्शना । कुतः ? तदीयस्वस्थानक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् । न च गमनागमनमाश्रित्य भविष्यत्यधिकतरा स्पर्शना इति वाच्यम्, मनुष्यतिरश्चां स्वस्थानगमनागमनक्षेत्रयोरविशेषाद् देवनारकाणां प्रकृताऽऽयुषो-र्बन्धाभावाच्च । इह सास्वादनमार्गणायां केवलं देवायुषो यथोक्ता स्पर्शना व्याख्यानाज्ज्ञेया. मिथ्यादृशामेव नरकायुर्बन्धकत्वात् । तथा तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः । गमनागमनमाश्रित्य एते बोद्धव्याः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् ॥१०९॥ अथ उक्तशेषासु मार्गणासु बहुतमसमानवक्तव्यत्वादनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनां सापवादं क्षेत्रवदतिदिशन्नाह—

अण्णहि खेत्तव्व भवे सगाउग्गाण आऊणं ॥११०॥
णवरं जहि सव्वजगं खेत्तं तिरियाउगस्स तहि बंधो ।
जइ मणुयाउस्स भवे तो पुट्ठं तस्स सव्वजगं ॥१११॥

(प्रे०) 'अण्णहि' त्ति, अन्यत्रोक्तशेषासु द्व्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः प्रत्येकं बन्धार्हाणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना 'खेत्तव्व' त्ति, तेषां प्रागुक्तक्षेत्रवद् भवति. कुतः ? तेषां स्पर्शनायाः स्वस्थानमेवाश्रित्य प्राप्यमाणत्वात्, तस्य तूभयत्राविशेषात् । अथात्रैव संभाव्यमानं विशेषं दर्शयति 'णवर' मित्यादिना, 'जहि' त्ति, यस्यां मार्गणायां तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकानां सर्वलोकः क्षेत्रं तस्यां यदि मनुष्यायुषोऽपि बन्धो भवति; तर्हि तद्बन्धकैरपि सर्वं जगत् स्पृष्टं भवति । कुतः ? तन्मार्गणाजीवानां स्वस्थानस्य सर्वलोकत्वे सति स्पर्शनाया अनन्तकालविषयत्वात् । किमुक्तं भवति ? ओघपृथ्वीकायिकादीनां स्वस्थानं सर्वलोक इति तेषां तिर्यगायुरनुत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकः, प्रभूतानां सूक्ष्माणामपि तद्बन्धकत्वात् । मनुष्यायुर्बन्धकक्षेत्रन्तु लोकाऽसंख्येयभागः, मनुष्यायुर्वेदकानां स्वल्पत्वेन विवक्षितसमये तद्वेदकजीवापेक्षयाऽधिकतराणां तद्बन्धायोगात्, स्पर्शनायास्तु अनन्तकालविषयत्वेन सूक्ष्माणामपि मनुष्यायुरनुत्कृष्टरसबन्धकत्वेन च मनुष्यायुरनुत्कृष्टबन्धकानां स्पर्शनाऽपि तिर्यगायुरनुत्कृष्टरसबन्धकानामिव सर्वलोको भवतीति । अथोक्तशेषा द्व्युत्तरशतमार्गणाः—अष्टौ नरकाः, पञ्च तिर्यग्गतिभेदाः, चत्वारो मनुष्याः, पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोरुक्तत्वात् तद्वर्जेन्द्रियमार्गणाः सप्तदश, त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायमार्गणयोरुक्तत्वात् तद्वर्जाश्चत्वारिंशत् काय-

मार्गणाः, औदारिकतन्मिश्रकाययोगौ, आहारकतन्मिश्रकाययोगौ, काययोगौघः, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, मनःपर्यवज्ञानम्, अज्ञानद्विकम्, सूक्ष्मसंपराये आयुर्बन्धाभावात् तद्वर्जाः षट् संयममार्गणाः, अचक्षुर्दर्शनम्, अप्रशस्तलेश्याः तिस्रः, भव्याभव्यौ, मिथ्यात्वम्, असंज्ञी, आहारी चेति मार्गणानां द्व्युत्तरशतम्। अथ इहोक्तासु द्व्युत्तरशतमार्गणासु यस्यां यस्यां मार्गणायां मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शना तत्क्षेत्राद् भिद्यते, यत्र मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागः स्पर्शना तु सर्वलोक इत्यर्थः। ता मार्गणा दर्शयामः—तिर्यग्गत्योघः, एकेन्द्रियौघः, त्रयः सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदाः, त्रय ओघपृथ्व्यब्वनस्पतिभेदाः, नव सूक्ष्मौघादिपृथ्व्यप्साधारणवनस्पतिकायभेदाः, साधारणवनस्पतिकायौघः, काययोगौघः, औदारिकतन्मिश्रकाययोगौ, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, अज्ञानद्विकम्, असंयमः, अचक्षुर्दर्शनम्, अप्रशस्तलेश्यात्रिकम्, भव्याभव्यौ, मिथ्यात्वम्, असंज्ञी, आहारीत्यष्टात्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकः, प्रत्येकं सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामन्तःप्रवेशात् तेषामपि तद्बन्धकत्वाच्च। शेषाणां स्वप्रायोग्याणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शना तत्क्षेत्रवद् भवति। तथा नरकौघादिषु चतुःषष्टौ मार्गणासु प्रत्येकं स्वप्रायोग्याणां सर्वेषामायुषामुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शना तत्क्षेत्रवद् भवति, सूक्ष्मजीवानामनन्तःपातात् ॥११०-१११॥

उत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनावक्तव्यतां समाप्य जघन्याऽजघन्यरसबन्धकस्पर्शनां दिदर्शयिषुरादौ तावदोघतो जघन्यरसबन्धकस्पर्शनां दर्शयन्नाह—

मज्झिमगोऽत्थि णिरयसुरतिगं विणा जाण एगचत्ताए।
सि बंधगेहि छुहिअं मंदाणुभागस्स सव्वजगं ॥११२॥
बारस भागा इत्थीणपुमपणिदितसउरलुवंगाणं।
णिरयविउव्वदुगाण छ भागा पण सुरदुगस्सऽत्थि ॥११३॥
तेरस भागा छिविआ ओरालचउदससुहधुवाईणं।
विणोया परिपुट्ठा आयवणामस्स अड भागा ॥११४॥
लोगासंखियभागो सेसछवराणाअ होइ परिपुट्ठो।

(प्रे०) '**मज्झिमगो**' इत्यादि, नरकत्रिकदेवत्रिकयोर्वक्ष्यमाणत्वाद् नरकत्रिकदेवत्रिके वर्जयित्वा यासामेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः '**मज्झिमगो**' त्ति, मध्यमकः-परावर्तमानमध्यमपरिणाम इत्यर्थः, तासां जघन्यरसस्य बन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, सूक्ष्माणां सर्वलोकव्यापित्वात् तेषामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वाच्च। अथैकचत्वारिंशत् प्रकृतयः—स ते

स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इत्यष्टौ 'णरदुगुच्चाणि । मणुयणागिंदछक्कं खगइदुग सुस्सरदुहगतिग ॥ एगिंदियथावरसुहुमविगलतिग'मिति गाथात्रयवोक्ता मनुष्यद्विकादय एकत्रिंशत् तिर्यगायुर्मनुष्यायुश्चेति । तथा '**बारस भागा**'त्ति, स्त्रीवेदो नपुंसकवेदः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम चेति पञ्चानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः प्राग्दर्शितस्वरूपा द्वादश भागाः स्पृष्टाः । तत्रोर्ध्वलोकगत्काः षड् देवानां गमनागमनमाश्रित्य, अधोलोकसत्काश्च ते षट् सप्तमपृथ्वीनारकाणां मारणान्तिकसमुद्घातमपेक्ष्य प्राप्यन्ते । तथा नरकद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं षड् भागाः, सप्तमनारकतयोत्पित्सून् मारणान्तिकसमुद्घातगतान् तिरश्च आश्रित्यैते ज्ञेयाः । तथा देवद्विकस्य जघन्यरसबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः सन्ति, संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चामासहस्रारं मारणान्तिकसमुद्घातेन गमनात् । तथा '**ओराल**' इत्यादि, औदारिकशरीनाम्नः 'सुरधुवबंधी ॥ परघूसासा पज्ज पत्तेअ बायरं य उज्जोओ ।' इति गाथाद्वयवोक्तानां प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां चतुर्दशानाञ्च प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः, तत्र सप्तोर्ध्वलोकसत्काः, तत्रापि एको भाग ईषत्प्राग्भारायां पृथ्वीतयोत्पित्सूनां देवानां मारणान्तिकसमुद्घातमेवाश्रित्य षड् भागास्तु देवानां गमनागमनमाश्रित्यापि, तथाऽधोलोकसत्काः षड् भागाः सप्तमपृथ्वीनारकाणां मारणान्तिकसमुद्घातमाश्रित्य, तत्रापि प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पराघातोच्छ्वासनाम्नी पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम बादरनामेति त्रयोदशानां प्रकृतीनामधोलोकसत्काः षड् भागास्तु सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पित्सून् मारणान्तिकसमुद्घातगतान् तिरश्चोऽप्याश्रित्य विज्ञेयाः, नरकाभिमुखानां तिरश्चां तज्जघन्यरसस्य सद्भावात् । तथातपनाम्नोऽष्टौ भागाः परिस्पृष्टाः, जघन्यरसबन्धकैरिति प्रकरणगम्यम्, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् । न च समुद्घातप्रयुक्ता ततोऽधिकतरा स्पर्शना भविष्यति, देवानां समुद्घातक्षेत्रस्य नवभागप्रमितत्वादिति वाच्यम्, ईषत्प्राग्भारायामुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घाते आतपनाम्नो बन्धाभावात् सूर्यविमानपृथ्वीकायतयोत्पित्सूनां देवानां मारणान्तिकसमुद्घाते आतपनाम्नो बन्धसद्भावाच्च । ततः किम् ? मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताऽपि स्पर्शना गमनागमनक्षेत्रप्रमाणैव न तु ततोऽधिकेति । तथा '**सेसछपण्णाअ**'त्ति, उक्तशेषाणां षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः-अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत् हास्यरती शोकारती पुरुषवेदस्तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रम् आहारकद्विकं जिननाम नरकायुर्देवायुश्चेति षट्पञ्चाशत् । भावना तु इत्थं कार्या-तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रप्रकृतीनां स्वस्थानगताः सप्तमपृथ्वीनारकाः, जिननाम्नः स्वस्थानगता मनुष्याः, देवनरकायुषोः स्वस्थानगताः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः, शेषाणां संयमाभिमुखाः संयमिनो वा जघन्यरसबन्धस्वामितया प्राप्यन्ते, तेषां च स्पर्शना लोकासंख्यभागमात्रा, अत उक्तं लोगा-

सखिज्जभागो सेसलवण्णाअ होइ परिपुट्ठो' इति ।।११२-११४।। अथ लाघवार्थमोघत आदेशतश्चाजघन्यरसबन्धकस्पर्शनां तत्समानवक्तव्यत्वादनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनावदतिदिशन्नाह—

अगुरुरसव्व फरिसणा अजहण्णरसस्स सव्वेसि ।।११५।।

(प्रे०) "अ रसव्वे"त्यादि, ओघतः सर्वासां चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धकस्पर्शना अनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनावद् भवति। तथा आदेशेन सर्वासु मार्गणासु स्वप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धकस्पर्शना यथा प्राग् अनुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रस्तावे दर्शिता तथैवाऽत्रापि कथनीया। विस्तारार्थिना तत्रत्या प्रेमप्रभावृत्तिरवलोकनीया। अत्रानुत्कृष्टरसबन्धस्यातिदेशेनोक्तत्वात् स्थितिबन्धातिदेशोऽर्थतोऽवगन्तव्यः, एवं प्रदेशबन्धेऽपि तदतिदेशः संगच्छने। तथा प्रकृतिबन्धवदप्यतिदेशः संगच्छते, केवलं तत्र सातवेदनीयस्य प्राप्यमाणं केवलिक्षेत्रं विहायेति विशेषः। अत उक्तस्पर्शनापरिमाणहेत्वर्थिना तु उक्तातिदेशा अन्वेषणीयास्ततः स्पष्टाववोधः स्यादिति ।।११५।।

अथादेशतो जघन्यरसबन्धकस्पर्शना। तत्र नरकौघसप्तमनरकमार्गणयोराह—

णिरयचरमणिरयेसुं जिणअसुहधुवपणणोकसायाणं ।
तिरिणरगोअदुगाणं पुरिपुट्ठो जगअसंखंसो ।।११६।।
सेसाउगवज्जाण छ भागा .... ।

(प्रे०) 'णिरये' त्यादि, नरकौघः सप्तमनरकमार्गणेति द्वयोर्मार्गणयोः प्रत्येकं जिननाम त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः 'पणणोकसाय' त्ति हास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदरूपाः पञ्चनोकषायाः तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं गोत्रद्विकञ्चेति सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्यथासंभवमिति शेषः, सप्तमनरके जिननाम्नो बन्धाभावात्, लोकस्यासंख्येयभागः परिस्पृष्टः, मारणान्तिकसमुद्घातगतानां मनुष्यतयोत्पद्यमानानामेव नारकाणां तज्जघन्यरसबन्धकत्वेन तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागत्वात्, नरकौघे तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः, सप्तमनरके आसां सर्वासां प्रकृतीनां स्थितानामेव नारकाणां जघन्यरसबन्धकत्वात्। अत्र नारकानाश्रित्येमौ नियमौ, था—(१) यस्याः प्रकृतेर्जघन्यरसः स्वस्थान एव बध्यते, मारणान्तिकसमुद्घातगतो वा यस्या जघन्यरसबन्धको मनुष्यतयैव परभव उत्पद्यते तस्या जघन्य न्धकैर्नारकैरुत्कृष्टतोऽपि लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पृष्टो भवति (२) यस्याः तेर्जघन्यरसं बध्नन्तस्तिर्यक्ष्वपि उत्पद्यन्ते नारकास्तस्या जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना विवक्षितनरकपृथिवीतिर्यग्लोकयोरन्तराले ंख्य रज्जवस्तावन्तो भागास्तज्जघन्यरसबन्धकैः भवन्ति, तेषां लोकाऽसंख्येय त्रत्वेऽपि -

भविकोत्पत्तिस्थानस्य तिर्यग्लोकस्यैकरज्ज्वात्मकत्वात् । तथा 'सेसा' त्ति उक्तशेषाणामष्टचत्वारिं : प्रकृतीनामायुषां वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जानां प्रत्येक जघन्यरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, तिर्यक्षूत्पद्यमानानां सप्तमपृथ्वीनारकाणां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् ।

अथोक्तशेषाः प्रकृतयः—सातासाते स्त्रीनपुंसकवेदौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसदशकमस्थिरषट्कमुद्योतनाम चेत्यष्टचत्वारिंशत् ॥११६॥ अथ यासु मार्गणासु बन्धार्हाणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकस्पर्शना लोकाऽसंख्येयभाग एव ता मार्गणाः संगृह्य पठति—

....सव्वाण जगअसंखंसो ।
परिपुट्ठो पढमणिरय-गेविज्जाइ-सुर भेएसुं ॥११७॥
विक्कियमीसाहारगजुगलअवेअमणपज्जवेसु तहा ।
संजमसामइएसुं छेए परिहारसुहुमेसुं ॥११८॥

(प्रे०) 'सव्वाणे'त्यादि, प्रथमनरकः 'गेविज्जाइ' त्ति, नव ग्रैवेयकसुरभेदा आदिशब्दात् पञ्चाऽनुत्तरसुरभेदा वैक्रियमिश्रकाययोग आहारकतन्मिश्रकाययोगौ अवेदो मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसंपरायश्चेति पञ्चविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामेकैकस्या जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, तत्र प्रथमनरकनारकाणां पारभविकोत्पत्तिस्थानस्य तिर्यग्लोकस्यैकरज्जुवृत्तविस्तृतत्वेऽपि प्रथमनरकतिर्यग्लोकयोरन्तरालस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां मारणान्तिकसमुद्घाताभावात् स्वस्थानगतानामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । ततः किम् ? तेषां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्यभागमात्रत्वात् । तथेहोक्तासु त्रयोविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं जीवानां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोर्लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्, यासां प्रकृतीनां मारणान्तिकसमुद्घाते जघन्यरसबन्धः संभवति तासामपि जघन्यरसबन्धकानां लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पर्शनेति ॥११७-११८॥ अथ द्वितीयादिनरकमार्गणास्वाह—

बीआइणिरयपणगे जिणअसुहधुवपणणोकसायाणं ।
तह णरदुगउच्चाणं असंखभागो जगस्स भवे ॥११९॥
कमसो इगदुतिचउपणभागा छुहिआऽत्थि सेसपयडीणं ।

(प्रे०) 'बीआइ' इत्यादि, द्वितीयादिनरकपञ्चके द्वितीयादिषष्ठान्तासु पञ्चसु नरकमार्गणास्वित्यर्थः प्रत्येकं जिननाम त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः 'पणणोकसाया' त्ति, हास्यरती शोकारती पुरुषवेदस्तथा मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, यथासंभवमिति गम्यते, चतुर्थादिनरकेषु जिननाम्नो बन्धाऽसम्भवात् । स्वस्थानगतानां मनुष्यतयोत्पित्सूनामेव मारणान्तिकसमुद्घातगतानां वा तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा 'सेसपयडीणं' ति अचिरान्नरकौघमार्गणाविवरणोक्ताः सातवेदनीयादयोऽष्टचत्वारिंशत् तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रञ्चेत्येकपञ्चाशतः शेषप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः क्रमश एको द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च भागाः स्पृष्टाः सन्ति, द्वितीयनरकनारकैरेको भागस्तृतीयनरकनारकैर्द्वौ भागौ इत्येवं यथाक्रमं ज्ञेयम्, तत्तन्नरकतिर्यग्लोकयोरन्तरालस्यैकद्व्यादिरज्जुप्रमितत्वात् ॥११९॥ अथ तिर्यग्गत्योघमार्गणायामाह—

तिरिये पण भागा सि जाण छत्तीसाअ देसजई ॥१२०॥
सामी णिरयसुरदुगं विणाऽत्थि जाण परियत्तपरिणामो ।
तेसिं गुणाचत्ताए उरलस्स य पुट्ठमखिलजगं ॥१२१॥
छहिओ णेयो आयवबारसअसुहधुवउरलुवंगाणं ।
लोगासंखियभागो दिवड्ढभागोऽत्थि इत्थीए ॥१२२॥
दसेणूणो लोगो छहिओ तिरियदुगणीअगोआणं ।
परिपुट्ठा पण भागा जाणेयव्वा सुरदुगस्स ॥१२३॥
होअन्ति सत्तभागा छहिआ उज्जोअणामकम्मस्स ।
भागा अत्थि छ फुसिआ सेसाणेगूणवीसाए ॥१२४॥

(प्रे०) 'तिरिय' त्ति, तिर्यग्गत्योघमार्गणायां यासां षट्त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको देशविरतिस्तासां जघन्यरसबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः, देशविरततिरश्चामासहस्रारमुत्पादात् । इमाश्च ताः षट्त्रिंशत्प्रकृतयः—"पुमवउसजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउग च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि तइअ कसाये, त्ति पुरुषवेदादयश्चतुस्त्रिंशत् शोकारती चेति । तथा नरकदेवद्विकयोर्वक्ष्यमाणत्वात्ताभ्यां विना यासामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः तासामौदारिकशरीरनाम्नश्च जघन्यरसबन्धकैः सर्वः लोकः स्पृष्टः, तत्रैकोनचत्वारिंशतो जघन्यरसस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियैरपि बध्यमानत्वात् । औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसबन्धकानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वेऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिक-

समुद्घातगतानामपि तेषां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । अथैकोनचत्वारिंशत्प्रकृतयः-सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इत्यष्टौ 'परघुगुरुचाणि । मणवण्णिहछक्कं खगइदुग सुहगदुहगतिग ॥ एगिंदियथावरसुहमविगलतिगे' ति मनुष्यद्विकादय एकत्रिंशच्च ।

तथाऽऽतपनाम, यासामप्रशस्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको देशयतिस्तासां जघन्यरसबन्धकस्पर्शनाया इहैवोक्तत्वात् तद्वर्जा द्वादशाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपा औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम चेति सर्वसंख्यया चतुर्दशानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, तत्र आतपनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोर्जघन्यरसस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियैरेव तिर्यग्भिर्बध्यमानत्वात्, तेषां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तेषां यथाक्रमं सूर्यविमानगतबादरपृथ्वीतया द्वीन्द्रियतयोत्पित्सूनामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वेन पारभविकोत्पत्तिस्थानस्य तिर्यग्लोकमात्रत्वेन तस्यापि लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । तथा द्वादशानां मिथ्यात्वमोहादीनां जघन्यरसस्याऽभिमुखावस्थायामेव बध्यमानत्वेन तेषां स्वस्थानस्यैव स्पर्शनाविषयत्वात् ।

'इत्थीए' त्ति, स्त्रीवेदस्य जघन्यरसबन्धकैः सार्धभागः स्पृष्टः, देवीतयोत्पित्सूनामेव स्त्रीवेदजघन्यरसबन्धकत्वेन मारणान्तिकसमुद्घातगतैरपि तद्बन्धकैरीशानं यावदेव स्पृष्टत्वात् । यतो देवीनामुत्पाद आईशानमेवेति । **'देसेणूणो लोगो'** इत्यादि, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकैर्देशोनो लोकः स्पृष्टः, बादरवायुकायिकानाश्रित्य तत्सम्भवात् तेषां च स्वस्थानस्य यथोक्तमानत्वात् । न च तेषां मारणान्तिकसमुद्घातक्षेत्रस्य सर्वलोकमितत्वेन सर्वलोकप्रमिता स्पर्शना भवतीति वाच्यम्, मारणान्तिकसमुद्घातगतानां पञ्चेन्द्रियतयोत्पित्सूनामेव तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनेन प्रकृते समुद्घातक्षेत्रस्य स्पर्शनायाः स्वस्थानक्षेत्रस्पर्शनातोऽनधिकत्वात् ।

'सुरदुगस्स' त्ति, देवद्विकस्य जघन्यरसबन्धकैः पञ्च भागाः, स्पृष्टाः, ते च सहस्रारसुरालये सुरतया समुत्पित्सून् पद्मलेश्यावतो मारणान्तिकसमुद्घातगतान् तिरश्च आश्रित्य ज्ञेयाः ।

अत्र आह-देवद्विकजघन्यर न्धकस्पर्शना पञ्च भागाः कथं संभवति, तिर्यग्द्विकादिप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्त्या बध्यमानस्यैव घन्यरसबन्धकत्वात् । परावृत्त्या तद्बन्धस्तु कृष्णाद्यप्रशस्तलेश्यावतामेव संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां संभवति, तेषां चोत्कृष्टतोऽपि भवनपतिव्यन्तरयोरुत्पादसंभवेन मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताया अपि देवद्विकजघन्यरसबन्धकस्पर्शनाया लोकाऽसंख्येयभागमिताया एव संभवात् । यदि च कापोततेजोलेश्ययोरन्योन्यं संक्रमसद्भावेन तेजोलेश्यासत्कसर्वजघन्यविशुद्ध्यासन्नेभ्यो विशुद्धिस्थानेभ्यः कापोतलेश्यासत्कसर्वजघन्यसंक्लेशासन्नानि विशुद्धिस्थानानि अनन्तगुणविशुद्धानि तेन तेजोलेश्यामार्गणायां देवद्विकस्य परावृत्त्या बन्धाभावेऽपि कापोतलेश्यायामिव जघन्यरसबन्धो भवितुमर्हति । एवं देवद्विकस्य जघन्यरसबन्ध-

कास्तेजोलेश्यायामुत्पद्यमानाः सार्धरज्जुं स्पृशन्ति, तिर्यग्लोकेशानसुरालययोरन्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात् । पञ्चरज्ज्वात्मिका पञ्चभागस्पर्शना कथमपि न संभवतीति भावः ।

अत्रोत्तरम्—यद्यपि तेजआदिलेश्यावतां संज्ञितिरश्चां देवद्विकमेव बध्यते तेन तिर्यग्द्विकादिना सह देवद्विकस्य परावृत्त्या बन्धो नास्ति तदपि देवद्विकस्य दशसागरोपममितोत्कृष्टस्थितिस्थानाद् यावन्मनुष्यद्विकस्य जघन्यस्थितिबन्धस्थानं तावद् यानि स्थितिस्थानानि तानि सर्वाणि स्थितिस्थानान्याक्रान्तान्युच्यन्ते । आक्रान्तस्थितिस्थानेषूत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्तुल्यो भवति। तेन कापोतलेश्यायामाक्रान्तस्थितिस्थानेषु या जघन्या स्थितिर्बध्यते तस्या अधिकतराऽपि स्थितिस्तेजःपद्मशुक्ललेश्यासु प्रत्येकं बन्धमर्हति. तेन तेजआदिषु तिसृषु प्रशस्तलेश्यासु देवद्विकस्योत्कृष्टाऽऽसन्नानि स्थितिबन्धस्थानानि आक्रान्तान्युच्यन्ते, आक्रान्तस्थितिस्थानेषु प्रत्येकं जघन्यरसोऽविशेषेण बध्यत इतीहाचिरादेवोक्तमस्ति, तेन षड्लेश्याऽन्यतमलेश्यावतामपि देवद्विकजघन्यरसबन्धस्य संभवः । तिरश्चामुत्कृष्टतोऽपि सहस्रारं यावदुत्पादाद् इह देवद्विकजघन्यरसबन्धकानां पञ्च भागाः स्पर्शनोक्तेति । तथोद्योतनाम्नो जघन्यरसबन्धकैः सप्त भागास्पृष्टाः, ईषत्प्राग्भारायामुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि संज्ञितिरश्चां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा '**सेसाण**' त्ति 'विउवदुग । तसपणिंदियथावरतिगाणि ऊसासपरघाया। सुहधुवबन्धी'ति वैक्रियद्विकादयः सप्तदश नरकद्विकञ्चेत्युक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणामेकोनविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि संज्ञितिरश्चां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् ॥१२०--१२४॥

अथ त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्वाह—

तिरिदुगणीआण फुसिअमखिलजगं तु तिपणिंदितिरियेसुं ।
णरदुगविगलछसंघयणागिइचउगाण जगअसंखंसो ॥१२५॥ (गीतिः)
पण भागा परिपुट्ठा होअन्ति पणसुहगाइउच्चाणं ।
छ कुखगइदुस्सराणं सत्त जसस्स तिरियव्व सेसाणं ॥१२६॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**तिरिदुगे**'त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्य', पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्, तिरश्चीति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राख्यानां त्रिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, तेषां सूक्ष्मेषूत्पादात् । मनुष्यद्विकम् '**विगल**' त्ति, द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपास्त्रयो जातिभेदाः षट् संहननानि '**आगिइचउगाण**' त्ति मध्यमसंस्थानचतुष्कञ्चेति पञ्चदशानां प्रकृतीनां प्रत्येक जघन्यरसबन्[illegible]: '**जगअसखंसो**' त्ति लोकस्याऽसंख्येयभागः परिस्पृष्टः, विकलाक्षप्रायोग्याणां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्याणां वा प्रकृतीना बन्धकानामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां स्वस्थान-

पारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्च । तथा 'पणसुहगाइ' त्ति, पञ्च सुभगत्रिकसुखगतिप्रथमसंस्थाननामरूपा उच्चैर्गोत्रञ्चेति पण्णां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः पञ्च भागाः परिस्पृष्टाः, सहस्रारसुरालये उत्पित्सूनामपि मिथ्यादृष्टिसंज्ञितिरश्चां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । तथाऽप्रशस्तविहायोगतिदुःस्वरनाम्नोः प्रत्येकं षड् भागाः, सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातेऽपि तज्जघन्यरसबन्धोपलम्भात् । तथा यशःकीर्तिनाम्नो जघन्यरसबन्धकानां सप्त भागाः स्पर्शना, ईषत्प्राग्भारायामुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा 'सेसाणं' ति, उक्तशेषाणां नवतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना 'तिरियव्व' त्ति, अनन्तरोक्ततिर्यग्गत्योघमार्गणावद् भवति । अथ तिर्यग्गत्योघवदेव दर्शयामः—तिर्यग्गत्योघमार्गणाविवरणे नामग्राहमुक्तानां पुरुषवेदादीनां षट्त्रिंशतः सुरद्विकस्य चेत्यष्टात्रिंशतो जघन्यरसबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभेऽयशःकीर्तिहुण्डकसंस्थाननाम दुर्भगनामानादेयनामैकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मत्रिकमौदारिकशरीरनामेति षोडशानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातप्राप्तानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । आतपनाम मिथ्यात्वमोहनीय स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम चेति चतुर्दशानां प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागः, तज्जघन्यरसबन्धकैः स्पृष्ट इत्येवमग्रेऽपि । स्त्रीवेदस्य सार्धो भागः । उद्योतनाम्नः सप्त भागाः । तथा वैक्रियद्विकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकं पराघातनामोच्छ्वासनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो नरकद्विकञ्चेत्येकोनविंशतेः प्रत्येकं षड् भागाः ॥१२५-१२६॥ अथापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्रस्तुतां जघन्यरसबन्धकस्पर्शनां दर्शयन्नाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदितसस्सव्वविगलेसुं ।
समवायरपुहवीदगणिगोअपत्तेअहरिएसुं ॥१२७॥
सायअसायतिरियदुगणिगिंदियवायरसुहधुवाईणं ।
हुंडरलणीअथिरसुहथावरणवगस्स सव्वजगं ॥१२८॥
णाऊणुज्झा फुसणा सयं च उज्जोअवायरजसाणं ।
लोगासंखियभागो सेसाणं सत्तसयरीए ॥१२९॥
णवरं णाऊण सयं उज्झा सेसाण सत्तसयराए ।
समवायरपुहवीदगणिगोअपत्तेअहरिएसुं ॥१३०॥

(प्रे०) 'अ त्ते'त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्रत्येकं सातवेदनीयादीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वलोकादि स्पृष्टमिति सम्बन्धः । तत्रापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्, अपर्याप्तमनुष्यः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदास्ते च नव, तथा **"सम"** त्ति, सर्वे बादरपृथ्वीकायभेदास्ते तु त्रयः, सर्वे बादराप्कायभेदास्तेऽपि त्रयः, सर्वे बादरनिगोदाः, बादरसाधारणवनस्पतिकायिकास्ते त्रयः, सर्वे प्रत्येकवनस्पतिकायिकास्तेऽपि त्रय इति सर्वसंख्यया पञ्चविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं सातासाते तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिस्तथा 'सुहधुवबंधी ॥ परघूसासा पज्ज पत्तेअ'मिति प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादयो द्वादश हुण्डकसंस्थाननामौदारिकशरीरनाम नीचैर्गोत्रं स्थिरनाम शुभनाम तथा दुःस्वरनाम्नो वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जं स्थावरनवकञ्चेति सर्वसंख्यैकत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । तथा उद्योतनाम बादरनाम यशःकीर्तिनाम चेति तिसृणां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकस्पर्शना स्वयमेव ज्ञात्वोह्या, तद्विदः सकाशादिति शेषः । तथा **'सेसाणं'** ति, उक्तशेषाणां सप्तसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, तेषां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वे सति पारभविकोत्पत्तिस्थानस्याऽपि लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । कुतः ? एकेन्द्रियभिन्नतयोत्पित्सूनामेव तेषां मारणान्तिकसमुद्घाते तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । आतपनामबन्धकानामेकेन्द्रियतयोत्पादेऽपि तिर्यग्लोकासंख्येयभाग एवोत्पादात् । अथोक्तशेषाः प्रकृतयः-त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः, हास्यरती, शोकारती, त्रयो वेदाः, मनुष्यद्विकम्, विकलत्रिकम्, पञ्चेन्द्रियजातिनाम, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, संहननषट्कम्, हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकम्, विहायोगतिद्विकम्, आतपनाम, त्रसनाम, सुभगत्रिकम्, दुःस्वरनाम, उच्चैर्गोत्रञ्चेति सप्तसप्ततिः । उक्तशेषप्रकृतीनां प्रोक्तसर्वमार्गणासु स्पर्शना लोकासंख्येयभागप्रमाणा भवितुं नार्हति, अतोऽति क्तिमुद्धर्तुमना ग्रन्थकारः **'णवर'** मित्यादिनाऽऽह-सर्वबादरपृथ्वीजलनिगोदप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणासूक्तशेषप्रकृतिषु कासाञ्चित् प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना लोकासंख्येयभाग-णा, कासाञ्चित् प्रकृतीनान्तु ततोऽधिका स्पर्शना प्राप्यते, किन्तु निर्णयाभावादुक्तं **'णवर णाऊण'** इत्यादि ग्रन्थकारेणेति ॥१२७-१३०॥ अथ त्रिमनुष्यादिमार्गणास्वाह—

तिणरे सव्वलोगो छुहिओ थिरसुहअसायसायाणं ।
तिरिदुगहुंडेगिंदियथावरणावगुरलणीआणं ॥ १३१ ॥
णाऊण सयं चिअ खलु जसउज्जोआण फोसणा णेया ।
लोगासंखियभागो परिपुट्ठो सेसपयडीणं ॥ १३२ ॥

(प्रे०) 'निगमेसु' इत्यादि, मनुष्यौघः, पर्याप्तमनुष्यः, मानुषीति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं स्थिरनाम शुभनाम असातवेदनीयं सातवेदनीय तिर्यग्द्विकं हुंडकसंस्थाननामैकेन्द्रियजातिः, दुःस्वरनाम्नो वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जं स्थावरनवकमौदारिकशरीरनाम नीचैर्गोत्रञ्चेति एकोनविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् स्पर्शनाया अनन्तकालविषयत्वाच्च। तथा यशःकीर्तिनामोद्योतनाम्नोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना स्वयमेव ज्ञात्वा ज्ञेया, तद्विदः सकाशादिति शेषः। कुत एवम्? सम्यगपरिज्ञानात्। तथा 'सेस' त्ति, उक्तशेषाणां नवनवतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः परिस्पृष्टः, स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्। अथ नवनवतिः प्रकृतयः-अनन्तरमार्गणाविवरणोक्ताः सप्तसप्ततिः, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, बादरत्रिकम्, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारद्विकजिननामरूपा नव चेति ॥१३१-१३२॥ अथ देवौघादिमार्गणास्वाह—

सुरईसाणंतेसुं णव भागा वीससुहधुवाईणं ।
सायथिरसुहजुग-अजस-दुहगाऽणाइज्ज-हुंडाणं ॥ १३३ ॥
सेसाण अट्ठभागा सव्वाण छसु तइआइदेवेसुं ।
चउआणताइगेसु छ सव्वजगं सव्वसुहमेसुं ॥ १३४ ॥

(प्रे०) 'सुरई णते' मित्यादि, देवौघो भवनपत्यादीशानान्ताः सुरभेदाः पञ्चेति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं 'सुहधुवबंधी ॥ परघूसासा पज्ज पत्तेअं बायर य उज्जोओ। जसुरल-तिरिदुग-थावर-एगिंदिय' इति प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां विंशतेः शुभध्रुवबन्ध्यादीनां तथा सातवेदनीयादीनां सप्तानां दुर्भगाऽनादेयहुंडकसंस्थाननाम्नाञ्चेति सर्वसंख्यया त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टाः, ईषत्प्राग्भाराया बादरपृथ्वीतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि सुराणां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्। तथा 'से ण' त्ति, उक्तशेषाणां षट्सप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात्। अथोक्तशेषाः प्रकृतयः—अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत्, हास्यरती, शोकारती, त्रयो वेदाः, मनुष्यद्विकम्, पञ्चेन्द्रियजातिः, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, संहननषट्कम्, हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकम्, विहायोगतिद्विकम्, आतपनाम, जिननाम, त्रसनाम, सुभगत्रिकम्, दुःस्वरनाम, नीचैर्गोत्रम्, उच्चैर्गोत्रञ्चेति षट्सप्ततिः। भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्केषु पञ्चसप्ततिः, जिननाम्नो बन्धाभावात्। अथ सनत्कुमारादिसुरमार्गणास्वाह-'छ तइआइदेवे' ति सनत्कुमारादिसहस्रारान्तरूपासु षट्सु देवमार्गणासु प्रत्येकं 'सव्वाण' त्ति, बन्धार्हाणां त्र्युत्तर-

शतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः 'अट्ठभागा' इति पदस्याऽनुकर्षणात् अष्टावेव भागाः स्पृष्टाः, इयं हि स्पर्शना देवानां गमनागमनप्रयुक्ता एव, एकेन्द्रियेषूत्पादाभावेनाधिकस्पर्शनाया अलाभात् । अथाऽऽनतादिसुरमार्गणास्वाह—'चउआणताइगेसु' त्ति, चतसृषु आनताद्यच्युतान्तासु मार्गणासु प्रत्येकं 'सव्वाण' इति पदस्याऽनुवर्त्तनात् बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, आनतादिसुराणां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् । कुतः ? अधोलोके गमनाभावात् । अथ सर्वेषु सूक्ष्मभेदेष्वाह—'सव्व' त्ति, सर्वासु अष्टादशरूपासु सूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणासु प्रत्येक 'सव्वाण' इति पदस्याऽत्राप्यनुकर्षणात् बन्धार्हाणामेकादशोत्तरशतरूपाणां तेजोवायुभेदेषु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रवर्जाष्टोत्तरशतरूपाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां सर्वलोकव्यापित्वात् ॥१३३-१३४॥ अथैकेन्द्रियौघमार्गणायामाह—

एगिंदियम्मि फुसिअं अपसत्थधुवसगणोकसायाणं ।
तिरिदुगुरलुवंगायवदुगणीआणऽत्थि ऊणजगं ॥१३५॥
सेसाणं सव्वजगं ·· ·· ····· ·· ·· ·· ··

(प्रे०) 'एगिंदिये' त्यादि, एकेन्द्रियौघमार्गणायामप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्देशोनलोकः स्पृष्टः, बादरवायुकायिकानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां च स्वस्थानस्य यथोक्तमानत्वात् । षट्पञ्चाशत् प्रकृतयस्त्विमाः-'अपसत्थ' त्ति, अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशद् हास्यरतिशोकारतिवेदत्रयरूपा नोकषायाः सप्त तिर्यग्द्विकमौदारिकाङ्गोपाङ्गनामाऽऽतपनामोद्योतनाम नीचैर्गोत्रञ्चेति । तथा 'सेसाणं' त्ति, उक्तशेषाणामत्र बन्धार्हाणां पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, सर्वलोकस्तेषां स्पर्शनाविषय इत्यर्थः, सूक्ष्माणां सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां वा मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् ॥१३५॥ अथ बादरैकेन्द्रियादिमार्गणास्वाह—

·· ······· · · ·· · ·· एगिंदियसव्वबायरेसु भवे ।
बारसुहधुवाइउरलहुंडेगिंदियथिरसुहाणं ॥ १३६ ॥
सायासायाण तहा थावरणवगस्स जगअसंखंसो ।
णारदुगउच्चाण भवे सेसाणं होइ ऊणजगं ॥ १३७ ॥

(प्रे०) 'एगिंदिये'त्यादि, 'एकेन्द्रियसर्वबादरेषु' बादरैकेन्द्रियौघः, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियः, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय इति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं 'सुहधुवबंधी ॥ परघूसासा पज्जं पत्तेअ' मिति

शुभध्रुवबन्ध्यादयो द्वादश, औदारिकशरीरनाम, हुंडकसंस्थाननाम, एकेन्द्रियजातिः, स्थिरनाम, शुभनाम, सातासाते, दुःस्वरवर्जं स्थावरनवकञ्चेति सर्वसंख्ययाऽष्टाविंशतेः प्रकृतीनामेकैकस्या जघन्यरसबन्धकैः अनन्तरोक्तस्य 'सव्वजग' मिति पदस्यात्रापि सम्बन्धात् सर्वं जगत् स्पृष्टम्, सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामेकैकस्या जघन्यरसबन्धकैः लोकाऽसंख्येयभागः परिस्पृष्टः, प्रस्तुतमार्गणासु पृथ्व्यब्वनस्पतीनामेव तद्बन्धकत्वात् तेषां स्वस्थानक्षेत्रस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वे सति तद्बन्धकानां मारणान्तिकसमुद्घातेन मनुष्यतयैवोत्पत्तेः पारभविकोत्पत्तिस्थानस्यापि लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्च । तथा 'सेसाण' ति, उक्तशेषाणामशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्देशोनलोकः स्पृष्टः, वायुकायिकानां क्षेत्रस्य प्राधान्यात्, तेषां च स्वस्थानस्य यथोक्तमानत्वात् । अथोक्तशेषाः प्रकृतयः–त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः, हास्यरती, शोकारती, त्रयो वेदाः, तिर्यग्द्विकम्, विकलत्रिकम्, पञ्चेन्द्रियजातिः, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, संहननषट्कम्, हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकम्, विहायोगतिद्विकम्, दुःस्वरनाम, त्रसनाम, बादरनाम, सुभगचतुष्कम्, आतपोद्योतनाम्नी, नीचैर्गोत्रञ्चेत्यशीतिः प्रकृतयः ॥१३६-१३७॥

अथ द्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वाह—

विरणेया दुपणिदिय-तसप मणवयणचक्खुसरणीसु ।
भागा बारस छुहिया णपुभिगवीससुहगाईणं ॥१३८॥
लोगासंखियभागो अपसत्थधुवपणोकसायाणं ।
तिरियाहारदुगविगलजियाणीआणं भवे छुहिओ ॥१३९॥
सोलसुहधुवाईण तेरह अड रदुगायवुचाणं ।
भागा ओघव्व विउवछक्कस्सियराण सव्वजगं ॥१४०॥

(प्रे०) 'विण्णेया' इत्यादि, 'दुपणिदिय' त्ति, पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः तथा द्विशब्दस्याऽग्रेऽप्यभिसम्बन्धात् त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः तथा पञ्च मनोयोगाः पञ्चवचनयोगाः चक्षुर्दर्शनं संज्ञी चेति षोडशसु मार्गणासु प्रत्येकं नपुंसकवेदस्तथा 'इगवीस' त्ति, 'सुहगतिग-सुखगइआगिई-छसंघयणा । मज्झिमसठाणित्थी उरलोवग तसपणिंदी ।। दुस्सर-कुखगइ' इति स्पर्शनाद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः सुभगत्रिकादय एकविंशतिरिति सर्वसंख्यया द्वाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टाः । तत्रोर्ध्वलोकसत्काः षट्, ते च देवानां गमनागमनप्रयुक्ताः । अधोलोकसत्काः षट्, ते तु तिर्यक्तयोत्पित्सूनां सप्तमपृथ्वीनारकाणां मारणान्तिकसमुद्-

घातप्रयुक्ताः । 'अपसत्थधुव' त्ति, त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः तथा नपुंसकवेदस्त्रीवेदयोरनन्तरमिहैवोक्तत्वात् भयजुगुप्सयोरप्रशस्तध्रुवबन्धिनीष्वन्तर्भावाच्च 'पणणोकसाय' त्ति, हास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदाः, तिर्यग्द्विकमाहारकद्विकं विकलत्रिकं जिननाम नीचैर्गोत्रञ्चेति सर्वसंख्यया सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, यथायोगं मनुष्यतिरश्चामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वे सति तज्जघन्यरसबन्धकानां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । तद्यथा—अप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां पञ्चानां नोकषायाणाञ्च जघन्यरसं स्वस्थानस्था मनुष्या एव बध्नन्ति, तेषां स्वस्थानक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागमात्रमेवमग्रेऽपि। तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसः स्वस्थानस्थैरेव सप्तमपृथ्वीनारकैः सम्यक्त्वाभिमुखैर्बध्यते। आहारकद्विकबन्धकानां संयतानां स्वस्थान पारभविकोत्पत्तिस्थानञ्च प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रम्। विकलत्रिकबन्धकाः तिर्यग्मनुष्याः, तेषां स्वस्थानं तिर्यग्लोकः स च लोकाऽसंख्येयभागो अत एव तद्बन्धकानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां पारभविकोत्पत्तिस्थानमपि लोकाऽसंख्येयभागः, तिर्यग्लोके तदासन्ने वैवोत्पादात् । जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकाः स्वस्थानस्थिताः सम्यग्दृष्टिमनुष्या एवेति । तथा 'सोलसुह' त्ति, शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पराघातनामोच्छ्वासनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम बादरनामोद्योतनाम यशःकीर्तिनामौदारिकशरीरनाम चेति षोडशानां प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः, तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्त, ते चेषत्प्राग्भारायामुत्पित्सून् मारणान्तिकसमुद्घातगतान् तज्जघन्यरसबन्धकानाश्रित्य, अधोलोकसत्काश्च ते षड् यथासंभवं सप्तमपृथ्वीनारकतिरश्चां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः । तथा मनुष्यद्विकमातपनामोच्चैर्गोत्रञ्चेति चतसृणां प्रत्येकमष्टौ भागाः, गमनागमनं कुर्वतामपि देवानां तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवाद् देवानां च गमनागमनक्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वात् । तथा 'ओघव्व' त्ति, वैक्रियद्विकदेवद्विकनरकद्विकरूपस्य वैक्रियषट्कस्य जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना ओघवद् भवति, कुतः ? ओघे ये तत्स्पर्शका अत्रापि त एवेति कृत्वा । अथौघवदेव दर्शयामः—वैक्रियद्विकनरकद्विकरूपाणां चतसृणां प्रत्येक जघन्यरसबन्धकैः षड् भागाः, देवद्विकस्य च तैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः, हेतुरोघवत् । तथा 'इयराण' त्ति, इतरासामुक्तातिरिक्तानामित्यर्थः पञ्चदशानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, सर्वलोकस्तेषां स्पर्शनाविषय इत्यर्थः, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । अथोक्तशेषाः प्रकृतयः—सातासाते एकेन्द्रियजातिः हुंडसंस्थाननाम दुःस्वरस्योक्तत्वात्तद्वर्जं स्थावरनवकं स्थिरनाम शुभनाम चेति पञ्चदशेति ॥१३८-१४०॥ अथ पृथ्वीकायौघादिमार्गणास्वाह—

लोगासंखियभागो अपसत्थधुवसगणोकसायाणं ।
ओरालियदुगस्स य भूदगऽगणिवणाणिगोएसु ॥१४१॥

णेयं सयं च आयवदुगस्स सेसाण पुट्ठमखिलजगं ।
णवरि जगअसंखंसो तिरिदुगणीआण तेउम्मि ॥१४२॥

(प्रे०) 'लोगासंखियें'त्यादि, तत्र 'भूदग' त्ति, पृथ्वीकायौघः, अप्कायौघः, तेजः-कायौघः, वनस्पतिकायौघः, साधारणवनस्पतिकायौघ इति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं त्रिचत्वारिंशद्-प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः, भयजुगुप्सयोर्ध्रुवबन्धिनीष्वन्तर्भावात् तद्वर्जा हास्यरतिशोकारतिवेदत्रयरूपाः सप्त नोकषायाः, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम चेति सर्वसङ्ख्ययैकपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरस-बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, पर्याप्तबादराणामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां स्वस्थानस्य च लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । न च मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता अधिकतराऽपि स्पर्शनेति वाच्यम्, मनुष्यादितयोत्पित्सूनामेव मारणान्तिकसमुद्घातप्राप्तानां तज्जघन्यरसबन्धकत्वाद् वक्र-गत्योत्पित्सूनां प्रथम तिर्यग्दण्डकरणसम्भवाच्च । यदि च प्रथमत ऊर्ध्वदण्डकरणमपि सम्भाव्यते तर्हि त्रयोदशादयो भागा अपि स्पर्शनेति । 'णेय' इत्यादि, 'आयवदुगस्स' त्ति, आतपोद्योत-नाम्नोर्जघन्यरसबन्धकस्पर्शना स्वयमेव ज्ञेया, तज्ज्ञातृसकाशाज्ज्ञात्वेति शेषः । हेतुरत्र पर्याप्त-बादरपृथ्वीकायादिमार्गणावत् । कुतः ? इहाऽपि पर्याप्तबादराणामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । अत्रापि तेजःकायमार्गणायामातपद्विकस्य स्पर्शना लोकासंख्यभागमात्रैव संभाव्यते, स्वस्थान-पारभविकोत्पत्तिस्थानयो रज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति, उक्तशेषाणां तत्र पृथ्व्यादिमार्गणासु प्रत्येकमष्टपञ्चाशतः, तथा तेजःकायमार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धा-भावात् तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्तु इहैव 'णवर' मित्यादिना वक्ष्यमाणत्वाद् द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैरखिलं जगत् स्पृष्टम्, सर्वलोकः स्पृष्ट इत्यर्थः । अत्र सातवेदनीयादीनां जघन्यरसस्य सूक्ष्मैरपि बध्यमानत्वात् । प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यरसस्य सूक्ष्मतयोत्पित्सुभि-र्मारणान्तिकसमुद्घातगतैरपि बध्यमानत्वात् । अथोक्तशेषाः प्रकृतयः—सातासाते, तिर्यग्द्विकम्, मनुष्यद्विकम्, जातिपञ्चकम्, औदारिकशरीरनाम, अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः, संहननषट्कम्, संस्थानषट्कम्, खगतिद्विकम्, पराघातोच्छ्वासौ, त्रसदशकम्, स्थावरदशकम्, गोत्रद्विकम्, चेत्यष्टपञ्चाशत् । तेजःकायमार्गणायां मनुष्यद्विकतिर्यग्द्विकगोत्रद्विकवर्जा अनन्तरोक्ता द्वि-पञ्चाशत् । तथा तेजःकायमार्गणायां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां [illegible]णामपि प्रत्येकं जघन्यरस-बन्धकैर्लोकासंख्येयभाग एव स्पृष्टः, पर्याप्तबादरतेजस्कायि[illegible]मेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्, मारणान्तिकसमुद्घाते तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयैवोत्पित्सूनां तज्जघन्यरसबन्धकत्वाच्च ॥१४१-१४२॥

अथ बादरतेजःकायौघादिष्वाह—

बायरसयलग्गी सायेयरबारसुहधुवाईणं ।

तह एगिंदियथिरसुहथावरणवगुरलहुंडाणं ॥१४३॥
सव्वजगं परिपुट्ठं णेयं उज्जोश्रबायरजसाणं ।
सयमुज्झ सेसाणं असंखभागो जगस्स भवे ॥१४४॥

(प्रे०) '**बायरसयले**' त्यादि, बादरतेजःकायौघः, पर्याप्तबादरतेजःकायः, अपर्याप्तबादरतेजःकायश्चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सातासाते 'सुहधुवबधी। परघूसासा पज्ज पत्तेअ' मिति शुभध्रुवबन्ध्यादयो द्वादश, एकेन्द्रियजातिः, स्थिरनाम, शुभनाम दुःस्वरनाम्नो जघन्यरसबन्धकस्पर्शनाया अन्यथासंभवात् तद्वर्जं स्थावरनवकम्, औदारिकशरीरनाम, हुंडकसंस्थाननाम चेति अष्टाविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येक जघन्यरसबन्धकैर्निखिलो लोकः स्पृष्टः, सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्। तथोद्योतनाम बादरनाम यशःकीर्तिनाम चेति तिसृणां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकस्पर्शना स्वयमेवोह्या, हेतुरत्र पर्याप्तबादरपृथ्वीकायमार्गणावत् । तथा '**सेसाण**' ति, उक्तशेषाणां सप्तसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टो भवेत्, तेषां स्वस्थानस्य मनुष्यक्षेत्रमात्रत्वेन लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तेषां लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पर्शना । कुतः ? संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तया विकलेन्द्रियतया सूर्यविमानगतबादरपृथ्वीतया वोत्पित्सूनामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत्, हास्यरती, शोकारती, त्रयो वेदाः, तिर्यग्द्विकम्, विकलत्रिकम्, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, संहननषट्कम्, हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकम्, विहायोगतिद्विकम्, त्रसनाम, सुभगत्रिकमातपनाम, दुःस्वरनाम, नीचैर्गोत्रञ्चेति सप्तसप्ततिरिति ॥१४३-१४४॥ अथ वायुकायौघादिमार्गणास्वाह—

सप्पाउग्गाणं खलु वाउम्मि य सयलबायरेसुं से ।
सव्वेसि एगिंदियभेअव्व कमा मुणेयव्वा ॥१४५॥

(प्रे०) '**सप्पाउग्गाण**'मित्यादि, वायुकायौघे '**सयलबायरेसुं से**' त्ति, तस्य वायुकायस्येत्यर्थः त्रिलक्षणेषु सकलबादरभेदेषु चेति सर्वसंख्यया चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सर्वासां स्वप्रायोग्याणामष्टोत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना '**एगिंदियभेअव्व कमा**' त्ति, वायुकायौघे एकेन्द्रियौघवत् त्रिषु बादरवायुभेदेषु त्रिबादरैकेन्द्रियभेदवत् ज्ञातव्या । कुतः ? एकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वपि वायुकायिकानामेव प्राधान्यात् । अथैकेन्द्रियौघादिवद् यावती स्पर्शना भवति तावती एव दर्श्यते-वायुकायौघे त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो भयजुगुप्सयोर्ध्रुवबन्धित्वात् तद्वर्जाः सप्तनोकषायाः तिर्यग्द्विकमौदारिका-

ङ्गोपाङ्गनामाऽऽतपनामोद्योतनाम नीचैर्गोत्रञ्चेति पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकै-र्देशोनो लोकः स्पृष्टः, बादरवायूनां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां च स्वस्थानस्य यथोक्तमानत्वात्। तथोक्तशेषाणां द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, सूक्ष्माणां सूक्ष्मतया चोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तज्जघन्यरसबन्धसद्भावात्। तथा त्रिषु बादरवायुभेदेषु प्रत्येकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पराघातोच्छ्वासौ पर्याप्तनाम प्रत्येकनामौदारिक-शरीरनाम हुंडकसंस्थाननामैकेन्द्रियजातिः स्थिरनाम शुभनाम सातासाते दुःस्वरवर्जस्थावर-नवकञ्चेत्यष्टाविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनात्। शेषाणामशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्देशोनो लोकः स्पृष्टः, सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां तज्जघन्यरसबन्धस्याऽभावात् बादरवायूनां स्वस्थानस्य यथोक्तमानत्वाच्च। अशीतिः प्रकृतयस्तु बादरैकेन्द्रियमार्गणाविवरणत एवाऽवसेयाः ॥१४५॥ अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां जघन्यरसबन्धकस्पर्शनामाह—

सव्वजगमुरलमीसे चउयालीसाअ मज्झिमो जेसिं।
सिं ऊणजगं तिरिदुगणीआणियराण जगअसंखंसो ॥१४६॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'सव्वजगे' त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां यासां चतुश्चत्वारिंशतः [प्रकृ]तीनां जघन्यरसबन्धकः 'मज्झिमो' त्ति, परावर्तमानमध्यमपरिणामः तासां प्रत्येकं जघन्य-रसबन्धकैर्निखिलं जगत् [स्पृष्ट]म्, सूक्ष्माणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्। चतुश्चत्वारिंशत्प्रकृ-तयस्त्विमाः-सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती मनुष्यद्विकं जातिपञ्चकं संहनन-षट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं स्थावरचतुष्कं दुर्भगत्रिकं त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति। तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रत्येकं देशोनलोकः, बादरवायुकायिकानां स्वस्थानस्य देशोनलोकत्वात् स्पर्शनाया अनन्तकालविषयत्वाच्च। तथा 'इयराण' त्ति, नरकद्विकाहारकद्विक-योरिह बन्धाभावादुक्तेतरा नवषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, करणाऽपर्याप्त[सं]ज्ञिनामेवेह तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां च स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येय-भागमात्रत्वात् तेषां मारणान्तिकसमुद्घाताभावाच्च। अथोक्तेतराः प्रकृतयः—एकपञ्चाशद् ध्रुव-बन्धिन्यो भयजुगुप्सयोर्ध्रुवबन्धित्वात् तद्वर्जाः शेषाः सप्त नोकषाया देवद्विकं वैक्रियद्विक-मौदारिकद्विकं [परा]घातोच्छ्वासौ आतपोद्योतनाम्नी जिननाम चेति नवषष्टिरिति ॥१४६॥

अथ वैक्रियकाययोगमार्गणायामाह—

पणणोकसाय-णरदुग-असुहधुवजिणायउच्चाणं।
विउव्वम्मि अट्ठ भागा बारिगवीससुहगाइणपुमाणं ॥१४७॥ (गीतिः)

लोगासंखियभागो तिरिदुगणीत्र्याण अत्थि णवभागा।
एगिंदिथावराणं तेरस भागाऽत्थि सेसाणं ॥१४८॥

(प्रे०) 'पणणोकसाये' त्यादि, वैक्रियकाययोगमार्गणायां भयजुगुप्सयोरशुभध्रुवबन्धिनीष्वन्तर्भावात् स्त्रीनपुंसकवेदयोः पृथग् वक्ष्यमाणत्वाच्च 'पणणोकसाय' त्ति, हास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदाः, मनुष्यद्विकमप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशज्जिननामाऽऽतपनामोच्चैर्गोत्रञ्चेति सर्वसंख्यया त्रिपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् । तथा ' सुहगतिग– सुखगइआगिई–छसघयणा । मज्झिमसठाणित्थी उरलोदग तसपणिदी ॥ दुस्सर-कुखगइ' इति सुभगत्रिकादीनामेकविंशतेः नपुंसकवेदस्य च प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टाः । तत्र षड् ऊर्ध्वलोकसत्का देवानां गमनागमनप्रयुक्ताः, अधोलोकसत्का अपि षट्, ते च सप्तमपृथ्वीनारकाणां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः । तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, सम्यक्त्वाभिमुखाना सप्तमपृथ्वीनारकाणां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां स्वस्थानस्य च यथोक्तमानत्वात् । तथा एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टाः । तत्राऽष्टौ देवानां गमनागमनप्रयुक्ता एकश्चोर्ध्वलोकसत्कस्तेषां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्त एव । तथा 'सेसाण' ति, उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां षड्विंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः । तत्र ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्तेषत्प्राग्भारायां बादरपृथ्वीतयोत्पित्सूनां देवानां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः, अधोलोकसत्काः षड् भागास्तु यथासंभवं संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तयोत्पित्सूनां सप्तमपृथ्वीनारकाणां सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पित्सूनां तिरश्चां वा मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः । उक्तशेषाः षड्विंशतिः प्रकृतयस्त्विमाः–सातवेदनीयादयोऽष्टौ अष्टौ च प्रशस्तध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीरनाम हुंडकसंस्थाननाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी उद्योतनाम बादरत्रिकं दुर्भगनामाऽनादेयनाम चेति ॥१४७-१४८॥

अथ कार्मणाऽनाहारिमार्गणयोराह—

कम्माणाहारेसुं गुणचत्ताग्र परियत्तपरिणामो ।
जाणाऽत्थि सिमखिलजगं पुट्ठं सेसाण सयमुज्झा ॥१४९॥

(प्रे०) 'कम्माणानाहारे 'मित्यादि, कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्ग णोः प्रत्येकं यासामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्य न्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तासां जघन्यरसबन्धकैरखिलं जगत् स्पृष्टम्, सर्वलोकस्तेषां नाविषय इत्यर्थः, सूक्ष्माणामपि तज्जघन्यरसबन्ध त्वात् तेषां च सर्वलोकव्यापित्वात् । एकोनचत्वारिंशत्तु इमाः–'गइदुगुच्चाणि । सघयणागिइछक्कं खगइदुग सुहगदुहगतिग ॥ एगिंदियथावरसुहमविगलतिगे' ति मनुष्यद्विकादय

एकत्रिंशत् सातवेदनीयादयश्चाष्टाविति । तथा 'सेसाण' त्ति, नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोरिह बन्धाभावादुक्तशेषाणां त्रिसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना स्वयमूह्या, तद्विदः सकाशाज्ज्ञात्वेति शेषः । कुत इयमुक्तिर्ग्रन्थकारस्य ? उच्यते—कासाञ्चित् प्रकृतीनां स्वामिविषये मतद्वयस्य सत्त्वेन कासाञ्चित् पुनः तद्विषये सम्यग्निर्णयाभावेन च स्पर्शनाया अनिश्चितत्वात् ॥१४९॥

अथ स्त्रीवेदमार्गणायामाह—

थीए अत्थि फरिसिओ अपसत्थधुवपणणोकसायाणं ।
तित्थाहारदुगविगलजाईणं जगअसंखंसो ॥१५०॥
छुहिआ सत्तरससुहगयाइणपुमणरदुगायवुच्चाणं ।
भागाऽट्ठ पणिंदिय-तस--विउव्व--छक्काण पण भागा ॥१५१॥
उरलुज्जोअजसाणं णव भागा तेरसुहधुवाईणं ।
बार कुसरखगईणं एगारियराण सव्वजगं ॥१५२॥

(प्रे०) 'थीए' इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यस्तथा भयजुगुप्सयोर्ध्रुवबन्धिनीष्वन्तर्भावात् स्त्रीनपुंसकवेदयोः पृथग् वक्ष्यमाणत्वाच्च 'पणणोकसाय' त्ति, हास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदरूपाः पञ्च नोकषाया जिननामाऽऽहारकद्विकं विकलत्रिकञ्चेति सर्वसंख्यया चतुष्पञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयो भागः स्पृष्टः । तत्र अप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यरसस्य यथासंभवं क्षपकैर्गुणाद्यभिमुखैर्मनुष्यैर्वा बध्यमानत्वात् तेषां च स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् क्षपकादीनां मारणान्तिकसमुद्घाताभावाच्च । विकलत्रिकस्य जघन्यरसबन्धकाः संज्ञितिर्यग्मनुष्याः, तेषां विकलत्रिकबन्धकानां स्वस्थानस्य पारभविकोत्पत्तिस्थानस्य च तिर्यग्लोकमात्रत्वेन लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वाद् मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताऽपि स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभाग एवेति भावः । तथा 'सत्तरस' त्ति, 'सुहगतिगसुखगइआगिई-छसघयणा । मज्झिमसठाणित्थी उरलोवग' मिति सप्तदश सुभगत्रिकादयो नपुंसकवेदो मनुष्यद्विकमातपनामोच्चैर्गोत्रञ्चेति द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवीनामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वेन तासां गमनागमनक्षेत्रमाश्रित्य यथोक्तप्रमाणा स्पर्शना । तथा पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम वैक्रियषट्कञ्चेत्यष्टानां प्रत्येकं पञ्च भागाः स्पृष्टाः । तत्र देवद्विकस्य ते तिरश्चीनां मारणान्तिकसमुद्घातेन सहस्रारसुरालये उत्पादमाश्रित्य, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां षण्णां प्रकृतीनां षष्ठनरके तिरश्चीना मारणान्तिकसमुद्-

घातेनोत्पत्तिमाश्रित्येति । तथौदारिकशरीरनामोद्योतनामयशःकीर्तिनाम्नां प्रत्येकं जघन्यरस-बन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टाः, तत्राऽष्टौ देवीनां गमनागमनप्रयुक्ताः, एकश्चेषत्प्राग्भारायामुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्त एव, एकेन्द्रियतयोत्पित्सूनामपि मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तद्बन्धकत्वात् । तथा 'तेरसुह' त्ति, 'सुहधुवबंधी॥ परघूमासा पज्ज पत्तेअ बायर मिति शुभध्रुवबन्ध्यादीनां त्रयोदशानां जघन्यरसबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टाः तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्तेषत्प्राग्भारायां बादरपृथ्वीतयोत्पित्सूनां देवीनां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः, अधोलोक-सत्काश्च ते पञ्च षष्ठपृथ्वीनारकतयोत्पित्सूनां तिरश्चीनां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः । तथा 'सर' त्ति, कुस्वरो दुःस्वरनामेत्यर्थः कुखगतिश्चेति द्वयोः प्रत्येकमेकादशभागाः, पृथ्वीतयो-त्पित्सूनां तद्बन्धाभावात् ऊर्ध्वलोकसत्काः षड्भागा देवीनां गमनागमनप्रयुक्ताः, अधोलोक-सत्काः पञ्च तिरश्चीनां षष्ठनरके उत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः । तथा 'इयराण' त्ति, उक्तेतरासामष्टादशानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, सूक्ष्मैकेन्द्रिय-तयोत्पित्सूनां तिरश्चीनां मानुषीणाञ्च मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धक-त्वात् । इमाश्च ता अष्टादश प्रकृतयः—सातासाते तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनाम हुंडकसंस्थाननाम दुःस्वरस्योक्तत्वात् दुःस्वरवर्जस्थावरनवकं स्थिरनाम शुभनाम नीचैर्गोत्रञ्चेति ॥१५०-१५२॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायामाह—

बार चउतमाईणं पुमम्मि ओघव्व विउव्वछक्कस्स ।
तेरसुहधुवाईणं तेरस इत्थिव्व सेसाणं ॥१५३॥

(प्रे०) 'बार'त्यादि, 'तसवण्णिदी॥ दुस्सर-कुखगइ' इति, चतसृणां त्रसनामादीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टाः, तत्र ऊर्ध्वलोकसत्काः षड् देवानां गमनागमन-प्रयुक्ताः अधोलोकसत्काश्च ते षट् सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पित्सूनां तिरश्चां मारणान्तिकसमुद्घात-प्रयुक्ताः । वैक्रियषट्करूपाणां षण्णां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शनौघवद् भवति । तद्यथा—नरकद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, ते च सप्तमपृथ्व्यां नारकतया जिगमिषूणां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः । तथा 'सुहधुवबंधी॥ परघूमासा पज्ज पत्तेअ बायर' मिति त्रयोदशानां प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकै-स्त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः । तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्तेषत्प्राग्भारायां बादरपृथ्वीतयोत्पित्सूनां मारणा-न्ति दूघातप्रयुक्ता अधोलोकसत्काश्च ते षट् तिरश्चां सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पित्सूनां मारणा-न्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः । । 'सेसाणं' ति, उक्तशेषाणां सप्तनवतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्य-रसबन्धकानां स्पर्शना 'इत्थिव्व' त्ति, अ रोक्तस्त्रीवेदमार्गणावद् भवति । त —स्त्रीवेद-

मार्गणाविवरणे नामग्राहमुक्तानामप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां चतुष्पञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागः । तथा स्त्रीवेदमार्गणाविवरणोक्तानां सुभगत्रिकादीनां द्वाविंशतेरष्टौ भागाः, औदारिकशरीरनामोद्योतनामयशःकीर्तिनामरूपाणां तिसृणां प्रत्येकं नव भागाः, तथा सातवेदनीयादीनामनन्तरोक्तमार्गणाविवरणप्रान्ते नामग्राहं दर्शितानामष्टादशानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः । इत्यादयोऽत्र स्त्रीवेदमार्गणावदेव । ॥१५३॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायां जघन्यरसबन्धकस्पर्शनामाह—

लोगासंखियभागो णपुमे असुहधुवदुजुगलपुमाणं ।
तिरियाहारदुगायवजिणणीआणं भवे छुहिओ ॥१५४॥
सामी णिरयसुरदुगं विणाऽत्थि जाण परियत्तपरिणामो ।
तेसिं गुणुच्चताए सव्वजगं होइ परिपुट्ठं ॥१५५॥
थीए भागाऽड्ढाऽट्ठ परिपुट्ठा सुरदुगस्स पण भागा ।
अत्थि छ भागा पुट्ठा तेत्तीसाअ अवसेसाणं ॥१५६॥

(प्रे०) 'लोगासंखिये'त्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायामप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत् हास्यरती शोकारती पुरुषवेदस्तिर्यग्द्विकमाहारकद्विकमातपनाम जिननाम नीचैर्गोत्रञ्चेति सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, स्वस्थानि[illegible]नां मनुष्यादीनां समुद्घातेनाऽपि लोकाऽसंख्यभागव्यापिनां वा तेषां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां च स्वस्थानस्य समुद्घातक्षेत्रस्य च लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । तद्यथात्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यो हास्यरती पुरुषवेदश्चेति षट्चत्वारिंशतो जघन्यरसबन्धका यथासंभवं क्षपकाः संयमाद्यभिमुखा मनुष्या वा, क्षपकादीनां मारणान्तिकसमुद्घाताभावाद् मनुष्यलोकमात्रवर्तित्वाच्च लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पर्शना । शोकारत्योर्जघन्यरसबन्धकाः संयताः, तेषां चौघवल्लोकासंख्यभागप्रमाणा स्पर्शना ज्ञातव्या । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां जघन्यरसबन्धकाः सम्यक्त्वाभिमुखाः सप्तमपृथ्वीनारकाः, तेषां स्वस्थानं लोकाऽसंख्येयभागमात्रम् । आहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धकाः प्रमत्तत्वाभिमुखाः संयताः, तेषां स्पर्शना ओघवज्ज्ञेया । जिननाम्नो जघन्यरसबन्धका मिथ्यात्वाभिमुखाः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिमनुष्याः, तेषां स्वस्थानं मनुष्यक्षेत्रमेव । [illegible]पनाम्नो जघन्यरसबन्धकाः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः, तेषां स्वस्थानं तिर्यग्लोकः लोकाऽसंख्येयभागरूपः, तद्बन्धकानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि 'विमानगतबादरपृथ्वीतयोत्पित्सूनां तिर्यग्लोकमात्रवर्तित्वेन तेषां

पारभविकोत्पत्तिस्थानस्याऽपि लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्, मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताऽपि लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पर्शनेति। तथा नरकद्विकदेवद्विकयोरन्यथा वक्ष्यमाणत्वात् **'णिरय-दुग विणा'** त्ति, नरकद्विकदेवद्विकवर्जानां यासामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, सूक्ष्माणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्। इमाश्च ता एकोनचत्वारिंशत्प्रकृतयः—सातवेदनीयादयोऽष्टौ 'जरदुगुरुचाणि। संघयणागिइछक्क खगइदुग सुहगदुहगतिग॥१६१। एगिंदिय-थावरसुहमविगलनिगो' ति, स्वामित्वद्वारजघन्यरसबन्धसम्बन्धिप्रकृतिसंग्रहगाथोदिता मनुष्यद्विकादय एकत्रिंशच्च। तथा **'थीए'** त्ति, स्त्रीवेदस्य जघन्यरसबन्धकैरर्धाऽष्टमा भागाः सार्धाः सप्त भागा इत्यर्थः, परिस्पृष्टाः। तत्राधोलोकसत्काः षड् मारणान्तिकसमुद्घातगतैः तिरश्चीतयोत्पित्सुभिः सप्तमपृथ्वीनारकैरूर्ध्वलोकसत्कः सार्धस्तु ईशानदेवीतयोत्पित्सुभिर्मारणान्तिकसमुद्घातगतैस्तिर्यग्भिरिति। तथा देवद्विकस्य पञ्च भागाः, ते च सहस्रारसुरालये उत्पित्सूनां तिरश्चां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः। तथा **'तेवीसाअ'** त्ति, उक्तावशेषाणां त्रयोविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, यथासंभवं सप्तमपृथ्वीनारकाणां तिर्यक्षूत्पित्सूनां संज्ञितिरश्चां सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पित्सूनां वा मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्। इमाश्च तास्त्रयोविंशतिः प्रकृतयः—नपुंसकवेदो नरकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकं पराघातनामोच्छ्वासनाम दुःस्वरनामाष्टौ च प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः त्रसचतुष्कञ्चेति ॥१५४-१५६॥ अथ ज्ञानत्रिकादिमार्गणासु प्रकृतां स्पर्शनामाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु तहुवसमे ।
असुहधुवदुजुगलपुरिससुरविउवाहारजुगलतित्थाणं ॥१५७॥ (गीतिः)
लोगासंखियभागो छुहिओ भागाऽ सेसपयडीणं ।
णवरि जिणस्स वि खइए सुरविउवदुगाण सयमुभ्भा ॥१५८॥

(प्रे०) **'णाणतिगे'** इत्यादि, मत्यादिज्ञानत्रिकमवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः [क्षा]यिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमुपशमसम्यक्त्वञ्चेति अष्टासु मार्गणासु प्रत्येकं पञ्चत्रिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः **'दुजुगल'** त्ति, हास्यरती शोकारती तथा पुरुषवेदो देवद्विकं वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं जिननाम चेति सर्वसंख्यया सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पृष्टः। [कथम्?] उच्यते-तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यरसबन्धका मारणान्ति[कस]मुद्घातमप्राप्ताः स्वस्थानस्थास्तिर्यग्मनुष्याः, तेषां स्वस्थान[रूप]स्य तिर्यग्लोकस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्। अरति[श]ोकयोर्जघन्यरसबन्धकाः प्रमत्तयतयः, तेषां स्वस्थानरूपस्य मनुष्यक्षेत्रस्य पञ्चचत्वारि[ंशल्ल]क्षयोजनप्रमितमात्रत्वेन लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्। तथा **'सेस'** त्ति

उक्तशेषाणां चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, ते च देवानां गमनागमनप्रयुक्ताः, तेषामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः साताऽसाते, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनामोच्छ्वासनाम त्रसदशकमस्थिरनामाऽशुभनामाऽयशःकीर्तिरुच्चैर्गोत्रञ्चेति चतुस्त्रिंशत् । अथात्रैव क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामागतामतिप्रसक्तिं परिहरन्नाह- 'णवरि' इत्यादिना, नवरं क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां जिननाम्नोऽपि जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शनाऽष्टौ भागाः, न तु प्रागुक्तलोकाऽसंख्येयभाग एव । कुतः ? देवानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वाच्च । तथा देवद्विक-वैक्रियद्विकयोर्जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना तु स्वयमूह्या, तज्ज्ञातृसकाशाज्ज्ञातव्येति शेषः । कुतः ? युगलिकतिर्यक्प्राधान्यात् । तद्यथा-यदि युगलिकतिर्यञ्चो मनुष्यलोके संख्येया एव च स्युस्तर्हि तेषां स्वस्थानरूपस्य मनुष्यलोकस्य पारभविकोत्पत्तिस्थानरूपस्य वैमानिकसुरसदनस्य च प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वाल्लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पर्शना । यदि मनुष्यलोकाद् बहिरपि युगलिकतिरश्चां संभवस्ते चाऽसंख्येयास्तर्हि सार्धरज्जुः स्पर्शना, पारभविकोत्पत्तिस्थानरूपस्येशानसुरालयस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेऽपि तिर्यग्लोकरूपस्य स्वस्थानस्यैव रज्जुवृत्तविस्तृतत्वे सति स्वस्थानपारभाविकोत्पत्तिस्थानयोरन्तरालस्य सार्धरज्जुमितत्वात् । किन्त्वत्र दुषमानुभावेन विशेषोपदेशाभावादुक्तं स्वयमूह्येति । ततश्च क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननामवर्जानामप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां द्विचत्वारिंशत एव प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागः, जिननामसहितानां शेषाणां पञ्चत्रिंशतोऽष्टौ भागाः, तथा देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्त्वनन्तरमेव भावितेति ॥१५७-१५८॥ अथ देशविरतिमार्गणायामाह—

देसम्मि पञ्च भागा सायाइचउजुगसोगअरईणं ।
लोगाऽसंखियभागो छुहिओ सेसाण सट्ठीए ॥१५९॥

(प्रे०) "देसम्मि" इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां 'सायाइ' त्ति, साताऽसाते स्थिराऽस्थिरे शुभाऽशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इति चत्वारि युगलानि शोकाऽरती चेति दशानां जघन्यरसबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः, तिर्यक्प्राधान्यात् । किमुक्तं भवति ? यद्यपि देशविरतिमनुष्या आ-अच्युतं स्पृशन्ति मारणान्तिकसमुद्घातप्राप्तास्तथापि तेषां स्वस्थानरूपस्य मनुष्यक्षेत्रस्य पारभविकोत्पत्तिस्थानरूपस्य वैमानिकदेवलोकस्य च प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागत्वाल्लोकाऽसंख्येयभागमात्रा एव स्पर्शना, तिर्यञ्चस्त्वासहस्रारमेवोत्पत्तुं क्षमाः, तानाश्रित्य यथोक्ताः पञ्च रज्जव एव स्पर्शनेति । तथा "सेसाण" त्ति, उक्तशेषाणामिह बन्धप्रायोग्याणां षष्टेः प्रकृतीनां

प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येय एव भागः स्पृष्टः, मिथ्यात्वाद्यभिमुखानामेव तज्जघन्य रसबन्धकत्वाद् मिथ्यात्वाद्यभिमुखानां च स्वभावत एव मारणान्तिकसमुद्घाताऽभावात्तेषां स्वस्थानरूपस्य क्षेत्रस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्च ॥१५९॥

अथ तिसृष्वप्रशस्तलेश्यामार्गणास्वाह--

सामी णिरयसुरदुगं विणाऽत्थि जाण परियत्तपरिमाणो ।
अपसत्थतिलेसासुं सि गुणचत्ताअ सव्वजगं ॥१६०॥
भागा अट्ठ असुहधुवपुरिसदुजुगलायवाण परिपुट्ठा ।
लोगासंखियभागो तिरिसुरदुगतित्थणीआणं ॥१६१॥
णवरं देसूणजगं निरिदुगणीआण णीलकाऊसुं ।
तीसु वि कमसो भागा बारस अड अड णपुमथीणं ॥१६२॥
तेरस एगारस णव कमोरलचउदसमसुहधुवाईणं ।
सेसाणं परिपुट्ठा अत्थि छ चत्तारि दो भागा ॥१६३॥
असुहधुवतिवेअजुगलदुगायवाणं तिअसुहलेसासुं ।
लोगासंखियभागो छुहिओऽत्थि भणन्ति अगणं उ ॥१६४॥
णवरि छ भागाऽत्थि णपुमथीणं किण्हाअ छ चउ दो भागा ।
छुहिआ कमसो चउदससुहधुवबंधिपमुहुरलाणं ॥१६५॥

(प्रे०) 'सामी' त्ति, नरकद्विक देवद्विकयोर्वक्ष्यमाणत्वात्तिसृष्वप्रशस्तलेश्यामार्गणासु प्रत्येकं यासां नरकद्विक-देवद्विकवर्जानामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामस्तासां जघन्यरसबन्धकैः "सव्वजगं" ति, निखिलोऽपि लोकः स्पृष्टः, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । इमाश्च ता एकोनचत्वारिंशत्—सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इत्यष्टौ सातवेदनीयादयः, "णरदुगुच्चाणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुग सुहगदुहगतिग ॥१६१॥ एगिंदियथावरसुहुमविगलतिगे" ति, स्वामित्वद्वारजघन्यरसबन्धसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ता मनुष्यद्विकादय एकत्रिंशच्च । तथा त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः पुरुषवेदो हास्यरती शोकाऽरती आतपनाम चेत्येकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः $\frac{८}{१४}$ भागाः स्पृष्टाः, देवानां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य च यथोक्तमानत्वात् । तथा तिर्यग्द्विकं देवद्विकं जिननाम नीचैर्गोत्रञ्चेति षण्णां प्रत्येकं लोकाऽसंख्येय-

भागः स्पृष्टः। कुतः ? उच्यते-तत्र जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकाः कृष्णनीललेश्ययोः स्वस्थानस्था मनुष्यास्तेषां स्वस्थानरूपस्य मनुष्यक्षेत्रस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् कापोतलेश्यायां तु नारकाः, अतो नरकत्रयस्य जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शनाक्षेत्र लोकासंख्यभागः। तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसं स्वस्थानस्था एव सप्तमपृथ्वीनारकाः कृष्णलेश्यामार्गणायां बध्नन्ति, तेषां स्वस्थानस्य सप्तमनरकरूपस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् नीलकापोतयोस्त्विह व अपवादतो देशोनलोकमितां वक्ष्यति 'णवर' मित्यादिना। तथा देवद्विकस्य बन्धकानां स्वस्थानस्य तिर्यग्लोकमात्रत्वेऽपि प्रस्तुतलेश्यावतां देवतयोत्पित्सूनां भवनपत्यादिष्वेवोत्पत्तिसद्भावेन स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानान्तरालस्य संख्यातयोजनमात्रत्वात् लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पर्शना।

अथ नीलकापोतलेश्यामार्गणयोरतिप्रसक्तिं परिहरति, तद्यथा—'णवरं' ति, नवरं नीलकापोतलेश्यामार्गणयोस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्देशोनो लोकः स्पृष्टः, प्रस्तुतमार्गणयोर्बादरतेजोवायूनामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां बादरवायुकायिकानां स्वस्थानस्य च देशोनलोकत्वात्, सूक्ष्मैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां संक्लिष्टतरत्वेन तज्जघन्यरसबन्धाभावान्न मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता सर्वलोकस्पर्शना इत्यपि ज्ञेयम्। अथाऽतिप्रसक्तिं परिहृत्य प्रकृतं वक्ति—'तासु व" त्ति, तिसृष्वपि कृष्णादिलेश्यामार्गणासु नपुंसकवेदस्त्रीवेदयोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः "कमसो" त्ति, यथाक्रमं द्वादश अष्टौ अष्टौ भागाः स्पृष्टाः। किमुक्तं भवति ? कृष्णलेश्यामार्गणायां द्वादश भागाः स्पृष्टाः, तत्रोर्ध्वलोकसत्काः षड् देवानां गमनागमनप्रयुक्ताः, अधोलोकसत्काश्च षट् सप्तमपृथ्वीनारकाणां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः। कापोतनीललेश्यामार्गणयोः स्त्रीनपुंसकवेदजघन्यरसबन्धकानां मनुष्यगतिप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात् नारकानाश्रित्य लोकासंख्यभागतोऽधिकस्पर्शनाया अलाभात् देवानां गमनागमनक्षेत्रमाश्रित्याष्टरज्जुप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यत इति।

तथा "उरल" त्ति, औदारिकशरीरनाम तथा "चउदस" त्ति, "सुहधुवबंधी॥ परघूसासा पज्ज पत्तेअ बायरं उ उज्जोओ" त्ति, चतुर्दशप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादय एवं पञ्चदशानां जघन्यरसबन्धकैः "कमा" इति क्रमेण कृष्णनीलकापोतलेश्यासु त्रयोदशभागा एकादशभागा नवभागाश्च परिस्पृष्टा भवन्ति। भावना त्वेवम्—कृष्णलेश्यामार्गणायां त्रयोदश भागाः परिस्पृष्टाः, तत्र सप्तोर्ध्वलोकसत्का ईषत्प्राग्भारायां पृथ्वीतयोत्पित्सुभिर्मारणान्तिकसमुद्घातैर्भवनपत्यादिदेवैः स्पृष्टाः, अधोलो त्काः षट् च सप्तमपृथ्वीनारकैर्मारणान्तिकसमुद्घातगतैरिति। नीललेश्यामार्गणायामेकादशभागाः, तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्त कृष्णलेश्यावत्, अधोलोकसत्काश्चत्वारः पञ्चमपृथ्वीनारकैस्तिर्यक्त्वयोत्पित्सुभिर्मारणान्तिकसमुद्घातगतैः स्पृष्टाः, कापोतलेश्यामार्गणायामूर्ध्वलोकसत्काः सप्त गलेश्यावत्, अधोलोकसत्कौ द्वौ पूर्ववत्। तथा "सेसाण" ति,

आहारकद्विकस्याऽत्र बन्धाभावादुक्तशेषाणां सप्तानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः **'कमा'** त्ति, क्रमशः षट् चत्वारो द्वौ च भागौ स्पृष्टौ, यथायोगं नारकाणां तथा नारकतयैवोत्पद्यमानानां मारणान्तिकसमुद्घातगततिर्यग्मनुष्याणां वा तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तत्र षड् भागाः कृष्णलेश्यामार्गणायाम्, चत्वारो भागा नीललेश्यामार्गणायाम्, द्वौ च कापोतलेश्यामार्गणायां प्राग्भावितस्वरूपेण ज्ञेयौ । इमाश्च ताः सप्त प्रकृतयः—पञ्चेन्द्रियजातिः, नरकद्विकम्, वैक्रियद्विकम्, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, त्रसनाम चेति ।

अथाऽत्राऽर्थे मतान्तरं प्रकटयन्नाह-**'असुह'** इत्यादिना, अन्ये महाबन्धकारादय इत्यर्थः तिसृष्वप्यप्रशस्तलेश्यामार्गणासु प्रत्येकमप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशद्धास्यरतिशोकारतिवेदत्रयात्मरूपा अष्टौ चेत्येकपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शनां लोकाऽसंख्येयभागमेव भणन्ति, तत्रापि कृष्णायां स्त्रीनपुंसकवेदद्वयस्य स्पर्शना सप्तमनरकमाश्रित्य षड्रज्जुप्रमाणा प्राप्यते, ततो **'णवरि'** इत्यादिनाऽपवादपदं दर्शयति-**'छ चउ दो'** इत्यादि, औदारिकशरीरनाम प्रागुक्ताः प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादयश्चतुर्दश चेति पञ्चदशानान्तु प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः **'कमा'** त्ति, यथाक्रमं षडादय एव भागाः स्पृष्टाः, तद्यथा—कृष्णलेश्यायां षड्, नीलायां चत्वारः, कापोतलेश्यायां द्वौ भागौ स्पृष्टौ । कुतः ? देवानां पर्याप्ताऽवस्थायामप्रशस्तलेश्याऽनभ्युपगमात् । तेन किम् ? अप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यरसबन्धकस्पर्शना देवानाश्रित्याष्टौ भागाः प्रागुक्ता न भवति, किन्तु सम्यग्दृशः सम्यक्त्वाभिमुखान् वा नारकानेवाश्रित्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रः, सम्यग्दृष्टिनारकाणां यथा स्वस्थानस्य तथैव मनुष्यक्षेत्ररूपस्य -भविकोत्पत्तिस्थानस्याऽपि लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । शेषाणामत्र बन्धप्रायोग्याणां द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्पर्शनाविषये नास्ति किञ्चिदपि मतान्तरम्, देवगतिकस्वामिप्रयुक्तविशेषाऽसम्भवाद् यथा पूर्वमुक्ता तथैवाऽस्मिन्मतेऽपि । स्पर्शना भवतीत्यर्थः ॥१६०-१६५॥ अथ प्रशस्तलेश्यामार्गणास्वाह—

आहारदुगस्स तहा अपसत्थधुवपणोकसायाणं ।
लोगासंखियभागो छुहिओ तीसु सुहलेसासुं ॥१६६॥
सुरविउव्वदुगाण कमा दिवड्ढ-पणभाग-जगअसंखंसो ।
सेसाणं णेया सुरसणंकुमाराणतव्व कमा ॥१६७॥

(प्रे०) ' दु से' त्यादि, ति ार्गणासु प्रत्ये
शस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशद्धास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदाश्चेति प तः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः :, संयतानां सं ाऽभिमुखानां वा यथासम्भवं -

घन्यरसबन्धकत्वेन तेषां स्वस्थानस्य पारभविकोत्पत्तिस्थानरूपस्य देवलोकस्य च प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः **'कमा'** त्ति, क्रमशः सार्धादिभागाः स्पृष्टाः, तद्यथा–तेजोलेश्यामार्गणायां सार्धभागः स्पृष्टः, तिर्यक्प्राधान्यात्तेजोलेश्यावद्भिस्तिर्यग्भिर्मारणान्तिकसमुद्घातगतैरीशानसुरालय यावत्स्पर्शनात् । पद्मलेश्यामार्गणायां पञ्च भागाः स्पृष्टाः, तिर्यक्प्राधान्यात्प्रस्तुतलेश्याकतिर्यग्भिर्मारणान्तिकसमुद्घातप्राप्तैरासहस्रारं स्पर्शनात् । शुक्ललेश्यामार्गणायां लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, स्वस्थानपञ्चेन्द्रियतिरश्चां तथा स्वस्थानसमुद्घातगतमनुष्याणामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वेन तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । ततः किम् ? मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता अपि स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागमात्रा एव । तथा **'सेसाण'** ति, तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामुक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकस्पर्शना क्रमशः ' र' त्ति, देवौघादिवज्ज्ञेया, कुतः ? तासां जघन्यरसबन्धस्य देवस्वामिकत्वात् ।

अथाऽतिदिष्टमेव दर्शयामः, तद्यथा–तेजोलेश्यामार्गणायां 'सुहधुवबधी ॥ परघूसासा पज्ज पत्तेअ बायर च उज्जोओ । जसुरलतिरिदुगथावरएगिंदिय' इति शुभध्रुवबन्ध्यादयो विंशतिः, साताऽसाते, स्थिराऽस्थिरे, शुभाऽशुभे, अयशःकीर्तिः, दुर्भगनाम, अनादेयः, हुंडकसंस्थाननाम चेति त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टाः, तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्त भागा ईषत्प्राग्भारायां पृथ्वीतयोत्पित्सूनां देवानां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता द्वौ चाऽधोलोकसत्कौ देवानां गमनागमनप्रयुक्तौ इति । तथा स्त्रीनपुंसकवेदौ मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं हुंड वर्जसंस्थानपञ्चकं विहायोगतिद्विकमातपनाम जिननाम त्रसनाम सुभगत्रिकं दुःस्वरनाम गोत्रद्विकञ्चेत्यष्टाविंशतेर्जघन्यरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, पृथ्वीतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घाते तज्जघन्यरसबन्धाभावाद्देवानां गमनागमनक्षेत्रस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वाच्च ।

पद्मलेश्यामार्गणायां स्थावरनामैकेन्द्रियजातिरातपनाम चेति तिसृणां बन्धाभावात् स्थावरनामैकेन्द्रियजातिवर्जा अचिरादिहैवोक्ताः शुभध्रुवबन्ध्यादिहुण्डकाऽवसाना अष्टाविंशतिः प्रकृतय आतपवर्जाः स्त्रीवेदादयः सप्तत्रिंशतिश्चेति सर्वसंख्ययोक्तशेषाणां पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकस्पर्शनाऽष्टौ भागाः, पद्मलेश्यावतामेकेन्द्रियेषूत्पादाभावाद्देवानां गमनागमनप्रयुक्तैव स्पर्शना । तथा शुक्ललेश्यामार्गणायां तिर्यग्द्विकोद्योतयोरपि बन्धाभावादुक्तशेषाणां द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः षडेव भागाः स्पृष्टाः, आनतादिदेवानामधोलोके गमनाभावेन तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य षड्रज्जुमात्रत्वात् ॥१६६-१६७॥

अथाऽभव्यमार्गणायामाह–

आहारकद्विकस्याऽत्र बन्धाभावादुक्तशेषाणां सप्तानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः ' ा' त्ति, क्रमशः षट् चत्वारो द्वौ च भागौ स्पृष्टौ, यथायोगं नारकाणां तथा नारकतयैवोत्पद्यमानानां मारणान्तिकसमुद्घातगततिर्यग्मनुष्याणां वा तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तत्र षड् भागाः कृष्णलेश्यामार्गणायाम्, चत्वारो भागा नीललेश्यामार्गणायाम्, द्वौ च कापोतलेश्यामार्गणायां प्राग्भावितस्वरूपेण ज्ञेयौ । इमाश्च ताः सप्त प्रकृतयः—पञ्चेन्द्रियजातिः, नरकद्विकम्, वैक्रियद्विकम्, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, त्रसनाम चेति ।

अथाऽत्राऽर्थे मतान्तरं प्रकटयन्नाह–'असुह' इत्यादिना, अन्ये महाबन्धकारादय इत्यर्थः तिसृष्वप्यप्रशस्तलेश्यामार्गणासु प्रत्येकमप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशद्धास्यरतिशोकारतिवेदत्रयातपरूपा अष्टौ चेत्येकपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शनां लोकाऽसंख्येयभागमेव भणन्ति, तत्रापि कृष्णायां स्त्रीनपुंसकवेदद्वयस्य स्पर्शना सप्तमनरकमाश्रित्य षड्रज्जुप्रमाणा प्राप्यते, ततो 'णवरि' इत्यादिनाऽपवादपदं दर्शयति–'छ चउ दो' इत्यादि, औदारिकशरीरनाम प्रागुक्ताः प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादयश्चतुर्दश चेति पञ्चदशानान्तु प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः ' ा' त्ति, यथाक्रमं षडादय एव भागाः स्पृष्टाः, तद्यथा–कृष्णलेश्यायां षड्, नीलायां चत्वारः, कापोतलेश्यायां द्वौ भागौ स्पृष्टौ । कुतः ? देवानां पर्याप्ताऽवस्थायामप्रशस्तलेश्याऽनभ्युपगमात् । तेन किम् ? अप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यरसबन्धकस्पर्शना देवानाश्रित्याष्टौ भागाः प्रागुक्ता न भवति, किन्तु सम्यग्दृशः सम्यक्त्वाभिमुखान् वा नारकानेवाश्रित्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रः, सम्यग्दृष्टिनारकाणां यथा स्वस्थानस्य तथैव मनुष्यक्षेत्ररूपस्य पारभविकोत्पत्तिस्थानस्याऽपि लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । शेषाणामत्र बन्धप्रायोग्याणां द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्पर्शनाविषये नास्ति किञ्चिदपि मतान्तरम्, देवगतिकस्वामिप्रयुक्तविशेषाऽसम्भवाद् यथा पूर्वमुक्ता तथैवाऽस्मिन्मतेऽपि तासां स्पर्शना भवतीत्यर्थः ॥१६०-१६५॥ अथ प्रशस्तलेश्यामार्गणास्वाह–

आहारदुगस्स तहा अपसत्थधुवपणणोकसायाणं ।
लोगासंखियभागो छुहिओ तीसु सुहलेसासुं ॥१६६॥
सुरविउव्वदुगाण कमा दिवड्ढ-पणभाग-जगअसंखंसो ।
सेसाणं णेया सुरसणंकुमाराणतव्व कमा ॥१६७॥

(प्रे०) ' दु से' त्यादि, ति स्तलेश्यामार्गणासु प्रत्ये

स्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशद्धास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदाश्चेति प तः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः :, संयतानां संयमाऽभिमुखानां वा यथासम्भवं -

घन्यरसबन्धकत्वेन तेषां स्वस्थानस्य पारभविकोत्पत्तिस्थानरूपस्य देवलोकस्य च प्रत्येकं लोकाऽसख्येयभागमात्रत्वात् । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः **'कमा'** त्ति, क्रमशः सार्धादिभागाः स्पृष्टाः, तद्यथा–तेजोलेश्यामार्गणायां सार्धभागः स्पृष्टः, तिर्यक्प्राधान्यात्तेजोलेश्यावद्भिस्तिर्यग्भिर्मारणान्तिकसमुद्घातगतैरीशानयुगलयं यावत्स्पर्शनात् । पद्मलेश्यामार्गणायां पञ्च भागाः स्पृष्टाः, तिर्यक्प्राधान्यात्प्रस्तुतलेश्याकतिर्यग्भिर्मारणान्तिकसमुद्घातप्राप्तैरासहस्रारं स्पर्शनात् । शुक्ललेश्यामार्गणायां लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, स्वस्थानपञ्चेन्द्रियतिरश्चां तथा स्वस्थानसमुद्घातगतमनुष्याणामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वेन तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । ततः किम् ? मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता अपि स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागमात्रा एव । तथा **'सेसाण'** ति, तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामुक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकस्पर्शना क्रमशः **'सुर'** त्ति, देवौघादिवज्ज्ञेया, कुतः ? तासां जघन्यरसबन्धस्य देवस्वामिकत्वात् ।

अथाऽतिदिष्टमेव दर्शयामः, तद्यथा–तेजोलेश्यामार्गणायां 'सुहधुवबंधी ॥ परघूसासा पञ्च पत्तेअ बायर च उज्जोओ । जसुरलतिरिदुगथावरएगिंदिय' इति शुभध्रुवबन्ध्यादयो विंशतिः, साताऽसाते, स्थिराऽस्थिरे, शुभाऽशुभे, अयशःकीर्तिः, दुर्भगनाम, अनादेयः, हुडकसंस्थाननाम चेति त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टाः, तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्त भागा ईषत्प्राग्भारायां पृथ्वीतयोत्पित्सूनां देवानां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता द्वौ चाऽधोलोकसत्कौ देवानां गमनागमनप्रयुक्तौ इति । तथा स्त्रीनपुंसकवेदौ मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं हुंडकवर्जसंस्थानपञ्चकं विहायोगतिद्विकमातपनाम जिननाम त्रसनाम सुभगत्रिकं दुःस्वरनाम गोत्रद्विकञ्चेत्यष्टाविंशतेर्जघन्यरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, पृथ्वीतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घाते तज्जघन्यरसबन्धाभावाद्देवानां गमनागमनक्षेत्रस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वाच्च ।

पद्मलेश्यामार्गणाया स्थावरनामैकेन्द्रियजातिरातपनाम चेति तिसृणां बन्धाभावात् स्थावरनामैकेन्द्रियजातिवर्जा अचिरादिहैवोक्ताः शुभध्रुवबन्ध्यादिहुण्डकाऽवसाना अष्टाविंशतिः प्रकृतय आतपवर्जाः स्त्रीवेदादयः सप्तविंशतिश्चेति सर्वसंख्ययोक्तशेषाणां पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकस्पर्शनाऽष्टौ भागाः, पद्मलेश्यावतामेकेन्द्रियेषूत्पादाभावाद्देवानां गमनागमनप्रयुक्तैव स्पर्शना । तथा शुक्ललेश्यामार्गणायां तिर्यग्द्विकोद्योतयोरपि बन्धाभावादुक्तशेषाणां द्विपञ्चा : प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैः षडेव भागाः स्पृष्टाः, आनतादिदेवानामधोलोके गमनाभावेन तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य षड्रज्जुमात्रत्वात् ॥१६६-१६७॥

अथाऽभव्यमार्गणायामाह–

अभवे बारस भागा अपसत्थधुवगणोकमायाणा ।
विणणाया परिपुट्ठा ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ॥१६८॥

(प्रे०) "अभवे" इत्यादि, अभव्यमार्गणायां त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो हास्यरती शोकारती पुरुषवेदश्चेत्यष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य बन्धकैर्द्वादश भागाः परिस्पृष्टाः, देवानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वेनोर्ध्वलोकसत्काः षड् भागास्तेषां गमनागमनप्रयुक्ताः, अधोलोकसत्काः षड्भागास्तु सप्तमपृथ्वीनारकाणां तथा सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पित्सूनां पर्याप्तसंज्ञितिरश्चां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः । 'सेसाणं' ति, आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावादुक्तशेषाणां नवषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शनौघवद्भवति, तद्यथा—जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः सातवेदनीयादयोऽष्टौ मनुष्यद्विकादय एकत्रिंशच्चेति सर्वसंख्ययैकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, तज्जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वेन सूक्ष्माणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा स्त्रीवेदो नपुंसकवेदः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम चेति पञ्चानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टाः, हेतुरोघवदेवैवमग्रेऽपि, तथा नरकद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यरसबन्धकैः षड् भागाः । देवद्विकस्य जघन्यरसबन्धकैः पञ्च भागाः । औदारिकशरीरनाम प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः शुभध्रुवादयश्चतुर्दशेति पञ्चदशानां जघन्यरसबन्धकैस्त्रयोदश भागाः । आतपनाम्नो जघन्यरसबन्धकैरष्टौ भागाः । तथा तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं चेति तिसृणां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्ट इति ॥१६८॥

अथ मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

देवविउव्वदुगाणं मीसे छुहियो हवेज्ज लोगस्स ।
भागो असंखियतमो फुसिया भागाऽट्ठ सेसाणं ॥१६९॥

(प्रे०) "देवविउव्वे"त्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां जघन्यरसबन्धकैर्लोकस्य ऽसंख्येयतमो भागः स्पृष्टः, मनुष्याणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चाञ्च तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्तिर्यग्लोकरूपस्य तेषां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वान्मारणान्तिकसमुद्घाताभावाच्च । तथा 'सेसाण' ति, उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वाच्च ॥१६९॥ अथ सास्वादनमार्गणायाम्—

सासाणम्मि असुहधुवदुजुगलथीपुरिसणारदुगुच्छाणं ।
अड भागा परिपुट्ठा सुरविउवदुगाण पण भागा ॥१७०॥

अभवे बारस भागा अपसत्थधुवग्गिणोकसायाण ।
विरईया परिपुट्ठा ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ॥१६८॥

(प्रे०) "अभवे" इत्यादि, अभव्यमार्गणायां त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो हास्यरती शोकारती पुरुषवेदश्चेत्यष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य बन्धकैर्द्वादश भागाः परिस्पृष्टाः, देवानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वेनोर्ध्वलोकगताः षड् भागास्तेषां गमनागमनप्रयुक्ताः, अधोलोकसत्काः षड्भागास्तु सप्तमपृथ्वीनारकाणां तथा सप्तमपृथ्वीनारकतयोत्पित्सूनां पर्याप्तसंज्ञितिरश्चां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ताः । 'सेसाणं' ति, आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावादुक्तशेषाणां नवषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शनौघवद्भवति, तद्यथा—जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः सातवेदनीयादयोऽष्टौ मनुष्यद्विकादय एकत्रिंशच्चेति सर्वसंख्ययैकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, तज्जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वेन सूक्ष्माणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा स्त्रीवेदो नपुंसकवेदः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम चेति पञ्चानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टा, हेतुरोघवदेवैवमग्रेऽपि, तथा नरकद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यरसबन्धकैः षड् भागाः । देवद्विकस्य जघन्यरसबन्धकैः पञ्च भागाः । औदारिकशरीरनाम प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः शुभध्रुवादयश्चतुर्दशेति पञ्चदशानां जघन्यरसबन्धकैस्त्रयोदश भागाः । आतपनाम्नो जघन्यरसबन्धकैरष्टौ भागाः । तथा तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं चेति तिसृणां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्ट इति ॥१६८॥

अथ मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

देवविउव्वदुगाणं मीसे छुहिओ हवेज्ज लोगस्स ।
भागो असंखियतमो फुसिआ भागाऽट्ठ सेसाणं ॥१६९॥

(प्रे०) "देवविउव्वे"त्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां जघन्यरसबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयतमो भागः स्पृष्टः, मनुष्याणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चाञ्च तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्तिर्यग्लोकरूपस्य तेषां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वान्मारणान्तिकसमुद्घाताभावाच्च । तथा 'सेसाण' ति, उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् तेषां गमनागमनक्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वाच्च ॥१६९॥ अथ सास्वादनमार्गणायाम्—

सासाणम्मि असुहधुवदुजुगलथीपुरिसणरदुगुच्चाणं ।
अड भागा परिपुट्ठा सुरविउवदुगाण पण भागा ॥१७०॥

रसबन्धकस्पर्शना "तिरियव्व" त्ति, तिर्यग्गत्योघवद्भवति, कुतः ? स्पर्शनाविषयकक्षेत्रस्य तुल्यत्वात् । अथ तिर्यग्गत्योघवदेव दर्शयामः—तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रञ्चेति तिसृणां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्देशोनो लोकः स्पृ :, बादरतेजोवायूनां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्तेषां स्वस्थानस्य देशोनलोकमितत्वाच्च । उद्योतनाम्नो जघन्यरसबन्धकैः सप्त भागाः स्पृष्टाः, ईषत्प्राग्भारायामुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानामपि पञ्चेन्द्रियतिरश्चां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा "सेस" त्ति, आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाऽसम्भवादुक्तशेषाणां त्रिसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं तिर्यग्लोकतदासन्नमात्रत्वात्तस्य च लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । यद्यपि देवद्विकस्य वैक्रियद्विकस्य च जघन्यरसबन्धकानां पारभविकोत्पत्तिस्थानमधोलोकोऽस्ति तथापि देवद्विकजघन्यरसबन्धकानां भवनपत्यादिषूत्पादात्, वैक्रियद्विकजघन्यरसबन्धकानान्तु प्रथमनरक एव उत्पादाच्च, तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरन्तरालस्य स्वल्पमात्रत्वात्, मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता अपि लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पर्शना । उक्तशेषास्त्रिसप्ततिः प्रकृतयस्त्विमाः—पुमचउसजलणभयकुच्छहस्सरई। णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउग च विग्घाणि ॥१५९॥ णव आवरणाणि तइअ-दुइअ-कसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउगसोगारइथीणपुंसाणि ॥१६०॥' त्ति, जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः पुरुषवेदादयः पञ्चाशत् 'णिरयदेवविउवदुग ॥ तस१चिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया ॥१६२॥ सुहधुवबंधिउरलतणुवगा-आयवा'णि'त्ति नरकद्विकादयस्त्रयोविंशतिश्च । इति मार्गणासु सप्तकर्मणा जघन्यरसबन्धकस्पर्शनाप्ररूपणम् ॥१७२-१७३॥

अथ मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्तरप्रकृतीनामजघन्यरसबन्धकस्पर्शनां तत्रैवायुषां जघन्याऽजघन्यरसबन्धकस्पर्शनाश्च चिकथयिषुस्तत्समानवक्तव्यत्वादनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनावदतिदिशन्नाह—

सव्वासु फोसणा खलु अजहण्णरसस्स आउवज्जाणं ।
दुविहरसाणाऊणं अत्थि अतिव्वाणुभागव्व ॥१७४॥

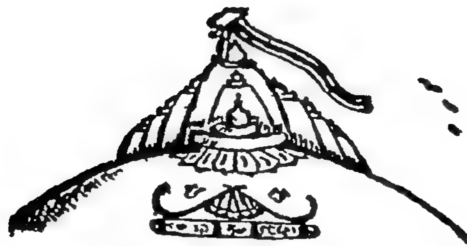
(प्रे०) "सव्वासु" इत्यादि, सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु सर्वासु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धकस्पर्शनाऽनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनेव भवति, तत्तुल्या भवतीत्यर्थः । तथा "दुविह" त्ति, त्रिषष्ट्युत्तरशतलक्षणास्वायुर्बन्धप्रायोग्यासु सर्वासु मार्गणास्वायुषां जघन्यरसबन्धकस्पर्शनाऽजघन्यरसबन्धकस्पर्शना च प्रत्ये नुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनावद्भवति । कुतः ? यावन्तोऽनुत्कृष्टरसबन्धकास्तावन्त एवाऽजघन्यरसबन्धका इति हेतोः, अजघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना सर्वथा तत्तुल्या ॥१७४॥ जघन्यरसबन्धकानां विसदृशत्वेऽपि बहुमार्गणासु समानवक्तव्यत्वात् लाघवार्थमतिदेशोऽनुत्कृष्टरसबन्धकस्पर्शनावत् कृतः ।

तत्र याः काश्चिदतिप्रसक्तयस्तासां नि णायैकामार्यामाह ग्रन्थकारः—

णवरि लहुरसस्स भवे तिरियणराऊण जगअसंखंसो ।
दुपणिंदितसपणमणवयथीपुमविभंगचक्खुसण्णीसुं ॥१७५॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णवरि" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसपर्याप्तत्रसपञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगस्त्रीपुरुषविभङ्गचक्षुःसंज्ञिमार्गणासु तिर्यग्नरायुषोर्जघन्यरसबन्धकैर्लोकासंख्येयभाग एव स्पृष्टः, नत्वनुत्कृष्टरसबन्धकैरिवाष्ट भागाः स्पृष्टाः। कथमिति चेदुच्यते–तिर्यग्मनुष्यायुष्कद्वयं जघन्यरसान्वितं क्षुल्लकभवप्रायोग्यमेव, तच्चोक्तमार्गणासु तिर्यग्मनुजैरेव बध्यते, तेषां च स्वस्थानक्षेत्रं लोकासंख्येयभागमितमत उक्तं 'जगअसंखंसो' इति। अनुत्कृष्टरसान्वितमायुष्कद्वयं तु देवैरपि बध्यते, अतस्तत्र अष्टरज्जुप्रमाणा स्पर्शना, अत्र तु सा लोकासंख्येयभागप्रमाणैव ज्ञेयेति ॥१७५॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने
उत्तरप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे चतुर्दशं
स्पर्शनाद्वारं समाप्तिमगात् ॥



॥ अथ पञ्चदशं कालद्वारम् ॥

गतं स्पर्शनाद्वारम्, समायातश्च क्रमप्राप्तं कालद्वारम्। अत्र हि ओघतो मार्गणासु वा एकोऽनेके वा जीवा विवक्षितप्रकृतेरुत्कृष्टादिरसबन्धं जघन्यत उत्कृष्टतश्च कियच्चिरं नैरन्तर्येण कर्त्तुमर्हन्ति तदेव प्ररूपयिष्यते। तत्रादौ तावदोघत उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्च कालं प्रकटयन्नाह—

तिव्वरसस्स जहण्णो समयो संखाऽत्थि जाण सि जेट्ठो।
संखियसमयाऽण्णेसि आवलिआए असंखंसो ॥१७६॥

(प्रे०) 'तिव्वरसस्से'त्यादि, उत्कृष्टरसबन्धस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामिति गम्यते, जघन्यः काल एकसमयः। कुतः? विवक्षितसमये उत्कृष्टरसबन्धकजीवानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वेनोत्कृष्टरसबन्धस्य सान्तरत्वात्, तेन किम्? कदाचिदेक एव जीवो विवक्षितप्रकृतेः समयमात्रमुत्कृष्टरसं बद्ध्वा विरमति, तदा एकजीवाश्रयकालवद् नानाजीवाश्रयोऽपि कालो जघन्यत एकः समय आयाति। अत्रार्थे इमे नियमा ज्ञातव्या भवन्ति, तद्यथा—यस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यरसबन्धस्य वा एकजीवाश्रयः काल उत्कृष्टतोऽप्येकः समयः संख्येया वा समयाः, विवक्षितोत्कृष्टादिरसबन्धकजीवा असंख्येयलोकेभ्यो न्यूनाश्च, तस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यरसबन्धस्य वा जघन्यः कालो नानाजीवानप्याश्रित्य एक एव समयः, उत्कृष्टादिरसबन्धस्य सान्तरत्वात्। (२) विवक्षितप्रकृतेरुत्कृष्टादिरसबन्धकजीवाः संख्येयास्तर्हि तस्या उत्कृष्टादिरसबन्धस्य काल उत्कृष्टतः संख्येयाः समयाः, एकजीवमाश्रित्योत्कृष्टरसबन्धस्य संख्येयसामयिकत्वात्, उत्कृष्टरसबन्धकानां संख्येयमात्रत्वाच्च। (३) यदि च बन्धका असंख्येयाः किन्त्वसंख्येयलोकेभ्यो न्यूनास्तर्हि आवलिकाऽसंख्येयभागः, एकजीवमाश्रित्य बन्धस्य संख्येयसामयिकत्वात्, विवक्षितरसबन्धकानामुत्कृष्टत आवलिकाऽसंख्येयभागप्रमितानामेव नैरन्तर्येण प्राप्यमाणत्वाच्च। (४) यदि असंख्येयलोकमितास्ततोऽधिका वा तदा सर्वदा निरन्तरं बन्धः प्राप्यते, सर्वाद्धा तद्बन्धकाल इत्यर्थः, तत्प्रायोग्यरसबन्धस्थानेभ्यो विवक्षितरसबन्धकानामसंख्येयगुणत्वादनन्तगुणत्वाद् वा। इमे नियमा आयुर्वर्जसप्तकर्मणामुत्कृष्टजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकं नानाजीवाश्रयजघन्यादिकालबोधनार्थमोघे मार्गणासु च ज्ञेयाः।

'संखाऽत्थि जाणे' त्यादि, यासां संख्येयाः सन्ति, उत्कृष्टरसबन्धका इति प्रकरणगम्यम्, तासां 'जस-सायाणि। उच्चपणिंदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई। सुहधुवबधा-

गिइजिणसुरविउव्वाहारजुगलाणी'ति यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतो देवमनुष्यतिर्यगायुषाञ्चेति सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः संख्येयाः समयाः, उत्कृष्टरसबन्धकानां सङ्ख्येयमात्रत्वात् ।

तथा 'ऽण्णेसि'ति, अन्यासामुक्तातिरिक्तानामेकोननवतेरित्यर्थः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्येयभागः, तदुत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयत्वेऽपि असंख्येयलोकेभ्यो न्यूनत्वात् ॥१७६॥

अथौघत एवानुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्च कालं दर्शयन्नाह—

णिरयणरसुराऊणं अणुक्करसस्स हवए लहू समयो ।
पल्लासंखियभागो जेट्ठो सेसाण सव्वद्धा ॥१७७॥

(प्रे०) 'णिरये' त्यादि, नरकमनुष्यदेवायुष्करूपाणां त्रयाणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, तद्बन्धकानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । 'जेट्ठो' त्ति, तेषामेवानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः पल्योपमासंख्येयभागः, तद्बन्धकानामसंख्येयत्वे सति असंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति, उक्तशेषाणामेकविंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य कालः सर्वाद्धा, तासां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसो नैरन्तर्येण सर्वदा बध्यत एव, तत्प्रकृतिबन्धस्य निरन्तरत्वात् सर्वदाऽनेकेषामेव रसबन्धस्थानानां बध्यमानत्वाच्च ।

अत्र नानाजीवाश्रयाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्याऽजघन्यरसबन्धस्य च कालावगमायेमे नियमा ज्ञातव्याः सन्ति, तद्यथा-(१) या मार्गणा निरन्तरा तत्र स्वप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्याजघन्यरसबन्धस्य च कालः सर्वाद्धा । कुतः ? सप्तकर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धस्य निरन्तरत्वात्, अनेकेषामनुत्कृष्टरसबन्धस्थानानां प्रकृतिबन्धानामिव युगपद् बध्यमानत्वाच्च। नवरमौदारिकमिश्रकार्मणानाहारमार्गणासु देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामबन्धकानां नानाजीवाश्रयकालो जघन्यतः समयप्रमाण उत्कृष्टतः पुनरौदारिकमिश्रेऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः कार्मणानाहारकयोस्तु स संख्यातसमयप्रमाणः, मार्गणानां निरन्तरत्वेऽपि कथितप्रकृतिबन्धकानां सान्तरत्वात् । (२) यदि मार्गणा सान्तरा, तत्र जीवाश्च संख्येया असंख्येया वा तर्हि अनुत्कृष्टादिरसबन्धस्य ज्येष्ठः कालो मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणः । जघन्यकालविषये भावनादि यथास्थानं तत्रैव करिष्यते ।

आयुषां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टादिरसबन्धकालस्त्वेवं निर्णीयते -ओघे मार्गणासु च चतुर्णामप्यायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एक एव समयः, उत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात्। अथ चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः—यदि विवक्षितायुष

उत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयास्तर्हि तदुत्कृष्टरसबन्धकाल उत्कृष्टतः संख्येयाः समयाः, एकजीवमाश्रित्योत्कृष्टरसबन्धस्य संख्येयसामयिकत्वादुत्कृष्टरसबन्धकानां संख्येयमात्रत्वाच्च । (२) यदि तेऽसंख्येयास्तर्हि आवलिकाऽसंख्येयभागः, एकजीवमाश्रित्य बन्धस्य संख्येयसामयिकत्वात्, विवक्षितरसबन्धकानामुत्कृष्टत आवलिकाऽसंख्येयभागप्रमितानामेव युगपत् प्राप्यमाणत्वात् विवक्षितरसबन्धस्थानस्य क्रमप्रायोग्यत्वेनावलिकासंख्येयभागात् परतोऽबध्यमानत्वाच्च, असंख्येयलोकमितास्ततोऽधिका वा उत्कृष्टरसबन्धकाः कस्याप्यायुषो न सन्ति, ततः सर्वाद्धोत्कृष्टरसबन्धकालः कस्याप्यायुषो न भवति ।

तथा (१) तिर्यगायुर्वर्जायुष्काणामनुत्कृष्टादिरसबन्धस्य जघन्यः कालो यावानेकजीवाश्रयस्तावानेव नानाजीवाश्रयोऽपि भवति, तत्प्रकृतिबन्धस्य सान्तरत्वेनैकादेरपि बन्धकस्योपलम्भात् । उत्कृष्टकालस्तु जीवा यदि संख्येयास्तर्हि अन्तर्मुहूर्त्तम्, नानाजीवानाश्रित्य प्रकृतिबन्धस्योत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वात् । जीवा असंख्येयास्तर्हि अनुत्कृष्टरसबन्धकाल उत्कृष्टतः पल्योपमाऽसंख्येयभागः, नानाजीवानप्याश्रित्य तत्प्रकृतिबन्धस्योत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात् । तदपि कुतः ? बन्धकानामसंख्येयलोकेभ्यो न्यूनत्वादेकजीवमाश्रित्य बन्धकालस्योत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वाच्च । अथ तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य कालः—यत्र जीवा असंख्येयलोकेभ्यः स्तोकास्तत्र यावानेकजीवाश्रयो जघन्यकालस्तावानेव स नानाजीवाश्रयोऽपि, नानाजीवानप्याश्रित्याऽऽयुर्बन्धस्य सान्तरत्वात् । उत्कृष्टतः कालस्तु यत्र बन्धकजीवा असंख्येयास्तत्र पल्यासंख्यभागप्रमाणः, यत्र संख्येया एव जीवास्तत्र तु सोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो ज्ञातव्यः । यत्र तु जीवा असंख्येयलोकमितास्ततोऽधिका वा तत्र तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकालः सर्वाद्धा, नानाजीवानाश्रित्य तत्प्रकृतिबन्धस्य निरन्तरत्वात् । इत्योघतोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्योत्कृष्टकालयोः प्ररूपणम् ॥१७७॥ अथ मार्गणासूत्कृष्टादिरसबन्धस्योत्कृष्टादिकालं दिदर्शयिषुरादौ न्मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्च कालं दर्शयन्नाह—

तासु दुतीसाअ भवे तिव्वणुभागस्स आउवज्जाणं ।
सि सव्वद्धा कालो जासु जाणाऽट्ठमो भंगो ॥१७८॥
णेयो एगिदिय-तव्बायरतप्पज्जगेसु ओघव्व ।
उज्जोअस्स जहण्णो समयो सेसाण सव्वेसि ॥१७९॥

(प्रे०) ' ' इत्यादि, 'जा '' ति, यासु ैकेन्द्रियौघादिषु मार्गणासु 'जाण' त्ति, यासां प्रकृतीनामनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इतिरूपोऽष्टमो भङ्गः, उत्कृष्ट न्धभङ्ग -

पणावसरे प्ररूपित इति शेषः, तासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु आयुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसस्य बन्धकालः सर्वाद्धा । कुतः ? तदुत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयलोकमितत्वादानन्त्याद् वा । अथ काश्च ता द्वात्रिंशन्मार्गणाः ? काश्च ताः प्रकृतयः ? यासामुत्कृष्टरसबन्धस्य कोऽष्टम एव भङ्गः । तदेव दर्शयामः सूक्ष्मैकेन्द्रियसत्कास्त्रयो भेदाः, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियः, सप्त निगोदभेदाः, पृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य सूक्ष्मसत्का द्वादश भेदाः, अपर्याप्तबादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कम्, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, वनस्पतिकायौघः, एकेन्द्रियौघः, बादरैकेन्द्रियौघः, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियश्चेति द्वात्रिंशन्मार्गणाः । एकेन्द्रियौघादिमार्गणात्रयवर्जासु इहोक्तासु एकोनत्रिंशन्मार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽष्टम एव भङ्गः, तेन सर्वासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसस्य बन्धकालः सर्वाद्धा प्राप्यते ।

एकेन्द्रियौघः, बादरैकेन्द्रियौघः, पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय इति तिसृषु मार्गणासूद्योतवर्जानां बन्धार्हाणां दशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याऽष्टमो भङ्गः । उद्योतनाम्नो वर्जनन्तु तदुत्कृष्टरसबन्धस्य बादरपर्याप्ततेजोवायुकायस्वामित्वेन चतुर्थादिभङ्गत्रयप्रतिपादनात् ।

'णेयो' इत्यादि, एकेन्द्रियौघः,बादरैकेन्द्रियौघः, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियश्चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकमुद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकाल ओघवद् भवति, तद्यथा—जघन्यः काल एकः समयः, तदुत्कृष्टरसबन्धस्य सान्तरत्वात् । उत्कृष्टः काल आवलिकाऽसंख्येयभागः, तदुत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयत्वेऽपि असंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् ।

अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह--**'सेसासु'** त्ति, उक्तशेषास्वष्टात्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामेकैकस्या उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः, उत्कृष्टरसबन्धस्य सान्तरत्वात् अनन्तरोक्तगाथाद्वये द्वात्रिंशन्मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकालस्य सर्वाद्धादितयोक्तत्वात् ॥१७८-१७९॥

अथाऽष्टात्रिंशदुत्तरशतमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालं दर्शयन्नाह--

जाणऽत्थि बंधगा खलु संखेज्जा ताण होइ उक्कोसो ।
संखियसमयाऽण्णेसि आवलिआए असंखंसो ॥१८०॥

(प्रे०) **'जा०'** त्ति, यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, तासामुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रय उत्कृष्टः कालः संख्येयाः समयाः, एकजीवमाश्रित्योत्कृष्टरसबन्धस्य संख्येयसामयिकत्वात् सर्वेषामुत्कृष्टरसबन्धकानां संख्येयमात्रत्वाच्च । तथा **'अण्णेसिं'** ति, अन्यासां यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः तासां प्रकृतीनामित्यर्थः, प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल आवलिकाऽसंख्येयभागः, आवलिकाऽसंख्येयभागप्रमितानामेवोत्कृष्टरसबन्धकानां नैरन्तर्येण प्राप्यमाणत्वात् । अथ कस्यां मार्गणायां कस्याः प्रकृते-

रुत्कृष्टरसस्य बन्धकालः संख्येयाः समयाः, कस्यां कस्याश्च सोऽसंख्येयाः समयाः ? तमेव दर्शयामः—पञ्चेन्द्रियौघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचोयोगाः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, त्रयो वेदाः, चत्वारः कषायाः, चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुर्दर्शनम्, भव्यः, संज्ञी, आहारी चेति अष्टाविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं स्वामित्वद्वारोत्कृष्टरसबन्धसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामेकैकस्या उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः संख्येयाः समयाः, तद्बन्धकानां संख्येयमात्रत्वात्। इमाश्च ता यशःकीर्तिनामादयो द्वात्रिंशत्प्रकृतयः—'जस सायाणि ॥२७॥ उच्चपणिंदितसचउउगपरघूसाससुखगइपणथिराई। सुरधुवबवाणिइजिणसुरविउवाहारजुगलाणि ॥२८॥ इति।

शेषाणामष्टाशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्येयभागः, तन्निर्वर्तकानामसंख्येयत्वेऽपि असंख्येयलोकेभ्योऽल्पतरत्वात्। तथा त्रीणि ज्ञानानि अवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं क्षायिकसम्यक्त्वमुपशमसम्यक्त्वञ्चेति अष्टासु मार्गणासु यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः पूर्ववत्। शेषाणामेकोनपञ्चाशत उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल आवलिकाऽसंख्येयभागः हेतुः पूर्ववत्। औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामाहारकद्विकस्य बन्धाभावात् पूर्वोक्तानां यशःकीर्तिनामादीनां त्रिंशतः संख्येयाः समयाः, हेतुः प्राग्वत्। तथेह बन्धार्हाणां शेषाणां षडशीतेः प्रकृतीनामावलिकाऽसंख्येयभागः।

कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोः प्रत्येकं देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः संख्येयाः समयाः। शेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनामावलिकाऽसंख्येयभागः। मिथ्यात्वम् त्रीण्यज्ञानानीति चतसृषु मार्गणासु यशःकीर्तिनामादीनां पञ्चविंशतेर्देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्चोत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः संख्येयाः समयाः। शेषाणामष्टाशीतेस्तु आवलिकाऽसंख्येयभागः। देशविरतिमार्गणायां यशःकीर्तिनामादीनां त्रिंशतः संख्येयाः समयाः। शेषाणां चत्वारिंशत आवलिकाऽसंख्येयभागः। अयतमार्गणायां सर्वं देशविरतिवत्, नवरं शेषाणामष्टाशीतेरिति ज्ञेयम्। तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोर्यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः संख्येयाः समयाः, शेषाणां क्रमेणाशीतेः सप्तसप्ततेः प्रकृतीनामावलिकाऽसंख्येयभागप्रमाण उत्कृष्टकालो बोद्धव्यः। शुक्ललेश्यामार्गणायां यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिं: प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः संख्येयाः समयाः। शेषाणां चतुःसप्ततेरावलिकाऽसंख्येयभागः। अपर्याप्तवर्जत्रिमनुष्यमार्गणाः, सर्वार्थसिद्धिकसुरः, आहार न्मिश्रकाययोगौ, अवेदः, मनःपर्यवज्ञानम्, संयमौघः, सामायिकचारित्रम्, छेदोपस्थापनीयम्, परिहारविशुद्धिकम्, सूक्ष्मसंपरायश्चेति त्रयोदशसु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामेकैकस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः संख्येयाः समयाः। वैक्रियमिश्रकाययोगः

कृष्णलेश्या नीललेश्या चेति तिसृषु प्रत्येकं जिननाम्नः संख्येयाः समयाः । शेषाणां तत्तन्मार्गणा-बन्धार्हाणां प्रकृतीनां प्रत्येकमावलिकाऽसङ्ख्येयभागः । अष्टौ नरकभेदाः, पञ्च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-भेदाः, अपर्याप्तमनुष्यः, सर्वार्थसिद्धवर्जदेवभेदा एकोनत्रिंशत्, नवविकलाक्षाः, अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियः, ओघपृथ्व्यादिकायचतुष्कम्, बादरौघपृथ्व्यादिकायचतुष्कम्, बादरपर्याप्तपृथ्व्यादि-कायचतुष्कम्, प्रत्येकवनस्पतिकायौघः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, अपर्याप्तत्रसकायः, वैक्रिय-काययोगः, कापोतलेश्या, अभव्यः, मिश्रदृष्टिः, सास्वादनमसंज्ञी चेति चतुःसप्ततौ मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामेकैकस्या उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्येय-भागः ॥१८०॥ अथ मार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यादिकालं दिदर्शयिषुरादौ तावद-पर्याप्तमनुष्यसास्वादनमार्गणयोराह—

अगुरुरसस्स जहराणो अपज्जणरसासणेसु समयोऽत्थि ।
आउगवज्जाण गुरू पल्लस्स भवे असंखंसो ॥ १८१ ॥

(प्रे०) 'अगुरुरसस्स' इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सास्वादनमार्गणायाञ्च प्रत्येकं स्वप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनामेकैकस्या अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, भावनैकजीवाश्रयकालवत् कार्या । उत्कृष्टकालः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागः, मार्गणागतजीवा-नामसंख्येयत्वे सति मार्गणायाः सान्तरत्वे सति च तस्या नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य ताव-न्मितत्वात् ॥१८१॥ अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामाह—

सुरविउवदुगजिणाण भिन्नमुहुत्तं खणो बुरलमीसे ।
हस्सो भिन्नमुहुत्तं जेट्ठो सेसाण सव्वद्धा ॥ १८२ ॥

(प्रे०) "सुरविउव" इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विक-जिननामरूपाणां पञ्चानां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, तद्बन्धक-जीवानां संख्येयत्वे सति सम्यग्दृष्टिविशिष्टायाः प्रस्तुतमार्गणायाः सान्तरत्वात्, ततः किम् ? कदाचिदेकस्याऽपि अन्तोमार्गणायां सम्भवेन यावानेकजीवाश्रयः कालस्तावान् नानाजीवा-श्रयोऽपि जघन्यतः प्राप्यते । "खणो व' त्ति, मतान्तरेण जघन्यकाल एकसमयः, अस्मिन् मते स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्याऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवात् । ततः किम् ? उत्कृष्ट-रसबन्धद्वयान्तराले समयमात्रमनुत्कृष्टरसबन्धो भवितुमर्हति । तथा उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, सम्यग्दृष्टिविशिष्टायाः प्रस्तुतमार्गणाया उत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वात् । तथा "सेसाण स० ।" त्ति, उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य कालः सर्वाद्धा, मार्गणाया निरन्तरत्वात् मिथ्यादृशामपि तद्बन्धकत्वाच्च ॥१८२॥

अथ वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामाह—

धुवबंधिउरालियजिणपरघाऊसासबायरतिगाणं　　।
हस्सो विउव्वमीसे समयो अहवा मुहुत्तंतो ॥ १८३ ॥
सेसाण होइ समयो जिणस्स जेट्ठो भवे मुहुत्तंतो ।
पल्लासंखियभागो विरणोयो सेसपयडीणं ॥ १८४ ॥

(प्रे०) "धुवबंधि" इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां ध्रुवबन्धिन्य एकपञ्चाशत् औदारिकशरीरनाम जिननाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम बादरत्रिकञ्चेति अष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, मार्गणायाः सान्तरत्वात् मार्गणाजघन्यकायस्थितेरान्तर्मुहूर्त्तिकत्वेऽपि उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयमनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनाच्च । कुतस्तत् ? स्वस्थानविशुद्ध्यादेरपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवात् । "अहवा मुहुत्तंतो" त्ति, मतान्तरेण जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, एकमपि जीवमाश्रित्य मार्गणाया आन्तर्मुहूर्त्तिकत्वात्, अस्मिन्मते मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगमाच्च । तथा "सेसाण" त्ति, उक्तशेषाणामत्र बन्धप्रायोग्याणामष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयः,एकजीवाश्रयप्रकृतिबन्धजघन्यकालस्य तावन्मात्रत्वात् मार्गणायाः सान्तरत्वाच्च । किमुक्तं भवति ? या सान्तरमार्गणा तस्यां विवक्षितप्रकृतेरनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकजीवमाश्रित्य यावान् जघन्यः कालः तावानेव नानाजीवानप्याश्रित्याऽऽयातीति नियमात् । तथा "जिणस्स जेट्ठो" त्ति, जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, मनुष्येभ्य आगतानां सम्यग्दृशामेव तद्बन्धकत्वात् तादृक्सम्यग्दृष्टिविशिष्टायाः प्रस्तुतमार्गणायाः कायस्थितेरुत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वात् । तथा "सेस" त्ति, जिननामवर्जमार्गणाबन्धप्रायोग्याणां सर्वासां पञ्चोत्तरशतलक्षणानां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः पल्योपमासङ्ख्येयभागः, मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् ॥१८३-१८४॥ अथाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराह—

आहारदुगे समयो सव्वाण लहू गुरू मुहुत्तंतो ।
अहवा दुविहो मीसे तेरहसायाइवज्जाणं ॥ १८५ ॥

(प्रे०) 'आहारदुगे' इत्यादि, आहारककाययोग आहारकमिश्रकाययोग इति मार्गणयोः प्रत्येकम् 'सव्वाण' त्ति, बन्धार्हाणां षट्षष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः, एकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालस्य तावन्मितत्वात् मार्गणायाश्च सान्तरत्वात् । तथा ' ' त्ति, उत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, नानाजीवानधिकृत्यापि मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरान्त-

र्मुहूर्तिकत्वात् । अथाऽऽहारकमिश्रे मतान्तरेण दर्शयति–'अहवे'त्यादिना, वाकारो मतान्तरद्योतकः, ततो मतान्तरेणाऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती जिननाम चेति सातादयस्त्रयोदश तद्वर्जानां त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनामित्यर्थः 'दुविहो' त्ति, जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तम्, अस्मिन् मते मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टरसबन्धाऽभ्युपगमात् जघन्योऽपि कालोऽन्तर्मुहूर्तमेवाऽस्ति, नत्वेकः समय इति भावः । सातवेदनीयादीनान्तु परावर्त्तमानत्वात् जघन्यत एकः समयोऽनुत्कृष्टरसस्य बन्धकालः प्राप्यते । जिननाम्नस्तु समयः, मार्गणाचरमसमये समयमात्रं बन्धं कृत्वा मार्गणापरित्यागादिति ॥१८५॥

अथ कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोराह—

कम्माणाहारेसुं देवविउव्वदुगजिणाण होइ लहू ।
समयो संखियसमया जेट्ठो सेसाण सव्वद्धा ॥१८६॥

(प्रे०) 'कम्माणाहारेसु'मित्यादि, कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारिमार्गणायाञ्च प्रत्येकं देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः, सम्यग्दृशामेव तद्बन्धकत्वात् सम्यग्दृष्टिविशिष्टायाः प्रस्तुतमार्गणायाः सान्तरत्वात् एकजीवाश्रयजघन्यकालस्य समयमात्रत्वाच्च । तथा 'जेट्ठो' त्ति, उत्कृष्टकालः संख्येयाः, समयाः, एकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य संख्येयसामयिकत्वात् तद्बन्धकानां संख्येयत्वाच्च । तथा 'सेसाण' त्ति, उक्तशेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य कालः सर्वाद्धा, मार्गणाया निरन्तरत्वात् ॥१८६॥ अथाऽपगतवेदे सूक्ष्मसंपरायमार्गणायाश्चाह—

अवगयवेए सुहुमे सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
समयो अत्थि जहण्णो भिन्नमुहुत्तं भवे जेट्ठो ॥ १८७॥

(प्रे०) 'अवगयवेए' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायाञ्च स्वप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, मार्गणाजघन्यकालस्यैकसामयिकत्वात् । तथा 'जेट्ठो' त्ति, उत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तम्, नानाजीवानप्याश्रित्य रसबन्धकविशिष्टायाः प्रस्तुतमार्गणाया उत्कृष्टकालस्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वात् । अत्र हेतौ रसबन्धकविशिष्टेति विशेषणन्तु अपगतवेदे एव देयम्, न तु सूक्ष्मसंपरायेऽपि व्यवच्छेद्याभावादिति ॥१८७॥ अथ च्छेदोपस्थापनीयमार्गणायामाह—

छेअम्मि सयं णेयो सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।

हस्सो जेट्ठो अयरा पणासा लक्खकोडीओ ॥ १८८ ॥

(प्रे०) 'छेअम्मि' इत्यादि, छेदोपस्थापनीयमार्गणायां मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः स्वयं ज्ञेयः, तज्ज्ञातृसकाशात् । मूलकारस्याऽस्या उक्तेर्बीजन्तु मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थगतप्रस्तुतद्वाराज्ज्ञेयम् । तथा 'जेट्ठो' त्ति, उत्कृष्टः कालः सागरोपमाणां पञ्चाशल्लक्षकोट्यः, नानाजीवाश्रयमार्गणाकालस्य यथोक्तमानत्वात् ॥१८८॥ अथ परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायामाह–

परिहारे सयमुज्झो सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
हस्सो णेयो जेट्ठो देसूणा पुव्वकोडी दो ॥ १८९ ॥

(प्रे०) 'परिहारे' इत्यादि, स्वप्रायोग्याणामष्टषष्टिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालः स्वयमेवागमज्ञातृसकाशाद् विज्ञेयः । ग्रन्थकारस्यानिर्देशे हेतुस्तु मार्गणागतानां जघन्यपदगतजीवानां परिमाणस्य सम्यगनवबोधो नानामतान्तराणि वा । 'जेट्ठो' इत्यादि, ज्येष्ठः कालः प्रस्तुतमार्गणायां देशोनपूर्वकोटिद्वयप्रमाणः, नानाजीवानधिकृत्य मार्गणोत्कृष्टकालस्य तावन्मितत्वात् ॥१८९॥ अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायामाह–

सुरविउवाहारजुगलबारससायाइगाणुवसमंमि ।
समयो अत्थि जहण्णो अवसेसाणं मुहुत्तंतो ॥ १९० ॥
तित्थाहारदुगाणं भिन्नमुहुत्तं हवेज्ज उक्कोसो ।
पल्लासंखियभागो सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥ १९१ ॥

(प्रे०) 'सुरविउव'इत्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकं वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं सातवेदनीयादयो द्वादश चेत्यष्टादशप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयः, यदा कश्चिदुपशमश्रेणेः प्रतिपतन् समयं बद्ध्वा कालं करोति तदा एकजीवमाश्रित्य नानाजीवाश्रयोऽपि जघन्यकाल एकसमयः प्राप्यते, मार्गणायाः सान्तरत्वेन कदाचिदेकस्यैव जन्तोर्मार्गणायां सद्भावात् । सातवेदनीयादीनां द्वादशानान्तु बन्धस्य परावर्त्तमानत्वादेवैकसमयः । तथा "अवसेसाण" इति, उक्तावशेषाणां त्रिषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तम्, एकजीवाश्रयाया मार्गणाजघन्यकायस्थितेस्तावन्मात्रत्वात् । तथा जिननामाऽऽहारकद्विकरूपाणां तिसृणां प्रत्येकं नानाजीवाश्रयोत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, बन्धकानां संख्येयत्वात् मार्गणायाश्च सान्तरत्वात् । तथा "सेसाणं" ति, स्वप्रायोग्याणामष्टसप्ततेः प्रकृतीन

प्रत्येकं पल्योपमाऽसंख्येयभागः, बन्धकानामसंख्येयत्वे सति मार्गणायाः सान्तरत्वात् । ततः किम् ? नानाजीवाश्रयाया अपि मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेस्तावन्मात्रत्वात् ॥१९०-१९१॥

अथ मिश्रदृष्टिमार्गणायामाह—

सायाइबारसण्हं समयो मीसम्मि होअइ जहरणो ।
णायव्वो सेसाणं छाअट्ठीए मुहुत्तंतो ॥ १९२ ॥
पल्लासंखियभागो उक्कोसो होइ सव्वपयडीणं ।
सेसासु सव्वद्धा सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥ १९३ ॥

(प्रे०) "सायाइ" इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां सातवेदनीयादीनां द्वादशानां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयः, मार्गणायाः सान्तरत्वात्, यथा एकजीवाश्रयः समयमात्रः कालस्तथा नानाजीवाश्रयोऽपि । तथोक्तशेषाणां षट्षष्टेः प्रत्येकमन्तमुहूर्तम्, अत्र हेतुरनन्तरोक्त एव । तथा "उक्कोसो" त्ति, मार्गणाबन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः पल्योपमाऽसंख्येयभागः, नानाजीवानाश्रित्य मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेस्तावन्मितत्वात् । अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह -"सेसासु" ति. उक्तशेषासु षट्पञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य कालः सर्वाद्धा, मार्गणाया निरन्तरत्वात् । इमाश्च ता उक्तशेषा मार्गणाः--सर्वा नरकमार्गणास्ताश्चाष्टौ, सर्वास्तिर्यङ्मार्गणास्ताश्च पञ्च, अपर्याप्तमनुष्यवर्जास्त्रयो मनुष्यभेदाः, सर्वे देवभेदास्ते च त्रिंशत्, इन्द्रियभेदा एकोनविंशतिः, द्विचत्वारिंशत् कायभेदाः, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचनयोगाः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, वैक्रियकाययोगः, त्रयो वेदाः, चत्वारः कषायाः, चत्वारि ज्ञानानि, त्रीण्यज्ञानानि, संयमौघः, सामायिकचारित्रम्, देशविरतिः, अयतमार्गणा, त्रीणि दर्शनानि, षड्लेश्याः, भव्याभव्यौ, सम्यक्त्वौघः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम्, क्षायिकसम्यक्त्वम्, मिथ्यात्वम्, संज्ञी, असंज्ञी, आहारी चेति षट्पञ्चाशदुत्तरशतं मार्गणानाम् ॥१९२-१९३॥

अथो मार्गणास्वायुषां नानाजीवाश्रयं रसबन्धकालं प्रचिकटयिषुरादौ तावदुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालं प्रकटयन्नाह----

सव्वासु मग्गणासुं तिव्वरसभागस्स बंधगाण भवे ।
हस्सो कालो समयो सप्पाउग्गाण आउण ॥ १९४ ॥

(प्रे०) "सव्वा" इत्यादि, सर्वासु त्रिषष्ट्युत्तरशतलक्षणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणामायुषामुत्कृष्टरसस्य बन्धकानां बन्धकस्य बन्धाविनाभावित्वाद् बन्धस्येत्यर्थः, 'हस्सो' त्ति, जघ-

न्यकालः समयः, उत्कृष्टरसबन्धस्य कादाचित्कत्वात् एकजीवाश्रयवद्नानाजीवाश्रयोऽपि जघन्यकाल एक एव समयः, यतो नानाजीवानप्याश्रित्य कदाचिदेकोऽपि उत्कृष्टरसबन्धकः प्राप्यते, स्तमाश्रित्याऽनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसमयमुत्कृष्टरसबन्ध उपलभ्यत इति ॥१९४॥

अथोत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः—

जाणऽत्थि बंधगा खलु संखेज्जा ताण होइ उक्कोसो ।
संखियसमयाऽणोसि आवलिआए असंखंसो ॥ ११५ ॥

(प्रे०) 'जाण' इत्यादि, यासु मार्गणासु यासाम ष्कप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्   ः संख्येयास्तासु प्रत्येकं तासामुत्कृष्टरसबन्धस्य 'उक्कोसो' त्ति, उत्कृष्टः कालः संख्येयाः समयाः, उत्कृष्टरसबन्धस्थानस्यैकमात्रत्वात् विवक्षितैकरसबन्धस्थानस्य बन्धप्रायोग्यजीवानां संख्येयत्वेनोत्कृष्टतः संख्येयसमयान् यावदेव बध्यमानत्वाच्च । तथा ' सिं' अन्यासां यासामायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टर न्धका असंख्येया इत्यर्थः, तासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्य काल आवलिकाऽसंख्येयभागः, त्रसप्रायोग्यायुष्कबन्   नामेवाऽऽयुरुत्कृष्टर   न्धकत्वात्, उत्कृष्टरसबन्धस्थानस्यैकत्वात् त्रसप्रायोग्यविवक्षितरसबन्धस्थानस्योत्कृष्टतोऽप्यावलि   ऽसंख्येयभागगतसमयान् यावदेव बध्यमानत्वाच्च ।

अथ   यां मार्गणायां कस्या आयुष्कप्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः संख्येयाः समयाः,   आवलिकाऽसंख्येयभागः ? तमेव स्थापनाद्वारेण दर्शयामः—

सं०	मार्गणा	सं०	कस्य ?	उत्कृष्टकालः	[illegible] ?
१४	पञ्चेन्द्रियौघ., पर्या पञ्चे, . ओघ., पर्या त्रसकाय, पञ्च मनोयोगा, पञ्च वचोयोगा, काययोगौघः, औदा का, त्रयो वेदा, चत्वार कषाया, ज्ञानानि, अयत, अचक्षुर्द, चक्षुर्द, भव्याभव्यौ, मिथ्या, संज्ञी, आहारी ।	१	नरकायुष ।	आवलि० अस० ।	तदुत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयत्वात् ।
		३	त्रयाणाम् ।	ेया समया. ।	तदुत्कृष्टरसबन्धकाना संख्येयमात्रत्वात् ।
७	अपर्याप्तवर्जा तिर्यग्भेदा ४, अप्रशस्तलेश्याः ३ ।	२	तिर्यग्मनुष्यायुषोः ।	"	"
		२	देवनारका ोः ।	आवलि० ० ।	तदुत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयत्वात् ।

स०	मार्गणा	स०	कस्य ?	उत्कृष्टकाल	कुत ?
१८	मनुष्यौघ, पर्या मनुष्य०, मानुषी, आनतादिदेवभेदा १८ आहा० का, आहा० मिश्र, ज्ञानानि चत्वारि, संयमौघान्य-श्चत्वार' संयमा, देशविरति०, अवधिद०, शुक्लले०, सम्यक्त्वौघ, क्षायिक, क्षायोप०, सास्वादनम् ।		तत्तन्मार्गणा बन्धार्हाणां प्रत्येकम् ।	संख्येया समया ।	तदुत्कृष्टरसबन्धकानां संख्येयमात्रत्वात् ।
२	तेज.पद्मलेश्ये ।	१	तिर्यगायुष ।	आवलि० असं० ।	तदु० असंख्येयत्वात् ।
		२	देवमनुष्यायुषो ।	संख्येय। समया।	तदु० संख्येयमात्रत्वात् ।
१	असंज्ञी ।	१	मनुष्यायुष	”	”
		३	त्रयाणाम् ।	आवलि० असं० ।	तदु० असंख्येयत्वात् ।
६६	नरकौघः, षण्नरकाः, १२ सहस्रारान्तदेवभेदा, अप० पञ्चे तिर्य, अप० मनु, ७ एकेन्द्रिया, ६ विकलाक्षा', अप पञ्चे. २५	१	तिर्यगायुष	आव० असं०	”
	सर्वपृथ्व्यप्वनस्पतिकाया, अप त्रस०, औ मिश्र, वैक्रिय० ।	१	मनुष्यायुष	संख्ये० समया	तदु० संख्येयत्वात्
१५	सर्वतेजोवायुकाया, सप्तमनरक ।	१	तिर्यगायुष'	आव० असं०	तदु० असं०

इत्यायुषामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः ॥१६५॥ अथ सर्वासु मार्गणास्वायुषामनुत्कृष्टरसबन्धकालं दर्शयन्नादौ तावद् द्वाषष्टौ मार्गणासु तं दर्शयति—

जहि तिरियाउस्स अणुकरसस्स भंगा-ऽट्ठ ण दुसट्ठीए ।
तहि सव्वद्धा खलु से सेसाऊणं लहू समयो ॥११६॥

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, यत्र द्वाषष्टौ मार्गणासु तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्याष्टौ भङ्गा न सन्ति, किन्तु सर्वबन्धकाः, अनेके बन्धका एकोऽबन्धकः, अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इति रूपास्त्रय एव, तासु प्रत्येकं तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य कालः सर्वाद्धा, बन्धकानामपेयलोकमितत्वादानन्त्याद् वा । ततः किम् ? नैरन्तर्येण तद्बन्धस्योपलम्भात् । अथ काश्च ताः द्वाषष्टिमार्गणाः ? उच्यते—तिर्यग्गत्योघः सप्तैकेन्द्रियभेदाः, बादरपर्याप्तसत्कभेदचतुष्कवर्जपृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य चतुर्विंशतिभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिवर्जवनस्पतिभेदा दश, काय-

योगौघः, औदारिककाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, अज्ञान-द्विकम्, असंयमः, अचक्षुर्दर्शनम्, तिस्रोऽप्रशस्तलेश्याः, भव्याभव्यौ, मिथ्यात्वम्, असंज्ञी, आहारी चेति द्वाषष्टिः। तथा 'सेसाऊण' त्ति, तिर्यगायुर्वर्जशेषाणां त्रयाणामायुषां मध्ये मार्गणाप्रायोग्य-बध्यमानानामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य 'लहू' त्ति, जघन्यः काल एकः समयः, तद्बन्ध-कानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात्। ततः किम्? नानाजीवाश्रयोऽपि जघन्यः काल एकजीवाश्रय-वदेकः समय आयाति ॥१९६॥ अथ द्वाषष्टौ मार्गणासु त्रयाणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालं शेषासु च मार्गणासु स्वप्रायोग्याणामायुषां तस्यैव जघन्यकालं दर्शयन्नाह—

पल्लासंखियभागो जेट्ठो सेसासु मग्गणासु भवे।
हस्सो कालो समयो सप्पाउग्गाण आऊणं ॥१९७॥

(प्रे०) 'पल्लासंखियभागो' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघादिषु द्वाषष्टौ मार्गणासु यथायोगं त्रयाणामायुषामनुत्कृष्टरसबन्धस्येत्यनुवर्त्तते 'जेट्ठो' त्ति, उत्कृष्टकालः पल्योपमाऽसंख्येयभागः, एकजीवाश्रयतद्बन्धकालस्योत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वात् तद्बन्धकानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्प-त्वात् प्रकृतिबन्धस्य सान्तरत्वाच्च।

तथा 'सेसासु' त्ति, उक्तशेषासु एकोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं स्वप्रायोग्याणामायुषा-मनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, प्रकृतिबन्धस्य सान्तरत्वेन कदाचिदेकस्यापि बन्धकस्य सद्भावस्तस्य चोत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयमात्रमनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् ॥१९७॥

अथैकोत्तरशतमार्गणास्वेव बन्धप्रायोग्याणामायुषामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालं दर्शयति—

जाणऽत्थि बंधगा खलु संखा तेसिं गुरू मुहुत्तंतो।
पल्लासंखियभागो इयराऊणं मुणेयव्वो ॥१९८॥

(प्रे०) 'जाण' त्ति, सेसासु एकोत्तरशतमार्गणास्वित्यनुवर्त्तते, येषामायुषामनुत्कृष्टरस-बन्धकाः संख्येयाः तेषां नानाजीवाश्रयोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, तत्प्रकृति-बन्धकालस्याप्युत्कृष्टत आन्तर्मुहूर्तिकत्वात्। तथा 'इयराऊण' त्ति, इतरेषामायुषां पल्योपमाऽ-संख्येयभागः। किमुक्तं भवति? उच्यते-यस्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, तस्याऽनुत्कृष्ट-रसबन्धस्योत्कृष्टकालः पल्योपमाऽसंख्येयभाग इत्यर्थः; तद्बन्धस्य सान्तरत्वात् तद्बन्धकानाम-संख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वाद् एकजीवाश्रयस्य तद्बन्धकालस्योत्कृष्टत आन्तर्मुहूर्तिकत्वाच्च। अथा-स्वेकोत्तरशतमार्गणासु स्वप्रायोग्याणामायुषामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालं स्पष्टावबोधार्थं स्था-पनाद्वारेण दर्शयामस्तद्यथा—

	मार्गणा	कस्य ?	अनुत्कृष्टः कियान् ?	कुतः ?
२०	नरकौघ, आद्याः षड् नरकाः, सहस्रारान्ता देवभेदाः द्वादश, वैक्रियकाययोग. ।	मनुष्यायुषः ।	अन्तर्मुहू० ।	तद्बन्धकानां संख्येयत्वात् ।
		तिर्यगायुषः ।	पल्योपमाऽसंख्येयभागः ।	„ असंख्येयत्वात् ।
३	सप्तमनरक, बादरपर्याप्ततेजःकाय, बादरपर्याप्तवायुकाय ।	„	„	„ „
२२	पञ्चे. तिर्य. ओघ, पर्या पञ्चे तिर्य., तिरश्ची, त्रसकायौघ, पर्या त्रस, पञ्चे ओघ, पर्या० पञ्चे, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचोयोगाः, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, विभङ्गज्ञानम्, चक्षुर्दर्शनम्, संज्ञी ।	चतुर्णां प्रत्येकम् ।	पल्यो.अ. भागः ।	तद्बन्धकानामसंख्येयत्वात् ।
१	मनुष्यौघ ।	मनुष्यतिर्यगायुषो ।	„	„
		देवनारकायुषो ।	अन्तर्मु० ।	तद्बन्धकानां संख्येयत्वात् ।
२	पर्याप्तमनुष्य, मानुषी ।	चतुर्णामपि	„	„
१८	आनतादयोऽष्टादश देवभेदाः	मनुष्या०।	„	„
७	आहा० काययोग, आहा० मिश्र, मनःपर्यव०, संयमौघादयश्चत्वारः संयमभेदाः ।	देवायुषः ।	„	„
१	देशविरति ।	„	पल्यो० अस० भागः ।	तद्बन्धकानामसंख्येयत्वात् ।
१६	अप. मनुष्य, अप पञ्चे तिर्य, विकलाक्षा नव, अप० पञ्चे, अप० त्रस०, पर्या. बादरपृथ्वी०, पर्या बादराप्०, पर्या० प्रत्ये० वन स्पति० ।	मनुष्यतिर्यगायुषो ।	„	„
२	तेजोलेश्या, पद्मलेश्या ।	मनुष्यायुषः	अन्तर्मुहू० ।	तद्बन्धकानां संख्येयत्वात् ।
		तिर्यग्देवायुषो ।	पल्यो०अ० भाग ।	तद्बन्धकानामसंख्येयत्वात् ।
६	त्रीणि ज्ञानानि, अवधिदर्शनम्, सम्यक्त्वौघ, क्षायोपशमिक० ।	मनुष्यायुषः	अन्तर्मुहू० ।	तद्बन्धकानां संख्येयत्वात् ।
		देवायुषः ।	पल्यो अ० भाग	तद्बन्धकानामसंख्येयत्वात् ।
२	शुक्ललेश्या, क्षायिकसम्य० ।	देवमनुष्यायुषो ।	अन्तर्मुहू० ।	„ संख्येयत्वात् ।
१	सास्वादनम् ।	मनुष्यायुषः ।	„	„
		तिर्यग्देवायुषो ।	पल्यो० असं० भाग ।	„ असंख्येयत्वात् ।

इति समाप्तं मार्गणासु आयुषामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यत उत्कृष्टतश्च नानाजीवाश्रयं कालप्ररूपणम्। तस्मिंश्च समाप्ते समाप्तमिदं मार्गणास्वष्टकर्मणामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यत उत्कृष्टतश्च कालप्ररूपणम् ॥१९८॥

अथ जघन्याजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकं नानाजीवाश्रयं कालं निरूरूपयिषुरादौ तावदजघन्यरसबन्धकानामनुत्कृष्टरसबन्धकालवदतिदिशन्नाह—

ओहाएसेहि खलु अजहराणरसस्स सव्वपयडीणं ।
सव्वह दुविहो कालोऽणुक्कोमरसव्व विराणेयो ॥१९९॥

(प्रे०) 'ओहे'त्यादि, ओघत आदेशतश्च 'सव्वपयडीणं' ति, चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालोऽनुत्कृष्टरसवद् , अविशेषेणाऽनुत्कृष्टरसबन्धकालवज्ज्ञेय इत्यर्थः। कुतः ? बन्धकानां रसबन्धस्थानानाञ्चोभयत्र तुल्यसंख्याकत्वात्। इत्योघत आदेशतश्चाजघन्यरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयं जघन्योत्कृष्टकालप्ररूपणम् ॥१९९॥

अथौघादेशाभ्यां नानाजीवाश्रयं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टश्च कालं प्ररूरूपयिषुराह—

जाणऽत्थि अ मो चिअ भंगो तेसिं हवेज्ज सव्वद्धा ।
मंदाणुभागस्स समयो सेसाण विराणेयो ॥२००॥
जाणऽत्थि बन्धगा खलु संखेज्जा ताण होइ उक्कोसो ।
संखियसमयाऽराणेसिं आवलियाए असंखंसो ॥२०१॥

(प्रे०) 'जाणे' त्यादि, ओघादेशाभ्यामित्यनुवर्तते, तेनौघतो मार्गणास्थानेषु च यासां तीनां न्यरसबन्धस्याऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इति रूपोऽष्टम एक एव भङ्गस्तासां जघन्यरसस्य नानाजीवाश्रयो बन्धकालः सर्वाद्धा, नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भात्।

तथा 'सेसाण' त्ति, यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य न केवलमष्टमो भङ्गः, किन्तु चतुर्थः षष्ठोऽष्टम इति त्रयो भङ्गा यद्वाऽष्टौ भङ्गास्त मित्यर्थः, जघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, कदाचिदेकस्यापि बन्धकस्य संभवात्। जघन्यकालस्य भावनैकजीवाश्रयकालवत् कार्या।

अथ यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयो दर्शितस्तासामेवोत्कृष्टकालं दर्शयति—'जाणे' त्यादिना, था—यासां जघन्यरसबन्धकाः संख्येयास्तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः संख्येयाः :, जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टत :सामयिकत्वात् तद्बन्धकानां संख्येयत्वाच्च।

तथा 'अण्णेसिं' ति, यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका असंख्येया असंख्येयलोकेभ्योऽल्पाश्च, ततोऽधिकबन्धकानां कालस्य सर्वाद्धात्वेन प्राप णत्वात् तासामित्यर्थः, जघन्यरस-

बन्धस्योत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्येयभागः, एकजीवाश्रयजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टतोऽपि चतुः-सामयिकत्वात् तद्बन्धकानामसंख्येयत्वेऽपि असंख्येयलोकेभ्यो न्यूनत्वाच्च । किमुक्तं भवति ? उच्यते—यदि एकजीवाश्रयो जघन्यरसबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तादिः स्यात्तर्हि नानाजीवाश्रयः स पल्योपमाऽसंख्येयभाग एव स्यात् । यदि च जघन्यरसबन्धका असंख्येयलोकमितास्ततोऽधिका वा स्युस्तर्हि तस्य कर्मणो बन्धकालः सर्वाद्धा भवेत् , न च तथेति ।

अथ 'जाणतिथ भङ्गो बिअ' इत्यादिना दर्शितस्वरूपं जघन्यरसबन्धकालं किञ्चिद् विस्तरतो दर्शयामः, तत्रादौ तावदोघतश्चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्यैव कालं दर्शयामः, तद्यथा—सातवेदनीयादयोऽष्टौ सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम तिर्यगायुश्चेति चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य नानाजीवाश्रयो बन्धकालः सर्वाद्धा, तज्जघन्यरसबन्धस्याऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इति रूपोऽष्टम एव भङ्ग इति कृत्वा । शेषाणां चतुरशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः; हेतुरुक्त एव ।

ओघत उत्कृष्टकालस्तु अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत् , हास्यरती, शोकारती, पुरुषवेदः, आहारकद्विकम् , जिननाम चेत्येकपञ्चाशतः प्रकृतीनां संख्येयाः समयाः, तज्जघन्यरसबन्धकानामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । स्त्रीनपुंसकवेदौ मनुष्यायुः तिर्यग्द्विकं नरकत्रिकं देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ औदारिकद्विकं वैक्रियद्विकं पराघातनामोच्छ्वासनामा-ऽऽतपनामोद्योतनाम त्रसचतुष्कं नीचैर्गोत्रञ्चेति त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनामावलिकाऽसंख्येयभागः, तज्जघन्यरसबन्धकानामुत्कृष्टतोऽसंख्येयत्वेऽपि असंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । शेषाणां चत्वारिंशत्प्रकृतीनां तु सर्वाद्धा । इति दर्शित ओघतो जघन्यरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयो जघन्य उत्कृष्टश्च [illegible]ः ।

अथ मार्गणासु आयुर्वर्जानां प्रकृतीनां स स्थापनयैव दर्श्यते—

म०	मार्गणाः	स०	प्रकृतयः	ज.का.	उत्कृष्ट काल
१०	काययोगौघ , औदा॰ काययोग, नपुं वेद, चत्वार कषाया, अचक्षुर्दर्शनम् , भव्य , आहारी।	५१	अप्रश॰ ध्रुव त्रिचत्वारिंशत् , हास्यरती, शोकारती, पुरुषवेद , आहारकद्विकम् , जिननाम ।	१	संख्येया समया
		३९	प्रागुक्ता सातवेदनीयादयस्तिर्यगायुर्वर्जा एकोनचत्वारिंशत् ,	सर्वाद्धा	सर्वाद्धा
		३०	स्त्रीवे॰, नपुं॰, तिर्य द्वि॰, नरकद्वि॰, देवद्वि॰, पञ्चे॰ जाति॰, औदा द्वि॰, वैक्रियद्वि॰, प्रश॰		

इति समाप्तं मार्गणासु आयुषामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यत उत्कृष्टतश्च नानाजीवाश्रयं कालप्ररूपणम् । तस्मिंश्च समाप्ते समाप्तमिदं मार्गणास्वष्टकर्मणामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यत उत्कृष्टतश्च कालप्ररूपणम् ॥१६८॥

अथ जघन्याजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकं नानाजीवाश्रयं काल निरूरूपयिपुरादौ तावदजघन्यरसबन्धकानामनुत्कृष्टरसबन्धकालवदतिदिशन्नाह—

ओहाएसेहि खलु अजहराणरसस्स सव्वपयडीणं ।
सव्वह दुविहो कालोऽणुक्कोसरसव्व विरागोयो ॥१९९॥

(प्रे०) 'ओहे'त्यादि, ओघत आदेशतश्च 'सव्वपयडीणं' ति, चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालोऽनुत्कृष्टरसवद्, अविशेषेणाऽनुत्कृष्टरसबन्धकालवज्ज्ञेय इत्यर्थः । कुतः ? बन्धकानां रसबन्धस्थानानाञ्चोभयत्र तुल्यसंख्याकत्वात् । इत्योघत आदेशतश्चाजघन्यरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयं जघन्योत्कृष्टकालप्ररूपणम् ॥१९९॥

अथौघादेशाभ्यां नानाजीवाश्रयं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टश्च कालं प्ररूपयिषुराह—

णाऽत्थि अट्ठमो चिअ भंगो तेसिं हवेज्ज सव्वद्धा ।
मंदणुभागस्स हू समयो सेसाण विराणेयो ॥२००॥
णाऽत्थि बन्धगा खलु संखेज्जा ताण होइ उक्कोसो ।
संखियसमयाऽराणेसिं आवलियाए असंखंसो ॥२०१॥

(प्रे०) 'जाणे' त्यादि, ओघादेशाभ्यामित्यनुवर्तते, तेनौघतो मार्गणास्थानेषु च यासां
तीनां न्यरसबन्धस्याऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इति रूपोऽष्टम एक एव भङ्गस्तासां
जघन्यर नानाजीवाश्रयो बन्धकालः सर्वाद्धा, नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भात् ।

तथा 'सेसाण' त्ति, यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य न केवलमष्टमो भङ्गः, किन्तु चतुर्थः षष्ठोऽष्टम इति त्रयो भङ्गा यद्वाऽष्टौ भङ्गास्तासामित्यर्थः, जघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, कदाचिदेकस्यापि बन्धकस्य संभवात् । जघन्यकालस्य भावनैकजीवाश्रयकालवत् कार्या ।

अथ यासां प्रकृतीनां न्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयो दर्शितस्तासामेवोत्कृष्टकालं दर्शयति—'जाणे'त्यादिना, था—यासां जघन्यरसबन्धकाः संख्येयास्तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः संख्येयाः याः, जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टत :सामयिकत्वात् तद्बन्धकानां संख्येयत्वाच्च ।

तथा 'अण्णेसिं' ति, यासां प्रकृतीनां जघन्यर न्धका असंख्येया असंख्येयलोकेभ्योऽल्पाश्च, ततोऽधिकबन्धकानां कालस्य सर्वाद्धात्वेन णत्वात् तासामित्यर्थः, जघन्यरस-

बन्धोरुत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्येयभागः, एकजीवाश्रयजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टतोऽपि चतुः-सामयिकत्वात् तद्बन्धकानामसंख्येयत्वेऽपि असंख्येयलोकेभ्यो न्यूनत्वाच्च । किमुक्तं भवति ? उच्यते–यदि एकजीवाश्रयो जघन्यरसबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तादिः स्यात्तर्हि नानाजीवाश्रयः स पल्योपमाऽसंख्येयभाग एव स्यात् । यदि च जघन्यरसबन्धका असंख्येयलोकमितास्ततोऽधिका वा स्युस्तर्हि तस्य कर्मणो बन्धकालः सर्वाद्धा भवेत् , न च तथेति ।

अथ 'जाणतिथ अट्ठमो बिअ' इत्यादिना दर्शितस्वरूपं जघन्यरसबन्धकालं किञ्चिद्विस्तरतो दर्शयामः, तत्रादौ तावदोघतश्चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्यैव कालं दर्शयामः, तद्यथा–सातवेदनीयादयोऽष्टौ सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम तिर्यगायुश्चेति चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य नानाजीवाश्रयो बन्धकालः सर्वाद्धा, तज्जघन्यरसबन्धस्याऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इति रूपोऽष्टम एव भङ्ग इति कृत्वा । शेषाणां चतुरशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः; हेतुरुक्त एव ।

ओघत उत्कृष्टकालस्तु अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत् , हास्यरती, शोकारती, पुरुषवेदः, आहारकद्विकम् , जिननाम चेत्येकपञ्चाशतः प्रकृतीनां संख्येयाः समयाः, तज्जघन्यरसबन्धकानामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । स्त्रीनपुंसकवेदौ मनुष्यायुः तिर्यग्द्विकं नरकत्रिकं देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ औदारिकद्विकं वैक्रियद्विकं पराघातनामोच्छ्वासनामा-ऽऽतपनामोद्योतनाम त्रसचतुष्कं नीचैर्गोत्रञ्चेति त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनामावलिकाऽसंख्येयभागः, तज्जघन्यरसबन्धकानामुत्कृष्टतोऽसंख्येयत्वेऽपि असंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । शेष चत्वारिंशत्प्रकृतीनां तु सर्वाद्धा । इति दर्शित ओघतो जघन्यरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयो जघन्य उत्कृष्टश्च [illegible]: ।

अथ मार्गणासु आयुर्वर्जानां प्रकृतीनां स[illegible]ापनयैव दर्श्यते–

सं०	मार्गणाः	सं०	प्रकृतयः	ज. का	उत्कृष्ट कालः
१०.	काययोगौघ , औदा. काययोग, नपु वेदः, चत्वार कषाया, अचक्षुर्दर्शनम् , भव्य , आहारी।	५१	अप्रश ध्रुव. त्रिचत्वारिंशत्, हास्यरती, शोकारती, पुरुषवेद , आहारकद्विकम् , जिननाम ।	१	संख्येया समयाः
		३९	प्राग्रुक्ता सातवेदनीयादयस्तिर्यगायुर्वर्जा एकोनचत्वारिंशत् ,	सर्वाद्धा	सर्वाद्धा
		३०	स्त्रीवे०, नपुं०, तिर्य द्वि०, नरकद्वि०, देवद्वि०, पञ्चे. जाति , औदा द्वि , वैक्रियद्वि०, प्रश०		

			ध्रुव० अष्टम, पराघात०,उच्छ्वास०, त्रसचतुष्कम्, आतप०, उद्योत०, नीचैर्गोत्रम् ।	१ समय	आवलिकाऽसंख्येयभाग ।
१	अयत ।	४७	अप्र० ध्रुव ४३ हास्यरती, पुरुषवेद, जिननाम ।	एकः समय	संख्येया समया ।
		३८	सातवेदनीयादयोऽनन्तरोक्ता ३१	सर्वाद्धा	सर्वाद्धा
		३२	स्त्रीवेदादय ३०, शोकारती ।	एक समय	आवलिकाऽसंख्येयभाग•
२	अज्ञानद्विकम्, मिथ्यात्वम् ।	४६	अनन्तरोक्ता जिनवर्जा षट्चत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवादय ।	,,	संख्येया समया•
		३६	सातवेदनीयादय ३१ ।	सर्वाद्धा	सर्वाद्धा ।
		३२	पूर्वोक्ता स्त्रीवेदादय• ३०, शोकारती ।	एक समय	आवलिकाऽसंख्येयभाग:
१८	पञ्चे० ओघ, पर्या० पञ्चे०, त्रसकायौघ, पर्या० त्रस०, पञ्च मनोयोगा पञ्च वचोयोगा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, चक्षुर्दर्शनम्• ति ।	५१	ओघोक्ता अप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादय एकपञ्चाशत् ।	एक समय•	संख्येया समया ।
		६९	शेषा•	,,	आवलिऽसं०
७	त्रीणि ज्ञानानि, अवधिदर्श०, सम्यक्त्वौघ, उपशमसम्यक्त्वम्, क्षायोप सम्य० ।	३८	सातादयोऽष्टौ, मनु द्वि०, देवद्वि, पञ्चे जाति०, औ द्वि०, वै० द्वि०, प्रश० ध्रुव• ८, वज्र०, समच०, प्र विहा०, परा०, उच्छ्, त्रसचतु०, सुभगत्रि, उच्चैर्गोत्रम्,	,,	आवलिकाऽसंख्येयभाग: ।
		४३	मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जाऽप्रशस्तध्रुव० ३५, हास्यरती, शोकारती, पु०, वेद, आहा द्वि०, जिननाम चेति ।	,,	संख्येया समया ।
१	क्षायिकसम्यक्त्वम् ।	४२	जिननामवर्जा ज्ञानत्रिकादिमार्गणोक्ता ।	,,	संख्येया समया ।
		२९	जिननामयुक्ता अनन्तरोक्ता सातादय ।	,,	आवलिकाऽसंख्येभाग ।

स०	मार्गणा	स०	प्रकृतय	ज का	उत्कृष्ट काल
३	तिस्र प्रशस्तलेश्या ।	५०	ओघोक्ता जिनवर्जा अप्रशस्त-प्रकृतय ।	एक समय	सख्येया समया ।
			शेषाणा तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणाम् ।	"	आवलिकाऽसख्येयभाग ।
१	देशविरति ।	३५	ज्ञाना० पञ्च, दर्शना० षट्, प्रत्याख्याना० चतुष्कम्, सज्व० चतु, हास्यरती, भय०, जुगुप्सा०, पुरुषवेद, अन्तरायपञ्चकम्, अप्र वर्णादिचतु०, जिन०, उपघात० ।	"	सख्येया समया ।
		३५	शेषा ।	"	आव० अस०
३	तिर्यग्गत्योघ, अभव्य, असज्ञी ।	३९	ओघोक्तास्तिर्यगायुर्वर्जा सातवेदनीयादय ।	सर्वाद्धा	सर्वाद्धा
		७८	शेषा ।	एकसमय	आवलिका-असख्यभाग ।
१	कापोतलेश्या ।	३९	ओघोक्तास्तिर्यगायुर्वर्जा सातवेदनीयादय ।	सर्वाद्धा	सर्वाद्धा
		७९	शेषा	समय	आव०असं।
२	नीललेश्या, कृष्णलेश्या ।	३८	ओघोक्तास्तिर्यगायुर्वर्जा सातवेदनीयादय ।	सर्वाद्धा	सर्वाद्धा
		१	जिननाम।	समय	स. समया ।
		७८	शेषा ।	"	
१	मनुष्यौघ ।	४२	अनन्तरोक्ता ३९+तिर्य० द्वि०, नीचैर्गोत्रम् ।	"	आवलिका-अस० ।
		७८	शेषा. ।	"	सख्येया. समया ।
१२	पर्याप्तमनुष्य, मानुषी, सर्वार्थसुर, आहारककाय०, आहा० मिश्र०, अवेद, मन पर्यव०, सयमौघादय, पञ्च सयमा ।		तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्या सर्वा ।	"	" "
३	एकेन्द्रियौघ, बादरैकेन्द्रिय, पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय ।	३	तिर्य० द्वि०, नीचैर्गोत्रम् ।	"	आवलि०असं०
		१०८	शेषा ।	"	सर्वाद्धा

२६	वनस्पत्योघ, सर्वनिगोदा, सूक्ष्मपृथ्व्यादिचतुष्कभेदा द्वादश, अप. बादरपृथ्व्यादिचतुष्कम्, अप०प्रत्येकवनस्पति०, सूक्ष्मैकेन्द्रियसत्कास्त्रयो भेदा, अपर्याप्त बादरैकेन्द्रिय ।	१११	सर्वा ।	सर्वाद्धा	सर्वाद्धा
(८)	तत्र तेजोवायुसत्कभेदा.	१०८	,,	,,	,,
१	औदारिकमिश्र ।	४४	तिर्यगायुर्वर्जा ओघोक्ता सातादय ३६, त्रस०, पञ्चे०, बादरत्रिकम् ।	,,	,,
		४५	ज्ञाना०पञ्च०, दर्शना० षट्०, अप्रत्या० ४, प्रत्या० ४, सञ्ज ४। भय०, जुगु०, हास्यरती, अप्रश० वर्णादि ४, उपघात०, देवद्वि-वैक्रि० द्वि०, जिन, अन्तराय ५, पुरुषवेद, शोकारती ।	एकसमय	सख्येया समया ।
		२७	मिथ्या०, स्त्या० ३, अनन्ता० ४, परा०, उच्छ्० आत०, उद्योत०, औ० द्वि०, तिर्य० द्वि०, नीचे० प्रश ध्रुव ८ स्त्रीवे० । नपु वे ।	,,	आवलिका-अस०
१	वैक्रियमिश्रकाययोग ।	१	जिननाम ।	,	सख्येया समया
		१०५	शेषा ।	,,	आवलिअस०
२	कार्मणकाययोग, अनाहारी ।	३६	तिर्यगायुर्वर्जा ओघोक्ता सातवेदनीयादय ।	सर्वाद्धा	सर्वाद्धा
		५	देवद्वि०, वै० द्वि० २, जिननाम,	समय	सख्येया समया
		७२	शेषा ।	,,	आवलि अस०
६२	नरकभेदा ८, पञ्चे तिर्यग्भेदा ४, अप मनुष्य, सर्वार्थसिद्धवर्जदेवभेदा २६, विकलाक्षा. ६, अप पञ्चे, पर्याप्तबादरपृथ्वीजलतेजोवायव ४, पर्या प्रत्ये वनस्प०, अप त्रस०, वै० काय०, विभङ्ग, मिश्र०, सास्वादनम् ।	सर्वा	तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्या ।	एक समय	आवलिका-अस० ।

५	पृथ्वीकायौघ, बादरपृथ्वी०, अप्कायौघ, बादराप्काय, प्रत्ये० वन० ओघ।	४७	सातादय ३६, तिर्य० द्वि०,नीचै बादरत्रि०, त्रस०, पञ्चे० ।	सर्वा द्धा	सर्वाद्धा
		६४	शेषा.।	समय	आवलिका-असं० ।
४	वायुकायौघः, बादरवायुतेज-कायौघ., बादरतेजःकाय.।	४१	मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रवर्जा पूर्वोक्ता सातादय ३६, त्रस, पञ्चे, बादरत्रिक०।	सर्वा-द्धा	सर्वाद्धा
		६७	शेषा ।	एक-समय।	आवलिका-असं०।

इति दर्शित' स्थापनाद्वारेण मार्गणासु सप्तकर्मणा जघन्यरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयो जघन्योत्कृष्टकाल ।

अथ मार्गणास्वायुषां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यादिकालं स्थापनाद्वारेणैव दर्शयामः—

	मार्गणा	स०	प्रकृतय.	ज.का	उत्कृ काल:
सं २०	तिर्यग्गत्योघ, काययोगौघ, औदा. का., नपु०वेद., कषाया चत्वार', अज्ञानद्वि, अयत., अचक्षुर्द०, अप्रशस्त लेश्यात्रि, भव्याभव्यौ, मिथ्या०, असज्ञी, आहारी ।	१	तिर्यगायुष ।	सर्वा द्धा	सर्वाद्धा
		३	शेषाणा त्रयाणाम् ।	समय	आवलिका-असं० ।
१	औदारिक मिश्रकाययोग	१	तिर्यगायुष'।	सर्वा-द्धा	सर्वाद्धा
		१	मनुष्यायुष ।	१ समय	आवलि० अ०
४१	सर्वे एकेन्द्रिया', सर्वनिगो०, वनस्प ओघ, बाद पर्या वर्ज-पृथ्व्यादिचतु भेदा २४, प्रत्ये वनस्पत्योघ, अपर्या प्रत्येवनस्प ।	१	तिर्यगायुष ।	सर्वा द्धा	सर्वाद्धा
		१	मनुष्यायुष (तेजोवायुसत्क-द्वादशभेदवर्जासु एकोनत्रिं-शन्मार्गणास्वेव)।	१ समय	आवलिका० असं०।
२०	नरकौघ, आद्या षड् नरका सहस्रारान्तदेवा १२, वै. काय।	१	तिर्यगायुष ।	,,	,,
		१	मनुष्यायुष ।	,,	सख्येया समया.
३	तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, सास्वा-दनम्।	१	,,	,,	,,
		२	तिर्यग्देवायुषो ।	,,	आवलिकाऽस ।
६	त्रीणि ज्ञाना०, अवधिद०, सम्य क्त्वौघ, क्षायोप०।	१	देवायुष ।	,,	आवलिकाऽस. ।
		१	मनुष्यायुष ।	,,	सख्येया समया:
२	शुक्ललेश्या, क्षायिक०।	२	देवमनुष्यायुषो ।	,,	,,
१	मनुष्यौघ ।	२	नारकदेवायुषो ।	,	,,
		२	तिर्यग्मनुष्यायुषो ।	,,	आवलिकाऽसं.
२	पर्याप्तमनुष्य, मानुषी।	४	चतुर्णामायुषा प्रत्येकम्।	,,	सख्येया समया.

१८	आनतादयो देवा १८।	१	मनुष्यायुष ।	समय	सख्येया समया
७	आहा. का., आहा मिश्र, मन-पर्यव., सयमौघ', सामायिक०, छेदो, परिहा० ।	१	देवायुष' ।	,,	,
५	सप्तमनरक, पर्या. बाद. तेज, बादरपर्या० वायुकाय ।	१	तिर्यगायुष ।	१ समय	आवलिका० अस०
२२	अपर्याप्तवर्जपञ्चेन्द्रियतिर्य० भेदा' ३, त्रस०, पर्या त्रस, पञ्चे, पर्या. पञ्चे, मनोयोगा ५, वचोयोगा ५, स्त्रीवे, पु वे, विभङ्ग', चक्षुर्दे, सञ्ज्ञी।	४	चतुर्णामपि ।	,,	,,
१६	अप मनु, अप. पञ्चे तिर्य, विकलाक्षा ६, अप पञ्चे, अप त्रस, बादरपर्या पृथ्वी, बादर-पर्या. अप्काय, पर्या प्रत्येक-वनस्प० ।	२	मनुष्यतिर्यगायुषो ।	,,	,,
१	देशविरति ।	१	देवायुष ।	,,	,,

इति दर्शितः स्थापनया मार्गणास्वायुषां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यादिकालः । यत्रोत्कृष्टः कालः सर्वाद्धा, तत्र तद्बन्धकानामानन्त्यादसंख्येयलोकमितत्वाद् वा । यत्राऽवलिकाऽसख्येय-भागः, तत्र तद्बन्धकानामसंख्येयत्वेऽपि असंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । यत्र सख्येयाःसमयाः, तत्र तद्बन्धकानां संख्येयत्वादिति हेतवोऽत्र सप्तकर्मणामुत्तरप्रकृतीनां कालनिरूपणे च ज्ञेयाः । ॥२००-२०१॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे
प्रथमाधिकारे पञ्चदश कालद्वार समाप्तिमागत ॥



॥ अथ षोडशमन्तरद्वारम् ॥

गतं नानाजीवाश्रयं कालद्वारम् । समायातञ्च क्रमप्राप्तं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारम् । तत्रादौ तावदोघतो नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्चान्तरं दर्शयन्नाह—

सव्वाण लहुं समयो तिण्हरसस्संतरं छ मासाऽत्थि ।
सायजसुच्चाण गुरुं असंखलोगात्थि सेसाणं ॥२०२॥

(प्रे०) "सव्वाण" इत्यादि, सर्वासां चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्य 'लहु' ति, जघन्यमन्तरमेकः समयः । तच्चैवम् विवक्षितप्रकृतेरुत्कृष्टरसस्य बन्धं विधाय द्वितीयसमये न कोऽपि जीव उत्कृष्टरसस्य बन्धं करोति, ततस्तृतीयसमये पुनरन्यतम एकोऽनेके वा जीवा उत्कृष्टरसबन्धं कुर्वन्ति तदा नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टरसबन्धस्यैकः समयो जघन्यान्तरमायाति । अथौघत एवोत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं दर्शयति—'छमासा' इत्यादिना, सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं षण्मासाः, क्षपकश्रेणौ दशमगुणस्थानके तदुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवात् क्षपकश्रेणेश्च नानाजीवानपेक्ष्यान्तरस्योत्कृष्टतः षाण्मासिकत्वात् । तथा 'सेसाणं' ति, उक्तशेषाणामेकविंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, श्रेणिविरहितानाम् अष्टमान्तगुणस्थानकवर्तिश्रेणिगतानां वा तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । एतदुक्तं भवति—यस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसं क्षपकश्रेणिमप्राप्ता जीवा बध्नन्ति यस्याश्च क्षपकश्रेणिं गता अपि किन्तु अष्टमान्तगुणस्थानकवर्त्तिन एव तस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोका इति नियमोऽस्ति । अत्र नानाजीवाश्रितोत्कृष्टरसबन्धान्तरज्ञानाय इमे नियमा अवगन्तव्याः—

(१) यत्र यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका नवमदशमगुणस्थानगता एव तत्र तासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं तावत्प्रमाणं भवति यावत्प्रमाणमन्तरं तद्गुणस्थानगतानां जीवानां प्राप्यते। यथौघे सातवेदनीयादीनां तिसृणां प्रकृतीनां षण्मासाः तथा स्त्रीवेदादिमार्गणासु तासामेव तिसृणां वर्षपृथक्त्वम्, यतो यथाक्रमं क्षपकश्रेणिसत्कदशमनवमगुणस्थानकयोस्तदुत्कृष्टरसबन्धो जायते । ततः किम्? ओघे स्त्रीवेदादिमार्गणासु च क्षपकश्रेणेरन्तरस्योत्कृष्टतो यथोक्तमानत्वात् ।

(२) यत्र यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धार्हा जीवा असंख्येयलोकेभ्यो न्यूनास्तदुत्कृष्टरसबन्धश्च यथासंभवमष्टमान्तेष्वेव गुणस्थानेषु प्राप्यते, तत्र तासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोका भवति, अष्टमगुणस्थानं यावत् सर्वत्र तत्तत्स्थितिबन्धाध्यवसायसत्कानां प्रत्येकं रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयलोकप्रमाणत्वेन नानाजीवानामन्यान्यकालेऽन्यान्याध्यवसायस्य प्राप्तेरपि भावेन विवक्षितस्य कस्यचिदपि रसबन्धाध्यवसायस्यासंख्येयलोकप्रमितकालात् परतः

शून्यत्वाभावात् । उत्कृष्टतोऽसंख्येयलोककाले व्यतीते विवक्षितरसबन्धाध्यवसायः केनापि जन्तुना प्राप्यत एव, तत उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयलोकेभ्योऽधिकं नैव भवति, यथौघे एकविंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां तथा नरकादिमार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासामिति ।

(३) यत्र पुनरुत्कृष्टरसबन्धार्हा जीवा असंख्येयलोकप्रमाणास्तदधिका वा, तत्र बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धस्य सर्वदा लाभात् उत्कृष्टरसबन्धान्तराभावो ज्ञेयः, यथा निगोदादिमार्गणासु सर्वासाम् , तत्रायुर्वर्जानां सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धकानामनन्तत्वात् ।

(४) आयुषस्तूत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं सर्वत्रासंख्येयलोकप्रमाणं विज्ञेयम् । यत आयुष उत्कृष्टरसस्तदुत्कृष्टस्थितिं बध्नद्भिर्निर्वर्त्यते, उत्कृष्टस्थितिस्तु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्या एव भवति, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियाणामसंख्येयलोकेभ्योऽतिन्यूनत्वेन पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायुर्बन्धकाः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियापेक्षयापि स्तोकाः प्राप्यन्ते । अतः कासुचिन्मार्गणासु मार्गणाप्रायोग्यस्यायुरुत्कृष्टरसबन्धस्य योग्यानां जीवानामसंख्येयलोकप्रमाणत्वेऽनन्तत्वे वा विवक्षितसमये आयुष उत्कृष्टरसबन्धका यथोक्तप्रमाणा एव प्राप्यन्ते । अतः सर्वत्रायुरुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरमसंख्येयलोकप्रमाणमेवेति ।

एवमेव तिर्यगायुर्वर्जसर्वासां प्रकृतीनामोघे तथा सर्वासु मार्गणासु जघन्यरसबन्धविषयकनियमचतुष्कं ज्ञातव्यम् , नवरमुत्कृष्टरसबन्धार्हजीवस्थाने जघन्यबन्धार्हजीवा वक्तव्याः । तिर्यगायुर्विषये तु ओघे तथा द्वाषष्टिमार्गणासु जघन्यरसबन्धकानामन्तराभावो ज्ञेयः, तद्बन्धकानामसंख्यलोकप्रमाणत्वेन ततोऽभ्यधिकत्वेन वा तद्रसबन्धस्य सर्वकालिकत्वात् । अन्यासु मार्गणासु जघन्यरसबन्धस्यान्तरमुत्कृष्टरसबन्धान्तरवद् ज्ञेयमिति ।

अनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टान्तरावगमायेमे नियमा ज्ञातव्या भवन्ति(१)औदारिकमिश्र-कार्मणकाययोगाऽनाहारमार्गणावर्जा या मार्गणा नानाजीवैर्निरन्तराः, तासु आयुर्वर्जानामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं न भवति । औदारिकमिश्रादीनां वर्जनन्तु आसां मार्गणानां नानाजीवानाश्रित्य निरन्तरत्वेऽपि आसु देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामानुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य प्राप्यमाणत्वात् । तत्कुतः ? आसु देवद्विकादीनां पञ्चानां बन्धका अविरतसम्यग्दृष्टय एव, ते चात्र कादाचित्का इति ।

(२) या मार्गणा अध्रुवा नानाजीवैरपि न निरन्तराः, तासु यावत्प्रमाणो मार्गणाशून्यकालो मार्गणानामन्तरमित्यर्थः, तावत्प्रमाणमनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं भवति, तावत्कालं बन्धकानामभावात् । यत्र मार्गणासु कासाञ्चित् प्रकृतीनां बन्धो मार्गणाप्रारम्भेऽपि अन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं प्रवर्त्तते तत्र सम्भाव्यमानो विशेषः स्वयं ज्ञेयः । सामान्यतः सान्तरमार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरन्तु मार्गणोत्कृष्टान्तरप्रमाणं ज्ञेयमिति भावः । अत्रौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगा-ऽनाहारलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं तावत्प्रमाणं भवति यावत्प्रमाणं तास्वविरतसम्यग्दृशां विरहस्योत्कृष्टान्तरमिति ।

(३) तिर्यगायुर्विना शेषायुस्त्रयस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं तद्बन्धयोग्यासु सर्वासु मार्गणासु भवति, तच्चाग्रे दर्शयति 'अणुक्कस्सस्स अणुक्कठिइव्व' इत्यादिना । तिर्यगायुषस्तु यासु बन्धका असंख्येयलोकप्रमिता अनन्ता वा तासु द्वाषष्टिमार्गणासु नास्त्यन्तरं तदीयानुत्कृष्टरसबन्धस्य, यतोऽसंख्येयलोकमिता अनन्ता वा तिर्यगायुर्बन्धकाः प्रतिसमयं प्राप्यन्ते । द्वाषष्ट्यतिरिक्तासु शेषासु तिर्यगायुर्बन्धार्हासु मार्गणासु 'अणुक्कठिइव्व' इत्यादिनानुत्कृष्टस्थितिबन्धवदन्तरं विज्ञेयम् । अग्रेऽजघन्यरसबन्धविषयेऽपि इमे नियमा ज्ञातव्याः ॥२०२॥

अथौघतोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्चान्तरं दर्शयन्नाह —

णिरयणरसुराऊणं अणुरुस्सस्स समयो लहुं जेट्ठं ।
अणुरुठिइव्व हवेज्जा सेसाणं अंतरं णत्थि ॥२०३॥

(प्रे०) "णिरय" इत्यादि, नरकायुष्कमनुष्यायुष्कदेवायुष्करूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तत्प्रकृतिबन्धस्य सान्तरत्वात् । तथा 'जेट्ठ' ति तदुत्कृष्टमन्तरम् 'अणुरु' इत्यादि, अनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवद् भवति ।

तथा "सेसाणं" ति, उक्तशेषाणामेकविंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, नानाजीवानाश्रित्य तत्प्रकृतिबन्धस्य निरन्तरत्वात् । इत्योघतो नानाजीवाश्रयमनुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरम् ॥२०३॥

अथ मार्गणासु नानाजीवाश्रयं रसबन्धान्तरं प्रचिकटयिषुरादौ तावदायुर्वर्जानामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं प्रकटयन्नाह—

जहि अट्ठमो उ भंगो तिव्वऽणुभागस्स आउवज्जाणं ।
णो चेव अंतरं खलु हवए तासुं दुतीसाए ॥२०४॥
तत्थ वि एगिंदियतब्बायरतप्पज्जगेसु ओघव्व ।
उज्जोअस्स जहण्णं समयो सेसासु सव्वेसिं ॥२०५॥

(प्रे०) "जहि" इत्यादि, यत्र यासु मार्गणास्वित्यर्थः बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इतिरूपोऽष्टम एक एव भङ्गः, प्राग् भङ्गविचयद्वारे प्रतिपादितः "तासुं" ति, तासु द्वात्रिंशन्मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नैव भवति, उत्कृष्टरसबन्धकानां नैरन्तर्येणोपलम्भात् । द्वात्रिंशन्मार्गणास्त्विमाः–सप्तैकेन्द्रियभेदाः, सप्त साधारणवनस्पतिभेदाः, वनस्पत्योघः, पृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य सूक्ष्मसत्का द्वादश भेदाः, अपर्याप्तबादरपृथ्व्यादिचतुष्कम्, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायश्चेति । अथ 'तत्थ वि" इत्यादिना कश्चिद् विशेषं दर्शयति–द्वात्रिंशदन्तर्गतासु एकेन्द्रियौघः, बादरैकेन्द्रियः, पर्याप्तबादरै-

केन्द्रिय इति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकमुद्योतनाम्नस्तूत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं भवति, तच्च "ओघ-व्व" त्ति, ओघवदेव, तद्यथा–जघन्यमन्तरमेकः समयः, उत्कृष्टश्च तदसंख्येयलोकाः, पर्याप्तबादर-तेजोवायूनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तेषाञ्चाऽसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । ततः किम् ? तदुत्कृष्ट-रसबन्धकानां न केवलमुक्तस्वरूपोऽष्टम एव भङ्गः, तदुत्कृष्टरसबन्धस्य सान्तरत्वादिति भावः ।

अथोक्तशेषासु मार्गणासु वक्ष्यमाणानां सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य संभवात् तत्र तज्जघन्यतो दर्शयति–'सेसासु' इत्यादिना, उक्तशेषास्वष्टात्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, उत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्प-त्वेनोत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य संभवात्, तत्संभवे च जघन्यतस्समयमितन्तु भवत्येव । अत्र घटनौघ-वत् ॥२०४-२०५॥

अथ मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं दिदर्शयिषुरादौ तावत्तत्समानवक्तव्यत्वात् कति-पयमार्गणास्वोघवदतिदिशन्नाह—

ओघव्व भवे जेट्ठं सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
दुणरपणिंदियतसपणमणवयकायुरललोहेसुं ॥२०६॥
णाणदुगसंजमेसुं समइअणयणोयरेसु सुक्काए ।
भविए तह सम्मत्ते खइए सण्णिम्मि आहारे ॥२०७॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, इहोक्तासु द्विमनुष्यादिष्वेकत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति, प्रस्तुतमार्गणासु क्षपकश्रेणेः सद्भावात् तदन्तरस्य च पाण्मासिकत्वात् । ओघवदन्तरं चैवम्–सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं यशःकीर्तिनाम चेति तिसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं षण्मासाः, शेषाणां तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणां प्रत्येक-मसंख्येया लोकाः, हेतुरोघवदेव । इमाश्चेहोक्ता एकत्रिंशन्मार्गणाः-मनुष्यौघः, पर्याप्तमनुष्यः, पञ्चेन्द्रियौघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, त्रसकायौघः, पर्याप्तत्रसकायः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचो-योगभेदाः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, लोभकषायमार्गणा, "णाणदुग" त्ति, अवधि-ज्ञान-मनःपर्यवज्ञानयोर्वक्ष्यमाणत्वात् केवलज्ञाने रसबन्धाभावाच्च मतिज्ञानश्रुतज्ञानरूपं ज्ञान-द्विकम्, संयमौघः, सामायिकचारित्रम्, चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुर्दर्शनम्, शुक्ललेश्या, भव्यः, सम्यक्त्वौघः, क्षायिकसम्यक्त्वम्, संज्ञी, आहारी चेति ॥२०६ २०७॥

अथ गतवेदसूक्ष्मसंपरायमार्गणयोराह—

गयवेए तह सुहमे सायजसुच्चाण होइ छम्मासा ।
वासपुहुत्तं णेयं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥२०८॥

(प्रे०) "गयवेए" इत्यादि, गतवेदमार्गणायां तथा सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां सातवेदनीयादीनां तिसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरं षण्मासाः, क्षपकश्रेणेरन्तरस्योत्कृष्टतस्तावन्मात्रत्वात्। तथा "सेसाणं" ति, उक्तशेषाणां तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वम्, तासामुत्कृष्टरसबन्धका अवगेहन्त उपशमका इतिकृत्वा। ततः किम्? प्रस्तुतमार्गणयोस्तेषां विरहकालस्योत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात्। अत्रेदमवधेयम्—अपगतवेदमार्गणायां शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं वर्षपृथक्त्वं पुरुषवेदभिन्नवेदेनोपशमश्रेणिप्रस्थानकोत्कृष्टान्तरतुल्यं ज्ञेयम् ॥२०८॥ अथ मनुष्यादिमार्गणास्वाह—

सायजसुच्चाणं भवे मणुमिदुवेयमणणाणुवसमेसु ।
वासपुहुत्तं पुरिसे विरहोऽयो साहियो वासो ॥२०९॥
तिकसायेसुं साहियवासो अहवा हवेज्ज छम्मासा ।
वासपुहुत्तं अहवा अहियसमा होइ ओहिदुगे ॥२१०॥
छेए कोडाकोडी अयराऽट्ठारस हवेज्ज बारसु वि ।
सेसाण असंखेज्जा लोगा सेसासु सव्वेसिं ॥२११॥

(प्रे०) "साय" इत्यादि, मानुषी, स्त्रीनपुंसकरूपौ द्वौ वेदौ, मनःपर्यवज्ञानम्, उपशमसम्यक्त्वञ्चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं सातवेदनीय यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रञ्चेति तिसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं वर्षपृथक्त्वम्, उत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरमिति प्रकरणगम्यम्, उपशमसम्यक्त्ववर्जप्रस्तुतासु मार्गणासु प्रत्येकं नानाजीवाश्रयक्षपकश्रेणेरन्तरस्योत्कृष्टतो यथोक्तमानत्वात्, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायामुपश्रेणेरन्तरस्य तावन्मितत्वात्। अयमेव हेतुरग्रे पुरुषवेदादिमार्गणास्वपि ज्ञेयः। पुरुषवेदमार्गणायां साधिको वर्षः, सातवेदनीयादीनां तिसृणां प्रकृतीनामित्यनुवर्त्तते, प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरमितीहाऽग्रे च प्राग्वत्प्रकरणगम्यम्। तथा "तिकसायेसु" लोभमार्गणायामुक्तत्वात् क्रोधमानमायाकषायमार्गणासु प्रत्येकं साधिको वर्षः, हेतुरत्र मानुषीमार्गणावदेव। "अहवा" त्ति, मतान्तरेण षण्मासाः, मतान्तरेण प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं क्षपकश्रेणेरन्तरस्य यथोक्तमानत्वात्। तथा "ओहिदुगे" त्ति, अवधिज्ञानमार्गणायामवधिदर्शनमार्गणायाञ्च प्रत्येकं वर्षपृथक्त्वम्, हेतुरुक्त एव। मतान्तरेण साधिको वर्षः, हेतुरत्राऽनन्तरोक्तस्त्रिकषायमार्गणावत्। तथा "छेए" त्ति, छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायामष्टादशकोटिकोटयः सागरोपमाणाम्, नानाजीवाश्रयप्रकृतमार्गणाऽन्तरस्याप्येतावन्मात्रत्वात्। तथा "बारसु वि" इहोक्तासु मानुष्यादिच्छेदोपस्थापनीयपर्यवसानासु द्वादशमार्गणासु, तासु निरव-

शेषासु नत्वेकादिन्यूनास्वित्यपेरर्थः, प्रत्येकम् "सेसाण" त्ति, तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणामुक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयोत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, यतस्तदुत्कृष्टरसं क्षपकश्रेणिमप्राप्ताः, अष्टमान्तगुणस्थानवर्तिनः क्षपकश्रेणिगता वा बध्नन्ति ।

अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह--

"सेसासु" त्ति, उक्तशेषासु त्रिनवतिमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरम् "असंखेज्जा लोगा" इतिपदयोरत्रापि योजनात् असंख्येयलोकाः, प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं क्षपकश्रेणेरेवाऽभावात् । ततः किम् ? यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः क्षपकश्रेणिविरहिताः, असंख्येयलोकतोऽल्पाश्च तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोका इति नियमात् । इमाश्च ता उक्तशेषा मार्गणाः-अष्टौ नरकमार्गणाः, पञ्च तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यः, त्रिंशद्देवभेदाः, पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः सप्तैकेन्द्रियमार्गणासु चोक्तत्वात् तद्वर्जाः शेषा इन्द्रियभेदास्ते च दश, ओघबादरौघ-पर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजोवायुकायिकाः, ओघपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायौ, अपर्याप्तत्रसकायः, औदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियतन्मिश्रकाययोगौ, आहारकतन्मिश्रकाययोगौ, कार्मणकाययोगः, अज्ञानत्रिकम्, परिहारविशुद्धिकम्, देशविरतिः, असंयमः, शुक्ललेश्यावर्जलेश्यापञ्चकम्, अभव्यः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम्, मिश्रदृष्टिमार्गणा, सास्वादनम्, मिथ्यात्वम्, असंज्ञी, अनाहारी चेति । इति मार्गणास्वायुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरम् ॥२०९-२११॥

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जानामुक्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं दिदर्शयिपुरादौ तावत् कासु मार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरमेव न संभवति ? तदेव दर्शयति--

जहिं सव्वद्धा कालो सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
अगुरुरसस्साऽखिलाणं तहिं सि से अन्तरं णत्थि ॥२१२॥

(प्रे०) "जहिं" त्ति, यत्र=यासु मार्गणास्वित्यर्थः, आयुर्वर्जानां तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य सर्वाद्धा काल इहैव ग्रन्थे प्राग्-नानाजीवाश्रयकालप्ररूपणायामुक्तः, तासु षट्पञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं तासां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भात् । इमाश्च ताः षट्पञ्चाशदुत्तरशतमार्गणाः- अष्टौ नरकमार्गणाः, पञ्च तिर्यग्भेदाः, अपर्याप्तवर्जास्त्रयो मनुष्यभेदाः, त्रिंशद्देवभेदाः, एकोनविंशतिरेकेन्द्रियादीन्द्रियभेदाः, पृथ्व्यादिकायभेदा द्विचत्वारिंशत्, पञ्च मनोयोगाः, वचोयोगाः पञ्च, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, वैक्रियकाययोगः, त्रयो वेदाः, चत्वारः

कषायाः, सप्तापि ज्ञानमार्गणाः, संयमौघः, सामायिकम् , देशविरतिः, अयतः, त्रीणि दर्शनानि, षड् लेश्याः, भव्याभव्यौ, सम्यक्त्वौघः, क्षायोपशमिकम् , क्षायिकसम्यक्त्वम् , मिथ्यात्वम् , संज्ञी, असंज्ञी, आहारी चेति ॥२१२॥

अथ यासु चतुर्दशसु मार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं संभवति तासु तद् दिदर्शयिषुरादौ तावदौदारिकमिश्रादिमार्गणासु तद्दर्शयन्नाह—

ओरालमीसजोगे कम्मणजोगे तहा अणाहारे ।
सुरविउव्वदुगजिणाणं हस्सं समयो मुणेयव्वो ॥२१३॥
देवविउव्वदुगाणं मासपुहुत्तं गुरुं जिणस्स भवे ।
वासपुहुत्तं ण भवे सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥२१४॥

(प्रे०) "**ओरालमीसजोगे**" इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगः, कार्मणकाययोगः, अनाहारी चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानामेकैकस्याः प्रकृतेरनुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रय जघन्यमन्तरमेकः समयः, कदाचिदेकादेरपि सुरद्विकादीनां बन्धकस्य लाभात् तद्बन्धस्य कादाचित्कत्वाच्च । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं मासपृथक्त्वम् , प्रस्तुतमार्गणासु सम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् , सम्यक्त्वाऽन्तरस्य चेह यथोक्तमानत्वात् । जिननाम्नो वर्षपृथक्त्वम् ,उत्कृष्टत एतावन्तं कालं यावत् जिननामबन्धकानां प्रस्तुतमार्गणास्वनुपलम्भात् , अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची ज्ञेयः । तथा "**सप्पाउग्गाण**"त्ति, आहारकद्विकनरकद्विकयोरिह बन्धाऽभावादुक्तशेषाणां मार्गणाप्रायोग्याणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, सर्वदा नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भात् ॥२१३-२१४॥

अथ च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणयोराह—

छेए तह परिहारे सव्वाण लहुं सयं मुणेयव्वं ।
जेट्ठं कोडाकोडी अट्ठारस सागरा णेयं ॥२१५॥

(प्रे०) "छेए" इत्यादि, छेदोपस्थापनीयचारित्रमार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायाश्च प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयं जघन्यमन्तरं स्वयमेव ज्ञातव्यम् , तद्विदः सकाशादिति शेषः । कुत एवम् ? उच्यते—यदि प्रकृतमार्गणयोः प्रत्येकं जघन्यपदे एकद्व्यादय एव जीवाः स्युस्तर्हि अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकजीवाश्रयवन्नानाजीवाश्रयमपि सातवेदनीयादिप्रकृतीनां तदेक एव समयः

स्यात् । यदि च जघन्यपदे जीवाः कोटिपृथक्त्वम् , तर्हि अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं मार्गणाजघन्यान्तरतुल्यं भवति, छेदोपस्थापनीयमार्गणायां त्रिषष्टिः सहस्राणि वर्षाणाम् , परिहारविशुद्धिमार्गणायाञ्च चतुरशीतिः सहस्राणि वर्षाणाम् । किन्तु जघन्यपदे कियत्सङ्ख्याका जीवाः प्रस्तुतमार्गणयोः प्रत्येकं भवन्तीति सम्यगपरिज्ञानात् सुष्ठूक्तम् , "सय मुणेयव्व" मिति । अथोत्कृष्टमन्तरं दर्शयति—"जेट्ठ"ति, सर्वासां प्रकृतीनामिति अनुवर्त्तते, उत्कृष्टमन्तरं सागरोपमाणामष्टादश कोटिकोट्यः,नानाजीवाश्रयस्य मार्गणान्तरस्योत्कृष्टत एतावन्मानत्वात् ॥२१५॥

अथोक्तशेषासु मार्गणासु गाथार्द्धेन जघन्यमन्तरम् ततश्च तत्रैवोत्कृष्टं दिदर्शयिषुरादौ अपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु तद्दर्शयन्नाह—

सेसासु लहुं समयो सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
पल्लासंखियभागो अपज्जणरमीससासणेसु गुरुं ॥२१६॥ (गीति)

(प्रे०) "सेसासु" उक्तशेषासु नवसु मार्गणासु प्रत्येकं तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, मार्गणायाः सान्तरत्वेन कदाचिदेकादेरपि बन्धकस्य संभवात् । इमाश्च ता नव मार्गणाः,—अपर्याप्तमनुष्यः, मिश्रदृष्टिः, सास्वादनम् , वैक्रियमिश्रकाययोगः, आहारकतन्मिश्रकाययोगौ, अवेदः, सूक्ष्मसंपरायः, उपशमसम्यक्त्वञ्चेति । अथापर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं दर्शयति—

"अपज्जणर"त्ति, अपर्याप्तमनुष्यः, मिश्रदृष्टिः, सास्वादनञ्चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पल्योपमाऽसंख्येयभागः,मार्गणाया अन्तरस्यैतावन्मात्रत्वात् ॥२१६॥ अथ वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामाह—

वेउव्वमीसजोगे एगिंदियथावरायवाण सयं ।
णाऊणं णेयव्वं जिणस्स होइ वरिसपुहुत्तं ॥२१७॥
अत्थि मुहुत्ता बारस सप्पाउग्गाण सेसपयडीणं ।
आहारदुगे णेयं सव्वेसि हायणपुहुत्तं ॥ २१८ ॥

(प्रे०) "वेउव्वमीसजोगे" इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामेकेन्द्रियजातिस्थावरनामाऽऽतपनाम्नां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरं स्वयं ज्ञातव्यम् , तज्ज्ञातृसकाशादिति गम्यते । कुत एवमुच्यते ? अत्रोत्तरम्—प्रस्तुतमार्गणायां सामान्यतो द्वादशमुहूर्त्तान् यावदुत्कृष्टतो विरहः प्राप्यते, एकेन्द्रियजातिनामादयस्तु ईशानान्तैरेव देवैर्बध्यन्ते, ईशानान्तदेवानां प्रस्तुतमार्गणायां कियच्चिरमुत्कृष्टतो विरहः ? तत्तु स्पष्टं न ज्ञायते, ततो यदीशानान्तदेवानां समुदितानां विरहः प्रस्तुतमार्गणायां द्वादशमुहूर्तानि यावद् भवेत्तर्हि एकेंद्रिय-

जात्यादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमपि तावत्प्रमाणं वाच्यम् , यदि चेशानान्तदेवानां प्रस्तुत-मार्गणायां विरहश्चतुर्विंशतिमुहूर्त्तानि यावत् तर्हि एकेन्द्रियजात्यादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तर-मप्युत्कृष्टतश्चतुर्विंशतिमुहूर्त्तानि भवेत् , यदि च चतुर्विंशतिमुहूर्त्तेभ्यो न्यूनान्यष्टादशादीनि मुहूर्त्तानि यावद् विरहस्तर्हि तावत्प्रमाणमन्तरं स्यात् , किन्त्वत्रार्थे कस्यचिद्विशेषोल्लेखस्याऽदर्शनादुक्तम् "सयं णाऊण" मित्यादि । तथा "जिणस्स" त्ति, जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य नाना-जीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वम् , प्रस्तुतमार्गणायां जिननामबन्धकानामुत्कृष्टतो वर्षपृथक्त्वं यावद् विरहसद्भावात् । तथा "सेसाणं" त्ति, उक्तशेषाणां द्व्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं द्वादशमुहूर्त्तानि, मार्गणाऽन्तरस्यैतावन्मात्रत्वात् । अथाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराह-"आहारदुगे" त्ति, आहारकतन्मिश्रकाययोगयोः प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामनु-त्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वम् , मार्गणान्तरस्यैवैतावन्मात्रत्वात्, एतत्तु **जीवसमासा**दि-ग्रन्थाभिप्रायेण ज्ञेयम्, श्री**भगवत्या**द्यभिप्रायेण तु तत् षाण्मासिकमवसेयम् ॥२१७-२१८॥

अथ गतवेदादिमार्गणास्वाह—

छम्मासा सव्वेसिं अवेअसुहमेसु हायणपुहुत्तं ।
तित्थाहारदुगाणुवसमम्मि सेसाण सत्त दिणा ॥२१९॥

(प्रे०) "**छम्मासा**" इत्यादि, "**अवेअसुहमेसु**" त्ति, गतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसंपराय-संयममार्गणायाश्च प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं षण्मासाः, उत्कृष्टत एतावन्तं कालं यावन्मार्गणाविरहोपलम्भात् । अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायामाह-उपशमसम्य-क्त्वमार्गणायां जिननामाऽऽहारकद्विकरूपाणां तिसृणां प्रत्येकं वर्षपृथक्त्वम् । द्वितीयोपशम-सम्यक्त्ववतामेव तद्बन्धकत्वात् । किमुक्तं भवति ? द्वितीयमुपशमसम्यक्त्वमुपशमश्रेणौ भवति, उपशमश्रेणेरुत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वत्वमिति । तथा "**सेसाण**" त्ति, उक्तशेषाणामिह बन्धा-र्हाणामष्टसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं सप्त दिनानि, उपशमसम्य-क्त्वान्तरस्य यथोक्तमानत्वात् । इति मार्गणास्वायुर्वर्जानां नानाजीवाश्रयमनुत्कृष्टरसबन्धस्यो-त्कृष्टमन्तरम् ॥२१९॥

अथायुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धान्तरप्ररूपणस्यावसरस्तथापि तेन सह सर्वासु मार्गणासु लाघ-वार्थमनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरमप्यतिदिशन्नाह—

सव्वह लहुमाऊणं सप्पाउग्गाण गुरुरसस्स खणो ।
जेट्ठं असंखलोगा अगुरुरसस्स अगुरुठिइव्व ॥२२०॥

(प्रे०) "**सव्वह**" इत्यादि, सर्वत्रेति आयुर्बन्धप्रायोग्यासु त्रिषष्ट्युत्तरशतरूपासु सर्वासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यान्तरमेकसमयमात्रमोघ-

वद् भावनीयम् । तथा तस्यैवोत्कृष्टमन्तरमसंख्यलोकप्रमाणमवसातव्यम्, हेतुभावने ओघवदेव । अथ सर्वासु मार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरम् 'अगुरु' इत्यादिनाऽतिदेशेन दर्शयति— सर्वासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्यायुषामनुत्कृष्टरमबन्धस्यान्तरमस्यैव बन्धविधानग्रन्थस्योत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धविधाने दर्शितनानाजीवाश्रयान्तरप्रस्तावे मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुषामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यान्तरं यावत्प्रमाणं दर्शितं तावत्प्रमाणं विज्ञेयम् । अत्र न किमपि वितन्यते, ग्रन्थगौरवभयात् विशेषाभावाच्च ।।२२०।।

।। अथ जघन्याजघन्यरसबन्धकान्तरम् ।।

अथ जघन्याजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकं नानाजीवाश्रयमन्तरं निरुरूपयिषुरादौ तावदल्पवक्तव्यत्वादजघन्यरसबन्धस्य तदनुत्कृष्टरसबन्धवदतिदिशन्नाह—

ओहाएसेहि खलु अगुरुरसव्वंतरं मुणेयव्वं ।
सव्वेसिं पयडीणं अजहरणस्स अणुभागस्स ।।२२१।।

(प्रे०) 'ओहाएसेहिं' इत्यादि, ओघतो मार्गणास्थानेषु चाऽऽयुष्करहितसर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यान्तरमविशेषेणाऽनुत्कृष्टरसबन्धाऽन्तरवज्ज्ञेयम् । कुतः ? अनुत्कृष्टरसवदजघन्यरसस्याऽपि बन्धस्थानानामनेकत्वात्, बन्धकानां तुल्यसंख्याकत्वाच्च ।।२२१।।

अथ नानाजीवाश्रयं जघन्यरसबन्धाऽन्तरं प्रचिकटयिषुरोघतस्तत्प्रकटयन्नाह—

भंगोऽत्थि अट्ठमो चिअ मंदऽणुभागस्स जाण चत्ताए ।
णो अंतरं भवे सि सेसाण भवे लहुं समयो ।।२२२।।
अणियट्टी सुहमो वा सामी जेसि इगूणवीसाए ।
ताण गुरुं छम्मासा सेसाण असंखिया लोगा ।।२२३।।

(प्रे०) 'भंगो' इत्यादि, यासां चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इतिरूपोऽष्टम एव भङ्गः प्राग् भङ्गद्वारे प्रतिपादितः, तासां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, सर्वाद्धायां तद्बन्धोपलम्भात् । तदपि कुतः ? तज्जघन्यरसबन्धनिर्वर्तकानामसंख्येयलोकेभ्योऽधिकत्वात् । इमाश्च ताश्चत्वारिंशत् प्रकृतयः—सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाऽशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं मनुष्यद्विकम् उच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विक सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम तिर्यगायुष्कञ्चेति । तथा "सेसाण" त्ति उक्तशेषाणां चतुरशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य "लहु" ति जघन्यमन्तरमेकः समयः, तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धकजीवानामसंख्येयलोकतो न्यूनत्वेनाऽन्तरसद्भावे सति जघन्यतो यथोक्तमानान्तरस्य सम्भवात् । अथोत्कृष्टमन्तरं

दर्शयति—यासामेकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः "अणियट्टी सुहुमो वा" अनिवृत्तिबादरगुणस्थानवर्त्ती सूक्ष्मसम्परायवर्त्ती क्षपको वा, तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं षण्मासाः, क्षपकश्रेणेरन्तरस्योत्कृष्टतः पाण्मासिकत्वात् । इमाश्च ता एकोनविंशतिः प्रकृतयः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कं सञ्ज्वलनचतुष्कं पुरुषवेदोऽन्तरायपञ्चकञ्चेति । "सेसाण" त्ति अन्तरवतीषु चतुरशीतिप्रकृतिष्वेकोनविंशतेरुक्तत्वादुक्तशेषपञ्चषष्टिप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, असंख्येयलोकेभ्यः परतोऽवश्यं तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् ॥२२२ २२३॥

अथ मार्गणासु जघन्यरसबन्धस्याऽन्तरं दिदर्शयिषुरादौ तावत् तत्समानवक्तव्यत्वात् काययोगौघादिमार्गणास्वोघवदतिदिशन्नाह—

ओघव्व जाणियव्वं मंदऽणुभागस्स अंतरं णाणं ।
कायउरललोहेसु अचक्खुभवियेसु आहारे ॥२२४॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, नवरम् ओघवदित्यत्राऽयं हेतुः, प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं क्षपकश्रेणेः संभवः मार्गणगता जीवाश्चानन्ताः । ततः किम् ? यथौघे तथाऽत्रापि जघन्यरसबन्धकाः तदन्तरं च प्राप्यन्त इति ॥२२४॥ अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वाह—

तिरिये पुहवाइसुं चउसुं सि बायरेसु पत्तेए ।
ओरालमीसकम्मणदुअणाणाजयतिअसुहलेसासु ॥२२५॥
अभवियमिच्छगेसुं असण्णिणाहारगेसु जाण भवे ।
अट्ठमभंगो णो सि तिव्वणुभागव्व सेसाणं ॥२२६॥

(प्रे०) "तिरिये" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघः, ओघपृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य चत्वारो भेदाः, "सि बादरेसु" त्ति, ओघतो बादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कम् , प्रत्येकवनस्पतिकायौघः, औदारिकमिश्रकाययोगः, कार्मणकाययोगः, द्वे अज्ञाने, अयतः, तिस्रोऽप्रशस्तलेश्याः, अभव्यः, मिथ्यात्वम् , असञ्ज्ञी, अनाहारी चेति द्वाविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याष्टम एक एव भङ्गो भङ्गद्वारे प्रतिपादितः, तासां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, सार्वदिकतद्बन्धोपलम्भात् । तथा "सेसाणं" ति, यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य न केवलमष्टम एव भङ्गस्तासां जघन्यरसबन्धस्यान्तरम् उत्कृष्टरसबन्धान्तरवद् भवति, तच्चैव जघन्यमन्तरमेकः समयः, उत्कृष्टञ्च तदसंख्येया लोकाः, तासां जघन्यरसबन्धार्हजीवानामसंख्यलोकतोऽल्पत्वात् । अथ कस्यां मार्गणायां कासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति कासाञ्च तदेकसमयादि ? तदेव दर्शयामः- तिर्यग्गत्योघः, द्वे अज्ञाने, अयतः, अप्रशस्तलेश्यात्रिकम् ,

अभव्यः, मिथ्यात्वम् , असञ्ज्ञी चेति दशसु मार्गणासु प्रत्येकं सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाऽशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती मनुष्यद्विकम् उच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकम् सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकञ्चेति एकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, यतो भङ्गप्ररूपणायां तासां जघन्यरसबन्धस्यैकोऽष्टम एव भङ्गः प्रतिपादितः। अयमेव हेतुर्यथासंभवमग्रेऽप्यनुसरणीयः। तथाऽऽहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावादुक्तशेषाणामष्टसप्ततेः प्रकृतीनाम्, अयतमार्गणायान्तु जिननाम्नो बन्धोपलम्भात् नवसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, उत्कृष्टश्च तदसंख्येया लोकाः। तथा पृथ्वीकायौघः, अप्कायौघः, बादरपृथ्वीकायौघः, बादराप्कायौघः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघश्चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकमचिरादुक्तानां सातवेदनीयादीनामेकोनचत्वारिंशतः तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रत्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिबादरत्रिकाणाञ्चेति सर्वसंख्यया सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति। तथा देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकानामप्यत्र बन्धाभावात् शेषाणां मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां चतुःषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, उत्कृष्टश्च तदसंख्येया लोकाः। तथा तेजःकायौघः, बादरतेजःकायौघः, वायुकायौघः, बादरवायुकायौघश्चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रप्रकृतीनां बन्धाऽभावात् तद्वर्जानां पूर्वोक्तानां सातवेदनीयादीनां षट्त्रिंशतः, पञ्चेन्द्रियजातेः त्रसनामबादरत्रिकयोश्चेति सर्वसंख्यैकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धभङ्गस्याऽष्टममात्रत्वात्। शेषाणामत्र बन्धप्रायोग्याणां सप्तषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः उत्कृष्टश्च तदसंख्येया लोकाः। तत्रौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां पूर्वोक्ताः सातवेदनीयादय एकोनचत्वारिंशत् त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकञ्चेति चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, तज्जघन्यरसबन्धकानां सर्वदोपलम्भात्। उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां द्विसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः उत्कृष्टश्च तदसंख्येया लोकाः। तथा कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायाञ्च पूर्वोक्तानां सातवेदनीयादीनामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, तज्जघन्यरसबन्धस्य एकोऽष्टम एव भङ्ग इति कृत्वा। शेषाणां सप्तसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समय उत्कृष्टश्च तदसंख्येया लोकाः। इतीहोक्तासु तिर्यग्गत्योघादिषु द्वाविंशतिमार्गणासु दर्शितं जघन्यरसबन्धस्यान्तरम् ॥२२५-२२६॥

अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणात्रिके प्रस्तुतमाह—

एगिंदिय-तब्बायर-तप्पज्जत्तेसु होइ ओघव्व ।

तिरियजुगलणीआणं सेसाणं अंतरं णत्थि ॥२२७॥

(प्रे०) "एगिंदिय" इत्यादि, एकेन्द्रियौघः "तब्बायर" त्ति, बादरैकेन्द्रियौघः "तप्पज्जत्त" त्ति, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियश्चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्याऽन्तरमोघवद् भवति । कुतः ? उभयत्र बन्धकानामसंख्यलोकतो न्यूनत्वात्, यथौघे सप्तमपृथ्वीनारकास्तज्जघन्यरसबन्धका असंख्येयलोकेभ्यो न्यूनाः, तथेहापि तज्जघन्यरसबन्धकाः पर्याप्तबादरतेजोवायुकायिकास्तावन्त एवेति भावः । ओघवच्च तज्जघन्यत एकसमय उत्कृष्टतोऽसंख्येया लोकाः । तथा "सेसाण" त्ति, उक्तशेषाणामत्र बन्धप्रायोग्याणामष्टोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तज्जघन्यरसस्य बन्धकजीवानामनन्तत्वेन तस्य सर्वाद्धायां बध्यमानत्वात् ॥२२७॥ अथैकोनत्रिंशन्मार्गणास्वाह—

भंगोऽत्थि अट्ठमो च्चिअ जहिं गुणतीसाअ सव्वपयडीणं ।
सव्वसुहमाइगेसुं तहिं सि णो अंतरं होइ ॥२२८॥

(प्रे०) "भंगो" इत्यादि, यासु एकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याऽष्टम एव भङ्गस्तासु सर्वसूक्ष्मादिमार्गणासु तासां सर्वासां प्रकृतीनामन्तरं नैव भवति, सर्वाद्धायां तज्जघन्यरसस्य बध्यमानत्वात् । कुतः ? उच्यते—तज्जघन्यरसबन्धका असंख्येयलोकमितास्ततोऽधिका वेतिहेतोः । ता एकोनत्रिंशन्मार्गणास्त्विमाः—सूक्ष्मैकेन्द्रियसत्कास्त्रयो भेदाः, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियः, सर्वे सप्तसंख्याका निगोदभेदाः, पृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य सूक्ष्मसत्का द्वादशभेदाः, अपर्याप्तपृथ्व्यादिकायचतुष्कम्, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, वनस्पतिकायौघश्चेति ॥२२८॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह—

णपुंसे जाणऽणियट्टी सि गुणवीसाअ होअइ जहण्णं ।
समयो वासपुहुत्तं जेट्ठं सेसाण ओघव्व ॥२२९॥

(प्रे०) "णपुंसे" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां यासामेकोनविंशतेः प्रकृतीनाम् "अणियट्टी" त्ति, जघन्यरसबन्धकोऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानवर्ती क्षपकस्तासां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समय उत्कृष्टश्चान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, प्रस्तुतमार्गणायां श्रेणेरन्तरस्योत्कृष्टतो यथोक्तमानत्वात् । ता एकोनविंशतिः प्रकृतयस्त्विमाः,—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कम् अन्तरायपञ्चकं संज्वलनचतुष्कं पुरुषवेदश्चेति । तथा 'सेसाण' त्ति, उक्तशेषाणामेकोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्यान्तरमोघवद् भवति, मार्गणागतजीवानामानन्त्ये सति पञ्चेन्द्रियपर्यवसानानां जीवानामिहान्तःप्रवेशात् । अथौघवत्—सातासाते स्थिरास्थिरे

शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं मनुष्यद्विकम् उच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्क खगतिद्विकं सुभगत्रिक दुर्भगत्रिकम् एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम चेत्येकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, अनन्तानामसुमता तज्जघन्यरसबन्धकत्वेन सर्वाद्धायां तद्बन्धोपलम्भात् । सान्तरास्वेकाशीतिप्रकृतिष्वेकोनत्रिंशतेरुक्तत्वात् शेषद्वाषष्टिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमय उत्कृष्टश्च तदसंख्येया लोकाः ॥२२९॥

अथ त्रिकषायादिमार्गणास्वाह—

होअइ तिकसायेसुं अणियट्टी जाणिगूणवीसाए ।
ताण जहण्णं समयो जेट्ठं हवए अहियवासो ॥२३०॥
अहव भवे छम्मासा अंतरमोघव्व सेसपयडीण ।
सेसासु सव्वेसि समयो हस्सं मुणेयव्वं ॥२३१॥

(प्रे०) "होअइ" इत्यादि, लोभकषायमार्गणायां प्रागुक्तत्वात् "तिकसायेसु" ति, क्रोधमानमायारूपासु तिसृषु कषायमार्गणासु यासामनन्तरमार्गणाविवरणोक्तानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनामेकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः 'अणियट्टी' त्ति, नवमगुणस्थानवर्त्ती क्षपकः तासां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समय उत्कृष्टश्चान्तरं साधिको वर्षः, प्रस्तुतमार्गणासु क्षपकश्रेणेरन्तरस्य तावन्मात्रत्वात् । 'अहव' त्ति, मतान्तरेण षण्मासाः, क्षपकश्रेण्यन्तरविषयकमतद्वयसम्भवात् । तथा "सेसपयडीण" ति, उक्तशेषाणामेकोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धान्तरमोघवद् भवति । ओघवच्चैवं—अनन्तरमार्गणोक्तानां सातवेदनीयादीनामेकोनचत्वारिंशतोऽन्तरं नास्ति । शेषाणां द्वाषष्टेस्तज्जघन्यमेकः समय उत्कृष्टश्चाऽसंख्येया लोकाः ।

अथोक्तशेषासु मार्गणासु बन्धयोग्यानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याऽन्तरस्य सत्त्वात् जघन्याऽन्तरविषये समानवक्तव्यत्वाच्च पठति-'सेसासु' ति, उक्तशेषासु षडुत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, जघन्यरसबन्धकानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वेनान्तरस्य सद्भावात् ।

अथ काश्च ताः षडुत्तरशतमार्गणाः ? उच्यते—अष्टौ नरकभेदास्तिर्यक्सामान्ये उक्तत्वात् तद्वर्जाश्चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाश्चत्वारोऽपि मनुष्यभेदा देवभेदास्त्रिंशद् नव विकलेन्द्रियाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियाः,पर्याप्तबादरपृथ्व्यादिचतुष्कम् , पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, त्रयस्त्रसकायाः, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचोयोगाः, वैक्रियतन्मिश्रकाययोगौ, आहारकतन्मिश्रकाययोगौ, स्त्रीपुरुषवेदौ, अवेदः,ज्ञानचतुष्कम् , विभङ्गज्ञानम् , अयतमार्गणायामुक्तत्वात्तद्वर्जाः षट्

संयममार्गणाः, चक्षुर्दर्शनम् , अवधिदर्शनम् , प्रशस्तलेश्यात्रिकम् , मिथ्यात्वस्योक्तत्वात्तद्वर्जाः षट् सम्यक्त्वमार्गणाः, संज्ञी चेति मार्गणानां षडुत्तरशतम् ॥२३०-२३१॥ अथानन्तरोक्तासु षडुत्तरशतमार्गणासु जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं दर्शयन्नादौ तावद् द्विमनुष्यादिमार्गणासु तदाह—

दुणरपणिंदिय-तसपणमणवयणदुणाणसंजमेसु तहा ।
सामाइयणयणसुइलसम्मेसु खइअसण्णीसुं ॥२३२॥
अणियट्टी सुहमो वा सामी जेसिं इगूणवीसाए ।
ताण गुरुं छम्मासा सेसाण असंखिया लोगा ॥२३३॥

(प्रे०) "दुणर" इत्यादि, मनुष्यौघः पर्याप्तमनुष्यः पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः पञ्च मनोयोगाः पञ्च वचोयोगाः "दुणाण" त्ति, मतिश्रुतरूपे द्वे ज्ञाने संयमौघः सामायिकम् "णयण" त्ति चक्षुर्दर्शनं शुक्ललेश्या सम्यक्त्वौघः क्षायिक-सम्यक्त्वं संज्ञी चेति पञ्चविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं यासां ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्क-मन्तरायपञ्चकं संज्वलनचतुष्कं पुरुषवेदश्चेत्येकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकोऽनिवृत्ति-बादरक्षपकः सूक्ष्मसंपरायक्षपको वा तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं षण्मासाः, इह क्षपकश्रेणे-रन्तरस्योत्कृष्टतः षाण्मासिकत्वात् । तथा 'सेसाण'त्ति, उक्तशेषाणां तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायो-ग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, मार्गणाजीवानाम-संख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वेनान्तरस्य संभवात् तत्संभवे चाऽसंख्येयलोकेभ्यः परतः पुनः जघन्यरस-बन्धप्रवर्त्तनात् ॥२३२-२३३॥ अथ मानुष्यादिमार्गणास्वाह—

जाण अणिअट्टिसुहमो सिं मणुसित्थिमणणाणुवसमेसुं ।
णेयं वासपुहुत्तं सेसाण असंखिया लोगा ॥२३४॥

(प्रे०) 'जाण' इत्यादि, मानुषी स्त्रीवेदो मनःपर्यवज्ञानमुपशमसम्यक्त्वञ्चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं यासामनन्तरगाथाविवरणोक्तानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनामेकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको यथासंभवं निवृत्तिबादरगुणस्थानकवर्त्ती सूक्ष्मसंपरायस्थो वा तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वम् , प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं श्रेणेरन्तरस्योत्कृष्टत एतावन्मानत्वात् । तथा "सेसाण" त्ति, उक्तशेषाणाम् , तत्र मानुषीस्त्रीवेदमार्गणयोः प्रत्येकमेकोत्तरशतप्रकृतीनां मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामेकोनपञ्चाशतः, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां द्विषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः ॥२३४॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायामाह—

जाण पुमे अणियट्टी सि गुणवीसाअ होइ अहियसमा ।
सेसाणं पयडीणं हवए लोगा असंखेज्जा ॥२३५॥

(प्रे०) "जाण" इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां यासामनन्तरगाथाविवरणाऽतिदिष्टानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनामेकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकोऽनिवृत्तिबादरक्षपकः तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिको वर्षः, पुरुषवेदमार्गणायां क्षपकश्रेणेरन्तरस्यैतावन्मानत्वात्, उक्तशेषाणामेकोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं तदसङ्ख्येया लोकाः ॥२३५॥

अथ गतवेदसूक्ष्मसंपरायमार्गणयोराह—

गयवेए तह सुहमे सायजसुच्चाण हायणपुहुत्तं ।
विण्णेयं छम्मासा सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥२३६॥

(प्रे०) "गयवेए" इत्यादि, अवेदमार्गणायां सूक्ष्मसंपरायमार्गणायाञ्च प्रत्येकं सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वम्, इहोपशमकानामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वादुपशमश्रेणेरुत्कृष्टान्तरस्य च यथोक्तमानत्वात् । तथा "सेसाण" ति, उक्तशेषाणां तत्र गतवेदमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमन्तरायपञ्चकं संज्वलनचतुष्कञ्चेत्यष्टादशानां सूक्ष्मसंपरायमार्गणायान्तु संज्वलनचतुष्कस्यापि बन्धाऽभावाज्ज्ञानावरणादीनां चतुर्दशानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं षण्मासाः, क्षपकाणामेवेह तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् क्षपकश्रेणेरुत्कृष्टान्तरस्य च षाण्मासिकत्वात् ॥२३६॥

अथावधिद्विक आह—

ओहिदुगे अणिअट्टी सुहमो वा जाण सि अहियवासो ।
वासपुहुत्तं व भवे सेसाण असंखिया लोगा ॥२३७॥

(प्रे०) "ओहिदुगे" इत्यादि, सुगमम् । नवरम् "ओहिदुगे" त्ति, अवधिज्ञानदर्शनमार्गणयोः प्रत्येकम् । "जाण" त्ति, मानुषीमार्गणाविवरणोक्तानामेकोनविंशतेर्ज्ञानावरणादीनां प्रकृतीनाम्, यत इह क्षपकश्रेण्यन्तरविषयकमतद्वयसम्भवादुक्त साधिको वर्षः, वर्षपृथक्त्वं वेति॥२३७॥

अथ च्छेदोपस्थापनीयादिमार्गणास्वाह—

छेए जाणऽणिअट्टी सि अयराऽट्ठारकोडिकोडीओ ।
सेसाण असंखेज्जा लोगा सेसासु सव्वेसिं ॥२३८॥

(प्रे०) 'छेए' इत्यादि, छेदोपस्थापनीयमार्गणायां यासां मानुषीमार्गणोक्तानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनामेकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकोऽनिवृत्तिबादरक्षपकः । 'सि' ति,

तासां जघन्यरसबन्धकस्योत्कृष्टमन्तरं सागरोपमाणामष्टादशकोटिकोटयः, मार्गणान्तरस्यैतावन्मानत्वात् । तथा "सेसाण" त्ति, उक्तशेषाणां मार्गणाबन्धार्हाणामेकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, तज्जघन्यरसस्याष्टमान्तगुणस्थानवर्तिनामेव बध्यमानत्वात् । "दुणर" इत्यादिगाथासप्तकेन मनुष्यौघादिषु पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु जघन्यरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं दर्शितम् । अथाऽवशेषासु मार्गणासु प्रत्येकं श्रेण्योरभावेन समानवक्तव्यत्वात् एकेनैव वक्तव्येन युगपद् दर्शयति–'सेसासु' त्ति, उक्तशेषास्वेकसप्ततिमार्गणासु ।

"सव्वेसि" ति, तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् 'असंखेज्जा लोगा' इति पदद्वयस्यात्रापि योजनादसंख्येया लोकाः, प्रस्तुतमार्गणासु क्षपकश्रेण्योरभावात् । इमाश्च ता एकसप्ततिः मार्गणाः,–अष्टौ नरकमार्गणाः, तिर्यग्गत्योघे उक्तत्वात्तद्वर्जाश्चतस्रः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणाः, अपर्याप्तमनुष्यः, त्रिंशद् देवभेदाः, नव विकलेन्द्रियाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, पर्याप्तबादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कम्, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, अपर्याप्तत्रसकायः, वैक्रियतन्मिश्रकाययोगौ, आहारकतन्मिश्रकाययोगौ, विभङ्गज्ञानम्, परिहारविशुद्धिकम्, देशविरतिः, तेजःपद्मलेश्यामार्गणे, क्षायोपशमिकमिश्रसम्यक्त्वे, सास्वादन चेति ॥२३८॥ अथ मार्गणास्वायुष्कस्य जघन्याजघन्यरसबन्धयोरन्तरं दर्शयति —

जहि अट्ठमो च भंगो तहि बासट्ठीअ णो लहुरसस्स ।
तिरियाउस्सऽणोसि तह अवसेसासु सव्वेसि ॥२३९॥
समयो हस्सं जेट्ठं असंखलोगा हवेज्ज सव्वासु ।
सव्वाउगाऊणं अलहुरसस्स अगुरुठिइव्व ॥२४०॥

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, यत्र तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणासु तिर्यगायुषो जघन्यरसबन्धस्याष्टम एव भङ्गो भङ्गविचयद्वारे प्राक् प्रतिपादितः तासु द्वाषष्टिमार्गणासु तिर्यगायुषो जघन्यरसबन्धस्य नानाजीवाश्रयान्तरं न भवति, तस्य सार्वदिकत्वात् । इमाश्च ता द्वाषष्टिमार्गणाः–तिर्यग्गत्योघः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, पृथ्वीकायौघः, अप्कायौघः, तेजस्कायौघः, वायुकायौघः, पृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य सर्वे सूक्ष्मसत्का भेदास्ते च द्वादश, बादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कम्, अपर्याप्तबादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कम्, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायवर्जा दश वनस्पतिकायमार्गणाः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, अज्ञानद्विकम्, असंयमः, अचक्षुर्दर्शनम्, तिस्रोऽप्रशस्तलेश्याः, भव्याभव्यौ, मिथ्यात्वम्, असञ्ज्ञी, आहारी चेति । अथ निर्दिष्टासु द्वाषष्टिमार्गणासु बन्धप्रायोग्यशेषायुषां तथा एकाधिक-

शतमार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वायुषां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यान्तरं समयप्रमाणम्, उत्कृष्टं च तत् 'असंखलोगा' त्ति, असंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयप्रमाणं ज्ञातव्यम्। इदं च 'ऽण्णेसिं तह अवसेसासु सव्वेसिं ॥ समयो हस्स जेट्ठं असंखलोगा' इत्यनेन दर्शितमिति। अथ 'हवेज्ज सव्वा' इत्यादिना अजघन्यरसबन्धस्यान्तरमतिदेशेन दर्शयति–त्रिषष्ट्यधिकशतरूपासु आयुर्बन्धार्हासु सर्वासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वायुषां जघन्यमुत्कृष्टं चाऽन्तरं प्रत्येकमनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवद् द्रष्टव्यम् ॥२३९-२४०॥

॥श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिरसबन्धे
प्रथमाधिकारे षोडशमन्तरद्वार समाप्तम् ॥

—

॥ अथ सप्तदशं भावद्वारम् ॥

गतं नानाजीवाश्रयान्तरद्वारम्। अथायातं क्रमप्राप्तं भावद्वारम्, ओघादेशाभ्यामेकगाथया तद्दर्शयन्नाह—

भावेणोदइएणं रसाण बंधो चउव्विहाण भवे ।
सव्वपयडीण एवं सप्पाउग्गाण सव्वासुं ॥२४१॥

(प्रे०) 'भावे' इत्यादि, ओघतः सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधरसबन्धा औदयिकभावेन निर्वर्त्यन्ते; 'ठिइअणुभागो कसायओ कुणइ' इति वचनात्। एतदुक्त भवति–रसबन्धः लेश्यायुक्तकाषायिकाध्यवसायेन निर्वर्त्यते, लेश्यापरिणामस्य कषायपरिणामस्य चौदयिकभावत्वात्, रसस्य बन्ध औदयिकभावेन भवति, अतो रससामान्यस्य विशेषभूतोत्कृष्टादिरसानां बन्धोऽपि औदयिकभावेन भवतीति तु सूक्तम्। एवं सर्वासु सप्तत्युत्तरशतमार्गणासु स्वप्रायोग्यबध्यमानप्रकृतीनां उत्कृष्टादिरसानां बन्धोऽप्यौदयिकभावेन भवतीति 'एवं' इत्यादिनाऽतिदिष्टमिति ॥२४१॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिरसबन्धे
प्रथमाधिकारे सप्तदश भावद्वार समाप्तम् ॥



॥ अथाऽष्टादशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

गतं भावद्वारम्, आयातञ्च क्रमप्राप्तमल्पबहुत्वद्वारम्। तच्च द्विविधम्, तद्यथा—स्वस्थानाल्पबहुत्वद्वारम्, परस्थानाल्पबहुत्वद्वारम्। यत्रैकमूलप्रकृतेरुत्तरप्रकृतिभेदमध्ये तद्रसस्य तीव्रताया मन्दताया वा परस्परं स्तोकत्वम्, अधिकत्वम्, अनन्तगुणत्वमित्यादि चिन्त्यते तत्स्वस्थानाल्पबहुत्वम्। यत्र तु सर्वासामुत्तरप्रकृतीनां मिथस्तच्चिन्त्यते तत्परस्थानाल्पबहुत्वम्। तत्रादौ तावदुत्कृष्टपदे स्वस्थानाल्पबहुत्वं दिदर्शयिषुरोघतस्तद्दर्शयति—

सव्वाऽहियो केवलणाणावरणस्स तिव्वअणुभागो।
मइआवरणाईणं कमसोऽत्थि अणंतगुणहीणो ॥२४२॥

(प्रे०) ''सव्वाऽहियो''इत्यादि. प्रथमादिगुणस्थानके मतिज्ञानावरणादीनां य उत्कृष्टरसो बध्यते, स न सर्वासां तुल्यः, किन्तु तारतम्यभाग् भवति, अत एव तत्तारतम्यप्रतिपादनपरमल्पबहुत्वं दर्श्यते। तद्यथा—'**केवलज्ञानावरणस्स**'त्ति, केवलज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। शेषमतिज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं यावत्प्रमाणो रस उत्कृष्टतो बध्यते ततोऽधिकतरो रसः केवलज्ञानावरणस्य बध्यत इत्यर्थः, कुतः? क्षपकश्रेणावपि चरमसमयबन्धं यावद् बन्धमाश्रित्य तस्य सर्वघातित्वात्। ततो मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, श्रेणौ तद्बन्धस्य देशघातित्वात्। ततः श्रुतज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः। कुतः? क्षपकस्य बन्धे मतिज्ञानावरणात् प्रागस्य देशघात्यनुभागभवनात्। किमुक्तं भवति? मतिज्ञानावरणादीनां चतुर्णां देशघातित्वेऽपि तेषां प्रत्येकं नवमगुणस्थानस्य संख्यातबहुभागान् यावत् सर्वघात्येव रसो बध्यते। क्षपकस्य नवमगुणस्थानकस्य संख्येयबहुभागातिक्रमे बन्धमप्याश्रित्य तेषां रसो यथाक्रमं देशघाती जायते। यस्य रसः प्रथमतो देशघाती जायते तस्योत्कृष्टरसः सर्वस्तोको ज्ञेयः। सर्वप्रथमं तु क्षपकश्रेणौ मनःपर्यवज्ञानावरणस्य रसो देशघाती बन्धमाश्रित्य भवति। ततोऽवधिज्ञानावरणस्य, ततः श्रुतज्ञानावरणस्य, ततश्च मतिज्ञानावरणस्येति। मतिज्ञानावरणात् प्राक् श्रुतज्ञानावरणरसस्य बन्धमाश्रित्य देशघातिभवनेन मतिज्ञानावरणतः श्रुतज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीन इति सिद्धम्। श्रुतज्ञानावरणतोऽवधिज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, हेतुरुक्त एव। ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, बन्धमाश्रित्य क्षपकश्रेणौ सर्वप्रथमं देशघातिभवनात्। उक्तं पञ्चानां ज्ञानावरणकर्मणामुत्कृष्टपदे स्वस्थानाल्पबहुत्वम् ॥२४२॥

अथ दर्शनावरणकर्मणां तदाह—

सव्वाऽहियो केवलदंसणआवरणगस्स तिव्वरसो।
ताउ असंखगुणूणो चक्खुस्स तओ अचक्खुस्स ॥२४३॥

तो अवहिस्स तओ थीणद्धीए ताउ णिद्दणिद्दाए ।
पयलापयलाअ तओ णिद्दाए ताउ पयलाए ॥२४४॥

(प्रे०) "सव्वा" इत्यादि, केवलदर्शनावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, क्षपकश्रेणावपि बन्धमाश्रित्य सर्वघातित्वात् । ततः चक्षुर्दर्शनावरणस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, क्षपकश्रेणौ बन्धमाश्रित्यैतद्रसस्य देशघातिभवनात् । ततोऽचक्षुर्दर्शनस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । कुतः ? क्षपकश्रेणौ चक्षुर्दर्शनावरणादन्तमुहूर्तं प्राग् बन्धमाश्रित्यैतद्रसस्य देशघातिभवनात् । ततोऽवधिदर्शनावरणस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, बन्धमाश्रित्य क्षपकश्रेणौ सर्वप्रथमं देशघातिभवनात् । ततः स्त्यानर्द्धेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः दर्शनावरणचतुष्कतो निद्रापञ्चकस्य प्रत्येकं रसस्य हीनत्वात् । ततो निद्रानिद्राया उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । ततः प्रचलाप्रचलाया उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । ततो निद्राया उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । ततः प्रचलाया उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । कुतः ? स्त्यानर्द्धि-निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-निद्रा-प्रचलानां यथाक्रम निकृष्टतमनिकृष्टतरनिकृष्टाल्पनिकृष्टाल्पतरनिकृष्टत्वात् ॥२४३ २४४॥

अथ वेदनीयकर्मणः कतिपयानाञ्च नामकर्मण उत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टपदे स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—

णेयो सायसुहखगइ-सुवण्णचउगतसदसगउच्चाणं ।
तिव्वरसो सव्वहियो तप्पडिवक्खाणऽणंतगुणहीणो ॥२४५॥(गीतिः)

(प्रे०) 'णेयो' इत्यादि, सातवेदनीयं प्रशस्तविहायोगतिः प्रशस्तवर्णादिचतुष्क त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्यासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः । 'तप्पडिवक्खाण' त्ति, असातवेदनीयमप्रशस्तविहायोगतिरप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं स्थावरदशक नीचैर्गोत्रञ्चेति एतासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसो यथाक्रममनन्तगुणहीनो बोद्धव्यः, तद्यथा—सातवेदनीयोत्कृष्टरसतोऽसातवेदनीयस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । एवमेव प्रशस्तविहायोगत्यादिष्वपि योज्यम् । कुतोऽनन्तगुणहीन इति चेदुच्यते—सातवेदनीयादीनामुत्कृष्टरसो विशुद्धिप्रकर्षेण बध्यते, असातवेदनीयादीनाञ्च स तद्वैपरीत्येन सङ्क्लेशप्रकर्षेणेत्यर्थः । विशुद्धिप्रकर्षस्तु सक्लेशप्रकर्षादतिरिच्यते, तथास्वाभाव्यात् । अत्र वर्णादिप्रकृतीनामल्पबहुत्वं कथं नोक्तमिति चेदुच्यते—बन्धमाश्रित्य वर्णपञ्चकस्य एकपिण्डप्रकृतिरूपत्वेन ग्रहणादल्पबहुत्वस्यानवकाशाद् वर्णरसाद्याश्रित्याल्पबहुत्वसंभवेऽपि तस्य परस्थानविषयत्वान्नोक्तमत्राल्पबहुत्वमिति ॥२४५॥

अथ मोहनीयकर्मण उत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्—

मिच्छस्स सव्वअहियो तोऽणंतगुणूणिओऽत्थि पढमस्स ।
लोहस्स तओ माया कोह-मयाणं कमा विसेसूणो ॥२४६॥ (गीतिः)
एमेव चउत्थ-तइअ-दुइअ-कमायाण तो अणंतगुणूणो ।
कमसो णपुमारइसोगभयजुगुच्छित्थि-पुरिसरइहस्साणं ॥२४७॥ (आर्यागीतिः)

(प्रे०) '**मिच्छस्स**'इत्यादि, ओघतो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, सप्ततिकोटिकोट्यात्मकसर्वाधिकस्थितिकत्वात् । ततः '**पढमस्स**' त्ति, अनन्तानुबन्धिलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनो बध्यते, मिथ्यात्वतोऽल्पतरस्थितिकत्वात् चत्वारिंशत्कोटिकोटिसागरोपममितस्थितिकत्वादित्यर्थः, ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषोनः, किञ्चिदून इत्यर्थः, प्रकृतिविशेषात् तथास्वाभाव्यादित्यर्थः । ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषोनः, प्रकृतिविशेषात् । ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्योत्कृष्टरसो विशेषोनः, प्रकृतिविशेषात् । तथा '**एवमेव**' त्ति, अनन्तानुबन्ध्युक्तक्रमेण '**चउत्थ**' त्ति, अनन्तानुबन्धिमानतः संज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, प्रकृतिविशेषात् । ततः संज्वलनमायाया विशेषोनः । ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषोनः । ततः संज्वलनमानस्य विशेषोनः, सर्वत्र प्रकृतिविशेषादित्येव हेतुः । ततः '**तइअ**' त्ति, प्रत्याख्यानावरणलोभस्यानन्तगुणहीनः, प्रकृतिविशेषात् । ततः प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषोनः ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषोनः । ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषोनः । ततः '**दुइअ**' त्ति, अप्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, प्रकृतिविशेषात् । ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया उत्कृष्टरसो विशेषहीनः । ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषहीनः । ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषहीनः ।

अत्र षोडशकषायाल्पबहुत्वविषये इमे नियमा ज्ञातव्याः । तद्यथा—अनन्तानुबन्धि-संज्वलन-प्रत्याख्यानावरणाऽप्रत्याख्यानावरणकषायाः क्रमेण पूर्वपूर्वतोऽनन्तगुणहीनाः । तथा स्वस्थाने लोभमायाक्रोधमानाः क्रमेण पूर्वपूर्वतो विशेषहीनाः । ओघोत्कृष्टरसबन्धकाले युगपद्बध्यमानत्वेऽपि षोडशकषायविषयकाऽल्पबहुत्वेऽस्मिन् क्रमे हेतुः प्रकृतिविशेष एवाऽनुसरणीयः । ततः '**णपुम**' त्ति, नपुंसकवेदस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, नोकषायत्वात् । ततोऽरतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, प्रकृतिविशेषात् । शोकस्यानन्तगुणहीनः, प्रकृतिविशेषात् । ततो भयस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । ततो जुगुप्साया उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, प्रकृतिविशेषात् । ततः स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, हीनस्थितिकत्वात् । ततः पुरुषवेदस्यानन्तगुणहीनः, हीनस्थितिकत्वात् । ततो रतेरनन्तगुणहीनः, तुल्यस्थितिकत्वेऽपि हीनतरसङ्क्लेशेन बध्यमानत्वात् । ततो हास्यस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, प्रकृतिविशेषात् । अत्र प्रकृतिविशे-

पान्नाम तत्तत्प्रकृतेस्तथास्वाभावादिति बोद्धव्यम् ।।२४६-२४७।।

अथायुष्कोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य बन्धेऽल्पबहुत्वम्–

देवाउस्स गुरुरसो सव्वब्भहियो कमा मुणेयव्वो ।
ताउ अणंतगुणूणो णारगमणुसतिरियाऊणं ।।२४८।।

(प्रे०) "देवाउस्स" इत्यादि, देवायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्ततमत्वात् । ततो "णारग" त्ति, नरकायुषः सोऽनन्तगुणहीनः, देवायुष्कतुल्यस्थितिकत्वेऽपि अप्रशस्तत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, अल्पतरस्थितिकत्वात् । ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, मनुष्यायुष्कतुल्यस्थितिकत्वेऽपि ततोऽल्पतरप्रशस्तत्वात् ।।२४८।।

अथ गतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वम्–

देवगईअ गुरुरसो सव्वहियो तो अणंतगुणहीणो ।
कमसोऽत्थि णरणिरयतिरिगईण एवमणुपुव्वीणं ।।२४९।।

(प्रे०) "देवगईअ" इत्यादि, देवगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, अपूर्वकरणक्षपकबन्धकत्वात् । ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणहीनः, चतुर्थगुणस्थानकवर्तिना बध्यमानत्वात् , तद्विशुद्धेश्चापूर्वकरणादनन्तगुणहीनत्वात् । ततो नरकगतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनः, अल्पतराऽप्रशस्तत्वात् । "एवमेव" त्ति, चतसृणामानुपूर्वीणां गतिवदेवाऽल्पबहुत्वं भवति, तच्चाचिरादेव दर्शितक्रमेण हेत्वादिपूर्वकमवगन्तव्यम् ।।२४९।।

अथ पञ्चेन्द्रियादिजातीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्–

सव्वहियो तिव्वरसो हवए पंचिंदियस्स ताउ कमा ।
अत्थि अणंतगुणूणो चउण्ह एगिंदियाईण ।।२५०।।

(प्रे०) "सव्वहियो" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियजातिनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, क्षपकेण बध्यमानत्वात् । तत एकेन्द्रियजातिनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । ततो द्वीन्द्रियजातिनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, सत्यप्यप्रशस्तत्वे अल्पतरस्थितिकत्वात् । ततस्त्रीन्द्रियजातिनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, प्रकृतिविशेषात् । ततश्चतुरिन्द्रियजातिनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, प्रकृतिविशेषात् ।।२५०।।

अथ शरीरनामकर्मोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्––

कम्मस्स सव्वअहियो तिव्वऽणुभागो कमा मु यव्वो ।
ताउ अणंतगुणूणो तेआहारविउवुरलाणं ।।२५१।।

(प्रे०) "क स" इत्यादि, कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, क्षपकश्रेण्यां बध्यमानत्वात् प्रशस्ततमत्वाच्च । ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, क्षपकश्रेण्यां ज्येष्ठरसस्य बध्यमानत्वेऽपि कार्मणशरीरनामतोऽल्पप्रशस्तत्वात् । तत आहारकशरीरनाम्न उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततोऽप्यल्पप्रशस्तत्वात् । ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, अल्पतरप्रशस्तत्वात् । तत औदारिकशरीरनाम्न उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनो बध्यते, चतुर्थगुणस्थानकात् परतस्तद्बन्धाभावात् । तुल्यविशुद्ध्या बध्यमानोत्कृष्टरसासु शुभप्रकृतिषु रसतारतम्ये हेतुः प्रकृतीनां प्रशस्तप्रशस्ततरप्रशस्ततमत्वादिको बोध्यः, अतुल्यविशुद्ध्या बध्यमानोत्कृष्टरसानान्तु रसतारतम्यं विशुद्धित स्यप्रयुक्तं ज्ञेयम् ॥२५१॥

अथ त्रयाणामङ्गोपाङ्गनाम्नामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वम्—

सव्वहियो तिव्वरसो हवेज्ज आहारवंगणामस्स ।
ताउ अणंतगुणूणो कमसो विउवुरलुवंगाणं ॥२५२॥

(प्रे०) "सव्वहियो" इत्यादि, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्ततमत्वात् । तो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, प्रशस्तत्वेऽपि पूर्वतोऽल्पप्रशस्तत्वात् । तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वेन वैक्रियापेक्षयाऽनन्तगुणहीनविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् ॥२५२॥

अथ महननसंस्थाननाम्नोः प्रत्येकमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्—

संघयणआगिईसु तिव्वरसो आइमस्स सव्वहियो ।
ताउ अणंतगुणूणो कमसो छट्ठाइगाण भवे ॥२५३॥

(प्रे०) "संघयण" इत्यादि, मसंहनननाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् । ततः षष्ठादिकानां क्रमतोऽनन्तगुणहीनः । तद्यथा—सेवार्ताख्यषष्ठसंहनननाम्न उत्कृष्टरसः प्रथमसंहनननामतोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । ततः कीलिकाख्यपञ्चमसंहनननाम्न उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वे सति पूर्वतोऽल्पस्थितिकत्वात् । ततोऽर्धनाराचाख्यचतुर्थसंहनननाम्न उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अ स्तत्वे सति अल्पस्थितिकत्वात् । ततो नाराचाख्यतृतीयसंहनननाम्न उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अल्पतरस्थितिकत्वात् । ततः ऋषभनाराचाख्यद्वितीयसंहनननाम्न उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तसंहनननामसु अल्पतमस्थितिकत्वात् । अनयैव रीत्या संस्थाननाम्नामपि उत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं चिन्तनीयम् ॥२५३॥

अथान्तरायकर्मोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्—

सव्वऽहियो तिव्वरसो वीरियविग्घस्स ताउ जहकमसो ।
अत्थि अणंतगुणूणो उवभोगाइचउविग्घाणं ॥२५४॥

(प्रे०) "सव्वहियो" इत्यादि, वीर्यान्तरायकर्मण उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, बन्धमाश्रित्य क्षपकश्रेणौ सर्वतः पश्चाद् देशघात्यनुभागभवनात् । तत उपभोगान्तरायस्याऽनन्तगुणहीनः, वीर्यान्तरायतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्राग् देशघात्यनुभागभवनात् । ततो भोगान्तरायस्यानन्तगुणहीनः, उपभोगान्तरायतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्राग् देशघात्यनुभागभवनात् । ततो लाभान्तरायस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, भोगान्तरायतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्राक् क्षपकश्रेणौ बन्धमाश्रित्य देशघातिस्पर्धकभवनात् । ततो दानान्तरायस्यानन्तगुणहीनः, क्षपकश्रेणौ सर्वप्रथमदेशघात्यनुभागभवनादिति ओघत उत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम् । सर्वास्थास्वुक्तक्रमेणैव रसबन्धप्रवर्तनेन ज्येष्ठरसबन्धाल्पबहुत्वे क्षपकश्रेणिगतरसबन्धक्रमो हेतुतया योजित इत्यवधार्यम् ॥२५४॥

अथ मार्गणासु स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं दिदर्शयिषुरादौ तावत्समानवक्तव्यत्वाद् द्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वोघवदतिदिशन्नाह—

ओघव्व दुपंचिंदिय-तसपणमणवयणकायवेएसु ।
चउकोहाइणयणियरभविसण्णीसु तह आहारे ॥२५५॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः पञ्चमनोयोगाः पञ्चवचोयोगाः काययोगौघः त्रयो वेदाः चत्वारः कषायाः चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं भव्यः सञ्ज्याहारी चेति सप्तविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति श्रेणिसद्भावात् , त्रिगतिकानां चातुर्गतिकानां वा सद्भावाच्च । तच्चानन्तरोपदर्शितौघनिरूपणत एवाऽवसातव्यम् ॥२५५॥

(प्रे०) 'णिरय" इत्यादि, नरकौघः प्रथमादयः षड् नरकाः सनत्कुमारादिसहस्रारान्ताः षड् देवभेदाश्चेति त्रयोदशसु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततस्तिर्यगायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अल्पतरप्रशस्तत्वात्। तथा "गइआणुपुव्वीण" त्ति, "आउव्व" त्ति, मनुष्यतिर्यग्गती एवेह बन्धमर्हतः, एवमेवानुपूर्व्यावपि। ततश्चात्रेदमायातम्-मनुष्यगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात्। ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात्। आनुपूर्वीविषयाऽप्येषा एव वक्तव्यता। तथा पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम त्रसचतुष्कञ्चेति षण्णामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं नास्ति, तत्प्रतिपक्षभूतैकेन्द्रियप्रमुखजात्यादीनां बन्धाभावात्। कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्ततमत्वात्। ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, अल्पप्रशस्तत्वात्। तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, हेतुस्तु पूर्वोक्त एव। शेषशरीरद्वयस्य तु बन्धाभाव एव। तथा'सेसाण'ति, उक्तशेषाणां त्र्यशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति।

तद्यथा—केवलज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मतिज्ञानावरणस्याऽनन्तगुणहीनः। ततः श्रुतज्ञानावरणस्यानन्तगुणहीनः। ततोऽवधिज्ञानावरणस्यानन्तगुणहीनः। ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणहीन इति ज्ञानावरणपञ्चकस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

केवलदर्शनावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः। ततोऽचक्षुर्दर्शनावरस्यानन्तगुणहीनः। ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः। ततः स्त्यानर्द्धेरनन्तगुणहीनः। ततो निद्रानिद्राया अनन्तगुणहीनः। ततः प्रचलाप्रचलाया अनन्तगुणहीनः। ततो निद्राया अनन्तगुणहीनः ततः प्रचलाया उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीन इति दर्शनावरणनवकस्योत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततः असातवेदनीयस्यानन्तगुणहीनः, इति वेदनीयकर्मण उत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

मिथ्यात्वमोहनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्याऽनन्तगुणहीनः। ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषहीनः। ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषहीनः। ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषहीनः। तत सञ्ज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः। ततः संज्वलनमायाया विशेषहीनः। ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषहीनः। ततः संज्वलनमानस्य विशेषहीनः। ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः। ततः प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषहीनः। ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषहीनः। ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषहीनः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषहीनः ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषहीनः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषहीनः।

सव्वऽहियो तिव्वरसो वीरियविग्घस्स ताउ जहकमसो ।
अत्थि अणंतगुणूणो उवभोगाइचउविग्घाणं ॥२५४॥

(प्रे०) "सव्वहियो" इत्यादि, वीर्यान्तरायकर्मण उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, बन्धमाश्रित्य क्षपकश्रेणौ सर्वतः पश्चाद् देशघात्यनुभागभवनात् । तत उपभोगान्तरायस्याऽनन्तगुणहीनः, वीर्यान्तरायतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्राग् देशघात्यनुभागभवनात् । ततो भोगान्तरायस्यानन्तगुणहीनः, उपभोगान्तरायतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्राग् देशघात्यनुभागभवनात् । ततो लाभान्तरायस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, भोगान्तरायतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्राक् क्षपकश्रेणौ बन्धमाश्रित्य देशघातिस्पर्धकभवनात् । ततो दानान्तरायस्यानन्तगुणहीनः, क्षपकश्रेणौ सर्वप्रथमदेशघात्यनुभागभवनादिति ओघत उत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम् । सर्वास्वस्थासूक्तक्रमेणैव रसबन्धप्रवर्तनेन ज्येष्ठरसबन्धाल्पबहुत्वे क्षपकश्रेणिगतरसबन्धक्रमो हेतुतया योजित इत्यवधार्यम् ॥२५४॥

अथ मार्गणासु स्वस्थानाऽल्पबहुत्व दिदर्शयिषुरादौ तावत्समानवक्तव्यत्वाद् द्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वोघवदतिदिशन्नाह—

ओघव्व दुपंचिदिय--तसपणमणवयणकायवेएसु ।
चउकोहाइणयणियरभविसण्णीसु तह आहारे ॥२५५॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः पञ्चमनोयोगाः पञ्चवचोयोगाः काययोगौघः त्रयो वेदाः चत्वारः कषायाः चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शन भव्यः संज्ञ्याहारी चेति सप्तविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति श्रेणिसद्भावात् , त्रिगतिकानां चातुर्गतिकानां वा सद्भावाच्च । तच्चानन्तरोपदर्शितौघनिरूपणत एवाऽवसातव्यम् ॥२५५॥

अथ नरकौघादिमार्गणास्वाह—

णिरय-छपढमाइणिरयमणुकुमाराइगेसु सव्वहियो ।
मणुसाउस्स गुरुरसो इयरस्स अणंतगुणहीणो ॥२५६॥
गइअणुपुव्वीण भवे आउव्व खलु पडिवक्खवज्जाओ ।
अप्पबहू ण पणिदियउरालुवंगतसचउगाणं ॥२५७॥
कम्मस्स सव्वअहियो तिव्वरसो तो अणंतगुणहीणो ।
तेअसउरलाण कमा णेयो ओघव्व सेसाणं ॥२५८॥

(प्रे०) '**णिरय**" इत्यादि, नरकौघः प्रथमादयः षड् नरकाः सनत्कुमारादिसहस्रारान्ताः षड् देवभेदाश्चेति त्रयोदशसु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततस्तिर्यगायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अल्पतरप्रशस्तत्वात। तथा '**गइआणुपुव्वीण**" त्ति, "**आउव्व**" त्ति, मनुष्यतिर्यग्गती एवेह बन्धमर्हतः, एवमेवानुपूर्व्यावपि। ततश्चात्रेदमायातम्-मनुष्यगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात्। ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात्। आनुपूर्वीविषयाऽप्येषा एव वक्तव्यता। तथा पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम त्रसचतुष्कञ्चेति षण्णामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं नास्ति, तत्प्रतिपक्षभूतैकेन्द्रियप्रमुखजात्यादीनां बन्धाभावात्। कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्ततमत्वात्। ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, अल्पप्रशस्तत्वात्। तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, हेतुस्तु पूर्वोक्त एव। शेषशरीरद्वयस्य तु बन्धाभाव एव। तथा'**सेसाण**'ति, उक्तशेषाणां त्र्यशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति।

तद्यथा—केवलज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मतिज्ञानावरणस्याऽनन्तगुणहीनः। ततः श्रुतज्ञानावरणस्यानन्तगुणहीनः। ततोऽवधिज्ञानावरणस्यानन्तगुणहीनः। ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणहीन इति ज्ञानावरणपञ्चकस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

केवलदर्शनावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः। ततोऽचक्षुर्दर्शनावरस्यानन्तगुणहीनः। ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः। ततः स्त्यानर्द्धेरनन्तगुणहीनः। ततो निद्रानिद्राया अनन्तगुणहीनः। ततः प्रचलाप्रचलाया अनन्तगुणहीनः। ततो निद्राया अनन्तगुणहीनः ततः प्रचलाया उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीन इति दर्शनावरणनवकस्योत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततः असातवेदनीयस्यानन्तगुणहीनः, इति वेदनीयकर्मण उत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

मिथ्यात्वमोहनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्याऽनन्तगुणहीनः। ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषहीनः। ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषहीनः। ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषहीनः। तत सञ्ज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः। ततः संज्वलनमायाया विशेषहीनः। ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषहीनः। ततः संज्वलनमानस्य विशेषहीनः। ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः। ततः प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषहीनः। ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषहीनः। ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषहीनः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषहीनः ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषहीनः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषहीनः।

ततो नपुंसकवेदस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः। ततोऽरतेरनन्तगुणहीनः। ततः शोकस्यानन्तगुणहीनः। ततो भयस्यानन्तगुणहीनः। ततो जुगुप्साया अनन्तगुणहीनः। ततः स्त्रीवेदस्यानन्तगुणहीनः। ततः पुरुषवेदस्यानन्तगुणहीनः। ततो रतेरनन्तगुणहीनः। ततो हास्यस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीन इति मोहनीयकर्मणः षड्विंशतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

प्रथमसंहनननाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततः सेवार्त्तस्यानन्तगुणहीनः। ततः कीलिकाख्यस्यानन्तगुणहीनः। ततोऽर्धनाराचस्याऽनन्तगुणहीनः। ततो नाराचस्याऽनन्तगुणहीनः, तत ऋषभनाराचस्याऽनन्तगुणहीन इति संहनननाम्न उत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

प्रथमसंस्थाननाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततो हुण्डकस्यानन्तगुणहीनः। ततो वामनस्यानन्तगुणहीनः। ततः कुब्जस्यानन्तगुणहीनः। ततः सादिनोऽनन्तगुणहीनः। ततो न्यग्रोधस्यानन्तगुणहीन इति संस्थानषट्कस्योत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वम्। प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततोऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्यानन्तगुणहीन इति प्रशस्ताप्रशस्तभेदभिन्नस्य वर्णाद्यष्टकस्योत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

प्रशस्तविहायोगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततोऽप्रशस्तविहायोगतेरनन्तगुणहीन इति विहायोगतिद्विकस्योत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

स्थिरषट्कस्योत्कृष्टरसः ाधिकः। ततोऽस्थिरषट्कस्याऽनन्तगुणहीन इति स्थिरनामादीनां द्वादशप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्।

उच्चैर्गोत्रस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। ततो नीचैर्गोत्रस्यानन्तगुणहीन इति गोत्रद्विकस्योत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वम्। वीर्यान्तरायस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः। तत उपभोगान्तरायस्यानन्तगुणहीनः। ततो भोगान्तरायस्यानन्तगुणहीनः। ततो लाभान्तरायस्यानन्तगुणहीनः। ततो दानान्तरायस्यानन्तगुणहीन इति अन्तरायपञ्चकस्योत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्। इति त्र्यशीतेः, प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वमोघवद् दर्शितम्। प्रत्येकप्रकृतीनामल्पबहुत्वस्याभावात् शेषप्रकृतितया त्रयशीतेर्ग्रहणम् ॥२५६ २५८॥

अथ सप्तमनरकमार्गणायां प्रस्तुताऽल्पबहुत्व दिदर्शयिषुर्बहुसमानवक्तव्यत्वात् नरकौघवदतिदिशन्नाह—

णिरयव्व चरमणिरये सव्वेसि होइ णवरि अप्पबहू।
तिरियाउगस्स ण भवे सेसाऊणं अबंधाओ ॥२५९॥

(प्रे०) "**णिरयव्व**" इत्यादि, सप्तमनरकमार्गणायां सर्वमनन्तरोक्तं नरकौघमार्गणावद् वक्तव्यं भवति, नवरं शेषायुषामत्र बन्धाभावेन तिर्यगायुषः प्रतिपक्षाभावात्तस्योत्कृष्ट-

रसस्याल्पबहुत्वं न भवति । एवं सति अत्र यथाऽल्पबहुत्वं प्राप्यते तथैव दर्शयामः—मनुष्य-गते उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः । ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनः । मनुष्यानुपूर्व्या उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः । ततः तिर्यगानुपूर्व्या अनन्तगुणहीनः । पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम त्रसचतुष्कं तिर्यगायुश्चेति सप्तानां रसस्याल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः । ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । शेषाणां त्र्यशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वमोघवद् भवति । तच्चानन्तरोक्तनरकौघादिमार्गणाविवरणतो ज्ञेयम् ।।२५९।।

अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वाह—

होइ तिरिपणिदितिरियतिगे य णिरयाउगस्स सव्वहियो ।
ताउ अणंतगुणूणो सुरणरतिरियाउगाण कमा ।।२६०।।
देवदुगस्स गुरुरसो सव्वहियो तो अणंतगुणहीणो ।
कमसोऽत्थि णिरयणरतिरिदुगाण ओघव्व सेसाणं ।।२६१।।

(प्रे०) "**होइ तिरि**"इत्यादि, तिर्यग्गत्योघः,पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्, तिरश्ची चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं नरकायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, शेषायुष्कापेक्षया दीर्घतरस्थितिकत्वात् । ततो देवायुषोऽनन्तगुणहीनः, तस्य प्रशस्तत्वेऽपि अल्पतरस्थितिकत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, प्रशस्तत्वेऽपि त्रिपल्योपमादिमात्रस्थितिकबध्यमानत्वात् । ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, मनुष्यायुष्कतुल्यस्थितिकबध्यमानत्वेऽपि अल्पप्रशस्तत्वात् । तथा "**देवदुगस्स**" त्ति देवगतितदानुपूर्व्योः प्रत्येकमुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्ततमत्वात् ततो नरकगतितदानुपूर्व्योः, प्रत्येकमुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । ततो मनुष्यगति-तदानुपूर्व्योः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोः प्रशस्तत्वेऽपि मिथ्यादृष्टीनां मध्यमविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । ततः तिर्यग्गति-तदानुपूर्व्योः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वेऽपि मध्यमसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् तथा "**सेसाण**" त्ति उक्तशेषाणां द्व्युत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाल्प-बहुत्वमोघवद् भवति । इमाश्च ताः प्रकृतयः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं सातासाते मोहनीयषड्विंशतिकं जातिपञ्चकं कार्मणतैजसवैक्रियौदारिकशरीरनामानि वैक्रियौदारिकाङ्गोपाङ्ग-नाम्नी संहनननषट्कं संस्थानषट्कं प्रशस्ताप्रशस्तभेदभिन्नं वर्णादिचतुष्कं खगतिद्विकं त्रसदशकं स्थावरदशकं गोत्रद्विकमन्तरायपञ्चकञ्चेति द्व्युत्तरशत प्रकृतीनाम् ।।२६०-२६१।।

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वाह—

असमत्तपणिदितिरियमणुसपणिदियतसेसु सव्वेसु ।
एगिंदियविगलिंदियपुहवीसलिलवणकायेसु ॥२६२॥
मिच्छाउ जा जुगुच्छा ओघव्व हवेज्ज तिव्वअणुभागो ।
ताउ अणंतगुणूणो रइहस्सित्थीपुमाण कमा ॥२६३॥
णिरयव्व अत्थि आउगगइदेहउवंगआणुपुव्वीणं ।
अप्पाबहुगं हवए ओघव्वियराण पयडीणं ॥२६४॥

(प्रे०) "असमत्त०" इत्यादि,- असमाप्तशब्दस्यापर्याप्तवाचित्वात् 'तसे'त्यन्तमनुवर्त्तमानाच्च अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्, अपर्याप्तमनुष्यः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, "सव्वेसु" त्ति, सर्वे एकेन्द्रियभेदास्ते च सप्त, सर्वे विकलेन्द्रियभेदास्ते च नव, सर्वे सप्तरूपाः पृथ्वीकायभेदाः, सप्ताऽप्कायभेदाः, सर्वे वनस्पतिकायभेदास्ते चैकादशेति पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमोघप्ररूपणायाम् "मिच्छस्स सव्वअहियो" इत्यादि(२४६)गाथोक्तानां मिथ्यात्वादिजुगुप्सापर्यन्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याल्पबहुत्वमोघवद् भवति, कुतः ?, उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्य मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् अत्र एतासां ज्येष्ठरसस्य मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन युगपद् निर्वर्तनाच्च । अथौघवदेव दर्शयामः । तद्यथा—मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषहीनः, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषहीनः, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषहीनः, ततः सञ्ज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततः संज्वलनमायाया विशेषहीनः, ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषहीनः, ततः सञ्ज्वलनमानस्य विशेषहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषहीनः ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषहीनः, ततो नपुंसकवेदस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः ततोऽरतेरनन्तगुणहीनः, ततः शोकस्यानन्तगुणहीनः ततो भयस्यानन्तगुणहीनः, ततो जुगुप्साया अनन्तगुणहीनः । इति दर्शितमोघवद् मिथ्यात्वादिजुगुप्सावसानानां मोहनीयोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वम् । तथा "ताउ"त्ति जुगुप्साया उत्कृष्टरसाद्रतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अनन्तगुणहीनसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । ततो हास्यस्यानन्तगुणहीनः तुल्यसंक्लेशेन बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः स्त्रीवेदस्यानन्तगुणहीनः, प्रस्तुतमार्गणासु प्राक्पदतोऽनन्तगुणहीनसंक्लेशेन

तज्ज्येष्ठरसस्य बध्यमानत्वात् । ततः पुरुषवेदस्यानन्तगुणहीनः, स्वल्पसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । अत्र ओघतः क्रमवैषम्येऽयं हेतुरवगन्तव्यः—ओघे हास्यरतिपुरुषवेदप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिः समाना, ततः स्त्रीवेदस्याधिका । अत्र तु पुरुषवेदस्योत्कृष्टस्थितिरल्पा, ततः स्त्रीवेदस्याधिका, ततो रतिहास्यप्रकृत्योरधिका परस्परं समाना । स्त्रीपुरुषवेदयोरुत्कृष्टा स्थितिः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यसंक्लेशेन निर्वर्त्यते, हास्यरत्योस्तु साऽपर्याप्तसूक्ष्मप्रायोग्यसंक्लेशेन निर्वर्त्यते अतो रतेः हास्यस्य स्त्रीवेदस्य पुरुषवेदस्य चोत्कृष्टरसः क्रमेणाऽनन्तगुणहीनः कथितः । तथा "**णिरयव्व**" त्ति "**आउग**" त्ति आयुष्कादीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं नरकगतिवद् भवति, नरकगतिमार्गणावदिहाऽपि मनुष्यतिर्यग्रूपगतिद्वयप्रायोग्याणामेव प्रकृतीनां बन्धार्हत्वात् । नरकगतिवद् यथाऽल्पबहुत्वं प्राप्यते तथैव दर्शयामः—मनुष्यायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, तिर्यगायुषस्ततोऽनन्तगुणहीनः । मनुष्यगतेः सर्वाधिकः, ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनः । कार्मणशरीरनाम्नः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । अङ्गोपाङ्गनाम्नोऽल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धाभावेन केवलस्यैकस्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न एव बन्धोपलम्भात् । मनुष्यानुपूर्व्याः सर्वाधिकः, ततस्तिर्यगानुपूर्व्या अनन्तगुणहीनः । तथा "**इयराण**" त्ति उक्तशेषाणामिह बन्धप्रायोग्याणां सप्तसप्ततेः प्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वमोघवद् भवति । तच्चौघप्ररूपणात एवाऽवसातव्यम् , ग्रन्थगौरवभयात् सुगमत्वाच्च नात्र प्रतन्यते । इमाश्च ताः सप्ततिः प्रकृतयः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं जातिपञ्चकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं प्रशस्ताप्रशस्तभेदभिन्नवर्णाद्यष्टकं विहायोगतिद्विकं त्रसदशक स्थावरदशकं गोत्रद्विकम् अन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥२६२-२६४॥

अथ त्रिमनुष्यादिमार्गणास्वाह—

सव्वेसिं पयडीणं ओघव्व तिणरुरलेसु होइ परं ।
तिरियव्वऽप्पाबहुगं णेयं गइआणुपुव्वीणं ॥२६५॥

(प्रे०) "**सव्वेसिं**" इत्यादि "**तिणरुरलेसु**" त्ति, मनुष्यौघः, पर्याप्तमनुष्यः, मानुषी औदारिककाययोगश्चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति । अथाऽतिप्रसक्तिं परिहरति परमित्यादिना, गतीनामानुपूर्वीणां चाल्पबहुत्वमोघवद् न भवति, किन्तु तत् तिर्यग्गत्योघवद् भवति, तद्यथा-देवद्विकस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो नरकद्विकस्याऽनन्तगुणहीनः, ततो मनुष्यद्विकस्यानन्तगुणहीनः, ततस्तिर्यग्द्विकस्याऽनन्तगुणहीनः, हेतुरत्र तिर्यग्गत्योघवद् । ओघे मनुष्यद्विकोत्कृष्टरसबन्धस्य चतुर्थगुणस्थानकवर्तिस्वामित्वेन इह तु मध्यमविशुद्धमिथ्यादृष्टेरेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वेन ओघतोऽन्यथा प्ररूपणमिति ॥२६५॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वादीशानान्तप्रमुखदेवादिमार्गणासु नरकगतिवदतिदिशन्नाह—

सुरईसाणंतविउवदुगेसु णिरयव्व सव्वपयडीणं ।
णवरि अणंतगुणूणो पडिवक्खाणं पणिंदितसा ॥२६६॥

(प्रे०) "सुरईसाणंत" इत्यादि, देवौघादय ईशानान्ताः पड् देवभेदाः, वैक्रियकाययोगः, वैक्रियमिश्रकाययोगश्चेत्यष्टासु मार्गणासु प्रत्येकमुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं नरकौघवद् भवति, उभयत्र मनुष्यतिर्यग्रूपगतिद्विकप्रायोग्यस्यैव बन्धस्य सद्भावात्, गुणस्थानकसाम्याच्च । अथ संभाव्यमानविशेप दर्शयति—पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामभ्यां 'पडिवक्खाण" ति तत्प्रतिपक्षप्रकृत्योः प्रत्येकमुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनो भवति । इदमुक्त भवति—पञ्चेन्द्रियजातिनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् सर्वविशुद्धेन सम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वाच्च । तत एकेन्द्रियजातिनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । त्रसनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततः स्थावरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, हेतुः सुगमः, नरकगतौ केवलं पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोर्बन्धाभावात् तत्र पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोरुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावादेव, इह तु मिथ्यादृष्टिदेवा एकेन्द्रियजातिं स्थावरनाम चाऽपि बध्नन्ति, ततो यथोक्तमल्पबहुत्वं प्राप्यते । नरकौघमार्गणायां पञ्चेन्द्रियजातिः, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, त्रसचतुष्कञ्चेति पण्णामल्पबहुत्वं प्रतिपिद्धम् । इह तु औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम बादरत्रिकमिति चतसृणामेवोत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं नास्तीति ज्ञेयम् । ॥२६६॥

अथाऽऽनतादिदेवमार्गणासु सापवादं नरकौघवदतिदिशन्नाह—

णिरयव्वऽप्पाबहुगं गेविज्जंतेसु आणताईसु ।
सव्वाण णवरि ण भवे णराउगइआणुपुव्वीणं ॥२६७॥

(प्रे०) "णिरयव्व" इत्यादि, आनतादिग्रैवेयकान्तासु त्रयोदशसु मार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वं नरकौघवद् भवति, गुणस्थान [illegible]म्यात् । अत्राऽपवाद दर्शयति-मनुष्यायुः, मनुष्यगतिः, मनुष्यानुपूर्वीति तिसृणामल्पबहुत्वं न भवति, इह मनुष्यप्रायोग्याणामेव प्रकृतीनां बन्धसद्भावेन तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अथातिदिष्टमेव सापवादं दर्शयामः—पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम त्रसचतुष्कमिति पण्णां मनुष्यत्रिकस्य चोत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, शे[illegible] त्र्यशीतेरोघवद् भवति, तच्चौघप्ररूपणात एव ज्ञेयम् । अथ त्र्यशीतिप्रकृतयः-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरण-

नवकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं वर्णाद्यष्टकं स्थिरषट्कम् अस्थिरषट्कं गोत्रद्विकमन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥२६७॥

अथ पञ्चाऽनुत्तरसुरमार्गणास्वाह—

पणणाणावरणाणं दुवेयणीयपणअंतरायाणं ।
ओघव्वऽणुत्तरेसुं णो अत्थि णराउउच्चाणं ॥२६८॥
सव्वाऽब्भहियो केवलदंसणआवरणगस्स ताउ कमा ।
अत्थि अणंतगुणूणो णयणेयरओहिणिद्दपयलाणं ॥२६९॥
तिव्वरसो सव्वहियो अंतिमलोहस्स तो विसेसूणो ।
कमसो अंतिममायाकोहमयाणं मुणेयव्वो ॥२७०॥
ताउ अडकसायाणं ओघव्व तओ अणंतगुणहीणो ।
पुमअरइसोगभयकुच्छारइहस्साण होइ कमा ॥२७१॥
कम्मस्स सव्वअहियो तिव्वऽणुभागो कमा मुणेयव्वो ।
ताउ अणंतगुणूणो तेओरालतणुणामाणं ॥२७२॥
तिथिराइगजुगलाण अडवण्णाईण होइ ओघव्व ।
अप्पाबहुगं ण भवे सेसाणं णामपयडीणं ॥२७३॥

(प्रे०) "पणणाणावरणाणं" इत्यादि, पञ्चसु अनुत्तरसुरमार्गणासु प्रत्येकं पञ्चानां ज्ञानावरणानां वेदनीयद्विकस्य पञ्चानामन्तरायाणाञ्चेति द्वादशानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तद्यथा–केवलज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मतिज्ञानावरणस्याऽनन्तगुणहीनः, ततः श्रुतज्ञानावरणस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽवधिज्ञानावरणस्याऽनन्तगुणहीनः, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्याऽनन्तगुणहीनः । सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततोऽसातवेदनीयस्याऽनन्तगुणहीनः । वीर्यान्तरायस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, तत उपभोगान्तरायस्याऽनन्तगुणहीनः, ततो भोगान्तरायस्याऽनन्तगुणहीनः, ततो लाभान्तरायस्याऽनन्तगुणहीनः, ततो दानान्तरायस्याऽनन्तगुणहीनः । अत्र मुख्यवृत्त्या हेतुः प्रकृतिविशेष एव बोध्यः । मनुष्यायुष्कोच्चैर्गोत्रयोरल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । ननु मनुष्यद्विकस्य का गतिः, तस्य "अप्पाबहुग ण भवे" इत्यादिनाऽत्रैव निषेत्स्यमानत्वात् ।

तथा केवलदर्शनावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः । ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः, ततो निद्राया

अनन्तगुणहीनः, ततः प्रचलाया अनन्तगुणहीनः, स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धाऽभावादुक्तं यथोक्त-स्वरूपं दर्शनावरणषट्कस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम् । संज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततः संज्वलनमायाया विशेषहीनः, ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषहीनः, ततः संज्वलनमानस्य विशेष हीनः, ततः "अडकसायाण ओघव्व" तद्यथा—संज्वलनमानोत्कृष्टरसात् प्रत्याख्यानावरण-लोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषहीन, ततः प्रत्या-ख्यानावरणस्य क्रोधस्य विशेषहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषहीनः, ततोऽप्रत्या-ख्यानावरणलोभस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषहीनः, ततोऽप्रत्या-ख्यानावरणक्रोधस्य विशेषहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषहीनः, ततः पुरुषवेदा-ऽरतिशोकभयजुगुप्सारतिहास्यानां प्रत्येकं यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, कुतः ? प्रकृतिविशेष एवात्र कारणम् । कार्मणशरीरनाम्नः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, औदारिक-शरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । तथा "तिथिराइ" इत्यादि 'ओघव्व" त्ति सुगमम् । तद्यथा-स्थिर-नाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् , ततोऽस्थिरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । शुभनाम्नः सर्वाधिकः, ततोऽशुभनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । यशःकीर्तिनाम्नः सर्वाधिकः, ततो-ऽयशःकीर्तिनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्य सर्वाधिकः, ततोऽप्रशस्तवर्णादि-चतुष्कस्यानन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । तथा "अप्पाबहुगं ण भवे" त्ति मनुष्यद्विकम्, पञ्चेन्द्रियजातिः, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, प्रथमसंहनननाम, प्रथमसंस्थाननाम, प्रशस्तविहायो-गतिः, त्रसचतुष्कम्, सुभगत्रिकञ्चेति चतुर्दशसङ्ख्याकानां नामकर्मोत्तरप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्प-बहुत्वं नास्ति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥२६८-२७३॥

अथ तेजोवायुकायमार्गणासु प्रकृतमाह—

सव्वागणिवाऊसुं आउगगइआणुपुव्विगोआणं ।
णेव भवे अप्पबहू अपज्जमणुयव्व सेसाणं ॥२७४॥

(प्रे०) "सव्वागणि" इत्यादि, सर्वासु सप्तस्वित्यर्थः, तेजःकायमार्गणासु सप्तसु च वायुकायमार्गणासु आयुष्कगतिनामाऽऽनुपूर्वीगोत्रकर्मणामल्पबहुत्वं न भवति, तिर्यक्त्रिकनीचै-र्गोत्रयोरेव बन्धसद्भावेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । "से णं" ति उक्तशेषाणां यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं संभवति तासामित्यर्थः, तदपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद् भवति, उभयत्र प्रथमस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिकं जातिप ' शरीरत्रिकं वैक्रियाऽऽहारक-शरीरनाम्नोर्बन्धाभावात्, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहनन _ ' संस्थानषट्कं वर्णाद्य ' विहायो-

गतिद्विकं त्रसदशकं स्थावरदशकम् अन्तरायपञ्चकञ्चेत्यष्टनवतिः, आसां प्रत्येकमुत्कृष्ट-रसस्याऽल्पबहुत्वम् "असमत्तपणिदि" इत्यादिगाथाविवरणतोऽवधेयम् ॥२७४॥

अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामाह—

सव्वहियो तिव्वरसो उरालमीसे भवे सुरगईए ।
ताउ अणंतगुणूणो होइ कमा णरतिरिगईणं ॥२७५॥
एवं अणुपुव्वीणं तिरियव्व भवे सरीरुवंगाणं ।
असमत्तणरव्वाउगमोहाणोघव्व सेसाणं ॥२७६॥

(प्रे०) 'सव्वहियो' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां देवगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, चतुर्थ एव गुणस्थानके बध्यमानत्वात्, ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणहीनः, प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनोऽप्रशस्तत्वात्। तथा "एव अणुपुव्वीणं" ति अनन्तरोक्तक्रमेणैव तिसृणामपि देवाद्यानुपूर्वीणामुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वं ज्ञेयम्। तथा "तिरियव्व"त्ति शरीरनामाङ्गोपाङ्गनाम्नां तिर्यग्गत्योघवद् भवति, आहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गनाम्नोर्बन्धाभावात्। तद्यथा—कार्मणशरीरनाम्नः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः। वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नः सर्वाधिकः, सम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वात्, तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, मिथ्यादृष्टिना बध्यमानत्वात्। तथा "असमत्तणरव्व" त्ति अत्र बन्धप्रायोग्ययोरायुषोरुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं पर्याप्तमनुष्यमार्गणावद् भवति। तद्यथा- मनुष्यायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः। तथा मोहनीयप्रकृतीनामल्पबहुत्वमप्यपर्याप्तमनुजवज्ज्ञेयमर्थाद् रतिहास्यस्त्रीपुरुषवेदप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वं क्रमेण पूर्वपूर्वत उत्तरोत्तरमनन्तगुणहीनं वक्तव्यम्, तथा "ओघव्व" त्ति, उक्तशेषाणां सप्ततेः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति। अथोक्तशेषाः प्रकृतयः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं जातिपञ्चकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं वर्णाद्यष्टकं विहायोगतिद्विकं त्रसदशकं स्थावरदशकं गोत्रद्विकम् अन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥२७५-२७६॥

अथाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराह—

सव्वहियो तिव्वरसो आहारदुगम्मि चरमलोहस्स ।
ताउ कमांतिममायाकोहमया विसेसूणो ॥२७७॥

ताउ अणंतगुणूणो पुमस्स ताउ अरइस्स ताउ कमा ।
सोगभयजुगुच्छाणं तओ कमाऽत्थि रइहस्साणं ॥२७८॥
कम्मस्स सव्वअहियो तिव्वरसो तो अणंतगुणहीणो ।
तेअसवेउव्वाणं सेसाण अणुत्तरव्व भवे ॥२७९॥

(प्रे०) "सव्वहियो" इत्यादि, आहारककाययोगः, आहारकमिश्रकाययोग इति द्वयोर्मार्गणयोः प्रत्येकं "चरम" त्ति संज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततः संज्वलनमायाया विशेषोनस्ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषोनः, ततः संज्वलनमानस्य विशेषोनः, ततः पुरुषवेदस्याऽनन्तगुणहीनः, ततोऽरतेरनन्तगुणहीनः, ततः शोकस्य ततो भयस्य ततो जुगुप्सायास्ततो रतेः ततो हास्यस्य प्रत्येकमनन्तगुणहीनः । कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । तथा 'सेसाण" ति उक्तशेषाणां सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं प्राग् यथाऽनुत्तरसुरमार्गणासु दर्शितं तथैव भवति । तद्यथा—केवलज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । अथ दर्शनावरणाऽल्पबहुत्वम्—केवलदर्शनावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणनिद्राप्रचलानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । तथा सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततोऽसातवेदनीयस्यानन्तगुणहीनः । प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्य सर्वाधिकः, ततोऽप्रशस्तस्य तस्यानन्तगुणहीनः । स्थिरनाम्नोऽधिकस्ततोऽनन्तगुणहीनोऽस्थिरनाम्नः । शुभनाम्नोऽधिकस्ततोऽनन्तगुणहीनोऽशुभनाम्नः । यशःकीर्त्तेः सर्वाधिकः,ततोऽयशःकीर्त्तेरनन्तगुणहीनः । वीर्यान्तरायस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, तत उपभोग-भोग लाभ-दानान्तरायाणां यथाक्रममनन्तगुणहीनः । तथा देवत्रिकम् , पञ्चेन्द्रियजातिः, वैक्रियाङ्गोपाङ्गम्, समचतुरस्रसंस्थाननाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसचतुष्कम् , सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति पञ्चदशानामल्पबहुत्वं नास्ति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात् , अनुत्तरसुरमार्गणासु मनुष्यत्रिकौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंघयणनामरूपाणां पञ्चानामल्पबहुत्वस्य प्रतिषेधः, इह तु तत्स्थाने देवत्रिकवैक्रियाङ्गोपाङ्गरूपाणां चतसृणां निषेधो बोध्यः ॥२७७–२७९॥

अथ कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोराह—

कम्माणाहारेसुं ओघव्व हवेज्ज मोहपयडीणं ।
सेसाणं पयडीणं ओरालियमीसजोगव्व ॥२८०॥

(प्रे०) "कम्माणाहारेसु" इत्यादि, गतार्थम् । कुतः ? औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां मोहनीयप्रकृतीनामुत्कृष्टरसाऽल्पबहुत्वे रतिहास्यस्त्रीपुरुषप्रकृतीनामुत्कृष्टरसः

क्रमेणानन्तगुणहीनः अत्र तु ओघवदेवातिदिष्टत्वेन स्त्रीपुरुषहास्यरतिप्रकृतीनां क्रमेणानन्तगुणहीन उत्कृष्टरसोऽवसातव्यः। शेषप्रकृतीनामल्पबहुत्वमौदारिकमिश्रयोगमार्गणावद् भवति। तच्च गाथा (२७५ २७६) विवरणतो ज्ञेयम्। नवरं प्रस्तुतमार्गणयोगायुर्न बध्यते तस्मात् तत्रोक्तायुषोरल्पबहुत्वमत्र न वक्तव्यम्॥२८०॥

अथाऽपगतवेदमार्गणायामाह—

ओघव्वऽत्थि अवेए पढमावरणंतरायपणगाण।
अप्पाबहुगं हवए णो सायजसुच्चगोआणं ॥२८१॥
सव्वाऽब्भहियो केवलदंसणआवरणगस्स ताउ कमा।
णयणियरोहिदरिसणावरणाण अणंतगुणहीणो ॥२८२॥
णेयो सव्वाऽब्भहियो अंतिमलोहस्स तिव्वअणुभागो।
ताउ कमांतिममायाकोहमयाणं विसेसूणो ॥२८३॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, "अवेए" त्ति, अवेदमार्गणायां प्रथमावरणानां ज्ञानावरणानामित्यर्थः, अन्तरायपञ्चकस्य चौघवद् भवति। तद्यथा-केवलज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्ततो मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायज्ञानावरणानामुत्तरोत्तरमनन्तगुणहीनः, हेतुरत्रौघवदेव। तथा वीर्यान्तरायस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्तत उपभोग-भोग-लाभ-दानान्तरायाणां यथाक्रममनन्त गुणहीनो हेतुस्तथैव। तथा तिसृणां सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। अथ दर्शनावरणस्याल्पबहुत्वम्-तत्र केवलदर्शनावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणहीनः, ततोऽवधिदर्शनावरणस्याऽनन्तगुणहीन इति, शेषदर्शनावरणप्रकृतीनामत्र बन्धाभावात्। संज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्ततः संज्वलनमायाया विशेषहीनः, ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषहीनस्ततः संज्वलनमानस्य विशेषहीन इति, शेषमोहप्रकृतीनां बन्धासंभवात्॥२८१-८३॥

अथ ज्ञानत्रिकादिमार्गणास्वाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु सव्वहियो।
देवाउगस्स तत्तोऽणंतगुणूणो णराउस्स ॥२८४॥
गइअणुपुव्वीण भवे आउव्वोघव्व त उवंगाणं।

ताउ अणंतगुणूणो पुमस्स ताउ अरइस्स ताउ कमा ।
सोगभयजुगुच्छाणं तओ कमाऽत्थि रइहस्साणं ॥२७८॥
कम्मस्स सव्वअहियो तिव्वरसो तो अणतगुणहीणो ।
तेअसवेउव्वाणं सेसाण अणुत्तरव्व भवे ॥२७९॥

(प्रे०) "सव्वहियो" इत्यादि, आहारककाययोगः, आहारकमिश्रकाययोग इति द्वयोर्मार्गणयोः प्रत्येकं "चरम" त्ति संज्वलनलोभस्योत्कृष्टरमः सर्वाधिकः, ततः संज्वलनमायाया विशेपोनस्ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेपोनः, ततः संज्वलनमानस्य विशेपोनः, ततः पुरुपवेदस्याऽनन्तगुणहीनः, ततोऽरतेरनन्तगुणहीनः, ततः शोकस्य ततो भयस्य ततो जुगुप्सायास्ततो रतेः ततो हास्यस्य प्रत्येकमनन्तगुणहीनः । कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । तथा 'सेसाण" ति उक्तशेपाणां सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं प्राग् यथाऽनुत्तरसुरमार्गणासु दर्शितं तथैव भवति । तद्यथा—केवलज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । अथ दर्शनावरणाऽल्पबहुत्वम्—केवलदर्शनावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणनिद्राप्रचलानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । तथा सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततोऽसातवेदनीयस्यानन्तगुणहीनः । प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्य सर्वाधिकः, ततोऽप्रशस्तस्य तस्यानन्तगुणहीनः । स्थिरनाम्नोऽधिकस्ततोऽनन्तगुणहीनोऽस्थिरनाम्नः । शुभनाम्नोऽधिकस्ततोऽनन्तगुणहीनोऽशुभनाम्नः । यशःकीर्त्तेः सर्वाधिकः,ततोऽयशःकीर्त्तेरनन्तगुणहीनः । वीर्यान्तरायस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, तत उपभोग-भोग लाभ-दानान्तरायाणां यथाक्रममनन्तगुणहीनः । तथा देवत्रिकम् , पञ्चेन्द्रियजातिः, वैक्रियाङ्गोपाङ्गम्, समचतुरस्रसंस्थाननाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसचतुष्कम् , सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति पञ्चदशानामल्पबहुत्वं नास्ति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतीना बन्धाभावात् , अनुत्तरसुरमार्गणासु मनुष्यत्रिकौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंघयणनामरूपाणां पञ्चानामल्पबहुत्वस्य प्रतिषेधः, इह तु तत्स्थाने देवत्रिकवैक्रियाङ्गोपाङ्गरूपाणां चतसृणा निषेधो बोध्यः ॥२७७–२७९॥

अथ कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोराह—

कम्माणाहारेसु ओघव्व हवेज्ज मोहपयडीणं ।
सेसाणं पयडीणं ओरालियमीसजोगव्व ॥२८०॥

(प्रे०) "कम्माणाहारेसु" इत्यादि, गतार्थम् । कुतः ? औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां मोहनीयप्रकृतीनामुत्कृष्टरसाऽल्पबहुत्वे रतिहास्यस्त्रीपुरुषप्रकृतीनामुत्कृष्टरसः

क्रमेणानन्तगुणहीनः अत्र तु ओघवदेवातिदिष्टत्वेन स्त्रीपुरुषहास्यरतिप्रकृतीनां क्रमेणानन्त-गुणहीन उत्कृष्टरसोऽवसातव्यः। शेषप्रकृतीनामल्पबहुत्वमौदारिकमिश्रयोगमार्गणावद् भवति। तच्च गाथा (२७५ २७६) विवरणतो ज्ञेयम्। नवरं प्रस्तुतमार्गणयोरायुर्न बध्यते तस्मात् तत्रोक्तायुषोरल्पबहुत्वमत्र न वक्तव्यम् ॥२८०॥

अथाऽपगतवेदमार्गणायामाह—

ओघव्वऽत्थि अवेए पढमावरणंतरायपणगाण ।
अप्पाबहुगं हवए णो सायजसुच्चगोआणं ॥२८१॥
सव्वाऽभहियो केवलदंसणआवरणगस्स ताउ कमा ।
णयणियरोहिदरिसणावरणाण अणंतगुणहीणो ॥२८२॥
णेयो सव्वाऽभहियो अंतिमलोहस्स तिव्वअणुभागो ।
ताउ कमांतिममायाकोहमयाणं विसेसूणो ॥२८३॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, "अवेए" त्ति, अवेदमार्गणायां प्रथमावरणानां ज्ञानावरणानामित्यर्थः, अन्तरायपञ्चकस्य चौघवद् भवति। तद्यथा-केवलज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्ततो मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायज्ञानावरणानामुत्तरोत्तरमनन्तगुणहीनः, हेतुरत्रौघवदेव। तथा वीर्यान्तरायस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्तत उपभोग-भोग-लाभ दानान्तरायाणां यथाक्रममनन्त गुणहीनो हेतुस्तथैव। तथा तिसृणां सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। अथ दर्शनावरणस्याल्पबहुत्वम्—तत्र केवलदर्शनावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणहीनः, ततोऽवधिदर्शनावरणस्याऽनन्तगुणहीन इति, शेषदर्शनावरणप्रकृतीनामत्र बन्धाभावात्। संज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्ततः संज्वलनमायाया विशेषहीनः, ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषहीनस्ततः संज्वलनमानस्य विशेषहीन इति, शेषमोहप्रकृतीनां बन्धासंभवात् ॥२८१–८३॥

अथ ज्ञानत्रिकादिमार्गणास्वाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु सव्वहियो ।
देवाउगस्स तत्तोऽणंतगुणूणो णराउस्स ॥२८४॥
गइअणुपुव्वीण भवे आउव्वोघव्व त उवंगाणं ।

अडवगणाईण तहा थिराइजुगलाण तिगह भवे ॥२८५॥
अप्पाबहुगं णो खलु हवए अवसेसणामगोआणं ।
सेसाणं पयडीणं अणुत्तरसुरव्व विगणेयं ॥२८६॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, ज्ञानत्रिकमवधिदर्शन सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं चेति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं देवायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितबृहत्तमस्थितिकत्वाच्च । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, तस्य प्रशस्तत्वेऽपि पूर्वकोट्यात्मकाऽल्पस्थितिकत्वात् । तथा गत्यानुपूर्व्योरायुर्वद् भवति, तद्यथा-देवगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वादष्टमादिगुणस्थानके बध्यमानत्वाच्च । ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणहीनः, प्रशस्तत्वेऽपि चतुर्थगुणस्थानक एव बध्यमानत्वात् । देवानुपूर्व्या उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मनुष्यानुपूर्व्या अनन्तगुणहीनः । तथा "ओघव्व" त्ति, शरीरनामादीनां तदोघवद् भवति, तद्यथा-कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्ततः आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः सर्वाधिकस्ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । "अडवण्णाईण" त्ति, प्रशस्तस्य वर्णादिचतुष्कस्य सर्वाधिकस्ततोऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्यानन्तगुणहीनः, तस्याप्रशस्तत्वात् । "थिराइजुगलाण" स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्तिनाम्नां प्रत्येकमधिकस्तत्प्रतिपक्षभूतानामस्थिराशुभायशःकीर्त्तिनाम्नामनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । तथा "अप्पाबहुग णो खलु" त्ति, अनन्तरोक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणामेकादशसंख्याकानां नामकर्मोत्तरप्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य चोत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं खलु निश्चयेन नास्ति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्च ता एकादश नामप्रकृतयः-पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रथमसंहनननाम, प्रथमसंस्थाननाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसचतुष्कम् , सुभगत्रिकञ्चेति ।

तथा "सेसाण" ति उक्तशेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति, उभयत्र शेषप्रकृतीनां साम्यात्तथाधस्तनगुणस्थानवर्त्त्वेन चतुर्थगुणस्थानकस्यैव संभवात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः, सप्तत्रिंशत्प्रकृतयः-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं द्वादशकषाया हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः अन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥२८४-८६॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वान्मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं सापवादमाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावदतिदिशन्नाह--

मणणाणसंजमसमइअछेअपरिहारगेसु सव्वेसिं ।
आहारदुगव्व णवरि हवए कम्मस्स सव्वहियो ॥२८७॥
तत्तो तेजाहारगविउव्वाणा कमा अणंतगुणहीणो ।
आहारउवंगाओ विउव्वुवगस्सऽणंतगुणहीणो ॥२८८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मणणाण०" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिक छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकञ्चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं "सव्वेसिं" ति बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं तस्यैव प्रस्तुतत्वात्, आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावद् भवति । कुतः ? बाहुल्येन बन्धप्रायोग्यप्रकृतिसाम्यादल्पबहुत्वक्रमसाम्याच्च । आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराहारकद्विकं न बध्यत इह तु बध्यतेऽपि, अत एव शरीराङ्गोपाङ्गनाम्नामल्पबहुत्वमत्र ततोऽन्यथा दर्शयति 'णवरि' इत्यादिना, तद्यथा-कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । अङ्गोपाङ्गनाम्नोऽल्पबहुत्वमत्र नास्ति, एकस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न एव बन्धभावादित्येवं शरीराङ्गोपाङ्गनामवर्जशेषाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमविशेषेणाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावत् तत एवावधारणीयम्, शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं सञ्ज्वलनचतुष्कं हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम वर्णाद्यष्टकं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती उच्चैर्गोत्रम् अन्तरायपञ्चकञ्चेति सप्तपञ्चाशत् ॥२८७-२८८॥

अथ त्र्यज्ञानादिमार्गणास्वाह—

तिअणाणजयअभवियमिच्छेसु तिरियव्व आऊणं ।
सेसाणोघव्व भवे गयवेअव्व सुहमम्मि सव्वेसिं ॥२८९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिअणाण०" इत्यादि, मत्यादीनि त्रीण्यज्ञानानि, अयतः, अभव्यः मिथ्यात्वमिति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकमायुषां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं तिर्यग्गत्योघवद् भवति । कुतः ? अत्रापि देवायुष्कापेक्षया नरकायुषः स्थितेराधिक्यादुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणो बध्यत इति हेतोः । अथाऽऽयुषामल्पबहुत्वम्—नरकायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितस्थितिकत्वात् । ततो देवायुषोऽनन्तगुणहीनः, एकत्रिंशत्सागरोपममात्रस्थितिकत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, त्रिपल्योपममात्रस्थितिकत्वात् । ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, मनुष्यायुस्तुल्यस्थितिकत्वेऽपि, अल्पप्रशस्तत्वात् । तथा "सेसाण" त्ति आयुषामिहोक्तत्वात्तद्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्व-

अडवरणाईण तहा थिराइजुगलाण तिराह भवे ॥२८५॥
अप्पाबहुगं गो खलु हवए अवसेसणामगोआणं ।
सेसाणं पयडीणं अणुत्तरसुरव्व विरणोयं ॥२८६॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, ज्ञानत्रिकमवधिदर्शन सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं चेति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं देवायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितबृहत्तमस्थितिकत्वाच्च । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, तस्य प्रशस्तत्वेऽपि पूर्वकोट्यात्मकाऽल्पस्थितिकत्वात् । तथा गत्यानुपूर्व्योरायुर्वद् भवति, तद्यथा-देवगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वादष्टमादिगुणस्थानके बध्यमानत्वाच्च । ततो मनुष्य गतेरनन्तगुणहीनः, प्रशस्तत्वेऽपि चतुर्थगुणस्थानक एव बध्यमानत्वात् । देवानुपूर्व्या उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मनुष्यानुपूर्व्या अनन्तगुणहीनः । तथा "ओघव्व" त्ति, शरीरनामादीनां तदोघवद् भवति, तद्यथा—कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः सर्वाधिकस्ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । "अडवण्णाईण" त्ति, प्रशस्तस्य वर्णादिचतुष्कस्य सर्वाधिकस्ततोऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्यानन्तगुणहीनः, तस्याप्रशस्तत्वात् । "थिराइजुगलाण" स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्तिनाम्नां प्रत्येकमधिकस्तत्प्रतिपक्षभूतानामस्थिराशुभायशःकीर्त्तिनाम्नामनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । तथा "अप्पाबहुगं णो खलु" त्ति, अनन्तरोक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणामेकादशसंख्याकानां नामकर्मोत्तरप्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य चोत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं खलु निश्चयेन नास्ति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्च ता एकादश नामप्रकृतयः—पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रथमसंहनननाम, प्रथमसंस्थाननाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसचतुष्कम् , सुभगत्रिकञ्चेति ।

तथा "सेसाण" ति उक्तशेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति, उभयत्र शेषप्रकृतीनां साम्यात्तथाधस्तनगुणस्थानकत्वेन चतुर्थगुणस्थानकस्यैव संभवात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः, सप्तत्रिंशत्प्रकृतयः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं द्वादशकषाया हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः अन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥२८४–८६॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वान्मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं सापवादमाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावदतिदिशन्नाह—

मणणाणसंजमसमइअछेअपरिहारगेसु सव्वेसिं ।
आहारदुगव्व णवरि हवए कम्मस्स सव्वहियो ॥२८७॥
तत्तो तेजाहारगविउवाण कमा अणंतगुणहीणो ।
आहारउवंगाओ विउव्वुवगस्सऽणंतगुणहीणो ॥२८८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मणणाण०" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिक छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकञ्चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं "सव्वेसि" ति बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं तस्यैव प्रस्तुतत्वात्, आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावद् भवति। कुतः? बाहुल्येन बन्धप्रायोग्यप्रकृतिसाम्यादल्पबहुत्वक्रमसाम्याच्च। आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराहारकद्विकं न बध्यत इह तु बध्यतेऽपि, अत एव शरीराङ्गोपाङ्गनाम्नामल्पबहुत्वमत्र ततोऽन्यथा दर्शयति 'णवरि' इत्यादिना, तद्यथा- कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः। अङ्गोपाङ्गनाम्नोऽल्पबहुत्वमत्र नास्ति, एकस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न एव बन्धभावादित्येवं शरीराङ्गोपाङ्गनामवर्जशेषाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमविशेषेणाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावत् तत एवावधारणीयम्, शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं सञ्ज्वलनचतुष्कं हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम वर्णाद्यष्टकं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती उच्चैर्गोत्रम् अन्तरायपञ्चकञ्चेति सप्तपञ्चाशत् ॥२८७-२८८॥

अथ त्र्यज्ञानादिमार्गणास्वाह—

तिअणाणाजयअभवियमिच्छत्तेसु तिरियव्व आऊणं ।
सेसाणोघव्व भवे गयवेअव्व सुहमम्मि सव्वेसिं ॥२८९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिअणाण०" इत्यादि, मत्यादीनि त्रीण्यज्ञानानि, अयतः, अभव्यः मिथ्यात्वमिति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकमायुषां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं तिर्यग्गत्योघवद् भवति। कुतः? अत्रापि देवायुष्कापेक्षया नरकायुषः स्थितेराधिक्यादुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणो बध्यत इति हेतोः। अथाऽऽयुषामल्पबहुत्वम्—नरकायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितस्थितिकत्वात्। ततो देवायुषोऽनन्तगुणहीनः, एकत्रिंशत्सागरोपममात्रस्थितिकत्वात्। ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, त्रिपल्योपममात्रस्थितिकत्वात्। ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, मनुष्यायुस्तुल्यस्थितिकत्वेऽपि, अल्पप्रशस्तत्वात्। तथा "सेसाण" त्ति आयुषामिहोक्तत्वात्तद्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्व-

अडवरणाईण तहा थिराइजुगलाण तिराह भवे ॥२८५॥
अप्पाबहुगं णो खलु हवए अत्रसेसणामगोआणं ।
सेसाणं पयडीणं अणुत्तरसुरव्व विराणेयं ॥२८६॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, ज्ञानत्रिकमवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं चेति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं देवायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितबृहत्तमस्थितिकत्वाच्च । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, तस्य प्रशस्तत्वेऽपि पूर्वकोट्यात्मकाऽल्पस्थितिकत्वात् । तथा गत्यानुपूर्व्योरायुर्वद् भवति, तद्यथा-देवगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वादष्टमादिगुणस्थानके बध्यमानत्वाच्च । ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणहीनः, प्रशस्तत्वेऽपि चतुर्थगुणस्थानक एव बध्यमानत्वात् । देवानुपूर्व्या उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मनुष्यानुपूर्व्या अनन्तगुणहीनः । तथा "ओघव्व" त्ति, शरीरनामादीनां तदोघवद् भवति, तद्यथा-कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः सर्वाधिकस्ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । "अडवण्णाईण" त्ति, प्रशस्तस्य वर्णादिचतुष्कस्य सर्वाधिकस्ततोऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्यानन्तगुणहीनः, तस्याप्रशस्तत्वात् । "थिराइजुगलाण" स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्तिनाम्नां प्रत्येकमधिकस्तत्प्रतिपक्षभृतानामस्थिराशुभायशःकीर्त्तिनाम्नामनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । तथा "अप्पाबहुग णो खलु" त्ति, अनन्तरोक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणामेकादशसंख्याकानां नामकर्मोत्तरप्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य चोत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं खलु निश्चयेन नास्ति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्च ता एकादश नामप्रकृतयः-पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रथमसंहनननाम, प्रथमसंस्थाननाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसचतुष्कम्, सुभगत्रिकञ्चेति ।

तथा "सेसाण" ति उक्तशेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति, उभयत्र शेषप्रकृतीनां साम्यात्तथाधस्तनगुणस्थानकत्वेन चतुर्थगुणस्थानकस्यैव संभवात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः, सप्तत्रिंशत्प्रकृतयः-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं द्वादशकषाया हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः अन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥२८४-८६॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वान्मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं सापवादमाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावदतिदिशन्नाह--

मणणाणसंजमसमइअछेअपरिहारगेसु सव्वेसिं ।
आहारदुगव्व णवरि हवए कम्मस्स सव्वहियो ॥२८७॥
तत्तो तेजाहारगविउवाण कमा अणंतगुणहीणो ।
आहारउवंगाओ विउव्वुवगस्सऽणंतगुणहीणो ॥२८८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मणणाण०" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिक छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकञ्चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं "सव्वेसिं" ति बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं तस्यैव प्रस्तुतत्वात् , आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावद् भवति । कुतः ? बाहुल्येन बन्धप्रायोग्यप्रकृतिसाम्यादल्पबहुत्वक्रमसाम्याच्च । आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराहारकद्विकं न बध्यत इह तु बध्यतेऽपि, अत एव शरीराङ्गोपाङ्गनाम्नामल्पबहुत्वमत्र ततोऽन्यथा दर्शयति 'णवरि' इत्यादिना, तद्यथा- कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । अङ्गोपाङ्गनाम्नोऽल्पबहुत्वमत्र नास्ति, एकस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न एव बन्धभावादित्येवं शरीराङ्गोपाङ्गनामवर्जशेषाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमविशेषेणाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावत् तत एवावधारणीयम् , शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं सञ्ज्वलनचतुष्कं हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम वर्णाद्यष्टकं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती उच्चैर्गोत्रम् अन्तरायपञ्चकञ्चेति सप्तपञ्चाशत् ॥२८७-२८८॥

अथ त्र्यज्ञानादिमार्गणास्वाह—

तिअणाणजयअभवियमिच्छत्तेसु तिरियव्व आऊणं ।
सेसाणोघव्व भवे गयवेअव्व सुहमम्मि सव्वेसिं ॥२८९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिअणाण०" इत्यादि, मत्यादीनि त्रीण्यज्ञानानि, अयतः, अभव्यः मिथ्यात्वमिति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकमायुषां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं तिर्यग्गत्योघवद् भवति । कुतः ? अत्रापि देवायुष्कापेक्षया नरकायुषः स्थितेराधिक्यादुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणो बध्यत इति हेतोः । अथाऽऽयुषामल्पबहुत्वम्—नरकायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितस्थितिकत्वात् । ततो देवायुषोऽनन्तगुणहीनः, एकत्रिंशत्सागरोपममात्रस्थितिकत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, त्रिपल्योपममात्रस्थितिकत्वात् । ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, मनुष्यायुस्तुल्यस्थितिकत्वेऽपि, अल्पप्रशस्तत्वात् । तथा "सेसाण" त्ति आयुषामिहोक्तत्वात्तद्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्व-

अडवण्णाईण तहा थिराइजुगलाण तिराह भवे ॥२८५॥
अप्पाबहुगं णो खलु हवए अवसेसणामगोआणं ।
सेसाणं पयडीणं अणुत्तरसुरव्व विण्णेयं ॥२८६॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, ज्ञानत्रिकमवधिदर्शन सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं चेति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं देवायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितबृहत्तमस्थितिकत्वाच्च । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, तस्य प्रशस्तत्वेऽपि पूर्वकोटयात्मकाऽल्पस्थितिकत्वात् । तथा गत्यानुपूर्व्योरायुर्वद् भवति, तद्यथा-देवगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वादष्टमादिगुणस्थानके बध्यमानत्वाच्च । ततो मनुष्य गतेरनन्तगुणहीनः, प्रशस्तत्वेऽपि चतुर्थगुणस्थानक एव बध्यमानत्वात् । देवानुपूर्व्या उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मनुष्यानुपूर्व्या अनन्तगुणहीनः । तथा "ओघव्व" त्ति, शरीरनामादीनां तदोघवद् भवति, तद्यथा-कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः सर्वाधिकस्ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-नाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । "अडवण्णाईण" त्ति, प्रशस्तस्य वर्णादिचतुष्कस्य सर्वाधिकस्ततोऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्यानन्तगुणहीनः, तस्याप्रशस्तत्वात् । "थिराइजुगलाण" स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्तिनाम्नां प्रत्येकमधिकस्तत्प्रतिपक्षभूतानामस्थिराशुभायशःकीर्त्तिनाम्नामनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । तथा "अप्पाबहुगं णो खलु" त्ति, अनन्तरोक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणामेकादशसंख्याकानां नामकर्मोत्तरप्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य चोत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं खलु निश्चयेन नास्ति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्च ता एकादश नामप्रकृतयः-पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रथमसंहनननाम, प्रथमसंस्थाननाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसचतुष्कम् , सुभगत्रिकञ्चेति ।

तथा "सेसाण" ति उक्तशेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति, उभयत्र शेषप्रकृतीनां साम्यात्तथाधस्तनगुणस्थानत्वेन चतुर्थगुणस्थानकस्यैव संभवात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः, सप्तत्रिंशत्प्रकृतयः-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं द्वादशकषाया हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः अन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥२८४-८६॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वान्मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं सापवादमाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावदतिदिशन्नाह--

मणणाणसंजमसमइअछेअपरिहारगेसु सव्वेसिं ।
आहारदुगव्व णवरि हवए कम्मस्स सव्वहियो ॥२८७॥
तत्तो तेजाहारगविउवाण कमा अणंतगुणहीणो ।
आहारउवंगाओ विउव्वुवगस्सऽणंतगुणहीणो ॥२८८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मणणाण०" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिक छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकञ्चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं "सव्वेसि" ति बन्धप्रायोग्याणा सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्व तस्यैव प्रस्तुतत्वात्, आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावद् भवति। कुतः ? बाहुल्येन बन्धप्रायोग्यप्रकृतिसाम्यादल्पबहुत्वक्रमसाम्याच्च। आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराहारकद्विकं न बध्यत इह तु बध्यतेऽपि, अत एव शरीराङ्गोपाङ्गनाम्नामल्पबहुत्वमत्र ततोऽन्यथा दर्शयति 'णवरि' इत्यादिना, तद्यथा-कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः। अङ्गोपाङ्गनाम्नोऽल्पबहुत्वमत्र नास्ति, एकस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न एव बन्धभावादित्येवं शरीराङ्गोपाङ्गनामवर्जशेषाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमविशेषेणाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावत् तत एवावधारणीयम्, शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं सञ्ज्वलनचतुष्कं हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम वर्णाद्यष्टकं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती उच्चैर्गोत्रम् अन्तरायपञ्चकञ्चेति सप्तपञ्चाशत् ॥२८७-२८८॥

अथ त्र्यज्ञानादिमार्गणास्वाह—

तिअणाणाजयअभवियमिच्छत्तेसु तिरियव्व आऊणं ।
सेसाणोघव्व भवे गयवेअव्व सुहमम्मि सव्वेसिं ॥२८९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिअणाण०" इत्यादि, मत्यादीनि त्रीण्यज्ञानानि, अयतः, अभव्यः मिथ्यात्वमिति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकमायुषां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं तिर्यग्गत्योघवद् भवति। कुतः ? अत्रापि देवायुष्कापेक्षया नरकायुषः स्थितेराधिक्यादुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणो बध्यत इति हेतोः। अथाऽऽयुषामल्पबहुत्वम्—नरकायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितस्थितिकत्वात्। ततो देवायुषोऽनन्तगुणहीनः, एकत्रिंशत्सागरोपममात्रस्थितिकत्वात्। ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, त्रिपल्योपममात्रस्थितिकत्वात्। ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, मनुष्यायुस्तुल्यस्थितिकत्वेऽपि, अल्पप्रशस्तत्वात्। तथा "सेसाण" त्ति आयुषामिहोक्तत्वात्तद्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्व-

अडवरागाईण तहा थिराइजुगलाण तिराह भवे ॥२८५॥
अप्पाबहुगं णो खलु हवए अवसेसणामगोआणं ।
सेसाणं पयडीणं अणुत्तरसुरव्व विराणेयं ॥२८६॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, ज्ञानत्रिकमवधिदर्शन सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं चेति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं देवायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितबृहत्तमस्थितिकत्वाच्च । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, तस्य प्रशस्तत्वेऽपि पूर्वकोट्यात्मकाऽल्पस्थितिकत्वात् । तथा गत्यानुपूर्व्योरायुर्वद् भवति, तद्यथा-देवगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वादष्टमादिगुणस्थानके बध्यमानत्वाच्च । ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणहीनः, प्रशस्तत्वेऽपि चतुर्थगुणस्थानक एव बध्यमानत्वात् । देवानुपूर्व्या उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मनुष्यानुपूर्व्या अनन्तगुणहीनः । तथा "ओघव्व" त्ति, शरीरनामादीनां तदोघवद् भवति, तद्यथा-कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः सर्वाधिकस्ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । "अडवण्णाईण" त्ति, प्रशस्तस्य वर्णादिचतुष्कस्य सर्वाधिकस्ततोऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्यानन्तगुणहीनः, तस्याप्रशस्तत्वात् । "थिराइजुगलाण" स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्तिनाम्नां प्रत्येकमधिकस्तत्प्रतिपक्षभृतानामस्थिराशुभायशःकीर्त्तिनाम्नामनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । तथा "अप्पाबहुगं णो खलु" त्ति, अनन्तरोक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणामेकादशसंख्याकानां नामकर्मोत्तरप्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य चोत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं खलु निश्चयेन नास्ति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्च ता एकादश नामप्रकृतयः-पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रथमसंहनननाम, प्रथमसंस्थाननाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसचतुष्कम्, सुभगत्रिकञ्चेति ।

तथा "सेसाण" ति उक्तशेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति, उभयत्र शेषप्रकृतीनां साम्यात्तथाधस्तनगुणस्थानत्वेन चतुर्थगुणस्थानकस्यैव संभवात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः, सप्तत्रिंशत्प्रकृतयः-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं द्वादशकषाया हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः अन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥२८४-८६॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वान्मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं सापवादमाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावदतिदिशन्नाह---

मणणाणसंजमसमइअछेअपरिहारगेसु सव्वेसिं ।
आहारदुगव्व णवरि हवए कम्मस्स सव्वहियो ॥२८७॥
तत्तो तेजाहारगविउवाण कमा अणंतगुणहीणो ।
आहारउवंगाओ विउव्वुवगस्सऽणंतगुणहीणो ॥२८८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मणणाण०" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिक छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकञ्चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं "सव्वेसि" ति बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं तस्यैव प्रस्तुतत्वात् , आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावद् भवति । कुतः ? बाहुल्येन बन्धप्रायोग्यप्रकृतिसाम्यादल्पबहुत्वक्रमसाम्याच्च । आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराहारकद्विकं न बध्यत इह तु बध्यतेऽपि, अत एव शरीराङ्गोपाङ्गनाम्नामल्पबहुत्वमत्र ततोऽन्यथा दर्शयति 'णवरि' इत्यादिना, तद्यथा- कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । अङ्गोपाङ्गनाम्नोऽल्पबहुत्वमत्र नास्ति, एकस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न एव बन्धभावादित्येवं शरीराङ्गोपाङ्गनामवर्जशेषाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमविशेषेणाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावत् तत एवावधारणीयम् , शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं सञ्ज्वलनचतुष्कं हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम वर्णाद्यष्टकं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती उच्चैर्गोत्रम् अन्तरायपञ्चकञ्चेति सप्तपञ्चाशत् ॥२८७-२८८॥

अथ त्र्यज्ञानादिमार्गणास्वाह—

तिअणाणजयअभवियमिच्छत्तेसु तिरियव्व आऊणं ।
सेसाणोघव्व भवे गयवेअव्व सुहमम्मि सव्वेसिं ॥२८९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिअणाण०" इत्यादि, मत्यादीनि त्रीण्यज्ञानानि, अयतः, अभव्यः मिथ्यात्वमिति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकमायुषां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं तिर्यग्गत्योघवद् भवति । कुतः ? अत्रापि देवायुष्कापेक्षया नरकायुषः स्थितेराधिक्यादुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणो बध्यत इति हेतोः । अथाऽऽयुषामल्पबहुत्वम्—नरकायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितस्थितिकत्वात् । ततो देवायुषोऽनन्तगुणहीनः, एकत्रिंशत्सागरोपममात्रस्थितिकत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, त्रिपल्योपममात्रस्थितिकत्वात् । ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, मनुष्यायुस्तुल्यस्थितिकत्वेऽपि, अल्पप्रशस्तत्वात् । तथा "सेसाण" त्ति आयुषामिहोक्तत्वात्तद्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्व-

अडवरणाईण तहा थिराइजुगलाण तिराह भवे ॥२८५॥
अप्पाबहुगं णो खलु हवए अत्रसेसणामगोआणं ।
सेसाणं पयडीणं अणुत्तरसुरव्व विराणेयं ॥२८६॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, ज्ञानत्रिकमवधिदर्शन मम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं चेति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं देवायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् त्रयस्त्रिंशत्मागरोपममितबृहत्तमस्थितिकत्वाच्च । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, तस्य प्रशस्तत्वेऽपि पूर्वकोटयात्मकाऽल्पस्थितिकत्वात् । तथा गत्यानुपूर्व्योरायुर्वद् भवति, तद्यथा- देवगतेरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वादष्टमादिगुणस्थानके बध्यमानत्वाच्च । ततो मनुष्य गतेरनन्तगुणहीनः, प्रशस्तत्वेऽपि चतुर्थगुणस्थानक एव बध्यमानत्वात् । देवानुपूर्व्या उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मनुष्यानुपूर्व्या अनन्तगुणहीनः । तथा "ओघव्व" त्ति, शरीरनामादीनां तदोघवद् भवति, तद्यथा—कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजमशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः सर्वाधिकस्ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्ग- नाम्नोऽनन्तगुणहीनस्तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । "अडवण्णाईण" त्ति, प्रशस्तस्य वर्णादिचतुष्कस्य सर्वाधिकस्ततोऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्यानन्तगुणहीनः, तस्याप्रशस्तत्वात् । "थिराइजुगलाण" स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्तिनाम्नां प्रत्येकमधिकस्तत्प्रतिपक्षभूतानामस्थिराशुभायशःकीर्त्तिनाम्नामनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । तथा "अप्पाबहुग णो खलु" त्ति, अनन्तरोक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणामेकादशसंख्याकानां नामकर्मोत्तरप्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य चोत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्व खलु निश्चयेन नास्ति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्च ता एकादश नामप्रकृतयः—पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रथमसंहनननाम, प्रथमसंस्थान- नाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसचतुष्कम् , सुभगत्रिकञ्चेति ।

तथा "सेसाण" ति उक्तशेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति, उभयत्र शेषप्रकृतीनां साम्यात्तथाधस्तनगुणस्थानकत्वेन चतुर्थगुणस्थानकस्यैव संभवात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः, सप्तत्रिंशत्प्रकृतयः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं द्वादशकषाया हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः अन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥२८४—८६॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वान्मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं सापवादमाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावदतिदिशन्नाह——

गुणहीनः, तथा सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं नास्ति, स्वस्थानाऽल्पबहुत्वस्य प्रस्तुतत्वात् तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाच्च ।।२८९।।

अथ देशविरतिमार्गणायामाह—

सव्वत्थव्व उ देसे सप्पाउग्गाण अत्थि मोहाणं ।
तिव्वरसस्सऽप्पबहू सेसाणाहारजुगलव्व ।।२९०।।

(प्रे०) "सव्वत्थव्व" इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां स्वप्रायोग्याणां प्रस्तुतमार्गणाप्रायोग्याणामित्यर्थः, मोहनीयकर्मोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं सर्वार्थसिद्धसुरमार्गणावद् इह सर्वार्थसिद्धमार्गणायाः पृथगनुक्तत्वात् तस्याश्च पञ्चानुत्तरसुरमार्गणास्वन्तर्भावादनुत्तरसुरमार्गणावदिति बोध्यम् । तद्यथा—संज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततः संज्वलनमायाक्रोधमानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, प्रकृतिविशेषात् । ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्याऽनन्तगुणहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमायाक्रोधमानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, तथा "सप्पाउग्गाण" इतिपदेनैवात्र बन्धानर्हस्याप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य निषिद्धत्वात् , प्रत्याख्यानावरणमानतः पुरुषवेदस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽरति-शोक-भय-जुगुप्सा रति-हास्यानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । तथा "सेसाण" त्ति मोहनीयवर्जशेषसप्तकर्मणामित्यर्थः, आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावद् भवति, तद्यथा कार्मणशरीरनाम्नः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । केवलज्ञानावरणस्य सर्वाधिकः, ततो मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । केवलदर्शनावरणस्य सर्वाधिकः, ततश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणनिद्राप्रचलानां यथोत्तरमनन्तगुणः । सातवेदनीयप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीनां प्रत्येकमधिकस्ततस्तत्प्रतिपक्षभूतानामसातवेदनीयादीनामनन्तगुणहीनः । वीर्यान्तरायस्य सर्वाधिकः, तत उपभोग-भोग-लाभ-दानान्तरायाणां प्रत्येकं यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । तथा देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम प्रथमसंस्थाननाम शुभविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति पञ्चदशानामल्पबहुत्वं नास्ति, स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ।।२९०।।

अथाऽप्रशस्तलेश्यास्वाह—

किण्हाए सव्वहियो तिव्वरसो मणुयसुरगईण तओ ।
होइ अणंतगुणूणो कमसो णिरयतिरियगईणं ।।२९१।।
णीलाए काऊअ य पुणो कमा तिरियणारगगईणं ।
तीसु वि अणुपुव्वीणं गइव्व तिरियव्व सेसाणं ।।२९२।।

मोघवद् भवति, तद्यथा—केवलज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्ततो मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । केवलदर्शनावरणस्य सर्वाधिकः, ततश्चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शनावरण--स्त्यानर्द्धि-निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-निद्रा-प्रचलानां पूर्वपूर्वत उत्तरोत्तराया अनन्तगुणहीनः । तथा सातवेदनीयप्रशस्तविहायोगतिप्रशस्तवर्णादिचतुष्कत्रसदशकोच्चैर्गोत्राणां प्रत्येकमुत्कृष्टरसोऽधिकः, प्रशस्तत्वात् , ततः स्वप्रतिपक्षभूतानामसातवेदनीयादीनां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, सर्वाधिकस्थितिकत्वात्ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्याऽनन्तगुणहीनः, मिथ्यात्वतोऽल्पस्थितिकत्वात् । ततोऽनन्तानुबन्धिमायाक्रोधमानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, तथास्वाभावात् । ततः संज्वलनलोभस्यानन्तगुणहीनः । ततः संज्वलनमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, प्रकृतिविशेषात् । ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमाया क्रोध-मानाना यथोत्तरं विशेषहीनः, प्रकृतिविशेषात् । ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्याऽनन्तगुणहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाक्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, ततो नपुंसकवेदाऽरतिशोक भय-जुगुप्सा-स्त्रीवेद-पुरुषवेदरतिहास्यानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः। देवगतेः सर्वाधिकः, ततो यथोत्तर मनुष्य-नरक-तिर्यग्गतीनामनन्तगुणहीनः । एवमेव चतसृणामानुपूर्वीणामल्पबहुत्वम् । पञ्चेन्द्रियजातिनाम्न उत्कृष्ट रसः सर्वाधिकस्तत एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः। इहौघवदिति सामान्यतोऽतिदिष्टमपि व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः, शरीराङ्गोपाङ्गनामकर्मणामल्पबहुत्वेऽयं विशेषः प्राप्यते, आहारकद्विकस्य बन्धाऽभावात् । स चैवम्—कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्ततस्तैजसवैक्रियौदारिकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, तथैव वैक्रियोपाङ्गनाम्नोऽधिकस्तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, प्रथमसंहनननाम्नः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् , ततः षष्ठ-पञ्चम-चतुर्थ-तृतीय-द्वितीयसंहनननाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वे सति उत्तरोत्तराऽल्पतरस्थितिकत्वात् । अनेनैव क्रमेण षण्णां सस्थाननाम्नामल्पबहुत्वं भवति । वीर्यान्तरायस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्तत उपभोगभोगलाभदानान्तरायाणां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, प्रकृतिविशेषात् ।

अथ सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायां प्रकृतं विभणिषुस्तत्समानवक्तव्यत्वात् गतवेदमार्गणावदतिदिशन्नाह—"गअवेअव्वे" त्यादि, सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायां "सव्वेसिं" ति सर्वासां प्रकृतीनां प्रकृतमार्गणाबन्धप्रायोग्याणामिति गम्यते, उत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं पूर्वोक्तगतवेदमार्गणावद् भवति, तद्यथा -पञ्चानां ज्ञानावरणानां पञ्चानां चान्तरायाणां तदोघवद् भवति । तच्च प्रस्तुतगाथाविवरणत ओघप्ररूपणातो वा ज्ञेयम् । अथ दर्शनावरणाऽल्पबहुत्वम्—तत्र केवलदर्शनावरणस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणानां यथोत्तरमनन्त-

गुणहीनः, तथा सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं नास्ति, स्वस्थानाऽल्पबहुत्वस्य प्रस्तुतत्वात् तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाच्च ॥२८९॥

अथ देशविरतिमार्गणायामाह—

सव्वत्थव्व उ देसे सप्पाउग्गाण अत्थि मोहाणं ।
तिव्वरसस्सऽप्पबहू सेसाणाहारजुगलव्व ॥२९०॥

(प्रे०) "सव्वत्थव्व" इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां स्वप्रायोग्याणां प्रस्तुतमार्गणाप्रायोग्याणामित्यर्थः, मोहनीयकर्मोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं सर्वार्थसिद्धसुरमार्गणावद् इह सर्वार्थसिद्धमार्गणायाः पृथगनुक्तत्वात् तस्याश्च पश्चानुत्तरसुरमार्गणायामन्तर्भावादनुत्तरसुरमार्गणावदिति बोध्यम् । तद्यथा—संज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततः संज्वलनमायाक्रोधमानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, प्रकृतिविशेषात् । ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्याऽनन्तगुणहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमायाक्रोधमानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, तथा "सप्पाउग्गाण" इतिपदेनैवात्र बन्धानर्हस्याप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य निषिद्धत्वात् , प्रत्याख्यानावरणमानतः पुरुषवेदस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽरति-शोक-भय-जुगुप्सा रति-हास्यानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । तथा "सेसाण" त्ति मोहनीयवर्जशेषसप्तकर्मणामित्यर्थः, आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावद् भवति, तद्यथा कार्मणशरीरनाम्नः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनस्ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । केवलज्ञानावरणस्य सर्वाधिकः, ततो मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । केवलदर्शनावरणस्य सर्वाधिकः, ततश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणनिद्राप्रचलानां यथोत्तरमनन्तगुणः । सातवेदनीयप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीनां प्रत्येकमधिकस्ततस्तत्प्रतिपक्षभूतानामसातवेदनीयादीनामनन्तगुणहीनः । वीर्यान्तरायस्य सर्वाधिकः, तत उपभोग-भोग-लाभ-दानान्तरायाणां प्रत्येकं यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । तथा देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम प्रथमसंस्थाननाम शुभविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति पञ्चदशानामल्पबहुत्वं नास्ति, स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥२९०॥

अथाऽप्रशस्तलेश्यास्वाह—

किण्हाए सव्वहियो तिव्वरसो मणुयसुरगईण तओ ।
होइ अणंतगुणूणो कमसो णिरयतिरियगईणं ॥२९१॥
णीलाए काऊअ य पुणो कमा तिरियणारगगईणं ।
तीसु वि अ पुव्वीणं गइव्व तिरियव्व सेसाणं ॥२९२॥

णवरि अणंतगुणूणो कम्मा तेअस्स ताउ दुतणूणं ।
अणणोरणं सयमुज्झो एवं दोराहं उवंगाणं ॥२९३॥

(प्रे०) 'किण्हाए' इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां देवमनुष्यगत्योर्ज्येष्ठरसबन्धः सर्वाधिकः, विशुद्धसम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वात् । अत्रापि देवगतेर्ज्येष्ठरसबन्धस्य चतुर्थगुणस्थाने स्वस्थाने तत्प्रायोग्यविशुद्ध्या बध्यमानत्वेन मनुष्यगतेस्तु स्वस्थानतीव्रविशुद्ध्या बध्यमानरसतोऽनन्तगुणहीनत्वं सम्भाव्यत इत्यवधेयम् । ततो गतिद्वयतो नरकगतेरनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनः ।

नीलकापोतलेश्ययोर्देवमनुष्यगत्योर्ज्येष्ठरसबन्धः सर्वाधिकः, परस्परं विशेषस्तु कृष्णलेश्यामार्गणावद् विज्ञेयः । ततस्तिर्यग्गतेर्ज्येष्ठरसबन्धोऽनन्तगुणहीनः, ततोऽपि नरकगतेर्ज्येष्ठरसोऽनन्तगुणहीनः, यतस्तिर्यग्गतेर्ज्येष्ठा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटाकोटिमिता, नरकगतेस्तु सा प्रस्तुतेऽन्तःकोटिकोटिसागरोपममितैवातोऽनन्तगुणहीनत्वं नरकगतेर्ज्येष्ठरसस्य । कृष्णायां तु द्वयोरपि विंशतिकोटाकोटिसागरोपमाणि ज्येष्ठस्थितिबन्धो भवतीति ततो विशेषः ।

मार्गणत्रयेऽपि चतुर्णामानुपूर्वीनाम्नां रसबन्धाल्पबहुत्वं यथा गतिनाम्नामुक्तं तथा द्रष्टव्यम् , भावनापि तद्वत्कार्येति । मार्गणात्रयेऽपि कार्मणशरीरस्य ज्येष्ठरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरस्य ज्येष्ठरसबन्धोऽनन्तगुणहीनः, तत औदारिकवैक्रियशरीरयोरनन्तगुणहीनः । परस्परं विशेषस्त्वेवं सम्भाव्यते—औदारिकशरीरस्य ज्येष्ठरसस्तैजसतोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरस्यानन्तगुणहीनः, मन्दविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । एवमेवौदारिकवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो ज्येष्ठरसबन्धाऽल्पबहुत्वे भावनीयम् । उक्तशेषाणां षण्णवतेः प्रकृतीना प्रस्तुताल्पबहुत्वं तिर्यग्गत्योघवद् विज्ञेयम् , तच्चौघवदिति ॥२९१-२९३॥

अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोराह—

तेउपउमलेसा हवेज्ज देवाउगस्स सव्वहियो ।
ताउ अणंतगुणूणो कमा मणुस्सतिरियाऊणं ॥२९४॥
गइअणुपुव्वीण भवे आउव्व पणिंदियस्स सव्वहियो ।
ताउ अणंतगुणूणो एगिंदियणामकम्मस्स ॥२९५॥

णो अप्पबहू बायरतिगस्स ओघव्व सेसपयडीणं ।
णवरि पउमाअ ण भवे पणिदियतसाण अप्पबहू ॥२१६॥

(प्रे०) "तेउपउम०" इत्यादि, तेजःपद्मलेश्ययोः प्रत्येकं देवायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, देवायुषः प्रशस्तत्वे सति द्विसागरोपमादिमितदीर्घस्थितिकत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणोनः, तस्य प्रशस्तत्वेऽपि पूर्वकोट्यात्मकाल्पस्थितिकत्वात् । ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, तस्य मनुष्यायुष्कतुल्यस्थितिकत्वेऽप्यल्पप्रशस्तत्वात् । तथा "आउव्व" त्ति नरकद्विकस्येह बन्धाऽनर्हत्वात् तिसृणां देवादिगतीनां तिसृणाञ्चाऽनुपूर्वीणामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वमनन्तरोक्तायुष्काल्पबहुत्ववद् भवति । तथा पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् । तत एकेन्द्रियजातिनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । तथा बादरत्रिकस्याऽल्पबहुत्वं नास्ति. तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तथा "सेसपयडीणं" उक्तशेषाणां त्रिनवतेरत्र बन्धार्हाणां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तच्चौघप्ररूपणात अवसातव्यम् । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिकं सर्वाणि शरीराङ्गोपाङ्गनामानि तानि चाष्ट, संहननषट्कं संस्थानषट्कं वर्णाद्यष्टकं खगतिद्विकं त्रसनाम स्थिरषट्कं स्थावरनाम अस्थिरषट्कं गोत्रद्विकम् अन्तरायपञ्चकं चेति त्रिनवतिरिति । अथ पद्मलेश्यामार्गणायामुपर्युक्तेन कथनेनाऽऽगतामतिप्रसक्तिं परिहरति-"णवरि" त्यादिना, पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नस्त्रसनाम्नश्चाऽल्पबहुत्वं पद्मलेश्यामार्गणायां न भवति, तत्प्रतिपक्षभूतयोरेकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोर्बन्धाभावात्, तेन पद्मलेश्यायां बादरत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनामेति पञ्चानामल्पबहुत्वं नास्तीति वक्तव्यं भवति, तथौघवदल्पबहुत्वमेकनवतेरेव प्रकृतीनां वाच्यम्, यतोऽनन्तरोक्तत्रिनवतेरन्तर्गतस्य स्थावरनाम्नो बन्धाभावात्, तद्बन्धाभावे च त्रसनाम्नः प्रतिपक्षप्रकृत्यभावेन तदऽल्पबहुत्वाभाव इति ॥२१४-२१६॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां प्रकृतमाह—

ओघव्वऽप्पाबहुगं सुक्काए आउणामवज्जाणं ।
ओहिव्व मुणेयव्वं आउगगइआणुपुव्वीणं ॥२१७॥
हवए अप्पाबहुगं णो चेव पणिदितसचउक्काणं ।
सेसाणं णामाणं हवेज्ज ओघव्व अप्पबहू ॥२१८॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायाम् "आउणामवज्जाणं" ति तद्वर्जानां षण्णां कर्मणामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति, कुतः ? ओघवदिहापि

णवरि अणंतगुणूणो कम्मा तेअस्स ताउ दुतणूणं ।
अणणोणणं सयमुज्झो एवं दोण्हं उवंगाणं ॥२९३॥

(प्रे०) 'किण्हाए' इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां देवमनुष्यगत्योर्ज्येष्ठरसबन्धः सर्वाधिकः, विशुद्धसम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वात् । अत्रापि देवगतेर्ज्येष्ठरसबन्धस्य चतुर्थगुणस्थाने स्वस्थाने तत्प्रायोग्यविशुद्ध्या बध्यमानत्वेन मनुष्यगतेस्तु स्वस्थानतीव्रविशुद्ध्या बध्यमानरसतोऽनन्तगुणहीनत्वं सम्भाव्यत इत्यवधेयम् । ततो गतिद्वयतो नरकगतेरनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनः ।

नीलकापोतलेश्ययोर्देवमनुष्यगत्योर्ज्येष्ठरसबन्धः सर्वाधिकः, परस्परं विशेषस्तु कृष्णलेश्यामार्गणावद् विज्ञेयः । ततस्तिर्यग्गतेर्ज्येष्ठरसबन्धोऽनन्तगुणहीनः, ततोऽपि नरकगतेर्ज्येष्ठरसोऽनन्तगुणहीनः, यतस्तिर्यग्गतेर्ज्येष्ठा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटाकोटिमिता, नरकगतेस्तु सा प्रस्तुतेऽन्तःकोटिकोटिसागरोपममितैवातोऽनन्तगुणहीनत्वं नरकगतेर्ज्येष्ठरसस्य । कृष्णायां तु द्वयोरपि विंशतिकोटाकोटिसागरोपमाणि ज्येष्ठस्थितिबन्धो भवतीति ततो विशेषः ।

मार्गणत्रयेऽपि चतुर्णामानुपूर्वीनाम्नां रसबन्धाल्पबहुत्वं यथा गतिनाम्नामुक्तं तथा द्रष्टव्यम् , भावनापि तद्वत्कार्येति । मार्गणात्रयेऽपि कार्मणशरीरस्य ज्येष्ठरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसशरीरस्य ज्येष्ठरसबन्धोऽनन्तगुणहीनः, तत औदारिकवैक्रियशरीरयोरनन्तगुणहीनः । परस्परं विशेषस्त्वेवं सम्भाव्यते—औदारिकशरीरस्य ज्येष्ठरसस्तैजसतोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरस्यानन्तगुणहीनः, मन्दविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । एवमेवौदारिकवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो ज्येष्ठरसबन्धाऽल्पबहुत्वे भावनीयम् । उक्तशेषाणां षण्णवतेः प्रकृतीना प्रस्तुताल्पबहुत्वं तिर्यग्गत्योघवद् विज्ञेयम् , तच्चौघवदिति ॥२९१-२९३॥

अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोराह—

तेउपउमलेसा　हवेज्ज देवाउगस्स सव्वहियो ।
ताउ अणंतगुणूणो कमा मणुस्सतिरियाऊणं ॥२९४॥
गइअणुपुव्वीण भवे आउव्व पणिंदियस्स सव्वहियो ।
ताउ अणंतगुणूणो　एगिंदियणामकम्मस्स ॥२९५॥

णो अप्पबहू बायरतिगस्स ओघव्व सेसपयडीणं ।
णवरि पउमाअ ण भवे पणिदियतसाण अप्पबहू ॥२१६॥

(प्रे०) "तेउपउम०" इत्यादि, तेजःपद्मलेश्ययोः प्रत्येकं देवायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, देवायुषः प्रशस्तत्वे सति द्विसागरोपमादिमितदीर्घस्थितिकत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणोनः, तस्य प्रशस्तत्वेऽपि पूर्वकोट्यात्मकाल्पस्थितिकत्वात् । ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, तस्य मनुष्यायुष्कतुल्यस्थितिकत्वेऽप्यल्पप्रशस्तत्वात् । तथा "आउव्व" त्ति नरकद्विकस्येह बन्धाऽनर्हत्वात् तिसृणां देवादिगतीनां तिसृणाञ्चाऽनुपूर्वीणामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वमनन्तरोक्तायुष्काल्पबहुत्ववद् भवति । तथा पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात् । तत एकेन्द्रियजातिनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । तथा बादरत्रिकस्याऽल्पबहुत्वं नास्ति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तथा "सेसपयडीणं" उक्तशेषाणां त्रिनवतेरत्र बन्धार्हाणां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तच्चौघप्ररूपणात अवसातव्यम् । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिकं सर्वाणि शरीराङ्गोपाङ्गनामानि तानि चाष्ट, संहननषट्कं संस्थानषट्कं वर्णाद्यष्टकं खगतिद्विकं त्रसनाम स्थिरषट्कं स्थावरनाम अस्थिरषट्कं गोत्रद्विकम् अन्तरायपञ्चकं चेति त्रिनवतिरिति । अथ पद्मलेश्यामार्गणायामुपर्युक्तेन कथनेनाऽऽगतामतिप्रसक्तिं परिहरति-"णवरी" त्यादिना, पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नस्त्रसनाम्नश्चाऽल्पबहुत्वं पद्मलेश्यामार्गणायां न भवति, तत्प्रतिपक्षभूतयोरेकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोर्बन्धाभावात्, तेन पद्मलेश्यायां बादरत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनामेति पञ्चानामल्पबहुत्वं नास्तीति वक्तव्यं भवति, तथौघवदल्पबहुत्वमेकनवतेरेव प्रकृतीनां वाच्यम्, यतोऽनन्तरोक्तत्रिनवतेरन्तर्गतस्य स्थावरनाम्नो बन्धाभावात्, तद्बन्धाभावे च त्रसनाम्नः प्रतिपक्षप्रकृत्यभावेन तदऽल्पबहुत्वाभाव इति ॥२१४-२१६॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां प्रकृतमाह—

ओघव्वऽप्पाबहुगं सुक्काए आउणामवज्जाणं ।
ओहिव्व मुणेयव्वं आउगगइआणुपुव्वीणं ॥२१७॥
हवए अप्पाबहुगं णो चेव पणिदितसचउक्काणं ।
सेसाणं णामाणं हवेज्ज ओघव्व अप्पबहू ॥२१८॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायाम् "आउणामवज्जाणं" ति तद्वर्जानां षण्णां कर्मणामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति, कुतः ? ओघवदिहापि

तासां सर्वासां बन्धोपलम्भात् । इमाश्च ताः प्रकृतयो यासामुत्कृष्टरसस्यौघवदल्पबहुत्वम्—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवक वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिकं गोत्रद्विकम् अन्तरायपञ्चकमिति षण्णां मूलकर्मणामुत्तरप्रकृतय एकोनपञ्चाशत् । तथा "ओहिव्व" त्ति, आयुष्कादीनां प्रकृतमल्पबहुत्वमवधिज्ञानमार्गणावद् भवति, कुतः ? उभयत्र सममंख्याकायुष्कादीनां बन्धार्हत्वात् । अथावधिवद् यथात्र भवति तथैव दर्शयामः,–देवायुष उत्कृष्टरसोऽधिकस्ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः । देवगतेरधिकस्ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणहीनः । देवानुपूर्व्या अधिकस्ततो मनुष्यानुपूर्व्या अनन्तगुणहीनः । तथा "णो चेव" त्ति पन्चेन्द्रियजातिनाम त्रमचतुष्कं चेति पञ्चानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वमिह न भवति। कुतः?, स्वस्थानाऽल्पबहुत्वस्य प्रस्तुतत्वात् स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽसम्भवात् च । तथा "सेसाण" ति उक्तशेषाणां नामकर्मणः प्रकृतीनां प्रकृतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति, ओघवदासां सर्वासामिहापि बन्धसद्भावात् । इमाश्च ता उक्तशेषा नामकर्मणः प्रकृतयः—पञ्चौदारिकादीनि शरीरनामानि त्रीण्यङ्गोपाङ्गनामानि संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं वर्णाद्यष्टकं स्थिरषट्कम् अस्थिरषट्कं चेति द्विचत्वारिंशत् ॥२९७–२९८॥

अथ मिश्रदृष्टिमार्गणायामुपशमसम्यक्त्वमार्गणायाञ्च प्रस्तुतमल्पबहुत्वं सापवादमवधिज्ञानमार्गणावदतिदिशन्नाह—

मीसे ओहिव्व णवरि आहारदुगाउगाण णो बंधो ।
होइ अवहिव्वुवसमे णवरं आऊण णो बंधो ॥२९९॥

(प्रे०) "**मीसे**" इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां संभाव्यमानबन्धानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वम् "ओहिव्व" त्ति अवधिदर्शनमार्गणा (गाथा०२८४-२८६) वद् भवति। अवधिदर्शनमार्गणायां तु आहारकद्विकस्याऽऽयुषां चापि प्रस्तुतमल्पबहुत्वं दर्शितम् , अत एवाह "आहारदुगाउगाण णो" त्ति, आहारकद्विकस्याऽऽयुषां चात्र बन्ध एव नास्ति, अत एव तद्विषयकमल्पबहुत्वमत्र नैव वाच्यमिति भावः। अथाऽतिदिष्टमेव स्पष्टार्थं दर्शयामः-देवगतिनाम्न उत्कृष्टरसोऽधिकः, प्रशस्तत्वात् ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणहीनः, देवगत्यपेक्षयाऽल्पप्रशस्तत्वात् । देवानुपूर्व्या अधिकः, ततो मनुष्यानुपूर्व्या अनन्तगुणहीनः, हेतुस्तथैव । कार्मणशरीरनाम्नः सर्वाधिकः, ततस्तैजस-वैक्रियौदारिकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः। वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽधिकस्तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्याधिकस्ततोऽप्रशस्तवर्णादेरनन्तगुणहीनः। स्थिर शुभ यशःकीर्तिनाम्नां प्रत्येकमधिकः ततस्तत्प्रतिपक्षभूतानामस्थिरनामादीनामनन्तगुणहीनः। तथा पञ्चेन्द्रियजातिः वज्रर्षभनाराचसंहनननाम समचतुरस्रसंस्थान-

नाम सुखगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रं चेति द्वादशानां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावेनाऽल्पबहुत्वं नास्ति, केवलज्ञानावरणस्य सर्वाधिकः, ततो मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यवज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः। केवलदर्शनावरणस्य सर्वाधिकः, ततश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणनिद्राप्रचलानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः। सातस्याधिकः, ततोऽसातस्याऽनन्तगुणहीनः, संज्वलनलोभस्य सर्वाधिकस्ततः संज्वलनमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, संज्वलनमानतः प्रत्याख्यानावरणलोभस्याऽनन्तगुणहीनस्ततः प्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः। प्रत्याख्यानावरणमानतोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्याऽनन्तगुणहीनस्ततोऽप्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः। अप्रत्याख्यानावरणमानतः पुरुषवेदाऽरति-शोक-भय-जुगुप्सा-रति-हास्याना यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, वीर्यान्तरायस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, तत उपभोग-भोग-लाभ-दानान्तरायाणां यथोत्तरमनन्तगुणहीन इति सर्वसंख्यया त्रिसप्ततेः प्रकृतीनां स्वस्थानाऽल्पबहुत्वम्। यद्यपीहाऽष्टसप्ततिप्रकृतीनां बन्धः तथापि नामकर्मणः पराघातनामादीनां प्रत्येकप्रकृतिवर्जानामेवाऽल्पबहुत्वं दर्शितम्, अग्रेऽपि एवमेव दर्शयिष्यते च। अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायामाह—"होइ" इत्यादिना सुगमम्, उपशममार्गणायामपि आयुर्न बध्यते, आहारकद्विकन्तु बध्यत अपि इति हेतोः शरीराङ्गोपाङ्गवर्जसर्वमनन्तरोक्तवदल्पबहुत्वं ज्ञेयम्, शरीरनाम्नामङ्गोपाङ्गनाम्नाञ्च तदन्यथा वाच्यम्, कुतः? आहारकद्विकबन्धस्य संभवात्। तच्चैवम्—कार्मणशरीरनाम्न उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततस्तैजसाऽऽहारकवैक्रियौदारिकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः। सर्वाधिक उत्कृष्टरस आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नस्ततो वैक्रियौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोर्यथोत्तरमनन्तगुणहीन इति ॥२९९॥

अथ सास्वादनमार्गणायामाह—

सासाणे सव्वहियो तिव्वरसोऽत्थि पढमस्स लोहस्स ।
ओघव्वेत्तो उड्ढं हवेज्ज जा दुइअमाणस्स ॥३००॥
ताउ अणंतगुणूणो कमसो थीअरइसोगभीईणं ।
तो कुच्छपुमाण कमा तओ कमाऽत्थि रइहस्साणं ॥३०१॥
देवाउस्स गुरुरसो सव्वहियो तो अणंतगुणहीणो ।
णरतिरियाऊण कमा एवं गइआणुपुव्वीणं ॥३०२॥
ण भवे पंचिदियतसचउगाणं कम्मणस्स सव्वहियो ।
ताउ अणंतगुणूणो तेअविउव्वियुरलाण कमा ॥३०३॥

वेउव्विउवंगाओ उरालुवंगस्सऽणंतगुणहीणो ।
संघयणआगिईसु सव्वहियो आइमस्स भवे ॥३०४॥
ताउ अणंतगुणूणो कमसो होएज्ज पंचमाईणं ।
ओघव्व जाणियव्वो सेसाणं सव्वपयडीणं ॥३०५॥

(प्रे०) "सासाणे" इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां "पढमस्स" त्ति अनन्तानुबन्धिलोभस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः "ओघव्वेत्तो उड्ढ" ति इत ऊर्ध्वं यावदप्रत्याख्यानावरणमानं तावदोघवदल्पबहुत्वं वाच्यम् । तद्यथा—अनन्तानुबन्धिलोभतोऽनन्तानुबन्धिमायाक्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, अनन्तानुबन्धिमानतः संज्वलनलोभस्याऽनन्तगुणहीनः ततः संज्वलनमायाक्रोधमानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, संज्वलनमानतः प्रत्याख्यानावरण लोभस्याऽनन्तगुणहीनः ततः प्रत्याख्यानावरणमायाक्रोधमानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, प्रत्याख्यानावरणमानतोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्यानन्तगुणहीनः ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाक्रोधमानानां यथोत्तरं विशेषहीनः "ताउ अणंतगुणूणो कमसो" त्ति अप्रत्याख्यानावरणमानतः स्त्रीवेदाऽरतिशोकभयजुगुप्सापुरुषवेदरतिहास्यानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । अत्रार्थे हेतुः प्रकृतिविशेष एव । देवायुष उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, "एव गइआणुपुव्वीण" मिति आयुष्कवद् , गत्यानुपूर्वीणामपि, तद्यथा—देवगतिनाम्नः सर्वाधिकस्ततो मनुष्यगतेस्ततस्तिर्यग्गतेर्यथोत्तरमनन्तगुणहीनः। देवानुपूर्व्याः सर्वाधिकः ततो मनुष्यानुपूर्व्यास्ततस्तिर्यगानुपूर्व्या यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, तथा पञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्करूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं न भवति, तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तथा कार्मणशरीरनाम्नः सर्वाधिकः, ततस्तैजसवैक्रियौदारिकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नः सर्वाधिकः, तत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणहीनः । तथा "संघयणआगिईसु" ति "आइमस्स" त्ति संहनननामसु प्रथमसंहनननाम्नः सर्वाधिकः प्रशस्तत्वात् , ततः कीलिकाख्यपञ्चमस्यानन्तगुणहीनः, प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यात्वोदयाभावेन सेवार्त्ताख्यषष्ठसंहनननाम्नो बन्धाभावादुक्तं "पंचमाईणं" इत्यादि, गतार्थम् । अनन्तरोक्तहेतोः प्रथमादीनां पञ्चानां संस्थाननाम्नामप्यल्पबहुत्वं संहनननामवदेव वाच्यम् । तथा "सेसाणं" ति उक्तशेषाणां पञ्चचत्वारिंशल्लक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वमोघवद् भवति । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं वर्णाद्यष्टकं विहायोगतिद्विकं स्थिरषट्कम् अस्थिरषट्कं गोत्रद्विकम्, अन्तरायपञ्चकं

चेति पञ्चचत्वारिंशत्, एतासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानाऽल्पबहुत्वमोघप्ररूपणात एवाव-सातव्यम्, सुगमत्वात् विस्तरभयाच्च नाऽत्र प्रतन्यत अस्माभिरिति ॥३००-३०५॥

अथासंज्ञिमार्गणायां स्वस्थानाल्पबहुत्वमाह—

णिरयाउगस्स असणे सव्वहियो तो अणंतगुणहीणो ।
तिरिणरसुराउगाणं कमाऽत्थि तिरियव्व सेसाणं ॥३०६॥
णवरं कुच्छाउ कमा रइहस्साणं अणंतगुणहीणो ।
तत्तो थीपुरिसाणं जाणेयव्वो जहाक्कमसो ॥३०७॥

(प्रे०) "णिरया०" इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां नरकायुरुत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्ततस्तिर्य-गायुषोऽनन्तगुणहीनस्ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः ततो देवायुषोऽनन्तगुणहीन उत्कृष्टरसो ज्ञातव्यः । पूर्वपूर्वत उत्तरोत्तरायुष्कस्थितेरसंख्यगुणहीनत्वात् । शेषप्रकृतीनामल्पबहुत्वं तिर्य-गोघवज्ज्ञेयम् । अत्र मोहनीयप्रकृतीनामल्पबहुत्वे कश्चिद् विशेषोऽस्ति, त तु "णवरि" इत्यादिना दर्शयति–अत्र मोहनीयप्रकृतीनां जुगुप्सापर्यन्तमल्पबहुत्वम् ओघवत् ततो रते-स्ततो हास्यस्य ततः स्त्रीवेदस्य ततः पुरुषवेदस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः ।

उक्तं मार्गणास्थानेषूत्कृष्टपदे स्वस्थानाल्पबहुत्वम् ॥३०६-३०७॥

॥ अथ स्वस्थानजघन्यरसबन्धाल्पबहुत्वम् ॥

अथ जघन्यरसस्य स्वस्थानमल्पबहुत्वं प्रचिकटयिषुरादौ तावत्तदोघतः प्रकटयञ्ज्ञाना-वरणानां तत्प्रकटयति—

मंदरसो सव्वप्पो मणणाणावरणगस्स ताउ कमा ।
ओहिसुअमइकेवलणाणावरणाणऽणंतगुणो ॥३०८॥

(प्रे०) 'मंदरसो' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानावरणस्य 'मंदरसो' त्ति, जघन्यरसः सर्वा-ल्पः, देशघातित्वात्, ततोऽवधिज्ञानावरणस्याऽनन्तगुणः, देशघातित्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । जघन्यरस इत्यत्र यथासम्भवमग्रेऽप्यनुवर्त्तते ।

ततः श्रुतज्ञानावरणस्याऽनन्तगुणः, अनन्तरोक्तादेव हेतोः, ततो मतिज्ञानावरणस्या-नन्तगुणः । हेतुस्तथैव, ततः केवलज्ञानावरणस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, सर्वघातित्वात् । अत्रायं नियमः–अशुभप्रकृतीनां यासां जघन्यरसबन्ध उपरितनगुणस्थानके भवति तासां जघन्यरसो-ऽल्पः, यासां चाधस्तनगुणस्थानके जघन्यरसबन्धस्तासां सोऽधिको बध्यते । यासां च विव-क्षितगुणस्थानके युगपज्जघन्यरसबन्धस्तासां रसबन्धे यदनन्तगुणत्वादिरूपं तारतम्यं तत्र प्रकृतिविशेषस्तथास्वभाव इत्यर्थ एव हेतुः ॥३०८॥

अथ दर्शनावरणानां स्वस्थानाल्पबहुत्वम्—

सव्वप्पोऽवहिदंसणआवरणस्सऽत्थि तो अणंतगुणो ।
अणयणणयणगकेवलदंसणआवरणगाण कमा ॥३०९॥
तत्तो पयलाअ तओ णिद्दाए ताउ पयलपयलाए ।
तो णिद्दाणिद्दाए ताउ भवे थीणगिद्धीए ॥३१०॥

प्रे०) 'सव्वप्पो' इत्यादि, अवधिदर्शनावरणस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, देशघातित्वात् दशमगुणस्थानकचरमसमये बध्यमानत्वाच्च । ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः, देशघातित्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः, हेतुस्तथैव । ततः केवलदर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः, सर्वघातित्वात् । ततः प्रचलाया अनन्तगुणः, अष्टमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । ततो निद्राया जघन्यरसोऽनन्तगुणः, प्रचलायाः सहैव तज्जघन्यरसस्य बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः प्रचलाप्रचलाया अनन्तगुणः, गुणस्थानकचरमसमये बध्यमानत्वात् , ततो निद्रानिद्राया अनन्तगुणः, प्रकृतिविशेषात् । मतान्तरेण निद्रानिद्राजघन्यरसतः प्रचलाप्रचलाया जघन्यरसोऽनन्तगुणो वक्तव्यः । ततः स्त्यानर्द्धेरनन्तगुणः, हेतुस्तथैव । ॥३०९-३१०॥ अथौघत एव वेदनीयकर्मणस्तत्समानवक्तव्यत्वात् कतिपयानां नामकर्मोत्तरप्रकृतीनाञ्च प्रस्तुतमल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—

णेयो असायकुखगइवण्णचउगथावराइणीआणं ।
मंदरसो सव्वऽप्पो तप्पडिवक्खाणऽणंतगुणो ॥३११॥

(प्रे०) "णेयो" इत्यादि, असातवेदनीयं कुखगतिनाम कुशब्दस्यात्रापि योजनात् कुवर्णचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमित्यर्थः, स्थावरादि स्थावरदशकमिति भावः, नीचैर्गोत्रं चेति सप्तदशानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसः सर्वाल्पः· अप्रशस्तत्वात् , तत्प्रतिपक्षभूतानां सातवेदनीयादीनामनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात् । अत्रायं नियमः—सप्रतिपक्षप्रकृतिषु या अप्रशस्ताः तासां जघन्यरसोऽल्पः, याश्च प्रशस्तास्तासामधिकः, अनन्तगुण इत्यर्थः ॥३११॥

अथौघत एव मोहनीयकर्मण उत्तरप्रकृतीनां स्वस्थानाल्पबहुत्वम्—

मंदरसो सव्वऽप्पो अंतिमलोहस्स तो अणंतगुणो ।
होइ कमा मायामयकोहपुरिसहस्सपयडीणं ॥३१२॥

तत्तो हवेज्ज कमसो रइकुच्छाभीइसोगअरईणं ।
तो थीणपुमाण कमा तओ भवे तइअमाणस्स ॥३१३॥
तो कोहमायलोहाण विसेसऽहियो कमाऽत्थि तो एवं ।
बिअपढमकसायाणं तओऽत्थि मिच्छस्सऽणंतगुणो ॥३१४॥

(प्रे०) 'मंद०' इत्यादि, संज्वलनलोभस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, नवमगुणस्थानकचरमसमये बध्यमानत्वात् । ततः सञ्ज्वलनमाया-मान-क्रोध-पुरुषवेद-हास्यानां यथाक्रममनन्तगुणः, क्षपकश्रेणौ पूर्वपूर्वस्माद् उत्तरोत्तरस्यान्तर्मुहूर्त्तं प्राग् बन्धविच्छेदाद् बन्धविच्छेदकाल एव तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनाच्च ।

इदमुक्तं भवति-मायादीनां जघन्यरसबन्धकाले यथोत्तरं विशुद्धिरल्पा भवति, तेन यथोत्तरमनन्तगुणो जघन्यरसो बध्यत इति । अयमेव हेतुर्यथासम्भवमग्रेऽप्यनुसरणीयः । "तत्तो" त्ति, तस्माद्धास्यजघन्यरसतो जुगुप्सा-भय-शोका-ऽरतीनां यथोत्तरमनन्तगुणः । यद्यपि रति-जुगुप्साभयानां हास्यमोहनीयसमकमेव जघन्यरसबन्धः तथापि तत्र यद् यथोत्तरमनन्तगुणत्वं तत्प्रकृतिविशेषात् । शोकजघन्यरसबन्धकस्य प्रमत्तत्वेनाऽल्पविशुद्धत्वात् । अरतेर्जघन्यरसः शोकजघन्यरसस्य साकमेव बध्यते तथापि तस्याऽनन्तगुणत्वं प्रकृतिविशेषात् । अरतेर्जघन्यरसात् स्त्रीवेदस्य ततो नपुंसकवेदस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः, पञ्चमगुणस्थानके बध्यमानत्वेऽपि सर्वघातित्वात् । ततः प्रत्याख्यानावरण-क्रोध-माया लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात् । ततः "एव" मित्यनन्तरोक्तप्रत्याख्यानावरणवदित्यर्थः अप्रत्याख्यानावरणानन्तानुबन्धिकषायाणां प्रकृतमल्पबहुत्वं भवति । तद्यथा-प्रत्याख्यानावरणलोभजघन्यरसादप्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः । ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोध माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात् । ततो मिथ्यात्वमोहनीयस्याऽनन्तगुणः, दीर्घतरस्थितिकत्वात् ॥३१२ ३१४॥

अथाऽऽयुषां जघन्यरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वम्—

तिरियाउस्स लहुरसो सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
जहकमसो विण्णेयो मणुस्सणारगसुराऊणं ॥३१५॥

(प्रे०) 'तिरियाउस्स' इत्यादि, तिर्यगायुषो जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणः, प्रशस्ततरत्वात् । ततो नरकायुषोऽनन्तगुणः, दीर्घतरस्थितिकत्वात् । ततो देवायुषोऽनन्तगुणः, नरकायुष्कतुल्यस्थितिकत्वेऽपि प्रशस्ततमत्वात् ॥३१५॥

अथ नामकर्मणः प्रकृतं प्रदर्शयन् गत्यानुपूर्वीणां तद्दर्शयति—

तिरियगईअ लहुरसो सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
णिरयणरसुरगईणं कमसो एवमणुपुव्वीणं ॥३१६॥

(प्रे)० "तिरियगईअ" इत्यादि, तिर्यग्गतिनाम्नो जघन्यरसः सर्वस्तोकः, अप्रशस्तत्वे सति विशुद्धेन परिणामेन बध्यमानत्वात् । ततो नरकगतेरनन्तगुणः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बद्ध्यमानत्वात् । ततः किम्? विशुद्ध्यादेर्बध्यमानजघन्यरसापेक्षया परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यमानो जघन्यरसोऽधिक इति नियमात्, अशुभतरत्वाच्च । ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात् । ततो देवगतेरनन्तगुणः, प्रशस्ततरत्वात् । तथा 'एव' ति, अनन्तरोक्तेनैव क्रमेण चतसृणामानुपूर्वीणामपि जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं भवति, तुल्यस्वामिकत्वात् । यस्तिर्यगादेर्गतेर्जघन्यरसबन्धकः स एव तदानुपूर्व्या अपीत्यर्थः ॥३१६॥

अथ जातिनाम्नां प्रकृतमल्पबहुत्वमाह—

चउइंदियस्स हवए सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
तेइंदियबेइंदियएगिदिपणिंदियाण कमा ॥३१७॥

(प्रे०) 'चउइंदियस्स' इत्यादि, चतुरिन्द्रियजातिनाम्नो जघन्यरसः सर्वस्तोकः, अप्रशस्तत्वात्, ततस्त्रीन्द्रियजातेरनन्तगुणः, अप्रशस्ततरत्वात्, ततो द्वीन्द्रियजातेरनन्तगुणः, त्रीन्द्रियजातिनामापेक्षयाऽप्रशस्ततरत्वात्, तत एकेन्द्रियजातिनाम्नोऽनन्तगुणः, अप्रशस्ततरत्वात्, ततः पञ्चेन्द्रियजातेरनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात्, ननु पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नो जघन्यरसो नरकप्रायोग्यप्रकृतिबन्धस्य सर्वसंक्लेशेन बध्यते, शेषाणां चतुर्णां द्वीन्द्रियादिजातिनाम्नान्तु स परावर्त्तमानपरिणामेन, सर्वसंक्लेशादिना यावान् जघन्यरसो बध्यते तदपेक्षया परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यमानो जघन्यरसोऽधिको भवतीति चेन्न, मध्यमपरिणामेनापि बध्यमानाशुभप्रकृतीनां जघन्यरसात् शुभप्रकृतीनां सर्वसंक्लेशेनापि बध्यमानो जघन्यरसस्तथास्वाभाविकेनाऽनन्तगुण एव ॥३१७॥

अथ शरीरनाम्नां जघन्यरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वम्—

उरलस्स जहरणरसो सव्वत्थोवो तओ अरांतगुरणो ।
वेउव्वतेअकम्मणआहारतणूण होइ कमा ॥३१८॥

(प्रे०) 'उरलस्स' इत्यादि, औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, प्रशस्ततरत्वात्, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, प्रकृतिविशेषात् । ततः कार्मणशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, प्रकृतिविशेषात् । तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, संयतेन बध्यमानत्वात् ॥३१८। अथाङ्गोपाङ्गनाम्नां प्रकृतमल्पबहुत्वम्—

मंदरसो सव्वऽप्पो उरालुवंगस्स तो अरांतगुणो ।
जहकमसो बोद्धव्वो वेउव्वाहारुवंगाणं ॥३१९॥

(प्रे०) 'मंदरसो' इत्यादि, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो जघन्यरसः सर्वाल्पः । ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणः, प्रशस्ततरत्वात् । तत आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणः, संयतेन बध्यमानत्वात् ॥३१९॥ अथ संहनननाम्नां संस्थाननाम्नाञ्च प्रकृतमल्पबहुत्वमाह—

संघयणआगिईसुं मंदरसोऽत्थि दुइअरस सव्वप्पो ।
तत्तो अरांतगुणिओ कमसो तइआइपदमाणं ॥३२०॥

(प्रे०) 'संघयणे' त्यादि, संहनननामसु द्वितीयर्षभनाराचाख्यसंहनननाम्नो जघन्यरसः सर्वाल्पः, अप्रशस्तत्वात् । ततस्तृतीयनाराचाख्यस्याऽनन्तगुणितः, अनन्तगुण इत्यर्थः, अप्रशस्ततरत्वात् । ततश्चतुर्थस्याऽर्धनाराचाख्यस्याऽनन्तगुणः, पूर्वापेक्षयाऽपि अप्रशस्ततरत्वात् । ततः पञ्चमस्य कीलिकाख्यस्याऽनन्तगुणः, पूर्वापेक्षया अप्रशस्ततरत्वात् । ततः षष्ठस्य सेवार्ताख्यस्याऽनन्तगुणोऽप्रशस्ततमत्वात्, ततः प्रथमस्य वज्रर्षभनाराचाख्यस्याऽनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात् । अनेनैव क्रमेण षण्णां संस्थाननाम्नामपि जघन्यरसस्याऽल्पबहुत्वं ज्ञातव्यम् । अत्राप्यष्टप्रत्येकप्रकृतीनामल्पबहुत्वमुत्कृष्टपदवद् नास्ति ॥३२०॥ अथाऽन्तरायकर्मणः—

सव्वत्थोवो हवए मंदरसो दाणअंतरायस्स ।
ताउ कमाऽणंतगुणो लाहाइगअंतरायाणं ॥३२१॥

(प्रे०) "सव्वत्थोवो" इत्यादि, दानान्तरायस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततो लाभान्तरायस्यानन्तगुणः, ततो भोगान्तरायस्याऽनन्तगुणः, तत उपभोगान्तरायस्याऽनन्तगुणः, ततो वीर्यान्तरायस्याऽनन्तगुणः । यद्यपि पञ्चानामपि दशमगुणस्थानकचरमसमय एव जघन्यरसबन्धस्तथाप्यत्रोत्तरोत्तरं यदनन्तगुणत्वं रसस्य, तत्र प्रकृतिविशेष एव हेतुरिति ॥३२१॥

अथ मार्गणासु स्वस्थानाल्पबहुत्वं दिदर्शयिषुरादौ तावत्तत्समानवक्तव्यत्वादोघवत्तदातिदिशन्नाह-

ओघव्व हवेज्ज तिणरदुपणिंदितसपणमणवयेसु तहा ।
कायुरललोहणयणेयरभविसण्णीसु आहारे ॥३२२॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, मनुष्यौघः, पर्याप्तमनुष्यः, मानुषी, ओघपर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ पञ्चेन्द्रियभेदौ, तादृशावेव द्वौ त्रसकायभेदौ, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचोयोगाः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, लोभकषायः, चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुर्दर्शनम्, भव्यः, सञ्ज्ञी, आहारी चेति पञ्चविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकमोघवद् भवति, सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वमिति प्रस्तावाद् गम्यते । कुत ओघवद् भवति ? उच्यते, त्रिमनुष्यौदारिकयोगवर्जासूक्तमार्गणासु चातुर्गतिकानां जीवानामिहान्तःप्रवेशात् क्षपकश्रेणेः सद्भावाच्च, त्रिमनुष्यौदारिकयोगमार्गणासु पुनः मिथ्यादृष्टिप्रभृतिसर्वगुणस्थानकानां सद्भावात् ॥३२२॥

अथ नरकौघप्रमुखमार्गणासु प्रकृतमाह--

णिरय-पढमाइछणिरय तइआइग-अट्ठमंतदेवेसु ।
सव्वप्पो पयलाए तोऽणंतगुणोऽत्थि णिद्दाए ॥३२३॥
ताउ कमा होइ अवहिअणयणियरकेवलावरणगाणं ।
तत्तो णेयो तिण्हं पयलापयलाइगाण कमा ॥३२४॥
हस्सस्स जहण्णरसो सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
रइ च्छाभीइपुरिसअंतिममाणाण होइ कमा ॥३२५॥
तत्तो विसेसअहियो कमा चरमकोहमायलोहाणं ।
ताउ कमाऽणंतगुणो सोगारइथीणपुंसाणं ॥३२६॥
तत्तो दुइअतइअपढमकसायाण होइ जहकमसो ।
चरमकसायव्व तओ मिच्छस्स भवे अणंतगुणो ॥३२७॥
तिरियाउस्स लहुरसो सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
मणुसाउगस्स हवए एवं गइआणुपुव्वीणं ॥३२८॥
उरलस्स जहण्णरसो सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
विण्णेयो जहकमसो तेअसकम्मणसरीराणं ॥३२९॥

णेव भवे पंचिंदियओरालियउवंगतसचउक्काणं ।
ओघव्वऽप्पाबहुगं हवए सेसाण पयडीणं ॥३३०॥

(प्रे०) 'णिरय' इत्यादि, नरकगत्योघः, प्रथमादयः षड्नरकभेदाः 'तइआइग' त्ति, सनत्कुमारादिसहस्रारान्ताः षड्देवभेदाश्चेति त्रयोदशसु मार्गणासु प्रचलाया जघन्यरसः सर्वाल्पः, चतुर्थगुणस्थानके सर्वविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । ततो निद्राया अनन्तगुणः, सर्वविशुद्ध्यैव चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततोऽवधिदर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः । ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः । ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः । ततः केवलदर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः, सर्वघातित्वात् । ततः प्रचलाप्रचलाया अनन्तगुणः, प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । ततो निद्रानिद्राया अनन्तगुणः, ततः स्त्यानर्द्धेरनन्तगुणः, प्रकृतिविशेषादिति दर्शनावरणानामल्पबहुत्वम् ।

हास्यस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । ततो रतेरनन्तगुणः, चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणः । ततो भयस्याऽनन्तगुणः । ततः पुरुषवेदस्याऽनन्तगुणः तथा 'अलिममाणाण' त्ति, ततः संज्वलनमानस्याऽनन्तगुणः, कषायत्वात् । ततः संज्वलन-क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात् । ततः शोकस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, मध्यमविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । ततोऽरतेरनन्तगुणः, शोकस्य साकमेव तज्जघन्यरसस्य बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः स्त्रीवेदस्याऽनन्तगुणः, प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । ततो नपुंसकवेदस्याऽनन्तगुणः, अप्रशस्ततरत्वात् 'ताहिंतो' त्ति ततो नपुंसकवेदादित्यर्थः. 'दुइअ' त्ति, 'चरमकसायव्व' त्ति, अप्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, कषायत्वात् सर्वघातित्वात् । ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात् । 'तइअ' त्ति ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः, तथास्वाभाव्यात् । ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात् । ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोध माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात् । ततो मिथ्यात्वमोहनीयस्याऽनन्तगुणः, दर्शनमोहनीयत्वात् , दीर्घतरस्थितिकत्वाच्च । इति मोहनीयप्रकृतीनामल्पबहुत्वम् ।

तथा 'तिरियाउस्स' त्ति, तिर्यगायुषो जघन्यरसः सर्वस्तोकः, अल्पप्रशस्तत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणः, प्रशस्ततरत्वादित्यायुषोऽल्पबहुत्वम् ।

"एवं गइआणुपुव्वीणं" ति आयुष्कवद् गत्योरानुपूर्व्योश्चाल्पबहुत्वं भवति । तथा "उरलस्स" त्ति, औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, ततः कार्मणशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः । तथा "णेव भवे" त्ति, पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनामत्रसचतुष्काणां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं नास्ति, स्वस्थानाल्पबहुत्वस्य प्रस्तुतत्वात् प्रतिपक्षप्रतिबन्धाभावाच्च ।

'सेसाण' त्ति, उक्तशेषाणामष्टचत्वारिंशतो जघन्यरसस्याल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तच्चौघप्ररूपणात एव ज्ञातव्यम् । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः-ज्ञानावरणपञ्चकं वेदनीयद्विकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं वर्णाद्यष्टकं विहायोगतिद्विकं स्थिरषट्कम् अस्थिरषट्कं गोत्रद्विकम् अन्तरायपञ्चकं चेति अष्टचत्वारिंशत् ॥३२३-३३०॥ अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् सप्तमनरकादिमार्गणासु प्रस्तुतं सापवादं नरकौघवदतिदिशन्नाह—

णिरयव्व चरमणिरये णवरं तिरियाउगस्स णेव भवे ।
तेराणताइगेसुं णिरयव्व णवरि ण णरतिगस्स भवे ॥३३१॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'णिरयव्व' इत्यादि, चरमनरकमार्गणायां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनन्तरोक्तनरकौघमार्गणावद् भवति । 'णवर' ति प्रतिपक्षायुषो बन्धाभावेन तिर्यगायुषोऽल्पबहुत्वं न भवति, तेन नरकौघमार्गणायां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां षण्णामल्पबहुत्वं प्रतिषिद्धम्, इह तु तिर्यगायुषा सह सप्तानां तत्प्रतिषेध्यम् आयुषोऽल्पबहुत्वं नैव वाच्यं च । तथा "तेराणताइगेसु" ति, आनतादिनवमग्रैवेयकपर्यन्तासु त्रयोदशसु देवमार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं नरकौघवदेव भवति । 'णवरि' मनुष्यत्रिकस्य तन्न भवति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तेनेहाऽनन्तरगाथाविवरणोक्तानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां षण्णां मनुष्यत्रिकस्य चेति नवानामल्पबहुत्व नास्तीति वाच्यम् । आयुष्कगत्याऽऽनुपूर्वीणां चाल्पबहुत्वमेव न वाच्यम्, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥३३१॥

अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वाह—

बीअतुरिअकम्माणं णिरयव्व तिरितिपणिदितिरियेसुं ।
णवरं कायव्वो बिअतइअकसायाण वच्चासो ॥३३२॥
विउवस्स जहण्णरसो सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
कमसो णेयो तेअसकम्मोरालियसरीराणं ॥३३३॥
वेउव्वियुवंगाओ अणंतगुणिओ उरालुवंगस्स ।
मंदरसो सेसाणं पयडीणोघव्व बोद्धव्वो ॥३३४॥

(प्रे०) "चोअतुरिअ०" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघत्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु चतसृषु मार्गणासु द्वितीयतुर्यकर्मणोः=दर्शनावरणमोहनीयकर्मणोरल्पबहुत्वं नरकौघमार्गणावज्ज्ञेयम्, किन्त्वत्र पञ्चमगुणस्थानकस्य सद्भावात् अप्रत्याख्यानकषायजघन्यरसतः प्रत्याख्यानकषायाणां जघन्यरसोऽनन्तगुणहीनः, पञ्चमगुणस्थानके तस्य बध्यमानत्वात्, अतोऽतिप्रसक्तं वारणायोक्तं 'णवर' इत्यादि, द्वितीयतृतीयकषायाणां क्रमभेदः कर्तव्यः । अर्थात् तृतीयकषायजघन्यरसानन्तरं द्वितीयाप्रत्याख्यानकषायजघन्यरसोऽनन्तगुणो वक्तव्यः । अथ शरीराणामल्पबहुत्वं 'विउवस्स' इत्यादिना कथयति-वैक्रियशरीरस्य जघन्यरसः स्तोकः, ततस्तैजसशरीरस्याऽनन्तगुणः, ततः कार्मणशरीरस्य सो-ऽनन्तगुणः सर्वसंक्लेशकाले युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषाद्रसोऽनन्तगुण उत्तरोत्तरं ज्ञेयः, तत औदारिकशरीरस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, मध्यमसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । अथाऽङ्गोपाङ्गनामकर्मणोरल्पबहुत्वं "वेउव्वियसु०" इत्यादिनाह—वैक्रियाङ्गोपाङ्गजघन्यरसत औदारिकाङ्गोपाङ्गस्य तु सोऽनन्तगुणो ज्ञेयः । उक्तातिरिक्तानां प्रत्येकाष्टप्रकृतिवर्जानामष्टपष्टिप्रकृतीनां स्वस्थानाल्पबहुत्वमोघवद् ज्ञेयम् ॥२३२-२३४॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वाह—

असमत्तपणिदितिरिय-मणुसपणिदियतसेसु सव्वेसु ।
एगिदिय-विगलिदिय-पुहवी-सलिल-वणकायेसु ॥२३५॥
मंदरसो पयलाए थोवो तत्तो अणंतगुणअहियो ।
णिद्दापयलापयलाणिद्दाणिद्दाण होइ कमा ॥२३६॥
तत्तो थीणद्धीए तत्तो ओहिस्स तो अचक्खुस्स ।
तात्रो चक्खुस्स भवे ताहिन्तो केवलस्स भवे ॥२३७॥
णिरयव्व होइ गइतणुउवंगअणुपुव्विगाण सेसाणं ।
णामपयडीण हवए ओघव्वियराण णिरयव्व ॥२३८॥

(प्रे०) 'असमत्त०' इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्, अपर्याप्तमनुष्यः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, सर्वे एकेन्द्रियभेदास्ते च सप्त, सर्वे विकलेन्द्रियभेदास्ते च नव, सर्वे च ते पृथ्व्यब्वनस्पतिभेदास्ते च यथाक्रमं सप्त सप्तैकादशेति पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु "मदरसो" इत्यादिना दर्शनावरणीयकर्मणः स्वस्थानाल्पबहुत्वं दर्शयति—प्रचलाया जघन्यरसः सर्वस्तोकः ततः क्रमेण निद्रा-प्रचलाप्रचला-निद्रानिद्रा-स्त्यानगृद्धि-अवधिदर्शनावरणा-

ऽचक्षुरचक्षुःकेवलदर्शनावरणकर्मणां जघन्यरसोऽनन्तगुणो भवति । अथ गत्यादिकर्मणां **'णिरयव्व'** इत्यादि, गतिशरीराङ्गोपाङ्गानुपूर्वीनाम्नां प्रत्येकं जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं नरकगत्योघवद् भवति, कुतः ? यथा तत्र तथाऽत्रापि विवक्षितगत्यादीनामेव बन्धोपलम्भात् । नरकवच्चैवम्—तिर्यग्गतेर्जघन्यरसः स्तोकः, ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणः । एवमेवानुपूर्व्योरपि ज्ञेयम् । तथा औदारिकशरीरनाम्नः सर्वस्तोकस्ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, ततः कार्मणशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः । **'उवग'** त्ति, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, अस्याल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तथा **'सेसाणं'** ति, उक्तशेषाणां नामकर्मणः प्रकृतीनामोघवत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वं भवति, यथौघे तथाऽत्राऽप्यशुभानां जघन्यरसात् शुभानां जघन्यरसोऽधिक इति हेतोः । अथ यथौघवद् भवति तथैव दर्शयामः—चतुरिन्द्रियजातिनाम्नो जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततस्त्रीन्द्रिय-द्वीन्द्रियैकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः । इति जातिनाम्नामल्पबहुत्वम् । द्वितीयसंहनननाम्नो जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततस्तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-प्रथमसंहनननाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः । एवमेव षण्णां संस्थाननाम्नामपि बोध्यम् । अप्रशस्तविहायोगतेरल्पस्ततः प्रशस्तविहायोगतेरनन्तगुणः । अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्य स्वल्पस्ततः प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्याऽनन्तगुणः । स्थावरदशकस्य स्थावरनामादीनां दशानामित्यर्थः प्रत्येकं जघन्यरसः स्तोकः, ततः त्रसनामादीनां दशानां प्रत्येकमनन्तगुणः । तद्यथा—स्थावरनाम्नः स्तोकस्ततस्त्रसनाम्नोऽनन्तगुणः । सूक्ष्मनाम्नः स्तोकस्ततो बादरनाम्नोऽनन्तगुणः, एवमेवाऽग्रेऽपि यावदयशःकीर्त्तिनाम्नोऽल्पस्ततो यशःकीर्त्तिनाम्नोऽनन्तगुण इति । **'इयराण'** त्ति, उक्तावशेषाणां प्रकृतीनां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं नरकौघमार्गणावद् भवति, इमाश्च ता उक्तावशेषाः प्रकृतयः—ज्ञानावरणपञ्चकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिकं तिर्यग्मनुष्यायुषी गोत्रद्विकम् अन्तरायपञ्चकं चेति द्वाचत्वारिंशत्, एतासामल्पबहुत्वं तु नरकौघमार्गणावित्तेरवधारणीयम् ॥३३५-३३८॥

अथ सुरौघादिमार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—

सुरईसाणंतविउवदुगेसु एगिंदियस्स सव्वप्पो ।
मंदरसो होइ तओ पणिंदियस्स य अणंतगुणो ॥३३९॥
थोवो हवेज्ज थावरणामस्स तओ तसस्सऽणंतगुणो ।
णिरयव्वऽप्पाबहुगं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥३४०॥

(प्रे०) **'सुर०'** इत्यादि, देवौघभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानवैक्रियवैक्रियमिश्रकाययोगरूपास्वष्टमार्गणास्वेकेन्द्रियजातिनाम्नो जघन्यरसोऽल्पः, ततः पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नो जघन्यरसोऽनन्तगुणः, शुभत्वात् ।

तथैव स्थावरनाम्नोऽल्पः, ततस्त्रसनाम्नोऽनन्तगुणः । मार्गणाप्रायोग्यबध्यमानानां शेषप्रकृतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वं सर्वथा नरकौघमार्गणावज्ज्ञेयम्, तच्च पूर्वमेवोक्तत्वात् पुनरत्र नोच्यते ॥३३९-३४०॥ अथाऽनुत्तरमार्गणास्वाह —

पणणाणावरणाणं दुवेअणीयपणअंतरायाणं ।
ओघव्वऽणुत्तरेसुं णो अत्थि णराउउच्चाणं ॥३४१॥

(प्रे०) 'पणणाणावरणाण' इत्यादि, पञ्चस्वनुत्तरसुरमार्गणासु प्रत्येकं पञ्चानां ज्ञानावरणानां द्वयोर्वेदनीयप्रकृत्योः पञ्चानामन्तरायाणाञ्च प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तद्यथा- मनःपर्यवज्ञानावरणस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः ततोऽवधिश्रुतमतिकेवलज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणः, हेतुरोघवत् । असातवेदनीयस्य जघन्यरसोऽल्पः, अप्रशस्तत्वात् ततः सातवेदनीयस्याऽनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात् । दानान्तरायस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततो लाभ-भोगो-पभोगवीर्यान्तरायाणां यथोत्तरमनन्तगुणः, प्रकृतिविशेषात् । मनुष्यायुष उच्चैर्गोत्रस्य च प्रस्तुतमल्पबहुत्वं न भवति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥३४१॥

अथ तत्रैव शेषकर्मणामल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—

पयलाअ जहण्णरसो सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
णिद्दाहि-अणयण-णयण-केवलआवरणगाण कमा ॥३४२॥
हस्सस्स सव्वअप्पो रइकुच्छभयपुमचरममाणाणं ।
ताउ कमाऽणंतगुणो तओ विसेसाहियो कमसो ॥३४३॥
संजलणकोहमायालोहाण तओ कमा अणंतगुणो ।
सोगारईण तत्तो बितिअकसायाण णिरयव्व ॥३४४॥
ओरालियस्स हवए सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
जहक्कमसो विण्णेयो तेअसकम्मणसरीराणं ॥३४५॥
तिथिराइगजुगलाणं अडवण्णाईण होइ ओघव्व ।
अप्पाबहुगं ण भवे सेसाणं णामपयडीणं ॥३४६॥

(प्रे०) "पयलाअ" इत्यादि, अनुत्तरसुरमार्गणास्वित्यनुवर्त्तते, प्रचलाया जघन्यरसः सर्वस्तोकः, सर्वविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । ततो निद्राया अनन्तगुणः, सर्वविशुद्ध्या बध्यमानत्वेऽपि

प्रकृतिविशेषात् । ततः 'ओहि' अवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणः । ततः 'अणयण' त्ति, अचक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः, ततः केवलदर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः । 'हस्सरस' त्ति, हास्यस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, सर्वविशुद्धया बध्यमानत्वात् । ततो रतेरनन्तगुणः, ततो जुगुप्सायास्ततो भयस्य ततः पुरुषवेदस्य ततः 'चरम' त्ति संज्वलनमानस्य जघन्यरसः क्रमात् पूर्वपूर्वस्मादुत्तरोत्तरस्येत्यर्थः, अनन्तगुणः। ततः संज्वलनक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात् । ततः संज्वलनलोभादित्यर्थः शोकस्याऽनन्तगुणः, मध्यमविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । ततोऽरतेरनन्ततगुणः, प्रकृतिविशेषात् । ततो द्वितीयतृतीयकषायाणां नरकवद् भवति, तद्यथा—अरतेर्जघन्यरसादप्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः प्रकृतेः सर्वघातित्वात् ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणः ततः क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिक इति मोहनीयप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वम् ।

औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसः सर्वस्तोकः, सर्वसंक्लेशेन बध्यमानत्वात्, ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, ततः कार्मणशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, सर्वसंक्लेशेन बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । 'तिथिराइग' त्ति, 'ओघव्व' त्ति, त्रयाणां स्थिरनामादियुगलानामोघवद् भवति, तद्यथा-अस्थिरनाम्नो जघन्यरसोऽल्पः, अप्रशस्तत्वात् ततः स्थिरनाम्नोऽनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात् । एवमेवाऽशुभायशःकीर्त्तिनाम्नोः प्रत्येकमल्पः, ततस्तत्प्रतिपक्षयोः शुभयशःकीर्तिनाम्नोः प्रत्येकमनन्तगुणः, पूर्वोक्तादेव हेतोः । तथा 'अवण्णाईण' त्ति, ओघवदित्यनुवर्त्तते, तच्चैवम्-अप्रशस्तस्य वर्णादिचतुष्कस्य जघन्यरसोऽल्पः, ततः प्रशस्तस्य तस्यानन्तगुणः । 'अप्पाबहुग ण भवे' त्ति, उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां चतुर्दशानां नामप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याल्पबहुत्वं न भवति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्च ता उक्तशेषा नामकर्मणः प्रकृतयः-मनुष्यद्विकम्, पञ्चेन्द्रियजातिः, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, प्रथमसंहनननाम, प्रथमसंस्थाननाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसचतुष्कम् ,सुभगत्रिकञ्चेति चतुर्दश ॥३४२-३४६॥ अथ तेजोवायुकायमार्गणास्वाह—

तिरितिगणीआणं णो सव्वेसुं तेउवाउभेएसुं ।
अप्पबहू सेसाणं अपज्जपंचिंदियतिरिव्व ॥३४७॥

(प्रे०)'तिरितिग०' इत्यादि' 'सव्वेसु'' ति, सप्तसु तेजस्कायभेदेषु स[illegible] वायुकायभेदेषु चेति चतुर्दशमार्गणासु प्रत्येकं तिर्यक्त्रिकनीचैर्गोत्ररूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं न भवति, तेजोवायूनां तिर्यक्प्रायोग्याणामेव प्रकृतीनां बन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तथा 'सेसाणं' ति, उक्तशेषाणां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं प्रागुक्ताऽपर्याप्त-

पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणावद् भवति, नवरं तत्रोक्तं गतिनाम्नोरानुपूर्वीनाम्नोरायुषोर्गोत्रद्विकस्य चाऽल्पबहुत्वमत्र नैव वाच्यम्, तिर्यक्त्रिकनीचैर्गोत्रयोरल्पबहुत्वस्यैहैव 'तिरितिगे' इत्यादिना प्रतिषिद्धत्वात् मनुष्यत्रिकोच्चैर्गोत्रयोरिह बन्धाभावाच्च । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः— ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिकं जातिपञ्चकम् औदारिकतैजसकार्मणशरीरनामानि औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं वर्णाद्यष्टकं खगतिद्विकं त्रसदशकं स्थावरदशकम् अन्तरायपञ्चकं चेत्यष्टनवतिः । एतासामल्पबहुत्वं तु अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणा(गाथा३३५. ३३८)विवरणत एवावधारणीयं ग्रन्थविस्तारभीरुर्नात्र तनोमि ॥३४७॥

अथौदारिकमिश्रकाययोगादिष्वाह—

ओरालमीसजोगे कम्माणाहारगेसु सव्वप्पो ।
तिरियगईअ कमा तो णरदेवगईणऽणंतगुणो॥३४८॥
एवं अणुपुव्वीणं मंदरसो च उरलस्स सव्वप्पो ।
ताउ कमाऽणंतगुणो तेअसकम्मणविउव्वाणं ॥३४९॥
ओरालियुवंगाओ विउव्वुवंगस्स होज्जऽणंतगुणो ।
ओघव्व हवेज्ज इयरणामाणऽणाण णिरयव्व ॥३५०॥

(प्रे०) '**ओरालमीस०**' इत्यादि, औदारिकमिश्रयोगः, कार्मणकाययोगः, अनाहारिमार्गणा चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यग्गतेर्जघन्यरसः सर्वाल्पः, अप्रशस्तत्वे सति विशुद्धया बध्यमानत्वात्। ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणः, मध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । ततो देवगतेरनन्तगुणः, प्रशस्ततरत्वात्, चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वाच्च । '**एवं अणुपुव्वीणं**' ति, अनन्तरोक्तेनैव क्रमेण तिसृणामानुपूर्वीणामपि जघन्यरसस्याऽल्पबहुत्वं वाच्यम् । तथौदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसः सर्वाल्पः, प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । ततस्तैजसशरीरनाम्नस्ततः कार्मणशरीरनाम्नो यथोत्तरमनन्तगुणः, प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, इह चतुर्थ एव गुणस्थानके बध्यमानत्वात् । औदारिकाङ्गोपाङ्गनामतो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणः । औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो जघन्यरसः सर्वाल्पः, प्रशस्तत्वेऽपि प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वात्. ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणः, प्रशस्ततरत्वात्, चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । तथा '**इयरणामाण**' त्ति उक्तशेषाणां प्रत्येकप्रकृतिवर्जसप्तचत्वारिंशन्नामप्रकृतीनां जघन्यरसस्याऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तच्च तत एवावधारणीयम् । उक्तशेषा नामप्रकृतयस्त्विमाः—जातिपञ्चकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं वर्णाद्यष्टकं

विहायोगतिद्विकं त्रसदशकं स्थावरदशकं चेति सप्तचत्वारिंशत् । 'अण्णाण णिरयव्व' नामप्रकृतिवर्जानामन्यासामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनामल्पबहुत्वं नरकौघमार्गणावद् भावनीयम् । शेषप्रकृतयश्चेमाः–ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिकं गोत्रद्विकम् अन्तरायपञ्चक चेति नवचत्वारिंशत् ॥३४८-३५०॥

अथाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः प्रकृतमाह—

हस्सस्साहारदुगे सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
होइ कमा रइकुच्छाभयपुमसंजलणमाणाणं ॥३५१॥
तो चरमकोहमायालोहाण कमा विसेसअहियो तो ।
सोगारईण कमसोऽणंतगुणो णाउगोआणं ॥३५२॥
पढमदुइअतइअचरमकम्माण भवे अणुत्तरसुरव्व ।
तिथिराइगजुगलाणं अडवण्णाईण ओघव्व ॥३५३॥
वेउव्वियस्स हवए सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
तेअसकम्माण कमा णेव भवे सेसणामाणं ॥३५४॥

(प्रे०) 'हस ' इत्यादि, आहारककाययोगमार्गणायाम्, आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां च हास्यमोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, सर्वविशुद्धया बध्यमानत्वात् । ततो रति-जुगुप्सा-भय-पुरुषवेद-संज्वलनमानानां क्रमात् पूर्वपूर्वस्मादुत्तरोत्तरस्येत्यर्थः, अनन्तगुणः, सर्वविशुद्धया बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः 'चरम' त्ति, संज्वलनक्रोध-माया–लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, हेतुः प्राग्वत् । ततः संज्वलनलोभजघन्यरसादित्यर्थः, शोकस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, मध्यमविशुद्धया बध्यमानत्वात् । ततोऽरतेरनन्तगुणः, प्रकृतिविशेषात् । तथा 'णाउगोआण' इह बन्धयोग्यस्य देवायुष उच्चैर्गोत्रस्य च जघन्यरसस्य न भवति, अल्पबहुत्वमिति प्रस्तावाद् गम्यते, कुतो न भवति ? प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ।

तथा 'पढम०' इत्यादि, तत्र 'पढम'त्ति ज्ञानावरणकर्म 'दुइअ' त्ति, दर्शनावरणकर्म 'तइअ' त्ति, वेदनीयकर्म 'चरम' त्ति, अन्तरायकर्मेति चतुर्णां कर्मणामुत्तरप्रकृतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वमनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति,तद्यथा-मनःपर्यवज्ञानावरणस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततोऽवधि श्रुत–मति-केवलज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणः । प्रचलाया जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततो निद्राया अनन्तगुणः, ततोऽवधिदर्शनावरणस्य, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य, ततः केवलदर्शनावरणस्य यथोत्तरमनन्तगुणः । असातवेदनीयस्य जघन्यरसोऽल्पस्ततः सातवेद-

नीयस्याऽनन्तगुणः। दानान्तरायस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततो लाभ-भोगो-पभोग-वीर्यान्तरायाणां यथोत्तरमनन्तगुणः।

तथा 'लिथिराइग' इत्यादि, त्रयाणां स्थिरनामादियुगलानां वर्णाद्यष्टकस्य च प्रस्तुनमल्पबहुत्वमोघवद् भवति। तद्यथा-अस्थिरनाम्नो जघन्यरसोऽल्पः, ततः स्थिरनाम्नोऽनन्तगुणः। अशुभनाम्नोऽल्पः, ततः शुभनाम्नोऽनन्तगुणः। अयशःकीर्तिनाम्नोऽल्पः, ततो यशःकीर्तिनाम्नोऽनन्तगुणः। अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्याल्पः, ततः प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्याऽनन्तगुणः। तथा 'वेउव्वियस्स' त्ति, वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यरसः सर्वस्तोकः, मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशेन बध्यमानत्वात्। ततस्तैजसशरीरस्याऽनन्तगुणः, ततोऽपि कार्मणशरीरस्याऽनन्तगुणः, तीव्रसंक्लेशेनैव बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात्। तथोक्तशेषाणां त्रयोदशानां नामकर्मणः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं न भवति, कुतः ? स्वस्थानाऽल्पबहुत्वस्य प्रस्तुतत्वेन प्रतिपक्षबन्धाभावात्। इमाश्च ता उक्तशेषा नामकर्मणः प्रकृतयः-देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं चेति त्रयोदश ॥३५१-३५४॥

अथ त्रिवेदत्रिकषायमार्गणासु जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वमाह—

वेअकसायतिगे खलु संजलणाणं चउण्ह सव्वप्पो।
अण्णोण्णं सयमुज्झं परमोघव्व तह अण्णेसिं ॥३५५॥

(प्रे०) 'वेअकसायतिगे' इत्यादि, त्रिकशब्दस्य द्वाभ्यामभिसम्बन्धात् वेदत्रिके तथा क्रोधमानमायारूपकषायत्रिके च संज्वलनचतुष्कस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, तत्रापि संज्वलनक्रोधमानमायालोभरूपकषायचतुष्कस्य परस्परमल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञेयम्। अन्यासां प्रकृतीनामल्पबहुत्वमोघवदवसेयमिति अक्षरार्थः। भावार्थस्त्वेवम्-क्रोधमार्गणायां वेदत्रिके च संज्वलनचतुष्कस्य जघन्यरसोऽल्पस्तत ओघवत्। मानमार्गणायां संज्वलनमानमायालोभप्रकृतीनां जघन्यरसोऽल्पः, ततः सञ्ज्वलनक्रोधस्यानन्तगुणः, क्षपकश्रेण्यां पूर्वमेव विच्छेदेन हीनविशुद्धया बध्यमानत्वात्, ततः परमोघवत्। मायामार्गणायां संज्वलनमायालोभयोर्जघन्यरसोऽल्पः ततः संज्वलनमानस्यानन्तगुणः, ततः संज्वलनक्रोधस्यानन्तगुणो रसः, हेतुः पूर्ववत्, तत ओघवद्विज्ञेयम्। 'अण्णोण्ण सयमुज्झ' मित्युक्तिर्ग्रन्थकारस्य कथमिति चेदुच्यते त्रिवेदमार्गणासु संज्वलनचतुष्कस्य जघन्यरसो युगपत् स्पर्धकरूपतया बध्यते तस्मात् सामान्यावस्थायां यथा संज्वलनमानस्याल्पः ततस्संज्वलनक्रोधमायालोभानां क्रमेण विशेषाधिकरूपेण प्राप्यते तथैवात्रापि संभाव्यते। क्रोधमार्गणायां क्षपकश्रेण्यां संज्वलनक्रोधस्य तृतीयकिट्टिवेदनचरमसमये युगपत् संज्वलनचतुष्कस्य जघन्यरसो बध्यते, कषायप्राभृतचूर्ण्यनुसारेणाल्पबहुत्वमेवं संभाव्यते, तद्यथा-संज्वलनलोभस्य रसो-

ऽल्पस्ततः संज्वलनमायाया अनन्तगुणः, संज्वलनमानक्रोधयोः क्रमेणानन्तगुणः, यत उदित-कषायस्य वेद्यमानसङ्ग्रहकिट्टिसत्कजघन्यरसतोऽनन्तगुणः, उत्कृष्टरसतः पुनरनन्तगुणहीनरसो बध्यते, तथा शेषानुदितकषायाणां स्वोत्कृष्टरसयुक्तसङ्ग्रहकिट्टिजघन्यरसतोऽनन्तगुणः, उत्कृष्टरस-तोऽनन्तगुणहीनो रसो बध्यते, चतुःसंज्वलनकषायाणां प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः संग्रहकिट्टयो विद्यन्ते। तासां क्रमोऽयं ज्ञातव्यः। तद्यथा–संज्वलनलोभस्य प्रथमकिट्टेर्जघन्यरसोऽल्पः ततस्तस्या एवोत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः, तथा तस्य द्वितीयकिट्टेर्जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ततस्तस्या एवोत्कृष्टरसो-ऽनन्तगुणः एवं तस्य तृतीयकिट्टेर्जघन्योत्कृष्टरसः, ततः सज्वलनमायायाः प्रथमकिट्टेर्जघन्य-रसोऽनन्तगुणः, ततस्तस्या एवोत्कृष्टरसो अनन्तगुणः, एवं क्रमेणोत्तरोत्तरं मायाद्वितीयतृतीय-मानप्रथमद्वितीयतृतीयक्रोधप्रथमद्वितीयतृतीयकिट्टिगतजघन्यरसस्योत्कृष्टरसस्य चानन्तगुणत्वं ज्ञातव्यम्। अन्ये तु युगपद् बन्धेन व्यवच्छिद्यमानकषायाणां जघन्यरसस्य विशेषाधिकत्वं कथयन्ति न तु अनन्तगुणाधिकत्वं मन्यन्तेऽतो द्वितीयमतेन त्वल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञातव्यमिति।

'परमोघव्व' त्ति, ततः पर, संज्वलनचतुष्कवर्जशेषमोहनीयप्रकृतीनामिति भावः, **'तह अण्णेसिं'** तथा इतरासां मोहनीयवर्जसप्तकर्मणामुत्तरप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति। ओघवच्चैवं–संज्वलनजघन्यरसात् पुरुषवेद हास्यरति जुगुप्सा-भय-शोकाऽरति--स्त्रीवेद-नपुंसकवेद--प्रत्याख्यानावरणमानानां यथोत्तरमनन्तगुणः, हेतुरोघवत्। प्रत्याख्याना-वरणमानस्य जघन्यरसात् प्रत्याख्यानावरणक्रोध माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात्। ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः। ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्याऽनन्तगुणः, ततोऽनन्तानु-बन्धिक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततो मिथ्यात्वमोहनीयस्याऽनन्तगुणः, हेतुरोघवदिति मोहनीयकर्मण उक्तशेषप्रकृतीनामोघवदल्पबहुत्वम्। अथ ज्ञानावरणीयप्रकृ-तीनाम्–मनःपर्यवज्ञानावरणस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततोऽवधि–श्रुत-मति-केवलज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणः। अथ दर्शनावरणीयप्रकृतीनाम्-अवधिदर्शनावरणस्य सर्वाल्पः, ततो-ऽचक्षुर्दर्शनावरण चक्षुर्दर्शनावरण-केवलदर्शनावरण प्रचला- निद्रा-प्रचलाप्रचला-निद्रानिद्रा-स्त्या-नर्द्धीनां यथोत्तरमनन्तगुणः। अथ वेदनीयप्रकृत्योः–असातवेदनीयस्याऽल्पः, ततः सात-वेदनीयस्याऽनन्तगुणः। अथाऽऽयुषाम्–तिर्यगायुषोऽल्पः, ततो मनुष्य-नरक–देवायुषां यथो-त्तरमनन्तगुणः। अथ नामप्रकृतीनाम्-तिर्यग्गतेर्जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततो नरक-मनुष्य-देवगतीनां यथोत्तरमनन्तगुणः, एवमेव चतसृणामानुपूर्वीणाम्। चतुरिन्द्रियजातिनाम्नः सर्वा-ल्पः, ततस्त्रीन्द्रिय–द्वीन्द्रियै-केन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः। औदारिक-शरीरनाम्नोऽल्पः, ततो वैक्रिय-तैजस कार्मणाऽऽ-हारकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः। औदारि-

काङ्गोपाङ्गनाम्नोऽल्पः, ततो वैक्रियाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नो यथोत्तरमनन्तगुणः । द्वितीयसंहनननाम्नोऽल्पः, ततस्तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-प्रथम-संहनननाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः । एवमेव संस्थाननाम्नामपि । अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्याऽल्पः, ततः प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्याऽनन्तगुणः । अप्रशस्तविहायोगतेरल्पः, ततः प्रशस्तविहायोगतेरनन्तगुणः । स्थावरदशकस्याल्पः, ततस्त्रसदशकस्याऽनन्तगुणः । नीचैर्गोत्रस्याल्पः, तत उच्चैर्गोत्रस्यानन्तगुणः । दानान्तरायस्याल्पः, ततो लाभ-भोगो-पभोग-वीर्यान्तरायाणां यथोत्तरमनन्तगुणः, हेतुरोघवत् ॥३५५॥

अथ गतवेदमार्गणायामाह—

गयवेए अप्पबहू ण भवे सायजसउच्चगोआणं ।
ओघव्व जाणियव्वं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥३५६॥

(प्रे०) 'गयवेए' इत्यादि, गतवेदमार्गणायां सातं यशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रं चेति तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसस्याऽल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तथा 'सेसाणं' ति, सातवेदनीयादिवर्जानां स्वप्रायोग्याणामोघवत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वं ज्ञातव्यम् । तद्यथा—संज्वलनलोभस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततः संज्वलनमाया-मान-क्रोधानां यथोत्तरमनन्तगुणः । अवधिदर्शनावरणस्याल्पः, ततोऽचक्षुश्चक्षुःकेवलदर्शनावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणः । मनःपर्यवज्ञानावरणस्याऽल्पः, ततोऽवधि-श्रुत-मति-केवलज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणः । दानान्तरायस्याऽल्पः, ततो लाभ-भोगो-पभोग वीर्यान्तरायाणां यथोत्तरमनन्तगुणः, इतीह बन्धार्हाणामष्टादशानां प्रकृतीनामोघवत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वम् ॥३५६॥

अथ ज्ञानादिमार्गणास्वाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते खाइअम्मि ओघव्व ।
पणपढमावरणाणं दुवेअणीयपणविग्घाणं ॥३५७॥
सव्वप्पोऽवहिदंसणआवरणस्स कमसो अणंतगुणो ।
असायणातदियरकेवलदंसणआवरण-पयलणिद्दाणं ॥३५८॥ (गीतिः)
मंदरसो सव्वप्पो अंतिमलोहस्स तो अणंतगुणो ।
होइ कमा मायामयकोहपुरिसहस्सपयडीणं ॥३५९॥
तत्तो रईअ ताओ कुच्छाअ तओ भयस्स ताहितो ।
सोगारईण कमसो ताउ भवे तइअमाणस्स ॥३६०॥

बहुत्वम्-तत्र मनुष्यायुषोऽल्पः, ततो देवायुषोऽनन्तगुणः, प्रशस्ततरत्वात् । अथ नामकर्मणामल्पबहुत्वम् । तत्र 'एवं'ति, आयुष्कयोरल्पबहुत्ववद् गत्यानुपूर्व्योणामपि तद्वाच्यम् । तद्यथा-मनुष्यगतेर्जघन्यरसोऽल्पः, ततो देवगतेरनन्तगुणः, हेतुरायुष्कवत् । तथैव मनुष्यानुपूर्व्या अल्पः, ततो देवानुपूर्व्या अनन्तगुणः । तथा 'तणुअंगोवंगाणं' ति, 'ओघव्व' त्ति, शरीरनामादीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तद्यथा-औदारिकशरीरनाम्नोऽल्पः, ततो वैक्रिय-तैजस कार्मणाऽऽहारकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः । औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽल्पः, ततो वैक्रियाऽऽ-हारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोर्यथोत्तरमनन्तगुणः । अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्य जघन्यरसोऽल्पस्ततः प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्याऽनन्तगुणः । तथा 'तिथिराइ' त्ति, अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्त्तीनां प्रत्येकमल्पः, ततस्तत्प्रतिपक्षभूतानां स्थिर-शुभ यशःकीर्त्तिनाम्नामनन्तगुणः, हेतुरोघवत् । तथा 'णेव भवे' त्ति, उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां नामकर्मणः प्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य च प्रस्तुतमल्पबहुत्वं न भवति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । उक्तशेषा नामकर्मणः प्रकृतयस्त्विमाः- पञ्चेन्द्रियजातिनाम, वज्रर्षभनाराचसंहनननाम, समचतुरस्रसंस्थाननाम, प्रशस्तविहायोगतिः, त्रसचतुष्कम्, सुभगत्रिकञ्चेत्येकादश ॥३५७-३६३॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं दिदर्शयिपुः समानवक्तव्यत्वात् अवधिज्ञानादिमार्गणावदतिदेशादिना दर्शयति—

मणणाणसंजमेसुं समइअछेएसु ओहिणाणव्व ।
मोहपयडीण हवए अरइं जा संजलणलोहा ॥३६४॥
विउवस्स जहणरसो सव्वप्पो तो कमा अणंतगुणो ।
तेअसकम्माहाराणेवं णेयं उवंगाणं ॥३६५॥
आहारदुगव्व भवे अप्पबहू सेसणामआऊणं ।
सेसाणं पयडीणं विणेयो ओहिणाणव्व ॥३६६॥

(प्रे०) 'मणणाण०' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानम्, संयमौघः, सामायिकचारित्रम्, छेदोपस्थापनीयचारित्रं चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकम् 'मोहपयडीण' त्ति, मोहनीयप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याल्पबहुत्वम् 'ओहिणाणव्व' यथाऽनन्तरमवधिज्ञानादिमार्गणासूक्तं तथा ज्ञेयम् । किमवधिज्ञानमार्गणोक्तानां सर्वासां मोहप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवज्ज्ञेयम्? नेत्याह-'अरइं जा संजलणलोहा' त्ति संज्वलनलोभादरतिं यावदेव, शेषाणां तत्रोक्तानां प्रत्याख्यानावरणमानप्रमुखाणां मोहप्रकृतीनामिह बन्धाभावात् । अवधिज्ञानवच्चैवम्—संज्वलनलोभस्य जघन्यरसो-

ऽल्पः, ततः संज्वलनमाया-मान-क्रोध-पुरुषवेद-हास्य-रति जुगुप्सा-भय-शोकाऽ रतीनां यथोत्तरमनन्तगुणः। तथा वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यरसः सर्वाल्पः, प्रमत्तेन बध्यमानत्वात्, ततस्तैजस कार्मणशरीरनाम्नोर्यथोत्तरमनन्तगुणः, प्रमत्तेन बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात्। तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, अप्रमत्तेन बध्यमानत्वात्। तथा 'एव' ति 'उवंगाण' ति, शरीरनामवदेवाङ्गोपाङ्गनाम्नोरल्पबहुत्वं ज्ञेयम्, तद्यथा—वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो जघन्यरसोऽल्पः, तैजसकार्मणशरीरयोरङ्गोपाङ्गाभावात्। ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनामत इत्यर्थः, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणः। तथा 'सेसणामआऊणं' ति 'आहारदुगव्व' त्ति उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां षड्विंशतेर्नामकर्मणः प्रकृतीनामायुषश्च प्रस्तुतमल्पबहुत्वं यथाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोरुक्तं तथैव भवति, उभयत्र संयतत्वाविशेषात्। उक्तशेषा नामकर्मणः प्रकृतयस्त्विमाः—देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम वर्णाद्यष्टकं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसदशकम् अस्थिराशुभे अयशःकीर्त्तिश्चेति षड्विंशतिः। एतासामाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावदल्पबहुत्वं चैवम्—तत्राप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्य जघन्यरसोऽल्पः, ततः प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्याऽनन्तगुणः। अस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्त्तीनां प्रत्येकमल्पः, ततस्तत्प्रतिपक्षभूतानां स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्तीनां प्रत्येकमनन्तगुणः। तथा शेषाणां देवद्विकादीनां द्वादशानां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। तथैवाऽऽयुषोऽपि अल्पबहुत्वं नास्ति, केवलं देवायुष एव बन्धसद्भावेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। तथा 'सेसाण' ति उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां प्रकृतीनां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वमवधिज्ञानमार्गणावद् भवति, उभयत्र श्रेणिसद्भावाऽविशेषात्। उक्तशेषाणां प्रकृतीनामवधिज्ञानवच्चैवम्—मनःपर्यवज्ञानावरणस्य जघन्यरसोऽल्पः, ततोऽवधि-श्रुत-मति-केवलज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणः, हेतुरोघवत्। अवधिदर्शनावरणस्य जघन्यरसोऽल्पः, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरण—चक्षुर्दर्शनावरण-केवलदर्शनावरण-प्रचला निद्राणां यथोत्तरमनन्तगुणः, हेतुरनुत्तरसुरमार्गणावत्। असातवेदनीयस्य जघन्यरसोऽल्पः, अप्रशस्तत्वात्, ततः सातवेदनीयस्याऽनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात्। उच्चैर्गोत्रस्याल्पबहुत्वं नास्ति, तत्प्रतिपक्षभूतस्य नीचैर्गोत्रस्येह बन्धाभावात्। दानान्तरायस्य जघन्यरसोऽल्पः ततो लाभ-भोगो-पभोग-वीर्यान्तरायाणां यथोत्तरमनन्तगुणः, प्रकृतिविशेषात् ॥३६४-३६६॥ अथाज्ञानत्रिकादिमार्गणास्वाह—

बीआवरणस्स भवे तिअणाणाभवियमिच्छअमणेसु।
असमत्तपणिदितिरिव्व होइ णिरयव्व मोहस्स ॥३६७॥
सेसाणोघव्व अजयतिअसुहलेसासु बीअतुरिआणं।
णिरयव्वियराणोघव्व णवरि दोसु विउवस्स सयमुज्झो ॥३६८॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'बीआवरणस्स' इत्यादि, त्र्यज्ञानाभव्यमिथ्यात्वासंज्ञिमार्गणासु 'बीआ' इत्यादि, द्वितीयावरणस्य दर्शनावरणप्रकृतीनामल्पबहुत्वमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावज्ज्ञेयम्, तृतीयादिगुणस्थानाभावेन युगपदेवापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणावद् बध्यमानत्वात् । मोहनीयस्योत्तरप्रकृतीनामल्पबहुत्वं नरकौघमार्गणावज्ज्ञेयम् । तथा शेषप्रकृतीनामल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम् । अत्र दर्शनावरणप्रकृतीनामल्पबहुत्वमेवम्–प्रचलाया जघन्यरसोऽल्पः, ततः क्रमेण निद्रा-प्रचलाप्रचला-निद्रानिद्रा- स्त्यानर्द्ध्यवध्यचक्षुश्चक्षुःकेवलदर्शनावरणानामनन्तगुणो ज्ञातव्यः । मोहप्रकृतीनामल्पबहुत्वमनन्तरवक्ष्यमाणासंयमादिमार्गणावज्ज्ञेयम् । 'अजय०' इत्यादि, बहुसमानवक्तव्यत्वात्, क्रमाप्राप्तास्वप्यसंयमत्र्यप्रशस्तलेश्यामार्गणास्वाह–असंयममार्गणायां तथा कृष्णनीलकापोतलेश्यारूपासु त्र्यप्रशस्तलेश्यामार्गणासु प्रत्येकं 'बीअ' त्ति, द्वितीयदर्शनावरणप्रकृतीनां 'तुरिआणं' ति चतुर्थप्रकृतीनां मोहप्रकृतीनामित्यर्थः, जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं नरकौघमार्गणावद् भवति, तद्यथा–प्रचलाया जघन्यरसोऽल्पः, ततो निद्राऽ-वधिदर्शनाऽचक्षुर्दर्शन चक्षुर्दर्शन-केवलदर्शनावरण–प्रचलाप्रचला-निद्रानिद्रा–स्त्यानर्द्धित्रिकाणां यथोत्तरमनन्तगुणः, हेतुर्नरकौघवत् । इति नवानां दर्शनावरणप्रकृतीनामल्पबहुत्वम् । तथा हास्यस्य जघन्यरसोऽल्पः, नोकषायत्वात्, ततो रतेरनन्तगुणः, नोकषायत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात्, ततो जुगुप्सा-भय- पुरुषवेदानां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततः संज्वलनमानस्यानन्तगुणः, कषायत्वात् । ततः संज्वलनक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, चतुर्णामपि संज्वलनानां जघन्यरसस्य युगपदेव बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । संज्वलनलोभस्य जघन्यरसात् शोकस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः । ततोऽरतेरनन्तगुणः । ततः स्त्रीवेदस्याऽनन्तगुणः, ततो नपुंसकवेदस्याऽनन्तगुणः, अप्रशस्ततरत्वात् । ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, सर्वघातित्वात् ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधमाया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततःप्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः, ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोध माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततो मिथ्यात्वमोहनीयस्याऽनन्तगुणः, दर्शनमोहनीयत्वात् दीर्घतमस्थितिकत्वाच्च । इति मोहनीयप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वम् । तथा 'इयराणोघव्व' त्ति, उक्तशेषाणां प्रकृतीनां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं यथौघप्ररूपणायामुक्तं तथैव भवति, तच्च तत एव विलोकनीयम्, विस्तरादिभयान्नात्र प्रतन्यते । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-ज्ञानावरणपञ्चकम्, वेदनीयद्विकम्, आयुष्कचतुष्कम्, गतिचतुष्कम्, जातिपञ्चकम्, शरीरनामचतुष्कम्, अङ्गोपाङ्गनामद्विकम्, संहननषट्कम्, संस्थानषट्कमानुपूर्वीचतुष्कं, वर्णाद्यष्टकं, विहायोगतिद्विकम्, त्रसदशकं, स्थावरदशकम्, गोत्रद्विकम्, अन्तरायपञ्चकं चेति । शरीरचतुष्काल्पबहुत्वविषये विशेषोऽस्तित 'णवरि' इत्यादिना दर्शयति । 'दोसु' त्ति नीलकापोतलेश्यामार्गणयो-

वैक्रियशरीरस्य जघन्यरसाल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञेयमिति । तत्र औदारीकशरीरजघन्यरसतः क्रमेण तैजसकार्मणशरीरजघन्यरसोऽनन्तगुणो वक्तव्यः वैक्रियस्य तु स स्वयं ज्ञातव्यम्, कार्मणशरीरनामतस्त्वनन्तगुणः सम्भवति, तत्त्वं पुनर्बहुश्रुता विदन्ति इति ॥३६७-३६८॥

अथ परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायामाह—

परिहारविसुद्धीए तणुवंगाण मणपज्जवव्व भवे ।
सेसाणं पयडीणं आहारदुगव्व विण्णेयो ॥३६९॥

(प्रे०) 'परिहार०' इत्यादि, परिहारविशुद्धिकमार्गणायाम् 'तणुवंगाणं' ति शरीरनाम्नामङ्गोपाङ्गनाम्नोश्च प्रस्तुतमल्पबहुत्वं मनःपर्यवज्ञानमार्गणावद् भवति, तद्यथा—वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽल्पः, षष्ठगुणस्थानके बध्यमानत्वात् ततस्तैजसकार्मणशरीरनाम्नोर्यथोत्तरमनन्तगुणः, वैक्रियेण समकमेव बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, सप्तमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽल्पः, तत आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणः, हेतुः पूर्ववत् । तथा 'सेसाण' ति उक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावद् भवति, आहारककाययोगवदत्रापि श्रेणेरभावात् । अत्रेदं बोध्यम्-आहारककाययोगमार्गणायामाहारकद्विकं नैव बध्यते, इह तु बध्यतेऽपीति कृत्वा शरीराङ्गोपाङ्गनाम्नां प्रस्तुताल्पबहुत्वमाहारककाययोगमार्गणावदनतिदिश्य मनःपर्यवज्ञानमार्गणावदतिदिष्टम् । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं संज्वलनचतुष्कं हास्यादिषट्कं पुरुषवेदो देवायुर्देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम वर्णाद्यष्टकं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसदशकम् अस्थिराशुभे अयशःकीर्तिरुच्चैर्गोत्रम् अन्तरायपञ्चकं चेति ॥३६९।

अथ देशविरतिमार्गणायां बिभणिषुर्बहुसमानवक्तव्यत्वात् सविशेषमाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावदतिदिशन्नाह—

देसे सव्वाण भवे आहारदुगव्व णवरि अरईओ ।
चउतइअकसायाणं चरमकसायव्व भणिअव्वं ॥३७०॥

(प्रे०) 'देसे' इत्यादि, देशविरतिमार्गणायाम् 'सव्वाण' त्ति सर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावद् भवति, यथा तत्र तथाऽत्रापि सम्यक्त्वविशिष्टस्यैकस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावात् । अथातिप्रसक्तिं परिहरति 'णवरि' इत्यादिना, तत्र 'अरईओ' त्ति मोहनीयप्रकृतीनामल्पबहुत्वविचारे आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोस्तु शोकस्य जघन्यरसादरतेः सोऽनन्तगुण एतावत्पर्यन्तमेवोक्तं प्रत्याख्यानावरणादीनां शेषमोहनीयप्रकृतीनां तत्र बन्धाभावात्, इह तु प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य बन्धसद्भावः, अत एव तदल्पबहुत्वं चिन्त्यते,

तद्यथा-अरतेर्जघन्यरसात् प्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्ट-विशुद्ध्या बध्यमानत्वेऽपि सर्वघातित्वात् । ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तर विशेषाधिक', प्रकृतिविशेषात् । प्रस्तुतमार्गणायां मोहप्रकृतिजघन्यरसाल्पबहुत्वविचारेऽनन्तरोक्तो विशेषो योज्यः,शेषं सर्वमविशेषेणाऽऽहारककाययोगमार्गणावज्ज्ञेयम्, तत्तु तत एवाऽवधारणीयम्, नात्राऽस्माभिः प्रतन्यते, ग्रन्थविस्तरभयादिति ॥३७०॥

अथ तेजःपद्मलेश्ययोः प्रस्तुतमाह—

तेउपउमलेसासु हवेज्ज तिरियाउगस्स सव्वप्पो ।
तत्तो अणंतगुणिओ णरदेवाऊण होइ कमा ॥३७१॥
गइअणुपुव्वीण भवे आउव्वेगिंदिया अणंतगुणो ।
पंचिंदियस्स हवए णेव भवे बायरतिगस्स ॥३७२॥
उरलस्स जहण्णरसो सव्वत्थोवो तओ अणंतगुणो ।
कमसो तेअसकम्मणवेउव्वाहारगाण भवे ॥३७३॥
सेसाण णामपयडीणोघव्वऽत्थि तिरियव्व सेसाणं ।
णवरि पउमाअ ण भवे पणिंदियतसाण अप्पबहू ॥३७४॥

(प्रे०) 'तेउपउमलेसा " इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां च प्रत्येकं तिर्यगायुषो जघन्यरसोऽल्पः, अन्तर्मुहूर्ताद्यात्मिकया स्वल्पस्थित्या सह बध्यमानत्वात्, ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणः, अन्तर्मुहूर्त्ताद्यात्मकस्थित्या सह बध्यमानत्वेऽपि प्रशस्ततरत्वात् । ततो देवायुषोऽनन्तगुणः, अधिकृतरस्थितिकत्वात् । तथा 'गइअणुपुव्वीणं' ति गत्यानुपूर्वीणामपि प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनन्तरोक्तायुष्काल्पबहुत्ववद् भवति, तद्यथा—तिर्यग्गतेर्जघन्यरसोऽल्पः, अप्रशस्तत्वात्, ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात्, ततो देवगतेरनन्तगुणः, प्रशस्ततमत्वात् । एवमेवानुपूर्वीणामपि ज्ञेयम् । तथा 'एगिंदिया' त्ति एकेन्द्रियात् पञ्चेन्द्रियस्यानन्तगुणः, किमुक्तं भवति ? एकेन्द्रियजातिनाम्नो जघन्यरसोऽल्पः, अप्रशस्तत्वात्, ततः पञ्चेन्द्रियजातेरनन्तगुणः, प्रशस्तत्वादिति । तथा 'णेव भवे बायरतिगस्स' त्ति, बादरत्रिकस्य प्रस्तुतमल्पबहुत्वं न भवति, कुतः ? तत्प्रतिपक्षभूतस्य सूक्ष्मत्रिकस्येह बन्धाभावात् । तथौदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽल्प', प्रशस्तत्वे सति प्रथमगुणस्थानके तीव्रसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । ततस्तैजस-कार्मणशरीरनाम्नोर्यथोत्तरमनन्तगुणः, प्रथमगुणस्थानके तीव्रसंक्लेशेन बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात्, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, मध्यमसंक्लेशेन बध्यमान-

त्वात् । यतः प्रस्तुतमार्गणयोर्वैक्रियशरीरस्य बन्धो मनुजतिर्यग्भिरेव क्रियते, ते च विशुद्धा एव प्रकृतलेश्याभाजः, अतोऽन्तःकोटाकोटीस्थिनि बध्नतां तेषां तज्जघन्यरसबन्धकत्वम्, तेन पूर्वपदादस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, सप्तमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । तथा 'सेसाण' उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां नामकर्मणः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तच्चैवम्–औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो जघन्यरसोऽल्पः, संक्लेशेन बध्यमानत्वात् । ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणः, अनन्तगुणहीनसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । तत आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तगुणः, अप्रमत्तेन मुनिना बध्यमानत्वात् । ऋषभनाराचाख्यद्वितीयसंहनननाम्नो जघन्यरसोऽल्पः, ततो नाराचाख्यतृतीयसंहनननाम्नोऽनन्तगुण', ततोऽर्धनाराचाख्यचतुर्थसंहनननाम्नोऽनन्तगुणः, ततः कीलिकाख्यपञ्चमसंहनननाम्नोऽनन्तगुणः, ततः सेवार्त्ताख्यषष्ठसंहनननाम्नोऽनन्तगुणः, पञ्चानां संहनननाम्नां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वेऽपि उत्तरोत्तरप्रकृतीनामप्रशस्ततरत्वादुत्तरोत्तरप्रकृतीनां रसोऽनन्तगुणः । ततो वज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नोऽनन्तगुणः, तस्य प्रशस्तत्वात् । एवमेव संस्थाननाम्नामपि, तद्यथा–द्वितीयसंस्थाननाम्नो जघन्यरसोऽल्पः,ततस्तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-प्रथमसंस्थाननाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः, हेतुरत्रानन्तरोक्तसंहनननामवत् । अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्य जघन्यरसोऽल्पः, ततः प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्याऽनन्तगुणः । अप्रशस्तविहायोगतेरल्पः, ततः प्रशस्तविहायोगतेरनन्तगुणः । अस्थिरषट्कस्याऽल्पः, ततः स्थिरषट्कस्याऽनन्तगुणः । तथा 'तिरियव्व सेसाणं' उक्तशेषाणामेकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं तिर्यग्गत्योघमार्गणावद् भवति । उक्तशेषा एकोनपञ्चाशत् प्रकृतयस्त्विमाः–ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं षड्विंशतिः प्रकृतयो मोहनीयकर्मणो गोत्रद्विकमन्तरायपञ्चकञ्चेति । अथातिप्रसक्तिं परिहरति–'णवरि' इत्यादिना, पद्मलेश्यामार्गणायां पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोरल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इदमुक्तं भवति–अनन्तरोक्तमेकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिस्थावरत्रसनाम्नामल्पबहुत्वं तेजोलेश्यामार्गणायामेव वाच्यं न तु पद्मलेश्यामार्गणायामपि यत एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नी तत्र न बध्येते ततः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोरल्पबहुत्वं नास्तीति वाच्यम् ॥३७१-३७४॥

अथ शुक्ललेश्योपशमसम्यक्त्वमार्गणयोराह—

सुक्काश्र श्रणंतगुणो हवए मणुयाउगा सुराउस्स ।
गइश्रणुपुव्वीणोवं तेउव्व भवे सरीराणं ॥३७५॥

णेव भवे पंचिंदियतसचउगाणं हवेज्ज ओघव्व ।
सेसपयडीणुवसमे आउगवज्जाण ओहिव्व ॥३७६॥

(प्रे०) 'सुक्काअ' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां मनुष्यायुष्यतो देवायुषोऽनन्तगुणो भवति, मनुष्यायुषो जघन्यरसोऽल्पस्ततो देवायुषोऽनन्तगुण इत्यर्थः । तथा 'गइअणुपुव्वीणेव' ति आयुष्कयोरल्पबहुत्ववदेव गतिनाम्नोरानुपूर्वीनाम्नोश्च प्रस्तुतमल्पबहुत्वं वाच्यम् । तथा 'तेउव्व' त्ति शरीरनाम्नां तेजोलेश्यामार्गणावद् भवति, तद्यथा—औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽल्पः, ततस्तैजस कार्मण वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः । तथा पञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्करूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । तथा 'ओघव्व'' त्ति, 'सेसपयडीण' त्ति उक्तशेषाणां षडशीतेः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तच्चौघप्ररूपणात एवाऽवधारणीयम् । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिकम् अङ्गोपाङ्गनामानि त्रीणि संहननषट्कं संस्थानषट्कं वर्णादिषट्कं विहायोगतिद्विकम् अस्थिरषट्कं स्थिरषट्कं गोत्रद्विकम् अन्तरायपञ्चकं चेति षडशीतिः ।

तथा 'उवसमे' त्ति उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां सर्वमवधिज्ञानमार्गणावद् वाच्यम्, उभयत्र तुल्यगुणस्थानकानां सद्भावात् । ननु अवधिज्ञानमार्गणायान्तु द्वादशगुणस्थानकस्यापि सम्भवः, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायान्तु एकादशैव गुणस्थानकानि, ततः कथ तुल्यगुणस्थानकानां संभव इति चेत् ? रसबन्धस्य प्रक्रान्तत्वेन चतुर्थादिदशमगुणस्थानकानामेव तुल्यत्वविषयत्वात् । नवरमुपशमसम्यक्त्वमार्गणायामायुर्न बध्यते, ततोऽवधिज्ञानमार्गणोक्तमायुषोरल्पबहुत्वमत्र न वाच्यम्, अत एव मूले 'आउगवज्जाण' त्ति गतार्थम् ॥३७५-३७६॥

अथ क्षायोपशमिकमिश्रसम्यक्त्वमार्गणयोराह—

ओहिव्व वेअगे खलु आउगणामाणऽणुत्तरसुरव्व ।
सेसाणं णवरि दुइअतइअकसायाण बन्धासो ॥३७७॥
एमेव होइ मीसे आहारदुगाउवज्जपयडीणं ।
णवरि भवे णेव दुइअतइअकसायाण बन्धासो ॥३७८॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'ओहिव्व' इत्यादि, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामायुषोर्नामकर्मणश्च प्रकृतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानाल्पबहुत्वम् 'ओहिव्व' त्ति अवधिज्ञानमार्गणावद् भवति, तद्यथा-मनुष्यायुषो जघन्यरसोऽल्पः, ततो देवायुषोऽनन्तगुणः, दीर्घस्थितिकत्वात् मनुष्यगति-

नाम्नोऽल्पः, ततो देवगतेरनन्तगुणः। मनुष्यानुपूर्व्या अल्पः, ततो देवानुपूर्व्या अनन्तगुणः। औदारिकशरीरनाम्नोऽल्पः, ततो वैक्रिय-तैजस कार्मणाऽऽहारकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः। औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽल्पः, ततो वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोर्यथोत्तरमनन्तगुणः। अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्य जघन्यरसोऽल्पः, तत' प्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्याऽनन्तगुणः। अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्त्तिरूपाणां तिसृणां प्रत्येकमल्पः, ततस्तत्प्रतिपक्षभूतानां स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्तिनाम्नां प्रत्येकमनन्तगुणः। तथा पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंहनननाम प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं चेत्येवं दशानां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। तथा 'सेसाण'ति ज्ञानावरणादीनामित्यर्थः प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनुत्तरसुरमार्गणावद्भवति। अथातिप्रसक्तिं परिहरति-'णवरि'इत्यादि, नवरं द्वितीय तृतीयकषायाणां व्यत्यासः कर्त्तव्यः। किमुक्तं भवति? अनुत्तरसुरमार्गणातोऽत्र अन्यथा वाच्यम्, तद्यथा अनुत्तरसुरमार्गणासु अरतेर्जघन्यरसादप्रत्याख्यानावरणीयमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणानां क्रोधमायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः, ततः प्रत्याख्यानावरणानां क्रोधमायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिक उक्तः। इह तु अरतेर्जघन्यरसात् प्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, पञ्चमगुणस्थानके संयमाभिमुखेन बध्यमानत्वात्। ततः प्रत्याख्यानावरणानामेव क्रोधमायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः, चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वात् ततोऽप्रत्याख्यानावरणानां क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरमनन्तगुणो वाच्यः। कुत ईदृशो विपर्यास इति चेत्? उच्यते, अनुत्तरसुराणां तु चतुर्थस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावात्, प्रत्याख्यानावरणानां जघन्यरसबन्धकाश्चतुर्थगुणस्थानकवर्त्तिन एव, इह तु पञ्चमगुणस्थानकस्यापि सद्भावेन तद्वर्त्तिनः प्रत्याख्यानावरणानां जघन्यरसबन्धका इति। अथ शेषप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याल्पबहुत्वं सापवादं दर्श्यते—मनःपर्यवज्ञानस्य जघन्यरसोऽल्पः, ततोऽवधि-श्रुत-मति केवलज्ञानावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणः। प्रचलाया जघन्यरसोऽल्पः, ततो निद्राऽवधिदर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-चक्षुर्दर्शन-केवलदर्शनावरणानां यथोत्तरमनन्तगुणः। असातस्याल्पः, ततः सातस्याऽनन्तगुणः। हास्यस्य सर्वस्तोकः, ततो रति-जुगुप्सा भय पुरुषवेद-संज्वलनमानानां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततः संज्वलनक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततः शोका ऽरति-प्रत्याख्यानावरण-मानानां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोध माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः। उच्चैर्गोत्रस्याऽल्पबहुत्वं नास्ति, प्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धाऽभावात्। दानान्तरायस्य जघन्यरसोऽल्पः, ततो लाभ-भोगो पभोग-वीर्यान्तरायाणां यथोत्तरमनन्तगुणः। अथ

मिश्रदृष्टिमार्गणायामाह–मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायाम् 'एमेव' त्ति, अनन्तरोक्तक्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणावदेव प्रस्तुतमल्पबहुत्वं भवति । किमविशेषेणाऽनन्तरोक्तवद् भवति ? नेत्याह–'आहारदुगाउवज्जपयडीण' ति आहारकशरीरनाम आहारकाङ्गोपाङ्गनाम मनुष्यायुष्कं देवायुश्चेति चतसृणामल्पबहुत्वमत्र न वाच्यम्, तद्बन्धस्यैवाभावात् । तथाऽनुत्तरसुरमार्गणातो द्वितीयकषायाणां क्षायोपशमिकमार्गणायां यो व्यत्यास उक्तः, सोऽप्यत्र नैव वाच्यः, यथा अनुत्तरसुरमार्गणायामवस्थितस्य चतुर्थस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावस्तथैवेहापि तृतीयमेव गुणस्थानकमवस्थितमिति कृत्वा ॥३७७-३७८॥

अथ सास्वादनमार्गणायां प्रस्तुतमाह–

बीआवरणस्स तहा मिच्छणपुमवज्जमोहपयडीणं ।
सासाणे विण्णेयो अपज्जपंचिंदियतिरिव्व ॥३७९॥
तेअसकम्मणुरला अणंतगुणिओ कमोऽत्थि विउवस्स ।
सयमुज्झो पम्हव्व उ हुडक्खिविट्ठणसेसाणं ॥३८०॥

(प्रे०) 'बीआवरणस्स' इत्यादि, सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां द्वितीयदर्शनावरणकर्मणः तथा मिथ्यात्वनपुंसकवेदवर्जमोहनीयप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्याऽल्पबहुत्वम् 'अपज्ज०' इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावद् भवति । मिथ्यात्वमोहस्य नपुंसकवेदस्य च वर्जनं तद्बन्धस्यैवात्राभावाद्विज्ञेयम् । अत एव मूले 'मिच्छणपुमवज्जमोहपयडीणं' ति गतार्थम् ।

एतेन मोहनीयकर्मणोऽत्रैवमल्पबहुत्वं वाच्यं भवति, तद्यथा–स्त्रीवेदजघन्यरसादप्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधादीनाम् । तथैव अनन्तानुबन्धिमायाया जघन्यरसत अनन्तानुबन्धिलोभस्य जघन्यरसो विशेषाधिक इति । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां तु स्त्रीवेदजघन्यरसान्नपुंसकवेदस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः । ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुण उक्तः, तथैव अनन्तानुबन्धिलोभस्य जघन्यरसान्मिथ्यात्वस्याऽपि जघन्यरसोऽनन्तगुण उक्तः । इह तु पूर्वोक्तप्रकृतिद्वयस्य बन्धाभावादनन्तरोक्तवदेव वाच्यम् । शेष सर्वमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावत् । भावितं मोहनीयप्रकृतीनामल्पबहुत्वम् । दर्शनावरणस्य सुकरत्वात्ततो ज्ञेयम् । अथ शेषाणां कर्मणां तद् भावयन्नादौ नामकर्मणि शरीरनाम्ना तद् दर्शयति–'उरलस्स' त्ति औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽल्पः, ततस्तैजस कार्मण शरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः, वैक्रियशरीरस्य जघन्यरसस्तैजसशरीरजघन्यरसादनन्तगुणहीन उत कार्मणशरीरजघन्यरसादनन्तगुण इति तु स्वयं ज्ञातव्यम्, भिन्नसंक्लेशेन वैक्रियशरीरस्य तैजस-

कार्मणशरीरयोर्जघन्यरसस्य बध्यमानत्वात् । तथा 'सेसाण' ति उक्तशेषनामप्रकृतीनां पञ्चकर्मणां सर्वासां प्रकृतीनाञ्च प्रस्तुतमल्पबहुत्वं पद्मलेश्यामार्गणावद् भवति, नवरं हुण्डकसंस्थाननाम सेवार्त्तसंहनननाम इति प्रकृतिद्वयस्याल्पबहुत्वमत्र नैव वाच्यम् , तद्बन्धस्यैवाऽभावात् । पञ्चमसंस्थाननामजघन्यरसात् प्रथमसंस्थाननाम्नो जघन्यरसोऽनन्तगुणः । कीलिकातो वज्रर्षभ-नाराचस्याऽनन्तगुण इति वाच्यमित्यर्थः, शेषं सर्वमविशेषेण पद्मलेश्यामार्गणावत् ।।३७९-३८०।।

परस्थाने उत्कृष्टपदाल्पबहुत्वम्

अथ परस्थानाल्पबहुत्वम् । तत्रादौ तावदुत्कृष्टरसस्यौघतस्तद्दर्शयन्नाह—

सायस्स गुरुरसा जसउच्चाण अणंतगुणिअहीणो तो ।
कमसो सुरकम्मणतेआहारविउवणरुरलमिच्छाणं ।।३८१।। (गीतिः)

(प्रे०) 'सायस्स' इत्यादि, स्वस्थानाल्पबहुत्वे पञ्चानां ज्ञानावरणानां नवानां दर्शनावरणानां द्वयोर्वेदनीययोः स्वजातौ परस्परमल्पबहुत्वं चिन्तितम् , इह तु अष्टानामपि मूलकर्मणामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टादिरसस्याल्पबहुत्वं चिन्तयिष्यते, इति स्वस्थानपरस्थानयोर्विशेषः । इह सातवेदनीयादीनां चतुःषष्टेरेव प्रकृतीनां प्रस्तुतं परस्थानाल्पबहुत्वं दर्शयिष्यते मूलकृता, चिरन्तनग्रन्थेषु तावतीनामेव तदुपलम्भात् । तथा पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनां चतुर्विंशतेरस्माभिस्तत् संभावयिष्यते, युक्त्या गम्यमानत्वात् । शेषाणामल्पबहुत्वं नैव चिन्तयिष्यते, चिरन्तनोक्तेरुपलम्भाभावेन मूलेऽनुक्तत्वात् अल्पज्ञानामस्मादृशां युक्तेरविषयत्वाच्च । तत्रादौ उत्कृष्टरसबन्धस्य परस्थानाल्पबहुत्वमोघतो दर्श्यते—सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसाद् यशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, सूक्ष्मसंपरायचरमसमये क्षपकेण बध्यमानत्वात् , ततो यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रयोरनन्तगुणहीनः, परस्परं तुल्यश्चेत्यर्थः, दशमगुणस्थानकचरमसमये क्षपकेण बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । कोऽर्थः ? तथास्वाभाव्यादिति । अत्र प्रस्तावे कुत्रचिदेव विशेषहेतुर्दर्शयिष्यते बहुषु स्थानेषु तु तथास्वाभाव्यलक्षणः प्रकृतिविशेष एव हेतुर्ज्ञेयः । तथा 'तो' त्ति ततो यशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रयोरुत्कृष्टरसादित्यर्थः, देवगतेरनन्तगुणहीनः, अपूर्वकरणक्षपकेण बध्यमानत्वात् , ततः किम् ? सूक्ष्मसंपरायक्षपकतोऽपूर्वकरणक्षपकोऽनन्तगुणहीनविशुद्ध इति कृत्वा । ततोऽपि कार्मण-तैजसा ऽऽहारक-वैक्रियशरीरनाम्नां ' सो' त्ति यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, तेनैवाऽपूर्वकरणक्षपकेण बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । वैक्रियशरीरनामोत्कृष्टरसाद् 'णर' त्ति मनुष्यगतेरनन्तगुणहीनः, चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततो मिथ्यात्वस्याऽनन्तगुणहीनोऽप्रशस्तत्वात् । अथ पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां चतुर्विंशतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य परस्थानाल्पबहुत्वं ग्रन्थकृताऽनुक्तमपि अस्माभिस्तत् संभाव्यते, युक्तेः

सद्भावात् । यथेहोक्तानां देवगत्यादिवैक्रियशरीरनामान्तानां पञ्चानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽपूर्वकरणक्षपकस्तथैव पञ्चेन्द्रियजातिः, वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम, समचतुरस्रसंस्थाननाम, प्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् , देवानुपूर्वी, प्रशस्तविहायोगतिः, यशःकीर्तेरुक्तत्वात् तद्वर्जत्रसनवकम् , निर्माणनाम, जिननाम, अगुरुलघुनाम, पराघातनामोच्छ्वासनामेति चतुर्विंशतेरपि प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽपूर्वकरणक्षपकः, तस्मात् कारणाद् यशःकीर्त्तिमनुष्यगत्योरन्तराले यथास्थानमासामुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणादिहीनः संभवति, किन्तु कस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसात् कस्या उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणादिहीनः तत्तु ज्ञातुं न शक्यते, उपदेशाभावात् । कुत आसामुच्चैर्गोत्रमनुष्यगत्योरन्तराल एव प्रस्तुताल्पबहुत्वस्य संभवः ? इति चेदुच्यते—यशःकीर्तेरुत्कृष्टरसो दशमगुणस्थानके बध्यते, मनुष्यगतिनाम्नस्तु स चतुर्थगुणस्थानके इति कृत्वा । ततः किम् ? उच्चैर्गोत्रोत्कृष्टरसबन्धकात् पञ्चेन्द्रियजात्याद्युत्कृष्टरसबन्धका अत्यल्पविशुद्धाः, मनुष्यगत्युत्कृष्टरसबन्धकात् तु ते विशुद्धतरा इति हेतोः ॥३८१॥

तत्तो केवलजुगलावरणअसायविरियंतरायाणं ।
ताउ पढमलोहस्स उ ताओ हवए विसेसूणो ॥३८२॥
कमसो आइममायाकोहमयाणं तओ मुणेयव्वो ।
जहकमसो चरमतइअदुइअकसायाण एमेव ॥३८३॥

(प्रे०) 'तत्तो' इत्यादि, ततो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसादित्यर्थः 'केवलजुगल' त्ति केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणम् , असातवेदनीयं वीर्यान्तरायश्चेति चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, तासां परस्परं तुल्यश्च । ततः '''पढमलोह 'त्ति अनन्तानुबन्धिलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । ततोऽनन्तानुबन्धिमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, प्रकृतिविशेषात् । तथा 'जहकमसो' त्ति 'चरम-तइअ-दुइअ याण' त्ति संज्वलनप्रत्याख्यानावरणाऽप्रत्याख्यानावरणकषायाणां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं यथाक्रमं यथोत्तरमित्यर्थः एवमेव अनन्तरोक्ताऽनन्तानुबन्धिलोभादिवदेव भवति, तद्यथा—अनन्तानुबन्धिमानस्योत्कृष्टरसात् संज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, तथा संज्वलनलोभोत्कृष्टरसात् संज्वलनमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषोनः, प्रकृतिविशेषात् ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, प्रकृतिविशेषात् । तथा प्रत्याख्यानावरणमानोत्कृष्टरसादप्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, प्रकृतिविशेषात् ॥३८२-३८३॥

ताउ अणंतगुणूणो मइणाणुवभोगअंतरायाणं ।
ताउ णयणस्स तत्तो सुअअणयणभोगविग्घाणं ॥३८४॥
ताहिंतो विणोयो ओहिजुगललाहअंतरायाणं ।
तो मणणाणावरणगथीणद्धिगदाणविग्घाणं ॥३८५॥

(प्रे०) 'ताउ' इत्यादि, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानोत्कृष्टरसादित्यर्थः मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः परस्परं तुल्यश्च, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः,ततः श्रुतज्ञानावरणा ऽचक्षुर्दर्शनावरण-भोगान्तरायाणामनन्तगुणहीनः, परस्परं तुल्यश्च, कुतः ? क्षपकश्रेणौ चक्षुर्दर्शनावरणात्प्रागेतेषां रसो बन्धमाश्रित्य देशघाती भवति । किमुक्तं भवति ? नवमगुणस्थानकस्य संख्येयान भागान यावदेतासां प्रकृतीनां बन्धः सर्वघाती भवति । अत्र क्षपकश्रेणौ यस्याः प्रकृते रसो देशघाती प्रथमतो भवति तस्या उत्कृष्टरसोऽल्पः, यस्याश्च पश्चाद् भवति तस्या अधिक इति । अयं नियमो यथास्थानमग्रेऽपि अनुसरणीयः ।

तथा 'ताहिंतो' त्ति ततः श्रुतज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टरसत इत्यर्थः अवधिद्विक-लाभान्तरायरूपाणां तिसृणामनन्तगुणहीन' परस्पर तुल्यश्च । क्षपकश्रेणौ बन्धमाश्रित्य श्रुतज्ञानावरणादितोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्रागेतद्रसस्य देशघातिभवनात् । 'तो' त्ति, ततोऽवधिद्विकाद्युत्कृष्टरसत इत्यर्थः मनःपर्यवज्ञानावरण-स्त्यानर्द्धि--दानान्तरायाणामनन्तगुणहीनः परस्परं तुल्यश्च, अत्र हेतुः प्रकृतिविशेष एव ॥३८४-३८५॥

ताउ कमा णपुमारइसोगभयजुगुप्सणिद्दणिद्दाणं ।
तत्तो पयलापयलाणिद्दापयलाण होइ कमा ॥३८६॥
ताउ अजसणीआणं एत्तो कमसोऽत्थि णिरयतिरियाणं ।
थीपुमरइहस्सामरणारगमणुयतिरियाऊणं ॥३८७॥

(प्रे०) 'ताउ' इत्यादि, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणाद्युत्कृष्टरसत इत्यर्थः नपुंसकवेदारतिशोकभयजुगुप्सा निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-निद्रा-प्रचलानामुत्कृष्टरसः 'कमा' त्ति क्रमश' यथोत्तरमित्यर्थः अनन्तगुणहीनः, तदुत्कृष्टरसस्य तुल्यसंक्लेशेन बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । 'ताउ' त्ति ततः प्रचलाया उत्कृष्टरसत इत्यर्थः 'अजसणीआण' त्ति अयशःकीर्त्तिनामनीचैर्गोत्रयोरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः अनयोश्च परस्परं तुल्यः । 'एत्तो' त्ति अयशःकीर्त्तिनीचैर्गोत्रयोरुत्कृष्टरसतो नरकगतेस्ततस्तिर्यग्गतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, तत्समसंक्लेशेन बध्यमानत्वेऽपि

प्रकृतिविशेषात् । ततः स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अल्पसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । ततः पुरुषवेदस्याऽनन्तगुणहीनः, अल्पतरसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । ततो रतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततोऽप्यल्पतरसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । ततो हास्यस्यानन्तगुणहीनः, रतेरुत्कृष्टरसबन्धार्हसंक्लेशतुल्यसंक्लेशेन बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततो देवायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, घोलनपरिणामेन बध्यमानत्वात् । ततो नरकायुषोऽनन्तगुणहीनः अप्रशस्तत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, अल्पतरस्थितिकत्वात् । ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, तत्समस्थितिकत्वेऽपि अप्रशस्तत्वात् । इति निरूपितमोघत उत्कृष्टरसस्य परस्थानाल्पबहुत्वम् ।

अथ मार्गणासु परस्थानाल्पबहुत्वप्ररूपणायाः प्राक् तत्र परस्थानाल्पबहुत्वहेतुचिन्ताप्रस्तावे इमे नियमा ज्ञातव्याः सन्ति (१) यस्याः प्रशस्तप्रकृतेरुत्कृष्टरसोऽधिकतरया विशुद्ध्या बध्यते तस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसोऽधिकः ; (२) यासां च प्रशस्तानामुत्कृष्टरसबन्धस्तुल्यविशुद्ध्या परस्परं हीनाधिकश्च तत्र हीनाधिकत्वे प्रकृतिविशेष एव हेतुः (३) यासु मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकः पर्याप्तः संज्ञी तत्र च प्रशस्तानामुत्कृष्टरसबन्धः स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या, अप्रशस्तानां च स स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन भवति, तासु मार्गणासु तासां प्रशस्ताप्रशस्तानामुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वविचारे प्रशस्तानामुत्कृष्टरसतोऽप्रशस्तानामुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, तथास्वाभाव्येन प्रशस्तानामुत्कृष्टरसतोऽप्रशस्तानां सोऽनन्तगुणहीनो बध्यते इति कृत्वा । (४) यस्या अप्रशस्तायाः प्रकृतेरुत्कृष्टरसोऽधिकतरेण संक्लेशेन बध्यते तस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसोऽधिकः । (५) यासां चाऽप्रशस्तानामुत्कृष्टरसस्तुल्यसंक्लेशेन बध्यते परस्परं हीनाधिकश्च तत्र हीनाधिकत्वे हेतुः प्रकृतिविशेषः ।

अथानन्तरोक्तनियमेषु अयमपवादो द्रष्टव्यः-असंज्ञिमार्गणायाम् एकेन्द्रियविकलाक्षादिमार्गणासु च यत्र पर्याप्तसंज्ञिनामप्रवेशः तत्र मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसः सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसादनन्तगुणाधिको ज्ञेयः, तथास्वाभाव्यात् । इमे च नियमा आयुर्वर्जसप्तप्रकृतिविषया वेदितव्याः । आयुषः पुनरिमे नियमाः-शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टरसत आयुष उत्कृष्टरसोऽल्प एव, तदुत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशादिना बध्यमानत्वेऽपि तद्बन्धकस्य घोलनपरिणामित्वात् संक्लेशविशुद्ध्याभिमुखत्वे प्रथममायुष्कस्यैव बन्धविच्छेदात् । आयुषां परस्परमल्पबहुत्वे इमे नियमाः—यत्र उभे समस्थितिके बध्येते तयोरेकं प्रशस्तमन्यच्चाप्रशस्तं तत्र प्रशस्तस्य सर्वाधिकः अप्रशस्तस्यानन्तगुणहीनः, तथास्वाभाव्यात् । यथा देवायुष उत्कृष्टरसतो नरकायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् । मनुष्यायुष उत्कृष्टरसतस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, उत्कृष्टपदे उभयोस्तुल्यस्थितिकत्वेऽपि तिर्यगायुषोऽल्पप्रशस्तत्वात् ॥३८६-३८७॥

अथाऽऽदेशत उत्कृष्टरसस्य परस्थानाल्पबहुत्वं निरुरूपयिषुरादौ तावन्नरकौघादिमार्गणासु तन्निरूपयति—

णिरयपढमाइछणिरयसुरासहस्सारविउव्वजुगलेसु ।
सायस्स सव्वअहियो तिव्वणुभागो मुणेयव्वो ॥३८८॥
एत्तोऽणंतगुणूणो भवे जसुच्चाण ताउ होइ कमा ।
णरकम्मतेअसउरलमिच्छाणोघव्व तेण परं ॥३८९॥
जाव अजसणीआणं तत्तो कमसो अणंतगुणहीणो ।
णेयो तिरिथीपुमरइहस्समणुस्सतिरियाऊणं ॥३९०॥

(प्रे०) 'णिरय०' इत्यादि, नरकौघः प्रथमादिषड्नरकाः सहस्रारान्ता देवभेदास्ते च द्वादश वैक्रियकाययोगो वैक्रियमिश्रकाययोगश्चेत्येतास्वेकविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, प्रशस्तत्वात्, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोश्च परस्परं तुल्यः । ततो मनुष्यगतिकार्मणशरीरतैजसशरीरनामौदारिकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, चतुर्थगुणस्थानके तुल्यविशुद्ध्या बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततो मिथ्यात्वस्याऽनन्तगुणहीनोऽप्रशस्तत्वात् । पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामेकविंशतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वं मूलेऽनुक्तमपीहोच्चैर्गोत्रमिथ्यात्वयोरन्तराले यथासम्भवं वाच्यम्, कुतः ? युक्तेः सद्भावात् । सा चेयम्—पञ्चेन्द्रियजात्यादिवदुच्चैर्गोत्रसत्कोत्कृष्टरस इह चतुर्थगुणस्थानके बध्यते तथापि स तथास्वाभाव्यादधिकः, मिथ्यात्वस्य रसोऽप्रशस्तः स च स्वल्प एव, तथास्वाभाव्येन प्रशस्तादप्रशस्तरसस्याऽल्पत्वात् । एवमुच्चैर्गोत्रमिथ्यात्वयोरन्तराले पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टरसो यथासंभवमनन्तगुणादिहीनः संभवति । किन्तु कस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसात् कस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणादिहीनः, तत्तु वक्तुं न पार्यते, उपदेशाभावात् । इमाश्च ता एकविंशतिः प्रकृतयः—पञ्चेन्द्रियजातिनाम, समचतुरस्रसंस्थानम्, प्रशस्तवर्णादिचतुष्कम्, प्रशस्तविहायोगतिः, यशःकीर्तिवर्जत्रसादिनवकम्, निर्माणनाम, जिननाम, अगुरुलघुनाम, पराघातोच्छ्वासनाम्नी चेति । 'ओघव्व तेण पर जाव अजसणीआण' ति मिथ्यात्वात् परतो यावदयशःकीर्तिनीचैर्गोत्रयोरोघवद् भवति, तद्यथा—मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसतः केवलद्विकाऽसातवेदनीयवीर्यान्तरायरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः तासां परस्परं तुल्यश्च । ततः केवलद्विकादीनामुत्कृष्टरसत इत्यर्थः अनन्तानुबन्धिलोभस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽनन्तानुबन्धिमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तर विशेषहीनः, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्योत्कृष्टरसत इत्यर्थः संज्वलनलोभस्याऽनन्तगुणहीनः, ततः संज्वलनमाया-क्रोध मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः । ततः संज्वलनमानस्योत्कृष्टरसत इत्यर्थः प्रत्याख्यानावरणलोभस्याऽनन्तगुण-

हीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः । ततः प्रत्याख्याना-वरणमानस्योत्कृष्टरसत इत्यर्थः, अप्रत्याख्यानावरणलोभस्याऽनन्तगुणहीनः, ततोऽप्रत्याख्याना-वरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः । ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्योत्कृष्टरसत इत्यर्थः मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोश्च परस्परं तुल्यः । तत-श्चक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणहीनः । ततः श्रुतज्ञानावरणाऽचक्षुर्दर्शनभोगान्तरायाणा प्रत्येक-मनन्तगुणहीनः, तेषाञ्च परस्परं तुल्यः । ततः श्रुतज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टरसत इत्यर्थः अवधि-द्विकलाभान्तरायरूपाणां तिसृणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः तासाञ्च परस्परं तुल्यः । ततो मनः-पर्यवज्ञान-स्त्यानर्द्धि-दानान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, परस्परं तुल्यः । ततो नपुंसकवेदा-ऽरति-शोक भय-जुगुप्सा-निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला निद्रा--प्रचलानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । ततोऽयशःकीर्त्तिनीचैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः तयोश्च परस्परं तुल्यः । ततः **'तिरिथी'** इत्यादि, तिर्यग्गति-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-रति-हास्य-मनुष्यायुष्क-तिर्यगायुषां क्रमशोऽनन्तगुणहीन उत्कृष्टरस इति सर्वत्रानुवर्तते । अत्र हेतुरोघवदेव ज्ञेयः ॥३८८-३९०॥

अथ सप्तमनरके आनतादिसुरमार्गणासु च बहुतरसमानवक्तव्यत्वात् अनन्तरोक्तनरकौघ-मार्गणावत् सापवादमतिदिशति—

णिरयव्व चरमणिरये णराउवज्जाण आणताईसु ।
गेविज्जंतेसु भवे तिरिक्खगइआउवज्जाणं ॥३९१॥

(प्रे०) **'णिरयव्व'** इत्यादि, सप्तमनरकमार्गणायाम् **'णिरयव्व'** त्ति, अनन्तरोक्त-नरकौघमार्गणावद् भवति । किमविशेषेण तद्वद् भवति, नेत्याह–**'णराउवज्जाणं'** ति मनुष्यायुर्वर्जशेषप्रकृतीनामेव, मनुष्यायुषः सप्तमनरके बन्धानर्हत्वात् । ततश्चैवं वक्तव्यं भवति–हास्यस्योत्कृष्टरसतस्तिर्यगायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, घोलनपरिणामेन बध्यमान-त्वात्, शेषं सर्वमविशेषेण नरकौघवदेव । **'आणताईसु'** त्ति आनतादिग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदश-देवभेदेषु **'णिरयव्व'** इत्यत्राप्यनुवर्त्तते, ततश्च नरकौघवत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वं भवति, तच्च **'तिरिक्खगइआउवज्जाण'** तिर्यग्गतितिर्यगायुर्वर्जानामेव प्रकृतीनां द्रष्टव्यम्, प्रस्तुत-मार्गणासु तयोर्बन्धानर्हत्वात् । ततश्चैवं वक्तव्यं भवति-अयशःकीर्त्तिनीचैर्गोत्रयोरुत्कृष्टरसतः स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः ततः पुरुषवेद-रति-हास्य-मनुष्यायुषां क्रमशोऽनन्तगुणहीनः । शेषं सर्वमविशेषेणाऽनन्तरोक्तनरकौघमार्गणावदेव । किञ्चात्रौघोक्तज्येष्ठसंक्लेशतोऽनन्तगुण-हीनज्येष्ठसंक्लेशेऽपि संक्लेशवृद्धौ प्रकृतिविच्छेदक्रमस्य तथात्वादल्पबहुत्वस्य तथैव लाभात् तद्वदेवातिदेश इति ॥३९१॥ अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वमाह—

सव्वहियो तिव्वरसो सायस्स तिरितिपणिदितिरियेसु ।
ताउ अणंतगुणूणो जसउच्चाणं मुणेयव्वो ॥३१२॥
तत्तो कमसो णेयो सुरकम्मणतेअविउवमिच्छाणं ।
ओघव्वुड्ढमओ जा णिरयस्स अणंतगुणहीणो ॥३१३॥
ताउ कमा णुरालियतिरिथीपुरिसरइहस्सपयडीणं ।
ताओ कमाऽत्थि णारगदेवमणुरसतिरियाऊणं ॥३१४॥

(प्रे०) 'सव्वहियो' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिर्यग्योनिमती चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः तयोश्च परस्परं तुल्यः। ततो देवगति-कार्मणशरीरनाम-तैजसशरीरनाम-वैक्रियशरीरनाम्नां क्रमशो यथोत्तरमित्यर्थः अनन्तगुणहीनः, तदुत्कृष्टरसस्य तुल्यविशुद्ध्या बध्यमानत्वेऽपि यथोत्तरमनन्तगुणहीनत्वे हेतुः प्रकृतिविशेष एव। इह पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनां द्वाविंशतेः प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं मूलेऽनुक्तमपि युक्तेः सद्भावात् उच्चैर्गोत्रमिथ्यात्वयोरन्तराले यथासंभवमनन्तगुणादिहीन इति तासामुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वं वाच्यम्। युक्तिश्चात्रेयम्—उच्चैर्गोत्रवत् पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामिह पञ्चमगुणस्थानके उत्कृष्टरसो बध्यते तथापि उच्चैर्गोत्रस्य रसस्तथास्वाभाव्यादधिको बध्यते, मिथ्यात्वस्य तु रसोऽप्रशस्तः, स च प्रशस्ताद्रसाद् हीन एव बध्यते, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां रसस्तु प्रशस्तः, एवमुच्चैर्गोत्रमिथ्यात्वयोरन्तराले पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टरसस्य प्रस्तुताल्पबहुत्वं वक्तुमुचितम्। इमाश्च ता द्वाविंशतिः प्रकृतयः-पञ्चेन्द्रियजातिनाम, वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम, समचतुरस्रसंस्थाननाम, प्रशस्तवर्णादिचतुष्कम्, देवानुपूर्वी, प्रशस्तविहायोगतिः, यशःकीर्तिनामवर्जत्रसादिनवकम्, निर्माणनाम, अगुरुलघुनाम, पराघातोच्छ्वासनाम्नी चेति। ततो मिथ्यात्वस्यानन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वात् 'ओघव्वुड्ढमओ जा णिरयस्स' त्ति अत ऊर्ध्वं यावन्निरयगतेरोघवत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वं भवतीति विशेषः, ततो नरकगतिनाम्न उत्कृष्टरसत इत्यर्थः मनुष्यगतिनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, प्रशस्तत्वेऽपि मध्यमविशुद्ध्या बध्यमानत्वात्। तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, यावत्या विशुद्ध्या मनुष्यगतेरुत्कृष्टरसो बध्यते तावत्या एव विशुद्ध्याऽस्योत्कृष्टरसबन्धसद्भावेऽपि प्रकृतिविशेषात्। ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनः, अप्रशस्तत्वे सति तदुत्कृष्टरसस्य मध्यमसंक्लेशेन बध्यमानत्वात्। ततः स्त्रीवेदस्याऽनन्तगुणहीनः, अल्पतरसंक्लेशेन बध्यमानत्वात्, ततः पुरुषवेदस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽप्यल्पतरसंक्लेशेन बध्यमानत्वात्, ततो रतिहास्ययोर्यथो-

त्तरमनन्तगुणहीनः, पुरुषवेदोत्कृष्टरसबन्धसंक्लेशतुल्यसंक्लेशेन बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततो नरकायुषोऽनन्तगुणहीनः, तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वेऽपि तद्बन्धकस्य घोलनपरिणामित्वात् । ततो देवायुषोऽनन्तगुणहीनः, तस्य प्रशस्तत्वेऽपि अल्पस्थितिकत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, अल्पस्थितिकत्वात् । ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, अल्पप्रशस्तत्वात् ॥३१२-३१४॥ अथ अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदियतसेसु सव्वेसुं ।
एगिंदियविगलिंदियपुहवीसलिलवणकायेसुं ॥३१५॥
सव्वहियो तिव्वरसो मिच्छस्स तओ अणंतगुणहीणो ।
सायस्सेत्तो उड्ढं णिरयव्व भवे तिरिगइं जा ॥३१६॥
ताउ रइहस्सथीणं कमेण णेयो अणंतगुणहीणो ।
ताओ पुरिसस्स तओ णरतिरियाऊण होइ कमा ॥३१७॥

(प्रे०) 'असमत्त०' इत्यादि, अपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तमनुष्यः अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तत्रसः 'सव्वेसु' ति सप्तैकेन्द्रिया नवविकलाक्षाः सप्तपृथ्वीकायिकाः सप्ताप्कायिका एकादशवनस्पतिकायिकाश्चेति पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः । ततः सातवेदनीयस्याऽनन्तगुणहीनः, कुतः ? उच्यते—सर्वत्र सातवेदनीयस्यैवोत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, किन्तु एकेन्द्रियादिषु यासु मार्गणासु पर्याप्तसंज्ञिनामप्रवेशः, तासु उत्कृष्टरसः सर्वाधिको मिथ्यात्वस्य भवति, सातवेदनीयस्य तु ततोऽनन्तगुणहीनः, तथास्वाभाव्यात्, इति नियमस्य सद्भावात् । 'एत्तो उड्ढं' ति अनन्तरोक्त व्यत्यासं विहाय तिर्यग्गतिं यावत् सर्वमविशेषेण नरकौघवद् भवति, उभयत्राल्पबहुत्वविषयभूतानां प्रकृतीनामविशेषात् । अत्र चैवंस्वरूपमल्पबहुत्वं भवति—मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततः सातवेदनीयस्यानन्तगुणहीनः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोश्च परस्परं तुल्यः । ततो मनुष्यगतिकार्मणशरीरतैजसशरीरौदारिकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणहीन, ततः केवलज्ञानावरण-केवलदर्शनावरणाऽसातवेदनीयवीर्यान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः तासां च परस्परं तुल्यः, ततः परमविशेषेण तिर्यग्गतिं यावद् नरकौघवदेव भवति, तच्च नरकौघमार्गणाविवरणतः तिर्यग्गतिपर्यन्तमवधारणीयम्, विस्तरभयादत्र न दर्शयामः, 'तत्तो' इत्यादि, तिर्यग्गतितः क्रमेण रतिहास्यस्त्रीपुरुषवेदमनुष्यायुस्तिर्यगायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । आसु मार्गणासु स्त्रीपुरुषवेदतो रतिहास्यप्रकृत्योरुत्कृष्टरसस्यानन्तगुणत्वे हेतुः स्वस्थानाल्पबहुत्ववज्ज्ञेयमिति ॥३१५-३१७॥

अथ मनुष्यौघादिमार्गणास्वाह—

सव्वाणोघव्व तिणरउरलेसु णवरि अणंतगुणहीणो ।
णिरयतिरियगइमज्झे णरगइउरलाण होइ कमा ॥३९८॥

(प्रे०) 'सव्वाणोघव्व' इत्यादि,मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपेषु त्रिषु मनुष्यभेदेषु औदारिककाययोगे च 'सव्वाण' त्ति अल्पबहुत्वविषयभूतानां निखिलानां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति । किमविशेषेणोघवद् भवति, नेत्याह—'णवरि' इत्यादिना, नवरंशब्दो विशेषद्योतकः, ततश्चौघप्ररूपणातोऽयं विशेषः 'णिरयतिरियगइमज्झे' त्ति नरकगतितिर्यग्गत्योरन्तराले मनुष्यगत्यौदारिकशरीरनाम्नोरुत्कृष्टरसः क्रमशोऽनन्तगुणहीनो वाच्यः । इदमुक्तं भवति—ओघप्ररूपणायां मनुष्यगतिनामौदारिकशरीरनाम्नोरुत्कृष्टरसबन्धकश्चतुर्थगुणस्थानकवर्ती तीव्रविशुद्धो देवः, स च तयोः प्रभूतं रसं प्रकरोति, प्रस्तुते तु मध्यमविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः, स हि अल्पतरं रसं बध्नाति, अत एवौघप्ररूपणायां मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसत औदारिकशरीरमनुष्यगतिनाम्नोरुत्कृष्टरसो यथोत्तरमनन्तगुण उक्तः, इह तु नरकगतेरप्युत्कृष्टरसतो मनुष्यगतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततोऽपि औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीन इति प्राप्यते । प्रस्तुते ओघे चायं विशेषः-ओघप्ररूपणायां वैक्रियशरीरनाम्न उत्कृष्टरसतो मनुष्यगतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततो मिथ्यात्वस्याऽनन्तगुणहीनः । प्रकृते च—वैक्रियशरीरनाम्न उत्कृष्टरसतो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीन इति । तथौघप्ररूपणायां नरकगतेरुत्कृष्टरसतस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनः । प्रकृते च नरकगतेरुत्कृष्टरसतो मनुष्यगतेस्तत औदारिकशरीरनाम्नस्ततश्च तिर्यग्गतेर्यथोत्तरमनन्तगुणहीन इति । शेषं सर्वमविशेषेणौघवद्भवति ॥३९८॥ अथ पञ्चानुत्तरसुरमार्गणास्वाह—

पंचसु अणुत्तरेसुं सव्वहियो सायवेअणीयस्स ।
तिव्वरसो तत्तो जसउच्चाण अणंतगुणहीणो ॥३९९॥

ताउ कमा णरकम्मगतेउरलाणं तओ मुणेयव्वो ।
केवलजुगलावरणगअसायविरियंतरायाण ॥४००॥

ताउ चरमलोहस्स उ तो परमोघव्व दुइअमाणं जा ।
ताउ अणंतगुणूणो मइउवभोगंतरायाणं ॥४०१॥

ताउ णायणस्स ताओ अचक्खुसुअभोगविग्घपयडीणं।
ताहितो विणणेयो ओहिजुगललोहविग्घाणं ॥४०२॥
तासुं तो वोद्धव्वो मणपज्जवदाणअंतरायाणं ।
तत्तो पुमस्स ताओ णेयो सोगारईण कमा ॥४०३॥
ताउ कमा भयकुच्छाणिद्दापयलाण ताउ अजसस्स ।
तत्तो रइस्स ताओ हस्सस्स तओ णराउस्स ॥४०४॥

(प्रे०) 'पंचसु' इत्यादि, पञ्चसु अनुत्तरसुरमार्गणासु सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनस्तयोः परस्परञ्च तुल्यः, ततो मनुष्यगति-कार्मणशरीर-तैजसशरीरौ-दारिकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, इहोक्तानां सातवेदनीया-द्यौदारिकशरीरनामावसानानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य तुल्यविशुद्धया बध्यमानत्वेऽपि तस्याऽनन्त-गुणहीनादित्वं प्रकृतिविशेषात् ।

'तओ' तत औदारिकशरीरनाम्न उत्कृष्टरसत इत्यर्थः केवलद्विकासातवेदनीयवीर्यान्तराय-रूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, परस्परं तुल्यश्च, अप्रशस्तत्वात् ततः संज्वलन-लोभस्याऽनन्तगुणहीनः 'तो परमोघव्व दुइअमाणं जा' ततः परं द्वितीयमानं यावदोघवद् भवति, तद्यथा—संज्वलनलोभस्योत्कृष्टरसतः संज्वलनमाया क्रोध-मानाना यथोत्तरं विशेषहीनः, प्रत्याख्यानावरणलोभस्याऽनन्तगुणहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्याऽनन्तगुणहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाक्रोध-मानानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकम् , ततश्चक्षुर्दर्शना-वरणस्य, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणश्रुतज्ञानावरणभोगान्तरायाणां प्रत्येकम्, ततोऽवधिज्ञानाऽवधि-दर्शनरूपावधिद्विकलाभान्तरायरूपाणां प्रत्येकम् , ततो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्ये-कम् , ततः पुरुषवेदस्य, अनन्तगुणहीन इति सर्वत्रानुसरणीयम् , उत्कृष्टरस इति प्रकरणगम्यम् । ततः पुरुषवेदस्योत्कृष्टरसतः शोकारत्योः क्रमशोऽनन्तगुणहीनः, ततो भयजुगुप्सा-निद्रा-प्रचलानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, ततोऽयशःकीर्त्तेरनन्तगुणहीनः । इह केवलद्विकादीनामयशःकीर्त्तिपर्यव-सानानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसस्य तुल्यसंक्लेशेन बध्यमानत्वेऽपि तस्याऽनन्तगुणाहीनादित्व प्रकृति-विशेषात् , ततो रतेस्ततो हास्यस्य ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणहीनः, उत्कृष्टरस इति सर्वत्रानुसन्धेयम् ।

*इह पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामेकविंशतेः प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याऽल्पबहुत्वं मूले-ऽनुक्तमपि तासामुत्कृष्टरस उच्चैर्गोत्रकेवलज्ञानावरणयोरन्तराले यथासमयमनन्तगुणादिहीनो

वाच्यः, कुतः ? उच्चैर्गोत्रस्योत्कृष्टरसस्य तुल्यविशुद्ध्या बध्यमानत्वेऽपि पञ्चेन्द्रियजात्यादीना-मुत्कृष्टरसतोऽधिकत्वात् , केवलज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसः स्वल्पः, अप्रशस्तत्वात् । एकविंशतिः प्रकृतयश्चौघविवरणोक्ताभ्यः पञ्चेन्द्रियजात्यादिभ्यश्चतुर्विंशतिप्रकृतिभ्यः वैक्रियाहारकाङ्गोपाङ्ग-नामदेवानुपूर्वीनामरूपास्तिस्रः प्रकृतीर्वर्जयित्वा या अवशिष्टास्ता बोद्धव्याः ॥३९९-४०४॥

अथ द्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु प्रकृतमोघवदतिदिशति—

सव्वेसि पयडीणं चउसट्ठीए वि होइ अप्पबहू ।
तिव्वरसस्सोघव्व दुपणिंदितसपणमणवयेसु ॥४०५॥
कायम्मि तिवेएसुं कोहाईसु चउसुं कसायेसुं ।
चक्खुअचक्खूसु तहा भविये सण्णिम्मि आहारे ॥४०६॥

(प्रे०) 'सव्वेसिं' इत्यादि, सर्वासां प्रस्तुताल्पबहुत्वविषयभूतानां चतुःषष्टेरपि प्रकृतीना-मुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वमोघवद् भवति, कुत्रेत्याह–'दुपणिंदि' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगौघ-त्रिवेद-चतुष्कषाय-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञ्याहारिलक्षणासु सप्तविंशतिमार्गणासु । कुतः ? इह अप्रशस्ताना-मोघोत्कृष्टरसस्य प्राप्यमाणत्वात् तथा प्रशस्तानाम् उत्कृष्टरसबन्धकाः श्रेणावपि प्राप्यन्त इति कृत्वा ॥४०५-४०६॥

अथ तेजोवायुकायादिमार्गणासु बहुतरसमानवक्तव्यत्वादपर्याप्तमनुष्यमार्गणावत् साप-वादमतिदिशन्नाह—

सव्वेसि पयडीणं सव्वेसुं तेउवाउभेएसुं ।
असमत्तणरव्व णवरि णराउगइउच्चवज्जाणं ॥४०७॥

(प्रे०) 'सव्वेसिं' इत्यादि, तत्र 'सव्वेसु' ति सप्तस्वपि तेजस्कायभेदेषु सप्तसु च वायुकायभेदेषु 'सव्वेसि' ति प्रस्तुतप्ररूपणविषयभूतानामिह बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामधि-कृतमल्पबहुत्वमपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद् भवति । अथातिप्रसक्तिं परिहरति–'णवरि' इत्यादिना, मनुष्यायुष्कमनुष्यगतिनामोच्चैर्गोत्ररूपास्तिस्रः प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामेव सर्वासामपर्याप्त-मनुष्यवद् भवतीति भावः, कुतः ? मनुष्यायुष्कादिप्रकृतित्रयस्येह बन्धानर्हत्वात् । अत्र चैव-स्वरूपमल्पबहुत्वं भवति– मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततः सातवेदनीयस्याऽनन्तगुणहीनः, ततो यशःकीर्त्तेरनन्तगुणहीनः, ततः कार्मणशरीर-तैजसशरीरौदारिकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुण-हीनः, ततः परं मनुष्यायुर्वर्जशेषप्रकृतीनामपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद् विज्ञेयम् ॥४०७॥

अथौदारिकमिश्रमार्गणायामाह—

सव्वहियो तिव्वरसो उरालमीसम्मि होइ सायस्स ।
ताउ अणंतगुणूणो जसउच्चाणं मुणेयव्वो ॥४०८॥
ताउ कमा सुरकम्मणतेअविउव्वमिच्छणरउरालाणं ।
एत्तो उड्ढं णेय असमत्तपणिंदितिरियव्व ॥४०९॥

(प्रे०) 'सव्वहियो' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां सातवेदनीयस्य सर्वाधिकः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोश्च परस्परं तुल्यः। ततो देवगति-कार्मणशरीर तैजसशरीर-वैक्रियशरीरनाम्नां क्रमशोऽनन्तगुणहीनः, तुल्यविशुद्ध्या बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात्। ततो मिथ्यात्वस्याऽनन्तगुणहीनः,अप्रशस्तत्वात्। इह पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां त्रयोविंशतेः प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरस उच्चैर्गोत्रमिथ्यात्वयोरन्तराले यथासंभवमनन्तगुणादिहीनो वाच्यः। त्रयोविंशतिः प्रकृतयश्चौघविवरणोक्ताः पञ्चेन्द्रियजात्यादयश्चतुर्विंशतिः प्रकृतय आहारकाङ्गोपाङ्गनामवर्जा बोद्धव्याः। ततो मनुष्यगत्यौदारिकशरीरनाम्नोर्यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, तयोः प्रशस्तत्वेऽपि तदुत्कृष्टरसस्य मध्यमविशुद्ध्या बध्यमानत्वात्।

इदमत्रावधेयम्—वैक्रियशरीरनाम यावत्तु अत्रौघवदेव क्रमः, ततः परम् ओघे मनुष्यगत्यौदारिकशरीरनाम्नी ततश्च मिथ्यात्वम्। इह तु आदौ मिथ्यात्वं ततः परं मनुष्यगत्यौदारिकशरीरनाम्नी। यतः प्रस्तुतमार्गणायां मनुष्यगत्यौदारिकशरीरनाम्नोरुत्कृष्टरसो मध्यमविशुद्धेन मिथ्यादृष्टिना बध्यते, ततस्तयोः प्रशस्तत्वेऽपि मिथ्यात्वोत्कृष्टरसादनन्तगुणहीन एव रसो बध्यते। 'एत्तो उड्ढं' इत्यादि, औदारिकशरीरनामतः परमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावद् ज्ञेयम्, प्रस्तुतमल्पबहुत्वमिति शेषः,तच्चैवम्—औदारिकशरीरनाम्न उत्कृष्टरसतः केवलद्विकासातवेदनीयवीर्यान्तरायाणां प्रत्येकमुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, तेषाञ्च परस्परं तुल्यः। ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्याऽनन्तगुणहीनः। ततोऽनन्तानुबन्धिमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः। ततः संज्वलनलोभस्याऽनन्तगुणहीनः। ततः संज्वलनमायाक्रोधमानानां यथोत्तरं विशेषहीनः। ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्यानन्तगुणहीनः। ततः प्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्याऽनन्तगुणहीनः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानाना यथोत्तरं विशेषहीनः। ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोश्च परस्परं तुल्यः। ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणहीनः। ततः श्रुतज्ञानावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणभोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तेषाञ्च परस्परं तुल्यः। ततोऽवधिद्विकलाभान्तरायरूपाणां तिसृणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः परस्परं च तुल्यः। ततो

मनःपर्यवज्ञानावरण-स्त्यानर्द्धि-दानान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः परस्परं च तुल्यः । ततो नपुंसकवेदा-ऽरति-शोक-भय-जुगुप्सा-निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला-निद्रा-प्रचलानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । ततोऽयशःकीर्त्तिनीचैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोः परस्परं तुल्यः । ततस्तिर्यग्गति-रति-हास्य-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मनुष्यायुष्क-तिर्यगायुषां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, उत्कृष्टरस इति सर्वत्र ज्ञेयम् ।।४०८-४०९।।

अथाहारकतन्मिश्रकायमार्गणयोराह—

सायस्साहारदुगे सव्वहियो होइ तिव्वअणुभागो ।
ताउ अणंतगुणूणो जसउच्चाणं मुणेयव्वो ।।४१०।।
ताउ कमा सुरकम्मणतेअसविउव्वाण होइ तओ ।
केवलजुगलावरणअसायविरियविग्घअतलोहाणं ।।४११।। (गीतिः)
तत्तो अंतिममायाकोहमयाणं कमा विसेसूणो ।
तोऽणंतगुणूणो मइणाणुवभोगंतरायाणं ।।४१२।।
तत्तो चक्खुस्स तओ सुअअणयणभोगअंतरायाणं ।
ताहितो विणेयो ओहिजुगललाहविग्घाणं ।।४१३।।
तासुन्तो बोद्धव्वो मणपज्जवदाणअंतरायाणं ।
तत्तो हवेज्ज कमसो पुरिसारइसोगभीईणं ।।४१४।।
ताओ कुच्छाअ तओ णिद्दाए ताउ होइ पयलाए ।
तत्तो अजसस्स तओ रइहस्ससुराउगाण कमा ।।४१५।।

(प्रे०) "**सायस्स**" इत्यादि आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः प्रत्येकं सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिक इत्यादि सुगमम् । यत इह सातवेदनीयतो वैक्रियशरीरनाम यावत् ओघोक्त एव क्रमः, ततः परम्, वैक्रियशरीरनामतः परत इत्यर्थः, अनुत्तरसुरमार्गणोक्तः क्रमः, नवरमत्राप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमध्यकषायाष्टकं वर्जयित्वा तत्क्रमोऽनुसृतः, प्रस्तुतमार्गणयोः कषायाष्टकस्य बन्धानर्हत्वात् । तथा तत्रोक्तमनुष्यायुषः स्थानेऽत्र देवायुरुक्तम्, संयतानां शेषायुषो बन्धाभावात् ।

अत्राऽनुत्तरमार्गणातोऽयं विशेषः प्राप्तः—अनुत्तरमार्गणायां संज्वलनमानस्योत्कृष्टरसतो मध्यकषायाष्टकस्योत्कृष्टरसं यथासम्भवमनन्तगुणादिहीनमुक्त्वा मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोरनन्तगुणहीन उक्तः, इह तु संज्वलनमानस्योत्कृष्टरसतो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोरनन्त-

गुणहीन इति । तथा तत्र हास्यस्योत्कृष्टरसतो देवायुषोऽनन्तगुणहीन इत्युक्तम्, इह तु हास्यस्योत्कृष्टरसतो देवायुषोऽनन्तगुणहीन इति ।।४१०-४१५।।

अथ कार्मणाऽनाहारमार्गणयोर्वक्तुकामो बहुत्त्समानवक्तव्यत्वादौदारिकमिश्रमार्गणावदतिदिशन्नाह—

कम्माणाहारेसुं उरालमीसव्व आउवज्जाणं ।
सव्वाण णवरि उरला मिच्छस्स अणंतगुणहीणो ।।४१६।।

(प्रे०) "कम्माणा०" इत्यादि, कार्मणाऽनाहारमार्गणयोः प्रस्तुतमल्पबहुत्वमौदारिकमिश्रमार्गणावद् भवति । किं तत्रोक्तानां सर्वासां प्रकृतीनां तद्वद् भवति ? न इत्याह—'आउवज्जाणं' ति, मनुष्यायुष्कतिर्यगायुष्करूपे द्वे प्रकृती वर्जयित्वा शेषप्रकृतीनामित्यर्थः, कुतस्तद्वर्जनम् ? प्रस्तुतमार्गणयोरायुर्बन्धाभावात् । अथात्रापरोऽपि यो विशेषोऽस्ति त दर्शयति-'णवरि' इत्यादिना, इहौदारिकशरीरनामतो मिथ्यात्वस्याऽनन्तगुणहीनः, उत्कृष्टरस इति प्रकरणगम्यम् । मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसत औदारिकशरीरनाम्न उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणाभ्यधिक इत्यर्थः, तदुत्कृष्टरसस्य सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात् । ततोऽपि मनुष्यगतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः, सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात् । औदारिकमिश्रमार्गणायान्तु मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसतो मनुष्यगतेरनन्तगुणहीनः, तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, तत्र तदुत्कृष्टरसस्य मध्यमविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् । औदारिकमिश्रमार्गणायाः प्रस्तुतमार्गणासु प्ररूपणाविषयकमिदं विसादृश्यं द्रष्टव्यम्—औदारिकमिश्रमार्गणायां वैक्रियशरीरनाम्न उत्कृष्टरसतो मिथ्यात्वस्य ततो मनुष्यगतेस्तत औदारिकशरीरनाम्नस्ततः केवलद्विकासातवेदनीयवीर्यान्तरायरूपस्य प्रकृतित्रिकस्य यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । इह तु मनुष्यगतित औदारिकशरीरनाम्नस्ततो मिथ्यात्वस्य ततः केवलद्विकासातवेदनीयरूपस्य प्रकृतित्रिकस्योत्कृष्टरसो यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । तथाऽऽयुषोऽल्पबहुत्वं प्रकृतमार्गणयोर्नास्ति, आयुर्बन्धस्याभावात् । शेषं सर्वमुभयत्र तुल्यम् । तच्चौदारिकमिश्रमार्गणाविवृत्तेरेवावधारणीयम्, विस्तरभयादत्र न दर्श्यत इति । इदं त्ववधेयम्—अत्र मार्गणाद्वये वैक्रियशरीरोत्कृष्टरसतो मनुष्यगतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुण उतानन्तगुणहीन इति तु स्वयं विज्ञातव्यम् ।।४१६।।

अथ गतवेदमार्गणायां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं दर्शयन् बहुसमानवक्तव्यत्वात् सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां प्रस्तुतमार्गणावदतिदिशंश्चाह—

गयवेए सव्वहियो सायस्स तओ अणंतगुणहीणो ।

जसउच्चाणं तत्तो केवलदुगवीरियाण कमा ॥४१७॥
तो मइउवभोगाणं तत्तो चक्खुस्स ताउ विरणोयो ।
सुअअणायणभोगाणं तत्तो ओहिदुगलाहाणं ॥४१८॥
ताहिन्तो मणपज्जवदाणाणं होअए सयं णेयं ।
संजलणाणं एवं सुहमे संजलणवज्जाणं ॥४१९॥

(प्रे०) '**गयवेए**' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोः परस्परञ्च तुल्यः । ततः केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरूपस्य केवलद्विकावरणस्य ततो वीर्यान्तरायस्य रसोऽनन्तगुणहीनः । ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोः परस्परन्तु तुल्यः । ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणहीनः । ततः श्रुतज्ञानावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणभोगान्तरायाणामनन्तगुणहीनः, तेषां परस्परञ्च तुल्यः । ततोऽवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणलाभान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः परस्परञ्च तुल्यः । ततो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, परस्परं तुल्यः ।

'**सयं णेय**' इत्यादि, संज्वलनचतुष्कस्याल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञातव्यमिति ग्रन्थकारैरुक्तं तथापि किञ्चित् प्रदर्श्यतेऽस्माभिः कषायप्राभृतचूर्ण्यभिप्रायेण—अवेदमार्गणायामवरोहकोपशामको मार्गणाचरमसमयेऽपि कषायचतुष्कस्यैकस्थानिकरसमेव बध्नाति, अतः मनःपर्यवज्ञानावरणतः संज्वलनलोभस्य रसोऽनन्तगुणहीनस्ततो संज्वलनमायाया रसो विशेषहीनस्ततः संज्वलनक्रोधस्य रसो विशेषहीनस्ततः संज्वलनमानस्य रसो विशेषहीनः । अथ यदि संज्वलनचतुष्कस्य प्रकारान्तरेण रसो बध्यते तदा तस्याल्पबहुत्व तदभिप्रायेण स्वयं ज्ञातव्यमिति ।

अथ सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां प्रस्तुतमार्गणावत् सापवादमतिदिशति—'एवं' इत्यादिना, सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनन्तरोक्ताऽपगतवेदमार्गणावदेव भवति, नवरं सज्वलनचतुष्कं वर्जयित्वा गतवेदोक्तानां शेषप्रकृतीनां तद् वाच्यम् , यतः कषायस्य बन्धो नास्ति । ततश्चात्रैवं वक्तव्यं स्यात्—सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकम् , ततः केवलद्विकावरणस्य ततो वीर्यान्तरायस्य ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः । अतः परं सर्वमविशेषेणाऽपगतवेदमार्गणावद् वाच्यमिति ॥४१७-४१९॥

अथ ज्ञानत्रिकादिमार्गणासु प्रस्तुतमुत्कृष्टरसस्य परस्थानाल्पबहुत्वं सार्धगाथाद्वयेन प्रकटयति—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु निव्वरमो ।
सायस्स सव्वअहिओ तओ जसुच्चाणऽणंतगुणहीणो ॥४२०॥(गीतिः)
ताउ सुरकम्मतेअसआहारविउव्वणरुरलाण कमा ।
एत्तो उड्ढमणुत्तरसुरव्व जा होइ हस्सस्स ॥४२१॥
ताउ अणंतगुणूणो देवणराऊण होइ जहक्कमसो ।

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, मत्यादीनि त्रीणि ज्ञानानि अवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वम् 'वेअग' त्ति, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वञ्चेति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येक सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकं ततो देवगतिनाम-कार्मणशरीरनाम--तैजसशरीरनामा-ऽऽहारकशरीरनाम- वैक्रियशरीरनाम--मनुष्यगतिनामौदारिक-शरीरनाम्नाम्-'कमा' त्ति क्रमाद् यथोत्तरमित्यर्थः, अनन्तगुणहीनः, उत्कृष्टरस इति प्रकरणगम्यम्।

इह पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनामोघविवरणोक्तानाश्चतुर्विंशतेः प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्ट-रसस्याऽल्पबहुत्वम् उच्चैर्गोत्रमनुष्यगतिनाम्नोरन्तराले यथासम्भवं वाच्यम्, हेतुरपि ओघ-विवरणोक्त एवानुसरणीयः ।

'एत्तो उड्ढ०' इत्यादि, अत ऊर्ध्वम् औदारिकशरीरनाम्न उत्कृष्टरसत इत्यर्थः, यावद् हास्यस्योत्कृष्टरसः, स च कीदृशो भवति? इत्याह-'अणुत्तरसुरव्व' अनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति, औदारिकशरीरनामत आरभ्य हास्यमोहनीयं यावत्, प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनुत्तरमार्गणायां यथा दर्शितमत्र तथैव ज्ञेयम्, कुतः ? उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धकाः सम्यग्दृष्टयः, उभयत्र सम्यग्दृशा-मेव प्रवेशश्चेति कृत्वा । 'ताउ' त्ति, हास्यमोहनीयस्योत्कृष्टरसत इत्यर्थः, देवायुषस्ततो मनु-ष्यायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । अनुत्तरसुरमार्गणायामेकं मनुष्यायुर्बन्धमर्हति । सम्यग्-दृष्टिदेवानां प्रेत्य मनुष्येष्वेवोत्पादात्। प्रस्तुतासु मार्गणासु तु देवायुरपि बध्यते, मनुष्यतिरश्चामपि अन्तःप्रवेशात् । अत एवौदारिकशरीरनामत ऊर्ध्वं सर्वमविशेषेणाऽनुत्तरसुरवदनतिदिश्य हास्यं यावदेवातिदिष्टम् ॥४२०-४२१॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणास्वाह--

मणणाणसंजमेसुं समइअछेएसु परिहारे ॥४२२॥
आहारदुगव्व भवे सव्वाण णवरि अणंतगुणहीणो ।
आहारस्स गुरुरसो णेयो तेजसविउवमज्झे ॥४२३॥

(प्रे०) '**मणणाण०**' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकचारित्रं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकञ्चेति पञ्चसु मार्गणासु '**सव्वाण**' त्ति प्रस्तुताल्पबहुत्वविषयेऽधिकृतानामिह बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वमाहारकतन्मिश्रयोगमार्गणावद् भवति । किमविशेषेण तद्वद् भवति ? नेत्याह '**णवरि**' इत्यादिना, प्रस्तुतमार्गणासु तैजसशरीरनाम्न उत्कृष्टरसत आहारकशरीरनाम्न उत्कृष्टरसो वाच्यः ततः परं वैक्रियशरीरनाम्न इति, किमुक्तं भवति ? आहारकयोगमार्गणायामाहारकशरीरनाम न बध्यते ततस्तत्र तैजसशरीरनाम्न उत्कृष्टरसतो वैक्रियशरीरनाम्न उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीन उक्तः । इह तु आहारकशरीरनाम बध्यते, तस्योत्कृष्टरसस्तैजसशरीरनामवैक्रियशरीरनाम्नोरन्तरालेऽनन्तगुणहीनो वक्तव्यो भवति, एतावन्मात्रोऽत्र विशेषः, शेषं सर्वमविशेषेणाहारकमार्गणावद् भवति, तच्च तत एवावधारणीयम् , नात्र प्रतन्यते, सुगमत्वाद् विस्तरभयाच्च ॥४२२-४२३॥

अथाऽज्ञानादिमार्गणासूत्कृष्टरसस्य परस्थानाल्पबहुत्वमतिदिशति—

आहारकवज्जाणं तिअणाणाजयअभवियमिच्छेसु ।
ओघव्व णवरि कज्जो णिरयसुराऊण वच्चासो ॥४२४॥

(प्रे०) '**आहारके**' त्यादि, त्रीण्यज्ञानानि अयतोऽभव्यो मिथ्यात्वञ्चेति षट्सु मार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति । कासां प्रकृतीनामित्याह-'**आहारकवज्जाणं**' आहारकशरीरनामवर्जानामोघप्ररूपणोक्तानां सर्वासां प्रकृतीनामित्यर्थः, कुत एवम् ? आहारकशरीरनाम्न इह बन्धाऽनर्हत्वात् । अथाऽन्यमपि विशेषं दर्शयति-'**णवरि**' इत्यादिना, नरकायुर्देवायुषोर्व्यत्यासः कार्यः । इदमुक्तं भवति—ओघे देवायुष उत्कृष्टरसत नरकायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीन उक्तः । इह तु नरकायुष्कोत्कृष्टरसतो देवायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनो वाच्यः, देवायुषः प्रशस्तत्वेऽपि तस्योत्कृष्टत एकत्रिंशत्सागरोपममितैव स्थितिर्बध्यते, प्रस्तुतमार्गणावर्त्तिना सुरेषु नवमग्रैवेयकादूर्ध्वमुत्पादाभावात् । नरकायुषः पुनस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममिता स्थितिरुत्कृष्टतो बध्यते, अत एव ओघप्ररूपणातोऽत्रायं व्यत्यासः । शेषं सर्वमोघवद् भवति, तच्च तत एव विज्ञेयम् । इदं त्वत्रावधेयम्—अभव्यवर्जासूक्तमार्गणासु मनुष्यगतितो वैक्रियशरीरस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुण ओघवत् संभाव्यते, वैक्रियशरीरोत्कृष्टरसस्याधिकविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् , तथापि अभव्यमार्गणायां तु यदि समानविशुद्ध्या द्वयोः प्रकृत्योरुत्कृष्टरसस्य जायमानत्वं तर्हि वैक्रियशरीरतो मनुष्यगतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः संभाव्यते, यदि द्रव्यसंयत एव वैक्रियशरीरोत्कृष्टरसस्य बन्धस्वामी तदा तु ओघवदेवाल्पबहुत्वं विज्ञेयम् ॥४२४॥

अथ देशविरतिमार्गणायां बहुतममानवक्तव्यत्वाद् आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणावदति-दिशन्नाह—

आहारदुगव्व भवे देसे सव्वाण णवरि वत्तव्वो ।
संजलणव्व हवेज्जा तइअकसायाण संजलणा ॥४२५॥

(प्रे०) 'आहारदुगव्वे'त्यादि, देशविरतिमार्गणायां सर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमाहारकतन्मिश्रमार्गणावत् भवेत् , नवरं "संजलणा" त्ति चतुःसंज्वलनकषायाणामुत्कृष्टरसं यथोत्तरमनन्तगुणादिहीनमुक्त्वा चतुःसंज्वलनानामेव क्रमेण प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य प्रस्तुतमल्पबहुत्वं वाच्यम् । अयं भावः—आहारकयोगमार्गणायां प्रत्याख्यानावरणकषायस्य बन्धो नास्ति, ततस्तत्र संज्वलनमानस्योत्कृष्टरसतश्चक्षुर्दर्शनावरणस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीन उक्तः, इह तु प्रत्याख्यानावरणानां बन्धो भवति, तेषाञ्चोत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वमेवं वक्तव्य भवति, तद्यथा-संज्वलनमानस्योत्कृष्टरसतः प्रत्याख्यानावरणलोभस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः'। ततः परं चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणहीन इति वक्तव्यम् । शेषं तु सर्वमाहारकयोगमार्गणावदविशेषेण भवतीति ॥४२५॥

अथ कृष्णलेश्यामार्गणायां प्रस्तुतं विभणिषुराह—

किण्हाए सव्वहियो तिव्वरसो सायवेयणीयस्स ।
ताउ अणंतगुणूणो जसउच्चाणं मुणेयव्वो ॥४२६॥
ताउ कमा णरकम्मणतेअसउरलसुरविउव्वमिच्छाणं ।
एत्तो उड्ढं णेयो अणाणदुगव्व अप्पबहू ॥४२७॥

(प्रे०) 'किण्हाए' इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोश्च परस्परं तुल्यः; ततो मनुष्यगतिकार्मणशरीरनाम-तैजसशरीरनामौ-दारिकशरीरनाम-देवगति-वैक्रियशरीरनाम-मिथ्यात्वानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, अत्रौदारिकशरीरस्य बन्धकेभ्यो देवगतेर्बन्धकानामनन्तगुणहीनविशुद्धत्वाद्रसोऽप्यनन्तगुणहीनो बोध्यः । 'एत्तो उड्ढ' ति इत ऊर्ध्वमज्ञानद्विकवद् ज्ञेयम् , मिथ्यात्वमोहनीयत आरभ्य तिर्यगायुर्यावत् सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वमज्ञानद्विकमार्गणावद् भवतीति भावः, तच्चैवम्—मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसतः केवलद्विकावरणाऽसातवेदनीयवीर्यान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तेषां परस्परञ्च तुल्यः, ततः प्रथमलोभस्य-अनन्तानुबन्धिलोभस्यानन्त-

गुणहीनः, ततोऽनन्तानुबन्धिमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, ततः संज्वलनलोभस्यानन्तगुणहीनः, ततः संज्वलनमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्यानन्तगुणहीनः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्यानन्तगुणहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोः परस्परश्च तुल्यः, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः, ततः श्रुतज्ञानावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणभोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तेषां परस्परश्च तुल्यः, ततोऽवधिज्ञानदर्शनावरणलाभान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः परस्पर तुल्यश्च, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्त्यानर्द्धिदानान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तेषां परस्परश्च तुल्यः। ततो नपुंसकवेदारतिशोकभयजुगुप्सा निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-निद्रा-प्रचलानां यथोत्तरनन्तगुणहीनः, ततोऽयशःकीर्तिनीचैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोः परस्पर च तुल्यः, ततो नरकगति-तिर्यग्गति-स्त्रीवेद-पुरुषवेद रति-हास्य-नरकायुष्क-देवायुष्क-मनुष्यायुष्क-तिर्यगायुषां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः ॥४२६-४२७॥

अथ नीलकापोतलेश्यामार्गणयोः प्रस्तुतं विभणिषुर्बहुतत्समानवक्तव्यत्वात् कृष्णलेश्यामार्गणावदतिदिशति—

किण्हव्वऽप्पाबहुगं सव्वेसिं होइ णीलकाऊसु ।
णवरं वच्चासेणं णिरयतिरिगईण वत्तव्वो ॥४२८॥

(प्रे०) 'किण्हव्वे' त्यादि, नीलकापोतलेश्यामार्गणयोः प्रत्येकं 'सव्वेसिं' ति प्रस्तुताल्पबहुत्वविषयभूतानामिह बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याल्पबहुत्वमनन्तरोक्तकृष्णलेश्यामार्गणावद् भवति। 'णवरं' ति, अत्रायं विशेषः-'वच्चासेणं णिरयतिरिगईण' त्ति नरकतिर्यग्गतिनाम्नोर्व्यत्यासेन वक्तव्यम्, किमुक्तं भवति? कृष्णलेश्यामार्गणायां नरकगतिनाम्न उत्कृष्टरसोऽधिकः, ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणहीनः, द्वयोः प्रकृत्योरुत्कृष्टरसस्तीव्रसंक्लेशेन बध्यते, तथापि प्रकृतिविशेषात्तिर्यग्गतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः। इह तु तीव्रसंक्लेशेन तिर्यग्गतेरुत्कृष्टरसो बध्यते ततस्तिर्यग्गतेरधिकस्ततो नरकगतेरनन्तगुणहीनः, मध्यमसंक्लेशेन बध्यमानत्वात्, कुतः? नरकगतिनाम मनुष्यतिर्यग्भिर्बध्यते, तेषां लेश्यायाः परावर्तमानत्वेन सर्वसंक्लिष्टानां कृष्णलेश्योद्गमेन च प्रस्तुतमार्गणयोरपगम इति कृत्वा। मध्यमसंक्लिष्टाश्च ते उत्कृष्टसंक्लेशजन्यतिर्यग्गत्युत्कृष्टरसतो नरकगतेरुत्कृष्टरसमनन्तगुणहीनमेव बद्धुमर्हन्ति ॥४२८॥अथ त्रिप्रशस्तलेश्यामार्गणासु प्रस्तुतं प्रचिकटयिषुर्बहुतत्समानवक्तव्यत्वात् सविशेषमोघवदतिदिशन्नाह—

ओघव्वऽत्थि णिरयगइआउगवज्जाण तेउपम्हासु ।
ओघव्व णिरयतिरिगइआउवज्जाण सुक्काए ॥४२९॥

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि, सुगमम्, नवरं प्रस्तुतलेश्ययोः प्रशस्तत्वेन नरकगतिनाम-नरकायुषोरिह बन्धाऽनर्हत्वात् तयोर्वर्जनं द्रष्टव्यम् । अत्रैवमल्पबहुत्वं वक्तव्यं भवति-अयशःकीर्ति-नीचैर्गोत्रयोरुत्कृष्टरसतस्तिर्यग्गतिनाम्न उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । तथा देवायुष उत्कृष्टरसतो मनुष्यायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, शेषं सर्वमविशेषेणौघवज्ज्ञातव्यम् । ओघे मूलोक्त चतुः-षष्टिप्रकृतिविषयकमल्पबहुत्वं प्रस्तुतमार्गणयोस्तु तद् द्वाषष्टिप्रकृतिविषयकमिति । 'सुक्काए' इत्यादि सुगमम् । नवरं नरकगतितिर्यग्गतिनरकायुष्कतिर्यगायुषामिह बन्धानर्हत्वात् तद्वर्जाना प्रस्तुतमल्पबहुत्वं ज्ञेयम् । तच्चैवम्-अयशःकीर्तिनीचैर्गोत्रयोरुत्कृष्टरसतः स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसोऽन-न्तगुणहीनः । तथा देवायुष उत्कृष्टरसतो मनुष्यायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः । इति द्वयो-रेवायुषोरल्पबहुत्वं वाच्यम्, शेषायुर्द्वयस्य बन्धाभावात् । शेष सर्वमविशेषेणौघवदेव भवति । मूले ओघप्ररूपणायां चतुःषष्टिप्रकृतिविषयकं प्रस्तुतमल्पबहुत्व प्ररूपितमिह तु तत् षष्टिप्रकृतिविषयकं भवति, इत्यपि बोध्यम् ॥४२९॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् उपशमसम्यक्त्वमिश्रमार्गणयोः प्रस्तुतमल्पबहुत्वमवधिज्ञान-मार्गणावत् सापवादमतिदिशति—

होइ अवहिव्वुवसमे अप्पबहू सुरणराउवज्जाणं ।
मीसे ओहिव्व भवे आहारगआउवज्जाणं ॥४३०॥

(प्रे०) 'होइ' इत्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमवधिज्ञानमार्गणावद् भवति, नवरमुपशमसम्यग्दृष्टेरायुर्बन्धाभावात् अवधिज्ञानमार्गणायामुक्ताभ्यः प्रकृतिभ्यो देवा-युष्कमनुष्यायुष्करूपे द्वे प्रकृती वर्जयित्वा शेषाणां तत्रोक्तानां प्रकृतीनामल्पबहुत्वमत्र वाच्यम् । तच्चैवम् सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुण-हीनः, तयोश्च परस्परं तुल्यः । ततो देवगतिनामकार्मणशरीरनामतैजसशरीरनामा-ऽऽहारक-शरीरनाम-वैक्रियशरीरनाम-मनुष्यगतिनामौ-दारिकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । इह पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनां चतुर्विंशतेः प्रशस्तप्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वं मूलेऽनुक्तमपि उच्चै-र्गोत्रमनुष्यगतिनाम्नोरन्तराले यथास्थानं वाच्यम्, युक्तेः सद्भावात् । सा च प्रागेव दर्शिता । चतुर्विंशतिः प्रकृतयस्त्वोघप्ररूपणाविवरणतो ज्ञेयाः । औदारिकशरीरनाम्न उत्कृष्टरसतः केवल-द्विकावरणाऽसातवेदनीयवीर्यान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः तेषाञ्च परस्परं तुल्यः । ततः

संज्वलनलोभस्यानन्तगुणहीनस्ततः संज्वलनमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्यानन्तगुणहीनः ततः प्रत्याख्यानावरणमाया-क्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्यानन्तगुणहीनः ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाक्रोध-मानानां यथोत्तरं विशेषहीनः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोरनन्तगुणहीनः, तयोः परस्परं च तुल्यः । ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणहीनः, ततः श्रुतज्ञानावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणभोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः तेषां च परस्परं तुल्यः ततोऽवधिद्विकावरणलाभान्तरायरूपाणां त्रयाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः तेषां परस्परं च तुल्यः । ततो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, तयोः परस्परं तुल्यः, ततः पुरुषवेदस्यानन्तगुणहीनः, ततः शोका-रति-भय-जुगुप्सा-निद्रा-प्रचलाऽयशःकीर्तिनाम-रति-हास्यानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः ।

अथ मिश्रदृष्टिमार्गणायामवधिमार्गणावदतिदिशति- 'ओहिव्व' इत्यादि सुगमम् , अत्रायुषोर्वर्जनम् पूर्ववत् । आहारकशरीरनाम्नो बन्धस्याप्रमत्तमुनिस्वामिकत्वात् तस्यापि अल्पबहुत्वमिह नैव भवितुमर्हति । ततश्चानन्तरोक्तोपशममार्गणादर्शिताल्पबहुत्वतोऽत्रायं विशेषः—तैजसशरीरनामोत्कृष्टरसतो वैक्रियशरीरनाम्न उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, शेषन्तु सर्वमविशेषेणानन्तरोक्तवद् भवति । उपशममार्गणायान्त्वाहारकशरीरनाम्नो बन्धसद्भावात् तैजसशरीरनाम्न उत्कृष्टरसत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीनः, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणहीन इति । मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायामिदमवधेयम्—देवगतिमनुष्यगतिकार्मणतैजसवैक्रियौदारिकशरीरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसः समानविशुद्ध्या बध्यते अतोऽत्रौघवदल्पबहुत्वतः कश्चिद् विशेषोऽस्ति सोऽत्र प्रदर्श्यते, तद्यथा-देवगतेरुत्कृष्टरसतो मनुष्यगतेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः ततः क्रमेण कार्मणतैजसवैक्रियौदारिकशरीरप्रकृतीनां रसोऽनन्तगुणहीनः प्रकृतिविशेषाद्विज्ञेय इति ।।४३०।।

अथ सास्वादनमार्गणायां प्रस्तुतं निरूपयिषुर्बहुतत्समानवक्तव्यत्वात् सापवादमोघवदतिदिशन्नाह—

मिच्छणपुंसाहारगणारगगइआउवज्जपयडीणं ।
ओघव्व सासणे परमित्थीअ भवे णपुमठाणे ।।४३१।।

(प्रे०) 'मिच्छ०' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धस्य परस्थानाल्पबहुत्वमोघवद् भवति । किमविशेषेणौघवद् भवति ? नेत्याह-'मिच्छे' त्यादि, मिथ्यात्वनपुंसकवेदाऽऽहारकशरीरनरकगतिनरकायूंषि वर्जयित्वा ओघोक्तानां शेषप्रकृतीनामेवात्र प्रस्तुतमल्पबहुत्वं वाच्यम् , कुतः ? मिथ्यात्वादिप्रकृतिपञ्चकस्येह बन्धानर्हत्वात् । अथान्यमपि विशेषं दर्शयति- 'पर' मित्यादि, ओघोक्तप्रकृत्यन्तर्गतं मिथ्यात्वादिप्रकृतिपञ्चकं वर्जयित्वा शेषप्रकृतीनामु-

त्कृष्टरसस्याल्पबहुत्वमिह वक्तव्यं भवति, तत्रापि नपुंसकवेदस्य स्थाने स्त्रीवेदस्येति भणितव्यम्, ततश्चात्रैव स्यात्-औदारिकशरीरनाम्न उत्कृष्टरसतः केवलद्विकावरणामातवेदनीयान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः । तथा मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानिद्रादानान्तरायाणामुत्कृष्टरसतः स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, ततोऽरति-शोक-भय-जुगुप्सा निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-निद्रा-प्रचलानां यथोत्तरमनन्तगुणहीनः, ततोऽयशःकीर्तिनामनीचैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः तयोश्च तुल्यः । ततस्तिर्यग्गतेस्ततः पुरुषवेदस्य यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । शेषं सर्वमविशेषेणौघवदिति ॥४३१॥

अथासंज्ञिमार्गणायां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमाह—

सव्वहियो तिव्वरसो मिच्छत्तस्स हवए असण्णिम्मि ।
ताउ अणंतगुणूणो सायस्स तओ जसुच्चाणं ॥४३२॥
तत्तो कमेण सुरगइकम्मणतेअविउव्वाण तेण परं ।
निरियव्व तिरिगइं जा ताउ कमाऽणंतगुणहीणो ॥४३३॥
रइहस्सथीपुमणिरयतिरियणरसुराउगाण बिंति परे ।
णिरयाउगा कमा सुरणरतिरियाऊणऽणंतगुणहीणो ॥४३४॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'सव्वहियो' इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकः । ततः सातवेदनीयस्य, ततो यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रयोः, ततो देवगतेः, ततः कार्मणशरीरस्य, ततस्तैजसशरीरस्य, ततो वैक्रियशरीरस्य उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः क्रमेण ज्ञातव्यः । सातवेदनीयस्योत्कृष्टरसतो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टरसस्यानन्तगुणत्वे हेतुरपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावत् ज्ञातव्यः । वैक्रियशरीरत ऊर्ध्वमल्पबहुत्वं 'तेण परं' इत्यादिनाऽतिदेशेन तिर्यग्गतेरुत्कृष्टरसं यावत्तिर्यग्गत्योघवद् दर्शितम् । तत्तु तत्रतो ज्ञातव्यम् । तिर्यग्गतिनामोत्कृष्टरसतो रतिहास्यस्त्रीवेदपुरुषवेदनरकायुस्तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टरसः क्रमेणानन्तगुणहीनो द्रष्टव्यः, अत्रापि स्त्रीपुरुषवेदतो रतिहास्ययो रसोऽनन्तगुणः, अधिकसंक्लेशेन बध्यमानत्वात्, कुतः ? इति चेदुच्यते-अत्र स्त्रीपुरुषवेदयोत्कृष्टरसः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यसंक्लेशेन बध्यते, हास्यरत्योः पुनः सोऽपर्याप्तसूक्ष्मप्रायोग्यसंक्लेन बध्यते, अतो हास्यरत्योरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुण इति । अत्रायुर्विषयकाल्पबहुत्वे 'बिंति परे' इत्यादिना मतान्तरं दर्शयति 'परे' इति महाबन्धकारा नरकायुरुत्कृष्टरसतः क्रमेण देवमनुष्यतिर्यगायुषां रसोऽनन्तगुणहीन इति ब्रुवन्ति देवमनुष्यायुषोरुत्कृष्टरसस्यानन्तगुणहीनत्वे पूर्वपूर्वतः स्थितेर्ह्रस्वत्वमेव हेतुतया बोध्यम् तिर्यगायुषो रसस्यानन्तगुणहीनत्वे प्रकृतिविशेष एव हेततया बोध्य इति ॥४३२-४३४॥

अथ जघन्यरसबन्धस्य परस्थानाल्पबहुत्वं चिचिन्तयिषुरादौ तावदोघतस्तच्चिन्तयति--

सव्वऽप्पो मंदरसो अंतिमलोहस्स तो अणंतगुणो ।
कमसो अतिममायामयकोहाणं मुणेयव्वो ॥४३५॥
ताउ भवे पयडीणं मणपज्जव-दाण-अंतरायाणं ।
ताहिन्तो विणेयो ओहिजुगललाहविग्घाणं ॥४३६॥
तासुन्तो बोद्धव्वो सुअअणयणभोगअतरायाणं ।
ताओ चक्खुस्स तओ मइउवभोगंतरायाणं ॥४३७॥
ताउ कमा वीरियपुरिसहस्सरइजुगुच्छभीइसोगाणं ।
ताउ कमाऽरइथीणपुमाण तओ केवलदुगस्स ॥४३८॥

(प्रे०) 'सव्वऽप्पो' इत्यादि, अन्तिमलोभस्य-संज्वलनलोभस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, क्षपकश्रेणौ नवमगुणस्थानकस्य चरमसमये बध्यमानत्वात् तज्जघन्यरसस्य किट्टिरूपत्वाच्च । ततोऽन्तिममायामदक्रोधानाम् संज्वलनमाया-मान क्रोधानां क्रमशो यथोत्तरमित्यर्थः; अनन्तगुणः, तज्जघन्यरसस्य किट्टिरूपत्वेऽपि तस्य नवमगुणस्थानके बध्यमानत्वेऽपि च तद्बन्धस्य संज्वलनलोभादर्वाग् व्यवच्छेद्यमानत्वात् तद्बन्धकस्याल्पविशुद्धत्वात् , तेषां रसस्य यथोत्तरमनन्तगुणत्वाच्च पूर्वपूर्वस्मादुत्तरोत्तरस्य बन्धकानामनन्तगुणहीनविशुद्धत्वात् इति भावः । ततः संज्वलनक्रोधस्य जघन्यरसत इत्यर्थः, मनःपर्यवज्ञानदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, क्षपकश्रेणौ सूक्ष्मसंपरायचरमसमये भावेऽपि बन्धमाश्रित्य तद्रसस्य स्पर्धकरूपत्वात्, तयोः परस्परं च तुल्यः । ततोऽवधिद्विकावरणलाभान्तरायरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकमनन्तगुणः, क्षपकश्रेणौ तज्जघन्यरसस्य मनःपर्यवज्ञानावरणादिवद् दशमगुणस्थानकचरमसमये बध्यमानत्वेऽपि तस्य बन्धमाश्रित्य क्षपकश्रेणौ मनःपर्यवज्ञानावरणादीनां स्पर्धकानां देशघातिभवनानन्तरं तत्स्पर्धकानामन्तर्मुहूर्तात् परतो देशघातिभवनात् ।

ततः श्रुतज्ञानावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणभोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः, अनन्तरोक्तादेव हेतोः । किमुक्तं भवति ? क्षपकश्रेणौ अवधिद्विकावरणादीनां रसस्य स्पर्धकानां बन्धमाश्रित्य देशघातिभवनानन्तरं श्रुतज्ञानावरणादीनां रसस्पर्धकान्यन्तर्मुहूर्तात् परतो देशघातीनि भवन्तीति । तेषां परस्परं च तुल्यः । ततः श्रुतज्ञानावरणादीनां जघन्यरसत इत्यर्थः चक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, ततो वीर्यान्तरायस्यानन्तगुणः, अत्र हेतुः प्राग्वद् भावनीयः । ततो वीर्यान्तरायस्य जघन्यरसतः

पुरुषवेदस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, नवमगुणस्थानके बध्यमानत्वेन तद्बन्धकस्याल्पविशुद्धत्वात्। ततो हास्यस्यानन्तगुणः, तज्जघन्यरसस्याऽष्टमगुणस्थानके बध्यमानत्वात्। ततो रतिजुगुप्साभयानां यथोत्तरमनन्तगुणः, हास्यस्य जघन्यरसबन्धेन सममेव रत्यादीनां जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनेऽपि प्रकृतिविशेषात्। ततः शोकस्यानन्तगुणः, तज्जघन्यरसस्य षष्ठगुणस्थानके बध्यमानत्वेन तद्बन्धकस्याल्पविशुद्धत्वात् ततोऽरतेरनन्तगुणः, तज्जघन्यरसस्य शोकस्य जघन्यरसबन्धेन साकं बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात्। ततः 'थी' त्ति स्त्रीवेदस्यानन्तगुणः, प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् तज्जघन्यरसस्येति सर्वत्र ज्ञेयम्। ततो नपुंसकवेदस्यानन्तगुणः, तज्जघन्यरसस्य प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वेऽपि तज्जघन्यरसबन्धकानां स्त्रीवेदजघन्यरसबन्धकापेक्षयाऽल्पविशुद्धत्वात्। अत्रेदमपि बोध्यम् जघन्यरसाल्पबहुत्वस्य प्रस्तुतत्वेऽपि स्त्रीवेदनपुंसकवेदजघन्यरसबन्धकानां प्रथमगुणस्थानवर्तिनामसुमतां तत्प्रायोग्यस्वस्थानविशुद्धत्वं ज्ञेयम्, न तु सम्यक्त्वाद्यभिमुखत्वम्, सम्यक्त्वाद्यभिमुखत्वे सति पुरुषवेदबन्धस्यैव प्रवर्तनात्। ततो नपुंसकवेदस्य जघन्यरसत इत्यर्थः, केवलद्विकावरणस्यानन्तगुणः, तज्जघन्यरसस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानचरमसमये बध्यमानत्वेऽपि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणप्रकृत्योः सर्वघातित्वात् ॥४३५-४३८॥

तत्तो कमाऽत्थि पयलाणिद्दाणं ताउ तइअमाणस्स ।
तो तइअकोह माया-लोहाण कमा विसेसहिओ ॥४३९॥

तइअकसायव्व तओ दुइअकसायाण होइ ताहितो ।
कमसो पयलापयलाणिद्दाणिद्दाणऽणंतगुणो ॥४४०॥

तो थीणद्धीअ तओ पढमकसायाण होइ पुव्वव्व ।
ताउ कमाऽणंतगुणो मिच्छुरलविउव्वतिरिणराऊणं ॥४४१॥(गीतिः)

(प्रे०) 'तत्तो' इत्यादि, ततः केवलद्विकावरणस्य जघन्यरसतः प्रचलाया जघन्यरसोऽनन्तगुणः, प्रस्तुतप्रकृतेः सर्वघातित्वे सति तज्जघन्यरसस्य निवृत्तिबादरगुणस्थानके बध्यमानत्वात्। ततो निद्राया अनन्तगुणः, प्रचलाया जघन्यरसबन्धस्य साकमेव तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनेऽपि प्रकृतिविशेषात्। ततस्तृतीयमानस्य प्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः तज्जघन्यरसस्य पञ्चमगुणस्थानके बध्यमानत्वात्। ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तर विशेषाधिकः, प्रत्याख्यानावरणमानसत्कजघन्यरसबन्धस्य सममेव क्रोधादीनां जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनेऽपि प्रकृतिविशेषात्। 'तइअकसायव्व' इत्यादि, यथाऽनन्तरं प्रत्याख्या-

नावरणानां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वमुक्तं तथैव द्वितीयकषायाणामप्रत्याख्यानावरणाख्यानां भवति, तच्चैवम्-प्रत्याख्यानावरणलोभस्य जघन्यरसतोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, चतुर्थगुणस्थानके बध्यमानत्वेन तद्बन्धकस्याऽनन्तगुणसंक्लिष्टत्वात् ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, अप्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसबन्धस्य समकमेव क्रोधादीनां जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनेऽपि प्रकृतिविशेषात्। 'कमसो पयलापयला' इत्यादि, ततः प्रचलाप्रचलाया अनन्तगुणः, तज्जघन्यरसस्य प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । ततो निद्रानिद्राया अनन्तगुणः, प्रचलाप्रचलानिद्रानिद्रयोर्जघन्यरसस्य युगपत् प्रवर्तमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः स्त्यानर्द्धेरनन्तगुणः, अनन्तरोक्तादेव हेतोः । ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्याऽनन्तगुणः, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोध-माया लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात् । ततो मिथ्यात्वस्यानन्तगुणः, प्रकृतिविशेषात् । तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, तीव्रसंक्लेशेन बध्यमानत्वेऽपि प्रशस्तत्वात् । ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, नरकप्रायोग्यबन्धकेन तीव्रसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वेऽपि प्रशस्ततरत्वात् । ततः 'तिरि' त्ति तिर्यगायुषोऽनन्तगुणः, प्रशस्तत्वे सति तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वात् । ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणः, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वेऽपि प्रशस्तत्वात् ॥४३९-४४१॥

ताओ कमाऽत्थि तेअसकम्मणतिरिणिरयणरसुरगईणं ।
ताउ कमा णीअअजसअसायपयडीण बोद्धव्वो ॥४४२॥
तत्तो जसउच्चाणं ताओ सायस्स होइ ताउ कमा ।
णिरयसुराऊण हवइ तत्तो आहारगस्स भवे ॥४४३॥

(प्रे०) 'ताओ' इत्यादि, ततो मनुष्यायुषो जघन्यरसतस्तैजसशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽनन्तगुणः, तीव्रसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः कार्मणशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, तैजसकार्मणशरीरनाम्नोर्जघन्यरसस्य युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततस्तिर्यग्गतेरनन्तगुणः, अप्रशस्तत्वेऽपि तज्जघन्यरसस्य सुविशुद्धेन सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । किमुक्तं भवति ? सामान्यतः प्रशस्तप्रकृतेर्जघन्यरसापेक्षयाऽप्रशस्तप्रकृते रसः स्तोको भवति, सोऽपि यदा सर्वविशुद्धेन बन्धकेन बध्यते तदा तु सुतरां स्तोको भवितुमर्हति, प्रस्तुते च तिर्यग्गतिनामाऽप्रशस्ता प्रकृतिः; तज्जघन्यरसबन्धकश्च सुविशुद्धः, तथापि कार्मणशरीरनाम्नो जघन्यरसतो योऽत्रानन्तगुणोऽभिहितः अत्रार्थे प्रकृतिविशेषस्तथास्वाभाव्यमेव हेतुः । ततः तिर्यग्गतेर्जघन्यरसतो नरकगतेरनन्तगुणः, अप्रशस्तत्वे सति तज्जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणः, प्रशस्त-

स्वात् । ततः किम् ? अप्रशस्तप्रकृते रसतः प्रशस्तप्रकृते रसोऽधिक इति सामान्यनियमस्य सद्भावादिति । ततो देवगतेरनन्तगुणः, तस्याः प्रशस्ततरत्वात् । ततो नीचैर्गोत्रस्यानन्तगुणः, तस्याऽप्रशस्तत्वेऽपि तज्जघन्यरसस्य सुविशुद्धेन सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततोऽयशःकीर्त्तेरनन्तगुणः, तस्या अप्रशस्तत्वे सति तज्जघन्यरसस्य परावर्तमानभावेन प्रथमादिषष्ठान्तगुणस्थाने बध्यमानत्वात् भावना तु तिर्यग्गतितो नरकगतिवत् कार्या । ततोऽयशःकीर्तिनाम्नो जघन्यरसतोऽसातवेदनीयस्यानन्तगुणः, अयशःकीर्त्यसातवेदनीययोर्जघन्यरसस्य तुल्यस्वामित्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोरनन्तगुणः तयोः प्रशस्तत्वात् , तयोः परस्परं तुल्यश्च, प्रकृतिविशेषात् । ततः सातवेदनीयस्याऽनन्तगुणः, प्रकृतिविशेषात् । ततो नरकायुषोऽनन्तगुणः, अप्रशस्तत्वात् । ततो देवायुषोऽनन्तगुणः, प्रथमगुणस्थानके बध्यमानत्वेऽपि प्रशस्तत्वात् । तत आहारकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, प्रशस्तत्वे सति सप्तमगुणस्थानके बध्यमानत्वात् । इत्योघतश्चतुःषष्टिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य परस्थानाल्पबहुत्वम् ॥४४२-४४३॥

अथ मार्गणासु जघन्यरसबन्धस्य परस्थानाल्पबहुत्वं दिदर्शयिषुरादौ तावद् यासु मार्गणासु तदविशेषेणौघवद् भवति तासु तथैवाह--

ओघव्व दुपंचिंदियतसपणमणवयणकायजोगेसुं ।
लोहणयणेयरेसुं भविये सणिम्मि आहारे ॥४४४॥

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि, 'दुपणिंदिय' त्ति पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ--पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग पञ्चवचोयोग-काययोगौघलक्षणासु पञ्चदशसु मार्गणासु लोभ-कषाय-चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणासु भव्यमार्गणायां संज्ञिमार्गणायामाहारिमार्गणायाञ्चेति सर्वसंख्ययैकविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं प्रस्तुताल्पबहुत्वविषयभूतानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य परस्थानाल्पबहुत्वमोघवद् भवति, कुतः ? जघन्यरसबन्धस्वामिनामविसदृशत्वात् , ओघे यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः क्षपकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः सम्यक्त्वाद्यभिमुखो वा तासां निरुक्तमार्गणास्वपि स एवेति कृत्वेति भावः ॥४४४॥

अथ नरकौघमार्गणायां तत्तुल्यवक्तव्यत्वाद् वैक्रियतन्मिश्रयोगमार्गणयोश्च प्रस्तुतमाह--

हस्सस्स जहण्णरसा णिरयम्मि विउवदुगे अणंतगुणो ।
रइकुच्छभयपुमचरममाणाण कमा मुणेयव्वो ॥४४५॥

तो चरमकोहमायालोहाण भवे कमा विसेसहियो ।
ताउ कमाऽणंतगुणो सोगारइथीणपुंसाणं ॥४४६॥
तो पयलाणिद्दाणं कमा तओऽत्थि मणणाणदाणाणं ।
ताहितो विणेयो ओहिजुगललाभविग्घाणं ॥४४७॥

(प्रे०) 'हस्सरसे' त्यादि, 'णिरयम्मि' त्ति नरकौघमार्गणायां वैक्रियतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोश्च हास्यस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, देशघातित्वे सति सर्वविशुद्धेन सम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वात् । ततो रति-जुगुप्सा-भय-पुरुषवेद-संज्वलनमानानां यथोत्तरमनन्तगुणः, हास्यस्य जघन्यरसबन्धकेनैव तज्जघन्यरसस्य बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः संज्वलनमानस्य जघन्यरसतः 'चरम' त्ति संज्वलनक्रोध-माया-लोभानां जघन्यरसो यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात् । ततः शोकस्यानन्तगुणः, तत्प्रायोग्यविशुद्धेन सम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वात् । ततोऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदानां यथोत्तरमनन्तगुणः, तत्रारतेर्जघन्यरसबन्धस्य शोकजघन्यरसबन्धेन सममेव प्रवर्तनेऽपि प्रकृतिविशेषात् । स्त्रीवेदजघन्यरसस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धेन मिथ्यादृष्टिना बध्यमानत्वात् । नपुंसकवेदजघन्यरसस्य स्त्रीवेदजघन्यरसबन्धकापेक्षयाऽल्पविशुद्धेन मिथ्यादृष्टिना बध्यमानत्वात् । ततः प्रचलाया जघन्यरसोऽनन्तगुणः, मार्गणाप्रायोग्यसुविशुद्धेन सम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वेऽपि सर्वघातित्वात् । ततो निद्राया अनन्तगुणः, प्रचलानिद्रयोर्जघन्यरसस्य युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, देशघातित्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् तद्रसस्य तु बन्धमाश्रित्य सर्वघातित्वाच्च । ततोऽवधिद्विकावरणलाभान्तरायरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ओघोक्तक्रमात् प्रकृतिविशेषादिति भावः ॥४४५-४४७॥

अथ तत्रैवोक्तशेषमाह-

तासुन्तो बोद्धव्वो सुयअणायणभोगअंतरायाणं ।
ताओ चक्खुस्स तओ मइउवभोगंतरायाणं ॥४४८॥
तो संजलणव्व दुइअतइअकसायाण होइ जहक्कमसो ।
ताओ अणंतगुणिओ णेयो विरियंतरायस्स ॥४४९॥
तत्तो हवए केवलदुगस्स तो होइ पयलपयलाए ।
तो णिद्दाणिद्दाए ताउ भवे थीणगिद्धीए ॥४५०॥

तो संजलणव्व कमा पढमकसायाण ताउ विग्घोथो ।
कमसो अणंतगुणिओ मिच्छउरलतेअकम्माणं ॥४५१॥

ताउ कमाऽत्थि तिरिणरगइ-णीअ-अजस-असायपयडीणं ।
ताउ जसुच्चाण तओ सायतिरिक्खमणुयाऊणं ॥४५२॥

(प्रे०) 'तासुन्नो' इत्यादि, अवधिद्विकावरणलाभान्तरायाणां जघन्यरसतः श्रुतज्ञानावरणाचक्षुर्दर्शनावरणभोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः । ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्पर च तुल्यः, मनःपर्यवज्ञानावरणत आरभ्योपभोगान्तरायं यावत् अनन्तगुणहीनाधिक्येऽयमेव क्रमः हेतुश्चात्र प्रकृतिविशेप एव, यतो यद्यपि मनःपर्यवज्ञानावरणाद्युपभोगान्तरायपर्यवसानानां प्रत्येकं जघन्यरसः सुविशुद्धेन सम्यग्दृष्टिना बध्यते, तथापि परस्पर यद् रसस्यानन्तगुणहीनाधिक्यम्, तत्र प्रकृतेर्विशेषं विहाय न कमप्यन्य हेतु लभामहे ।

'तो संजलणव्व' त्ति, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोर्जघन्यरसतो द्वितीयतृतीयकषायाणां यथाक्रमं संज्वलनवद् भवति. तद्यथा-मतिज्ञानावरणस्य जघन्यरसतोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, सर्वघातित्वात् प्रकृतिविशेपाद् वा । ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, चतुर्णामपि अप्रत्याख्यानावरणानां जघन्यरसस्य युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणः, तथास्वाभाव्यात्, किमुक्तं भवति ? यत्राप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणानां जघन्यरसो युगपद् न बध्यते तत्र प्रत्याख्यानावरणस्य जघन्यरसतोऽप्रत्याख्यानावरणस्यानन्तगुण आयाति, यथा तिर्यग्गत्योघादौ, तिर्यग्गतौ हि अप्रत्याख्यानावरणस्य जघन्यरसश्चतुर्थगुणस्थानके, प्रत्याख्यानावरणस्य पुनः पञ्चमगुणस्थानके बध्यते, ततः प्रत्याख्यानावरणजघन्यरसतोऽप्रत्याख्यानावरणस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणो बध्यते, तद्बन्धकस्यानन्तगुणाल्पविशुद्धत्वात् । इह तु प्रत्याख्यानावरणानामप्रत्याख्यानावरणानां च जघन्यरसो युगपच्चतुर्थगुणस्थानके बध्यते, ततोऽप्रत्याख्यानावरणजघन्यरसतः प्रत्याख्यानावरणस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणो बध्यते, तथास्वाभाव्यात् । ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसतः प्रत्याख्यानावरणक्रोधमायालोभानां जघन्यरसो विशेषाधिको यथाक्रमम्, युगपद् बध्यत इति कृत्वा । ततः प्रत्याख्यानावरणलोभजघन्यरसतो वीर्यान्तरायस्यानन्तगुणः, देशघातित्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः केवलद्विकावरणस्यानन्तगुणः, सर्वघातित्वात् प्रकृतिविशेषाद् वा । अत्रेदं बोध्यम्-यद्यपि मूलप्रकृतिरसबन्ध-

तो चरमकोहमायालोहाण भवे कमा विसेसहियो ।
ताउ कमाऽणंतगुणो सोगारइथीणपुंसाणं ॥४४६॥
तो पयलाणिद्दाणं कमा तओऽत्थि मणणाणदाणाणं ।
ताहितो विण्णेयो ओहिजुगललाभविग्घाणं ॥४४७॥

(प्रे०) 'हस्सस्से' त्यादि, 'णिरयम्मि' त्ति नरकौघमार्गणायां वैक्रियतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोश्च हास्यस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, देशघातित्वे सति सर्वविशुद्धेन सम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वात् । ततो रति-जुगुप्सा-भय-पुरुषवेद-सञ्ज्वलनमानानां यथोत्तरमनन्तगुणः, हास्यस्य जघन्यरसबन्धकेनैव तज्जघन्यरसस्य बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः सञ्ज्वलनमानस्य जघन्यरसतः 'चरम' त्ति संज्वलनक्रोध-माया-लोभानां जघन्यरसो यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषात् । ततः शोकस्यानन्तगुणः, तत्प्रायोग्यविशुद्धेन सम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वात् । ततोऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदानां यथोत्तरमनन्तगुणः, तत्रारतेर्जघन्यरसबन्धस्य शोकजघन्यरसबन्धेन सममेव प्रवर्तनेऽपि प्रकृतिविशेषात् । स्त्रीवेदजघन्यरसस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धेन मिथ्यादृष्टिना बध्यमानत्वात् । नपुंसकवेदजघन्यरसस्य स्त्रीवेदजघन्यरसबन्धकापेक्षयाऽल्पविशुद्धेन मिथ्यादृष्टिना बध्यमानत्वात् । ततः प्रचलाया जघन्यरसोऽनन्तगुणः, मार्गणाप्रायोग्यसुविशुद्धेन सम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वेऽपि सर्वघातित्वात् । ततो निद्राया अनन्तगुणः, प्रचलानिद्रयोर्जघन्यरसस्य युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, देशघातित्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् तद्रसस्य तु बन्धमाश्रित्य सर्वघातित्वाच्च । ततोऽवधिद्विकावरणलाभान्तरायरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ओघोक्तक्रमात् प्रकृतिविशेषादिति भावः ॥४४५–४४७॥

अथ तत्रैवोक्तशेषमाह–

तासुन्तो बोद्धव्वो सुयअणायणभोगअंतरायाणं ।
ताओ चक्खुस्स तओ मइउवभोगंतरायाणं ॥४४८॥
तो संजलणव्व दुइअतइअकसायाण होइ जहकमसो ।
ताओ अणंतगुणिओ णेयो विरियंतरायस्स ॥४४९॥
तत्तो हवए केवलदुगस्स तो होइ पयलपयलाए ।
तो णिद्दाणिद्दाए ताउ भवे थीणगिद्धीए ॥४५०॥

तो संजलणव्व कमा पढमकसायाण ताउ विगणेयो ।
कमसो अणंतगुणिओ मिच्छउरलतेअकम्माणं ॥४५१॥

ताउ कमाऽत्थि तिरिणरगइ-णीअ-अजस-असायपयडीणं ।
ताउ जसुच्चाण तओ सायतिरिक्खमणुआऊणं ॥४५२॥

(प्रे०) 'तासुन्नो' इत्यादि, अवधिद्विकावरणलाभान्तरायाणां जघन्यरसतः श्रुतज्ञानावरणाचक्षुर्दर्शनावरणभोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः । ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं च तुल्यः, मनःपर्यवज्ञानावरणत आरभ्योपभोगान्तरायं यावत् अनन्तगुणहीनाधिक्येऽयमेव क्रमः हेतुश्चात्र प्रकृतिविशेष एव, यतो यद्यपि मनःपर्यवज्ञानावरणाद्युपभोगान्तरायपर्यवसानानां प्रत्येकं जघन्यरसः सुविशुद्धेन सम्यग्दृष्टिना बध्यते, तथापि परस्पर यद् रसस्यानन्तगुणहीनाधिकयम्, तत्र प्रकृतेर्विशेषं विहाय न कमप्यन्य हेतुं लभामहे ।

'तो सजलणव्व' त्ति, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोर्जघन्यरसतो द्वितीयतृतीयकषायाणां यथाक्रमं संज्वलनवद् भवति, तद्यथा-मतिज्ञानावरणस्य जघन्यरसतोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, सर्वघातित्वात् प्रकृतिविशेषाद् वा । ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, चतुर्णामपि अप्रत्याख्यानावरणानां जघन्यरसस्य युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणः, तथास्वाभाव्यात्, किमुक्तं भवति ? यत्राप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणानां जघन्यरसो युगपद् न बध्यते तत्र प्रत्याख्यानावरणस्य जघन्यरसतोऽप्रत्याख्यानावरणस्यानन्तगुण आयाति, यथा तिर्यग्गत्योघादौ, तिर्यग्गतौ हि अप्रत्याख्यानावरणस्य जघन्यरसश्चतुर्थगुणस्थानके, प्रत्याख्यानावरणस्य पुनः पञ्चमगुणस्थानके बध्यते, ततः प्रत्याख्यानावरणजघन्यरसतोऽप्रत्याख्यानावरणस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणो बध्यते, तद्बन्धकस्यानन्तगुणाल्पविशुद्धत्वात् । इह तु प्रत्याख्यानावरणानामप्रत्याख्यानावरणानां च जघन्यरसो युगपच्चतुर्थगुणस्थानके बध्यते, ततोऽप्रत्याख्यानावरणजघन्यरसतः प्रत्याख्यानावरणस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणो बध्यते, तथास्वाभाव्यात् । ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसतः प्रत्याख्यानावरणक्रोधमायालोभानां जघन्यरसो विशेषाधिको यथाक्रमम्, युगपद् बध्यत इति कृत्वा । ततः प्रत्याख्यानावरणलोभजघन्यरसतो वीर्यान्तरायस्यानन्तगुणः, देशघातित्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । ततः केवलद्विकावरणस्यानन्तगुणः, सर्वघातित्वात् प्रकृतिविशेषाद् वा । अत्रेदं बोध्यम्-यद्यपि मूलप्रकृतिरसबन्ध-

प्रस्तावे श्रेणिविरहितमार्गणासु ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां जघन्यरसस्तुल्य उक्तः, अत्र तु तासु मार्गणासु अन्तरायमूलप्रकृतिवर्तिवीर्यान्तरायप्रकृतेर्जघन्यरसतः केवलज्ञानदर्शनावरणयोर्जघन्यरसोऽनन्तगुण उक्तः, इति तु मतान्तरमभिप्रायान्तरं वा विज्ञेयम् ।

ततः प्रचलाप्रचलाया अनन्तगुणः, सर्वघातित्वे सति प्रथमगुणस्थानके जघन्यरसस्य बध्यमानत्वात् । ततो निद्रानिद्राया अनन्तगुणः, ततः स्त्यानर्द्धेरनन्तगुणः । 'सजलणव्वे' त्यादि, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्यानन्तगुणः, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधमायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः । ततो मिथ्यात्वस्यानन्तगुणः । तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात् । ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, प्रशस्ततरत्वात् प्रकृतिविशेषाद् वा । ततः कार्मणशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, तैजसशरीरनामतः प्रशस्ततरत्वात् प्रकृतिविशेषाद् वा । ततस्तिर्यग्गतिनाम्नोऽनन्तगुणः, ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणः, प्रशस्ततरत्वात् , ततो नीचैर्गोत्रस्य ततोऽयशःकीर्तेस्ततोऽसातवेदनीयस्य यथोत्तरमनन्तगुणः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणः तयोः परस्परं च तुल्यः । ततः सातवेदनीयस्यानन्तगुणः ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणः ततो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणः । अत्रेदं बोध्यम्-इह प्रचलाप्रचलातः सातवेदनीयं यावत् सर्वं निरूपणमोघवदेव, नवरं बन्धानर्हप्रकृतीनां स्थानं रिक्तं द्रष्टव्यम् , तथाऽऽयुषो रसः सर्वाधिकः, इह पर्याप्तप्रायोग्यमायुर्बध्यते इति कृत्वा । ओघे क्षुल्लकभवप्रायोग्यमायुराश्रित्य तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यरसस्तैजशरीरनाम्नो जघन्यरसतोऽनन्तगुणहीन उक्तः, प्रकृते तु तयोः सातवेदनीयस्य जघन्यरसतोऽप्यनन्तगुणः, अत्यधिक इति भाव । ॥४४८-४५२॥

अथ बहुतरसमानवक्तव्यत्वात् प्रथमप्रमुखषड्नरकादिमार्गणासु प्रस्तुतं निरुरूपयिषुः सापवादं नरकौघमार्गणावदतिदिशन्नाह—

पढमाइछणिरयेसुं देवसहस्सारअंतदेवेसुं ।
णिरयव्व णवरि णेयो तुल्लरसो अजसणीआणं ॥४५३॥

(प्रे०) 'पढमाइ' इत्यादि, प्रथमादिषष्ठपर्यवसानासु षट्सु नरकमार्गणासु देवौघे भवनपत्यादिसहस्रारान्तासु एकादशसु देवमार्गणासु चेति सर्वसंख्ययाऽष्टादशमार्गणासु प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य परस्थानाल्पबहुत्वम् 'णिरयव्व' त्ति अनन्तरोक्तनरकौघमार्गणावद् ज्ञेयम् । किमविशेषेण तद्वद् भवति ? नेत्याह-'णवरि' इत्यादिना, अयशःकीर्तिनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसस्तुल्यो भवति । इदमुक्तं भवति-नरकौघमार्गणायामयशःकीर्त्तेर्जघन्यरसतो नीचैर्गोत्रस्य रसोऽनन्तगुणहीनो दर्शितः, नीचैर्गोत्रजघन्यरसस्य सर्वविशुद्धेन सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारकेण बध्यमानत्वात् । प्रस्तुतमार्गणासूभयोरपि जघन्यरसः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यते, अत

एव स तुल्यः प्राप्यते । न च नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसः प्रथमगुणस्थानके अयशःकीर्तेस्तु चतुर्थं यावद् बध्यते ततो नीचैर्गोत्रस्य रसोऽधिको भवतीति वाच्यम्, परावर्तमानपरिणामस्य जघन्यरसबन्धप्रायोग्यविशुद्धेः प्रथमचतुर्थगुणस्थाने तुल्यत्वात् । अथ प्रकृतमत्रैवं प्ररूपणीयं स्यात्-मनुष्यगतेर्जघन्यरसतो नीचैर्गोत्राऽयशःकीर्त्योः प्रत्येक जघन्यरसोऽनन्तगुणः तयोः परस्परं च तुल्यः, ततोऽसातवेदनीयस्यानन्तगुणः । शेषं सर्वमविशेषेण नरकौघमार्गणावद् भवति, तच्च तत एवावधारणीयमनन्तरमेवोक्तत्वान्नात्र प्रतन्यते । ४५३॥

अथ सप्तमनरकमार्गणायामाह--

णिरयव्व चरमणिरये मंदरसा हस्समोहणीयस्स ।
जाव जहण्णऽणुभागो तिरियगईए अणंतगुणो ॥४५४॥
ताउ कमा णीअ-अजस-असाय-जस-सायवेअणीयाणं ।
तत्तो कमसो णेयो तिरियाउणरगइउच्चाण ॥४५५॥

(प्रे०) 'णिरयव्वे' त्यादि, सप्तमनरकमार्गणायां नरकौघवत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वं भवति । किं सर्वासामिह बन्धार्हाणां प्रकृतीनाम् ? नेत्याह-'हस्समोहणीयस्से' त्यादि, हास्यमोहनीयस्य जघन्यरसाद् यावत् तिर्यग्गतिनाम्नो जघन्यरसोऽनन्तगुणः । ततः परं किमित्याह-ततस्तिर्यग्गतेर्जघन्यरसत इत्यर्थः, नीचैर्गोत्राऽयशःकीर्त्यसातवेदनीयसातवेदनीयानां 'कमा' क्रमाद् यथोत्तरमित्यर्थः, अनन्तगुणः, ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणः ततो मनुष्यगतेरनन्तगुणः, सम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वात्, तत उच्चैर्गोत्रस्यानन्तगुणः, मनुष्यगतिनामोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यरसस्य युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । इदमत्र तात्पर्यम्-तिर्यग्गतेः परतोऽप्यत्र सर्वं नरकौघवदेवास्ति नवरं मनुष्यगतिनाम्नो जघन्यरसस्तिर्यगायुषो जघन्यरसतोऽनन्तगुणः, सम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वात् । नरकौघे तु स नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसतोऽप्यनन्तगुणहीनः, परावर्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथोच्चैर्गोत्रस्य जघन्यरसो नरकौघे सातवेदनीयतोऽल्पः, अनन्तरोक्तादेव हेतोः प्रकृते तु सर्वाधिकः, पूर्वोक्ताद्धेतोरिति ॥४५४-४५५॥

अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु प्रकृतमाह—

तिरिये पणिंदियतिरियतिगे य हस्सस्स मंदअणुभागा ।
जा मइउवभोगाणं मंदरसो होइ णिरयव्व ॥४५६॥

तत्तो अणंतगुणिओ तइअस्स मयस्स तो विसेसहिओ ।
तइआण कोह-माया-लोहाण कमा मुणेयव्वो ॥४५७॥
ताओ अणंतगुणिओ विणेयो विरियअंतरायस्स ।
तत्तो हवेज्ज केवलदुगस्स तो दुइअमाणस्स ॥४५८॥
ओघव्वेत्तो उड्ढं णवरं ओरालियस्स सयमुज्झो ।
तिपणिंदियतिरियेसुं तुल्लरसो णीअअजसाणं ॥४५९॥

(प्रे०) 'तिरिये' त्यादि, तिर्यग्गत्योघः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिर्यग्योनिमती चेति चतसृषु मार्गणासु हास्यस्य जघन्यानुभागादारभ्य यावन्मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोर्जघन्यरसो 'मंदरसो' जघन्यरसः प्रस्तावात् तस्याल्पबहुत्वं 'णिरयव्व' त्ति यथा नरकौघमार्गणायां, प्ररूपितं तथैव भवति, कुतः ? उभयत्र श्रेण्यादेरभावात् । ततः किम् ? श्रेण्यनर्हासु यासु सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च सन्ति तासु सर्वासु मार्गणासु मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोर्जघन्यरसं यावदयमेव क्रम इति कृत्वा । ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोर्जघन्यरसत इत्यर्थः 'तइअस्स मयस्स' त्ति प्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः । ततो वीर्यान्तरायस्यानन्तगुणः, ततः केवलद्विकावरणस्यानन्तगुणः । ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणः चतुर्थगुणस्थानेऽनन्तगुणहीनविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् ततः परं किमित्याह—'ओघव्वेत्तो ड्ढ' ति इत ऊर्ध्वमोघवद् वाच्यम्, नरकमार्गणायां देवद्विकादीनां कतिपयानां प्रकृतीनां भवप्रत्ययेन बन्धाभावात् नरकौघं विहायौघवदतिदेशः । अथातिप्रसक्तिं परिहरति 'णवर' मित्यादिना, तिर्यगोघः पञ्चेन्द्रियतिर्यक् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् ' तिर्यग्योनिमती चेत्येतासु चतसृषु मार्गणासु औदारिकशरीरस्य जघन्यरसाल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञातव्यम्, तैजसशरीररसादनन्तगुणहीन उत कार्मणशरीरतोऽनन्तगुण औदारिकशरीरस्य जघन्यरस इति तु स्वयं ज्ञातव्यम्, कुतः ? इह वैक्रियतैजसकार्मणशरीरनाम्नां जघन्यरसस्तीव्रसंक्लेशेन औदारिकशरीरनाम्नस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन बध्यत इति कृत्वा । ओघे तु चतुर्णां जघन्यरसस्तीव्रसंक्लेशेन बध्यते ततस्तत्रौदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसाद् वैक्रियतैजसकार्मणशरीरनाम्नां क्रमेण जघन्यरसोऽनन्तगुणो भवतीति ओघप्रस्तुतयोर्विशेषः । तथा त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्वेव नीचैर्गोत्रायशःकीर्तिनाम्नोः प्रत्येकं जघन्यरसस्तुल्यो भवति, उभयोरपीह जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन सद्भावात्, यथाऽऽद्यनरकमार्गणायामिति । ओघे तु सप्तमनरकनारकमाश्रित्य नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसो विशुद्ध्या बध्यते ततस्तत्र नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसादयशःकीर्तेर्जघन्यरसोऽनन्तगुणो भवतीति ओघप्रस्तुतयोर्विशेषः ॥४५६-४५९॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्रस्तुतमाह--

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदितससव्वविगलेसु ।
तह सव्वेसु पुहविदगवणेसु णिरयव्व णिद्द जा ॥४६०॥
ताउ अणंतगुणहियो पयलापयलाअ होइ ताहिन्तो ।
णिद्दाणिद्दाअ तओ थीणद्धियदाणतुरियणाणाणं ॥४६१॥
णिरयव्वेत्तो उड्ढं जा तइअकसायमत्थि ताहिन्तो ।
पढमकसायाण तओ हवेज्ज विरियंतरायस्स ॥४६२॥
तत्तो हवेज्ज केवलदुगस्स पढमाणिरयव्व उड्ढमओ ।
परमुरलतेअमज्झे कमा तिरिणराउगाण भवे ॥४६३॥

(प्रे०) 'असमत्त' इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिवनस्पतिपर्यन्तास्वष्टात्रिशन्मार्गणासु केवलं मिथ्यात्वगुणस्थानकस्यैव सद्भावात् घातिप्रकृतीनामल्पबहुत्वं सविशेषं नरकवद् भवति। तथा शेषप्रकृतीनामल्पबहुत्वे नरकमार्गणायां तिर्यग्नरायुषोः स्थानं सर्वत उपरि वर्तते तयोः पर्याप्तप्रायोग्यत्वात्, अत्र तु अपर्याप्तप्रायोग्यत्वात् तयोः स्थानमौदारिकशरीरतैजसशरीरमध्ये भवति अतश्चतुर्थगाथायां 'परमुरलतेअमज्झे' इत्यादिना विशेषपूर्वकं ग्रन्थकारस्य वचनमिति। प्रथमनरकवदतिदेशे हेतुस्तु तिर्यग्गतिनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसस्योभयत्र परावर्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वात्। शेषगाथार्थः सुगमः। सम्पूर्णाल्पबहुत्वमथ दर्श्यते--हास्यस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः ततो रति-जुगुप्सा-भय-पुरुषवेद-संज्वलनमानानां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततः संज्वलनक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः। ततः शोका-ऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-प्रचला-निद्रा-प्रचलाप्रचला-निद्रानिद्राणां यथोत्तरमनन्तगुणः। ततः स्त्यानर्द्धि-मनःपर्यवज्ञानावरण-दानान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः परस्परं च तुल्यः। ततोऽवधिद्विकाचरणलाभान्तरायरूपाणां त्रयाणां प्रत्येकमनन्तगुणः परस्परं च तुल्यः। ततः श्रुतज्ञानावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरण-भोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः परस्परं च तुल्यः। ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः परस्परं च तुल्यः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणः, ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्यानन्तगुणः, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधमायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततो वीर्यान्तरायस्यानन्तगुणः, ततः केवलद्विकावरणस्याऽनन्तगुणः परस्परं च

तुल्यः, ततो मिथ्यात्वौदारिकशरीरतिर्यगायुर्मनुष्यायुःकार्मणशरीरतिर्यग्गतिमनुष्यगतिप्रकृतीनां रसो यथोत्तरमनन्तगुणः । ततो नीचैर्गोत्राऽयशःकीर्त्त्योः प्रत्येकमनन्तगुणः परस्परं च तुल्यः । ततोऽसातवेदनीयस्यानन्तगुणः । ततो यशःकीर्त्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणः परस्परं च तुल्यः । ततः सातवेदनीयस्यानन्तगुणः । 'जघन्यरस' इति सर्वत्र वाच्यम् ।

अत्रेदमवधेयम्–यद्यपि मूलप्रकृतिरसबन्धाल्पबहुत्वप्रस्तावे आस्वपर्याप्तादिमार्गणासु ज्ञानावरणादितो मोहनीयस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणहीनः कथितोऽत्र तु ज्ञानावरणाद्यन्तर्गतकेवलज्ञानदर्शनावरणजघन्यरसतो मोहनीयान्तर्गतमिथ्यात्वस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिको दर्शित इति एतदपि मतान्तरमभिप्रायान्तर वा विज्ञेयमिति ॥४६०–४६३॥

अथ त्रिमनुष्यमार्गणास्वाह—

ओघव्व तिमणुसेसुं मंदरसो णवरि अजसणीआणं ।
तुल्लो मंदऽणुभागो वेअव्वुरलाण वच्चासो ॥४६४॥

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि, तिसृषु मनुष्यमार्गणासु प्रत्येकं प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति । अथात्रानान्तरोक्तातिदेशेनाऽऽगतामतिप्रसक्ति परिहरति 'णवरि' इत्यादिना प्रस्तुतमार्गणासु अयशःकीर्तिनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसस्तुल्यः, कुतः ? इह अयशःकीर्तिवद् नीचैर्गोत्रस्यापि जघन्यरसः परावर्तमानपरिणामेन बध्यते इति कृत्वा । ओघे तु नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसबन्धस्वामी सुविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखः, ततस्तत्रायशःकीर्तेर्जघन्यरसतो नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणहीनः प्राप्यते । तथा वैक्रियौदारिकशरीरनाम्नोर्व्यत्यासः, कर्तव्य इति शेषः । वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यरसत औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽनन्तगुणो वाच्य इति भावः । कुतः ? इह वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यरसस्तीव्रसंक्लेशेन, औदारिकशरीरनाम्नस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन बध्यत इति कृत्वा । ओघे तु औदारिकशरीरनाम्नोऽपि जघन्यरसस्तीव्रसंक्लेशेन बध्यते, ततस्तत्र औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसतो वैक्रियशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः । अत्रैवं वक्तव्यं स्यात्–देवगतिनाम्नो जघन्यरसतो नीचैर्गोत्रायशःकीर्तिनाम्नोः प्रत्येकं जघन्यरसोऽनन्तगुणः, तयोः परस्परं च तुल्यः, ततोऽसातवेदनीयस्यानन्तगुणः । तथा मिथ्यात्वस्य जघन्यरसतो वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽनन्तगुणः, तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणः, शेषं सर्वमविशेषेणौघवदेव भणितव्यम्, यद्वा तिर्यग्गतिमार्गणावदत्रापि औदारिकशरीरनाम्नः स्थानं स्वय ज्ञातव्यम्, तद्वदत्रापि शरीरचतुष्कस्य तुल्यस्वामित्वात् तुल्यजघन्यरसत्वाच्च ॥४६४॥

अथ आनतादिग्रैवेयकान्तसुरमार्गणासु बहुतरसमानवक्तव्यत्वात् प्रथमनरकमार्गणावत् सापवादमतिदिशति–

मंदरसस्सऽप्पबहू गेविज्जंतेसु आणताईसुं ।
आइमणिरयव्व भवे तिरिक्खगइआउवज्जाणं ॥४६५॥

(प्रे०) 'मंदरसस्से' त्यादि, आनतादिषु ग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदशदेवमार्गणाभेदेषु प्रत्येकं जघन्यरसस्य परस्थानाल्पबहुत्वं 'आइमणिरयव्व' त्ति प्रथमनरकमार्गणावद् भवति । किम-विशेषेण तद्वद् भवति ? नेत्याह-'तिरिक्ख' इत्यादि, तिर्यग्गतितिर्यगायुष्करूपे प्रकृती वर्जयित्वा शेषाणां प्रस्तुताल्पबहुत्वविषयभूतानां प्रकृतीनां प्रथमनरकमार्गणावत् प्रस्तुतमल्प-बहुत्वं भवति, कुतः ? अनन्तरोक्तप्रकृतिद्वयस्येह बन्धानर्हत्वात् । ननु नरकौघवदनतिदिश्य कुतः प्रथमनरकानुधावनमिति चेत् ?, उच्यते, अतिप्रसक्तेरभावात् । तद्यथा-इह नरकौघवदित्यति-देशे कृते नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसतोऽयशःकीर्तेर्जघन्यरसोऽनन्तगुणः प्राप्यते, नरकौघे तथैव प्रतिपादितत्वात्, नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसस्य सुविशुद्धेन सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । प्रस्तुतमार्गणासु तु नीचैर्गोत्राऽयशःकीर्त्योर्जघन्यरसः परस्परं तुल्यो भवति, नीचैर्गोत्रस्यापि जघन्यरसः परावर्तमानपरिणामेन बध्यत इति कृत्वा, प्रथमनरकमार्गणायामप्येवमेवेति नरकौघं विहाय प्रथमनरकस्योपादानम् ॥४६५॥

अथ पञ्चस्वनुत्तरसुरमार्गणासु दर्शयति प्रस्तुताल्पबहुत्वम्—

पणऽणुत्तरेसु हस्सा विणा दुवेआऽत्थि केवलदुगं जा ।
मंदरसस्सप्पबहू णिरयव्वेत्तो परं सयं णेयं ॥४६६॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'पण' इत्यादि, पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु केवलं चतुर्थगुणस्थानकस्यैव सद्भावात् नपुंसकस्त्रीवेदौ विना केवलज्ञानावरणपर्यन्तमल्पबहुत्वं नरकवज्ज्ञेयम् । तथा शेषप्रकृतीनामल्प-बहुत्वं स्वयं ज्ञेयम् । परावर्तमानभावेन बध्यमानजघन्यरसानां प्रकृतीनां रसतः सम्यक्त्वगुण-स्थाने संक्लेशेन बध्यमानजघन्यरसानामुच्चैर्गोत्रौदारिकशरीरादीनां प्रकृतीनां रसोऽनन्तगुणाधिक उतानन्तगुणहीनः तत्तु सम्यग् न ज्ञायते तस्मादुक्तं 'एत्तो परं सय णेयं' इति । केवलज्ञाना-वरणजघन्यरसतः क्रमेणायशःकीर्त्यसातवेदनीययशःकीर्तिसातवेदनीयादीनां परावर्तमानप्रकृतीनां जघन्यरसोऽनन्तगुणः । तथैव केवलज्ञानावरणजघन्यरसत औदारिकतैजसकार्मणशरीरमनुष्य-गत्युच्चैर्गोत्ररूपाणां संक्लेशेन बध्यमानजघन्यरसानां प्रकृतीनां जघन्यरसः क्रमेणानन्तगुणो ज्ञातव्यः । शेष तु स्वयं ज्ञातव्यम् । एतेनैव बीजेनोत्तरत्र ज्ञानसयमादिमार्गणास्वपि जघन्य-रसाल्पबहुत्वं स्वय नेतव्यमिति ॥४६६॥

अथ सर्वेषु एकेन्द्रियभेदेष्वाह—

सव्वेसु एगिंदियभेएसु भवे अपज्जमणुसव्व ।
मंदणुभागो णवरं णीआ अजसस्सऽणंतगुणो ॥४६७॥

(प्रे०) 'सव्वेसु' इत्यादि, सप्तसु एकेन्द्रियमार्गणासु अपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद् भवेत्, जघन्यानुभागस्य परस्थानाल्पबहुत्वमिति प्रक्रमाद् गम्यते । अथात्र संभाव्यमानं विशेषं दर्शयति- 'णवर' मित्यादिना, इह नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसतोऽयशःकीर्तेर्जघन्यरसोऽनन्तगुणः, द्वयोरपि प्रकृत्योरप्रशस्तत्वेऽपि नीचैर्गोत्रस्यायशःकीर्तेश्च जघन्यरसस्य क्रमेण सुविशुद्धेन मध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । अपर्याप्तमनुष्यस्य तु परावर्तमानपरिणामेन नीचैर्गोत्रस्य बन्धो भवति, अत एवापर्याप्तमनुष्यमार्गणायामयशःकीर्तेर्जघन्यरसेन तुल्यो नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसो भवतीति भावः । शेषं सर्वमविशेषेणापर्याप्तमनुष्यमार्गणावद् भवति, उभयत्र तुल्यसंख्याकप्रकृतीनां बन्धार्हत्वात् प्रथमस्यैकस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावाच्च ॥४६७॥

अथ सर्वेषु तेजोवायुभेदेषु प्रस्तुतमतिदिशति-

एगिंदियव्व णेयो सव्वेसु तेउवाउभेएसु ।
मंदरसस्सऽप्पबहू णराउगइउच्चवज्जाणं ॥४६८॥

(प्रे०) 'एगिंदियव्व' इत्यादि, सर्वेषु चतुर्दशलक्षणेषु तेजोवायुभेदेषु प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनन्तरोक्तैकेन्द्रियमार्गणावद् भवति, । तच्च तत्रतोऽवसेयम् । 'णराउ' इत्यादि, नवरं मनुष्यायुष्कमनुष्यगतिनामोच्चैर्गोत्ररूपास्तिस्रः प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषप्रकृतीनामेव तद्वद् भवति, कुतः ? मनुष्यायुष्कादीनामिह बन्धानर्हत्वात् ॥४६८॥

अथौदारिककाययोगमार्गणायां प्रस्तुतं सापवादमतिदिशति-

मंदरसस्सऽप्पबहू ओघव्व भवे उरालिये णवरं ।
वच्चासो कायव्वो ओरालविउव्वियतणूणं ॥४६९॥

(प्रे०) 'मंदरसस्से'त्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायां जघन्यरसस्य परस्थानाल्पबहुत्वमोघवद् भवेत्, ओघवदत्रापि श्रेण्यादेः सद्भावात् । अथातिप्रशक्तिं परिहरति- 'वच्चासो' इत्यादिना, औदारिकशरीरनामवैक्रियशरीरनाम्नोर्व्यत्यासः कर्तव्यः । इदमुक्तं भवति-ओघे उभयोरपि जघन्यरसः सर्वसंक्लेशेन बध्यते, ततस्तत्रौदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसतो वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽनन्तगुणः, वैक्रियस्य प्रशस्ततरत्वात्, प्रकृते तु वैक्रियस्य सर्वसंक्लेशेन औदारिकस्य च तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन जघन्यरसो बध्यते, ततो वैक्रियस्य

जघन्यरसत औदारिकस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः । अत्र चैवं वक्तव्यं स्यात्-मिथ्यात्वस्य जघन्यरसतो वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽनन्तगुणः, तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, ततस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणः, शेषं सर्वमविशेषेणौघवद् भवति । यद्वा औदारिकवैक्रियशरीरनाम्नो-रल्पबहुत्वं मनुष्यमार्गणावद्विभावनीयम् तच्च तत एवावधारणीयम् ॥४६९॥

अथौदारिकमिश्रमार्गणायां प्रस्तुतमाह--

ओरालमीसजोगे हस्सस्स भवे जहराणअणुभागा ।
उरलस्स जहराणरसं जा गोरइयव्व अप्पबहू ॥४७०॥
तो होइ अणंतगुणो कमा तिरिणराउतेअकम्माणं ।
तिरिणरगइणीअअजसअसायपयडीण ताउ कमा ॥४७१॥
ताउ जसुच्चाण तओ कमसो सायविउवामरगईणं ।

(प्रे०) 'ओरालमीसे' त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां प्रस्तुतमल्पबहुत्वम् 'णेरइयव्व' त्ति नरकौघवद् भवति । किमविशेषेण ? नेत्याह-हास्यस्य जघन्यरसतो यावदौ-दारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसः, अतः परमन्यथोपलम्भात् । तच्चैवम्-'तो होइ' इत्यादि, औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसतस्तिर्यगायुष्क-मनुष्यायुष्क-तैजसशरीर कार्मणशरीरनाम्नां यथो-त्तरमनन्तगुणः, ततस्तिर्यग्गति-मनुष्यगति-नीचैर्गोत्रा ऽयशःकीर्तिनामा-ऽसातवेदनीयाना क्रमाद् यथोत्तरमनन्तगुणः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणः तयोः परस्परं च तुल्यः, ततः सातवेदनीय-वैक्रियशरीरनाम-देवगतिनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः । अत्रेद बोध्यम्-औदारिक-शरीरनामतः सातवेदनीयं यावत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवदेव, नवरमोघे प्ररूपितानामत्राबध्य-मानानां प्रकृतीनां बध्यमानवैक्रियशरीरदेवगत्योः स्थानं रिक्तं द्रष्टव्यम् , यतो वैक्रियशरीरनाम-देवगतिनाम्नोर्जघन्यरस ओघप्ररूपणातोऽत्यधिको वाच्यः, सम्यग्दृष्टिनैव बध्यमानत्वात् । तयोः परस्परं हीनाधिक्यं च प्रकृतिविशेषात् । ओघेऽनयोर्जघन्यरसः क्रमेण संक्लिष्टेन परा-वर्तमानपरिणामेन जायते, ततो वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यरसस्तिर्यगायुषोऽनन्तगुणहीनः, देव-गतिनाम्नो जघन्यरसो नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसतोऽनन्तगुणहीनः प्रतिपादितः, प्रकृते च निरु-क्तक्रमेणेति ॥४७०-४७१॥

अथ कार्मणाऽनाहारमार्गणयोरनन्तरोक्तवत् सापवादमतिदिशन्नाह-

कम्माणाहारेसुं तहेव णवराउवज्जाणं ॥४७२॥

(प्रे०) 'कम्माणे' त्यादि, कार्मणाऽनाहारिमार्गणयोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य परस्था-नाल्पबहुत्वम् 'तहेव' अनन्तरोक्तवदेव भवति, तर्हि कुतः पृथक्प्रतिपादनमित्याह-'णवरे'

त्यादि, आयुर्वर्जानामेव प्रकृतीनामिहानन्तरोक्तवद् वाच्यम् , प्रकृतमार्गणयोरायुर्बन्धानर्हत्वात् । क्रमप्राप्तमायुष्कप्रकृतिस्थानं शून्य मुक्त्वा प्रस्तुतं निरूपणीयम् । तच्चैवं स्यात्—हास्यस्य जघन्यरसः स्तोकः, ततो रति-जुगुप्सा-भय-पुरुषवेद-सञ्ज्वलनमानानां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततः सञ्ज्वलनक्रोध माया-लोभानां विशेषाधिकः, ततः शोका-ऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-प्रचला-निद्राणां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं च तुल्यः । ततोऽवधिद्विकावरणलाभान्तरायरूपाणां तिसृणां प्रत्येकमनन्तगुणः, तासां परस्परं च तुल्यः । ततः श्रुतज्ञानावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरण-भोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः, तेषां परस्परं च तुल्यः । ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः तयोः परस्परं च तुल्यः । ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः । ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः, ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः । ततो वीर्यान्तरायस्यानन्तगुणः, ततः केवलद्विकावरण प्रचलाप्रचला निद्रानिद्रा-स्त्यानर्द्धीनां यथोत्तरमनन्तगुणः ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्यानन्तगुणः, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोध-माया लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततो मिथ्यात्वस्य, तत औदारिकशरीरनाम्नस्ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, जघन्यरस इति सर्वत्र बोध्यम् , तस्यैव प्रक्रान्तत्वात् । अतः परमविशेषेणाऽनन्तरोक्तमार्गणावद् भवति, तच्च तत एवावधारणीयम् ॥४७२॥

अथाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराह—

आहारदुगे हस्सा जा मइउवभोगअंतरायाणं ।
मंदरसस्सऽप्पबहू अणुत्तरसुरव्व विरणेयो ॥४७३॥
ताउ अणंतगुणाहियो विरणेयो वीरियंतरायस्स ।
तत्तो हवेज्ज केवलदुगस्स सयमुज्झसुद्दमओ ॥४७४॥

(प्रे०) 'आहारदुगे' इत्यादि, आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः प्रत्येकं जघन्यरसस्य परस्थानाल्पबहुत्वम् 'अणुत्तरसुरव्व' अनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति । किमत्र बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां तद्वद् भवति ? नेत्याह 'हस्सा जा' इत्यादि, हास्यमोहनीयतो यावद् मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराये । ततः पर किमित्याह—'तत्तो अणंतगुणिओ' इत्यादि, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः जघन्यरसत इत्यर्थः, वीर्यान्तरायस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ततः [illegible] स्य रसोऽनन्तगुणो ज्ञेयः । 'सयमुज्झ[illegible]द्दमओ' अतः परमल्पबहुत्व स्वयं [illegible]:—ततोऽयशःकीर्तेस्ततोऽसातवेदनीयस्य, ततो यशःकीर्तेस्ततः

सातवेदनीयस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः । वैक्रियतैजसकार्मणशरीरदेवायुर्देवगतिनामोच्चैर्गोत्राणां रसस्य परस्पराल्पबहुत्वं सातवेदनीयरसतोऽपि स्वयं ज्ञेयम् । इदमत्र ज्ञेयम्-मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोर्जघन्यरसतः परतोऽप्यत्र सर्वमनुत्तरसुरमार्गणावदेवास्ति, नवरं मध्यकषायाष्टकादिप्रकृतयोऽत्र परिहृता द्रष्टव्याः, तासामिह बन्धाभावात् ॥४७३-४७४॥

अथ स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदमार्गणास्वाह—

पुरिसाऽणंतगुणहियो चरममयस्स हवए तिवेएसुं ।
तो चरमकोहमायालोहाण कमा विसेसहियो ॥४७५॥
ताउ अणंतगुणहियो मणपज्जवदाणअंतरायाणं ।
तो परमोघव्व णवरि समो पुरिसथीसु अजसणीआणं ॥४७६॥(गीतिः)

(प्रे०) 'पुरिसा' इत्यादि, स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदमार्गणासु प्रत्येकं पुरुषवेदस्य जघन्यरसात् '**चरममयस्स**' त्ति संज्वलनमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ततः संज्वलनक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रस्तुतमार्गणासु जघन्यरसस्य श्रेणौ बध्यमानत्वेऽपि युगपद्रसबन्धसद्भावात् '**सव्वप्पो मंदरसो अतिमलोहस्से**'त्यादिरूपः संज्वलनचतुष्कजघन्यरसबन्धाल्पबहुत्वे ओघोक्तक्रमो न प्राप्यते, किन्तु यथोक्त एव । ततः संज्वलनलोभस्य जघन्यरसादित्यर्थः, मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं च तुल्यः । अतः परं किमित्याह '**परमोघव्व**' इत्यादि, इत ऊर्ध्वमोघवदल्पबहुत्वं ज्ञेयम् , किं ततः परमविशेषेणौघवद् ज्ञेयम् ? नेत्याह '**णवरि**' इत्यादि, स्त्रीपुरुषवेदमार्गणयोरयशःकीर्तिनीचैर्गोत्रयोः ' ो' त्ति, तुल्यो जघन्यरस इति प्रस्तावाद् गम्यम् । कुतस्तुल्यः ? अयशःकीर्तिवदिह नीचैर्गोत्रस्यापि जघन्यरसः परावर्तमानपरिणामेन बध्यत इति कृत्वा । तथा स्त्रीवेदमार्गणायामौदारिकशरीरनाम्नो विशेषस्तु मनुष्यमार्गणावद् विज्ञेयः, उभयत्र तस्य मध्यमपरिणामेन जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । नपुंसकवेदमार्गणायां तु तदोघवदेवेति ॥४७५-४७६॥ अथापगतवेदमार्गणायामाह—

गयवेए अप्पबहू अंतिमलोहस्स मंदअणुभागा ।
ओघव्व जहणरसं जा वीरियअंतरायस्स ॥४७७॥
तत्तो अणंतगुणिओ आवरणस्सऽत्थि केवलदुगस्स ।
ताओ जसउच्चाणं तत्तो सायस्स विणेयो ॥४७८॥

(प्रे०) '**गयवेए**' इत्यादि, गतवेदमार्गणाया संज्वलनलोभस्य जघन्यरसाद् वीर्यान्तरायस्य जघन्यरसं यावत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति । ततो वीर्यान्तरायस्य जघन्यरसत

त्यादि, आयुर्वर्जानामेव प्रकृतीनामिहानन्तरोक्तवद् वाच्यम्, प्रकृतमार्गणयोरायुर्बन्धानर्हत्वात्। क्रमप्राप्तमायुष्कप्रकृतिस्थानं शून्यं मुक्त्वा प्रस्तुतं निरूपणीयम्। तच्चैवं स्यात्—हास्यस्य जघन्यरसः स्तोकः, ततो रति-जुगुप्सा-भय-पुरुषवेद-संज्वलनमानानां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततः संज्वलनक्रोध माया-लोभानां विशेषाधिकः, ततः शोका-ऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-प्रचला-निद्राणां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं च तुल्यः। ततोऽवधिद्विकावरणलाभान्तरायरूपाणां तिसृणां प्रत्येकमनन्तगुणः, तासां परस्परं च तुल्यः। ततः श्रुतज्ञानावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरण-भोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः, तेषां परस्परं च तुल्यः। ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः तयोः परस्परं च तुल्यः। ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः। ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः, ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः। ततो वीर्यान्तरायस्यानन्तगुणः, ततः केवलद्विकावरण प्रचलाप्रचला निद्रानिद्रा-स्त्यानर्द्धीनां यथोत्तरमनन्तगुणः ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्यानन्तगुणः, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोध-माया लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततो मिथ्यात्वस्य, तत औदारिकशरीरनाम्नस्ततस्तैजसशरीरनाम्नोऽनन्तगुणः, जघन्यरस इति सर्वत्र बोध्यम्, तस्यैव प्रक्रान्तत्वात्। अतः परमविशेषेणाऽनन्तरोक्तमार्गणावद् भवति, तच्च तत एवावधारणीयम् ॥४७२॥

अथाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराह—

आहारदुगे हस्सा जा मइउवभोगअंतरायाणं।
मंदरसस्सऽप्पबहू अणुत्तरसुरव्व विरणेयो ॥४७३॥
ताउ अणंतगुणहियो विरणेयो वीरियंतरायस्स।
तत्तो हवेज्ज केवलदुगस्स सयमुज्झमुड्ढमओ ॥४७४॥

(प्रे०) 'आहारदुगे' इत्यादि, आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः प्रत्येकं जघन्यरसस्य परस्थानाल्पबहुत्वम् 'अणुत्तरसुरव्व' अनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति। किमत्र बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां तद्वद् भवति ? नेत्याह 'हस्सा जा' इत्यादि, हास्यमोहनीयतो यावद् मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराये। ततः परं किमित्याह—'तत्तो अणंतगुणिओ' इत्यादि, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः जघन्यरसत इत्यर्थः, वीर्यान्तरायस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ततः केवलद्विकावरणस्य रसोऽनन्तगुणो ज्ञेयः। 'सयमुज्झमुड्ढ ओ' अतः परमल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञेयं तथापि किञ्चित्प्रदर्श्यते:—ततोऽयशःकीर्तेस्ततोऽसातवेदनीयस्य, ततो यशःकीर्तेस्ततः

सातवेदनीयस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः । वैक्रियतैजसकार्मणशरीरदेवायुर्देवगतिनामोच्चैर्गोत्राणां रसस्य परस्पराल्पबहुत्वं सातवेदनीयरसतोऽपि स्वयं ज्ञेयम् । इदमत्र ज्ञेयम्-मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोर्जघन्यरसतः परतोऽन्यत्र सर्वमनुत्तरसुरमार्गणावदेवास्ति, नवरं मध्यकषायाष्टकादिप्रकृतयोऽत्र परिहृता द्रष्टव्याः, तासामिह बन्धाभावात् ॥४७३-४७४॥

अथ स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदमार्गणास्वाह—

पुरिसाऽणंतगुणाहियो चरममयस्स हवए तिवेएसुं ।
तो चरमकोहमायालोहाण कमा विसेसहियो ॥४७५॥
ताउ अणंतगुणाहियो मणपज्जवदाणअंतरायाणं ।
तो परमोघव्व णवरि समो पुरिसथीसु अजसणीआणं ॥४७६॥(गीतिः)

(प्रे०) 'पुरिसा' इत्यादि, स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदमार्गणासु प्रत्येकं पुरुषवेदस्य जघन्यरसात् '**चरममयस्स**' त्ति संज्वलनमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ततः संज्वलनक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, प्रस्तुतमार्गणासु जघन्यरसस्य श्रेणौ बध्यमानत्वेऽपि युगपद्रसबन्धसद्भावात् '**सव्वप्पो मंदरसो अतिमलोहस्से**'त्यादिरूपः संज्वलनचतुष्कजघन्यरसबन्धाल्पबहुत्वे ओघोक्तक्रमो न प्राप्यते, किन्तु यथोक्त एव । ततः संज्वलनलोभस्य जघन्यरसादित्यर्थः, मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं च तुल्यः । अतः परं किमित्याह '**परमोघव्व**' इत्यादि, इत ऊर्ध्वमोघवदल्पबहुत्वं ज्ञेयम् , किं ततः परमविशेषेणौघवद् ज्ञेयम् ? नेत्याह '**णवरि**' इत्यादि, स्त्रीपुरुषवेदमार्गणयोरयशःकीर्तिनीचैर्गोत्रयोः '[illegible]' त्ति, तुल्यो जघन्यरस इति प्रस्तावाद् गम्यम् । कुतस्तुल्यः ? अयशःकीर्तिवदिह नीचैर्गोत्रस्यापि जघन्यरसः परावर्तमानपरिणामेन बध्यत इति कृत्वा । तथा स्त्रीवेदमार्गणायामौदारिकशरीरनाम्नो विशेषस्तु मनुष्यमार्गणावद् विज्ञेयः, उभयत्र तस्य मध्यमपरिणामेन जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । नपुंसकवेदमार्गणायां तु तदोघवदेवेति ॥४७५ ४७६॥ अथापगतवेदमार्गणायामाह—

गयवेए अप्पबहू अंतिमलोहस्स मंदअणुभागा ।
ओघव्व जहण्णरसं जा वीरियअंतरायस्स ॥४७७॥
तत्तो अणंतगुणिओ आवरणस्सऽत्थि केवलदुगस्स ।
ताओ जसउच्चाणं तत्तो सायस्स विण्णेयो ॥४७८॥

(प्रे०) '**गयवेए**' इत्यादि, गतवेदमार्गणायां संज्वलनलोभस्य जघन्यरसाद् वीर्यान्तरायस्य जघन्यरसं यावत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवति । ततो वीर्यान्तरायस्य जघन्यरसत

इत्यर्थः, केवलद्विकावरणस्यानन्तगुणः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात्; तयोः परस्परं च तुल्यः, ततः सातवेदनीयस्यानन्तगुणः, प्रशस्तत्वे सति प्रकृतिविशेषात्। अत्र वीर्यान्तरायस्य जघन्यरसात् परतः सातवेदनीयं यावदप्योघवदेव क्रमो द्रष्टव्यः, नवरमोघोक्ता बहवः प्रकृतयः प्रस्तुतमार्गणायां बन्धानर्हाः, ततस्तासामत्र वर्जनं ज्ञेयमिति ॥४७७-४७८॥ अथ क्रोधमार्गणायामाह—

संजलणाण चउण्हं मंदऽणुभागस्स अत्थि कोहम्मि।
इत्थिव्वऽप्पाबहुगं ओघव्वेत्तो परं णेयं ॥४७९॥

(प्रे०) 'संजलणाणे' त्यादि, क्रोधकषायमार्गणायां चतुर्णां संज्वलनानां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनन्तरोक्तस्त्रीवेदमार्गणावद् भवति, कुतः? क्रोधमार्गणायामपि स्त्रीवेदमार्गणावत् चतुर्णामपि जघन्यरसस्य युगपत् प्रवर्तनाद् यथोक्त एव क्रमः अत एवात्र मानस्य जघन्यरसोऽल्पो वाच्य इति। ओघोक्तः क्रमस्तु तत्र प्राप्यते यत्र यथोत्तरं क्रोधादीनां जघन्यरसः पश्चात् पश्चाद् बन्धव्यवच्छेदादनन्तगुणहीनो बध्यते यथानन्तरोक्तापगतवेदमार्गणायाम्। '**ओघव्वेत्तो परं**' ति अतः परं पुरुषवेदादीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् ज्ञेयम्। ओघवदिहापि नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसादयशःकीर्तेर्जघन्यरसोऽनन्तगुणो भवति, प्रस्तुतमार्गणायां सप्तमपृथ्वीनारकाणामप्यन्तःप्रवेशात्। ततः स्त्रीवेदोक्तोऽपवादोऽत्र नोक्त इति ॥४७९॥ अथ मानकषायमार्गणायामाह—

माणे सव्वत्थोवो अंतिममाणस्स तो विसेसहियो।
अंतिममायालोहाण कमा ओघव्व तेण परं ॥४८०॥

(प्रे०) '**माणे**' इत्यादि, मानकषायमार्गणायाम् अन्तिममानस्य-संज्वलनमानस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततः संज्वलनमायालोभयोर्यथोत्तरं विशेषाधिकः, मान-माया-लोभानां जघन्यरसस्य युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात्, यत्रैषां युगपज्जघन्यरसबन्धस्तत्रायमेव क्रमः, अन्यथा लोभस्य सर्वस्तोकः, यथौघे इत्यपि बोध्यम्। ततः परमोघवत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वं भवति। तच्चैवम्—संज्वलनलोभस्य जघन्यरसतः संज्वलनक्रोधस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं च तुल्यः, अतः परं सर्वमप्यविशेषेणौघवद् वाच्यम्, तत्तु ओघप्ररूपणातोऽवगन्तव्यम् ॥४८०॥

अथ मायामार्गणायां कश्चिद् विशेषं प्रदर्श्यौघवदतिदिशति—

मायाए सव्वप्पो अंतिममायाअ तो विसेसहियो।
अंतिमलोहस्सेत्तो उड्ढं ओघव्व विण्णेयो ॥४८१॥

(प्रे०) 'मायाए' इत्यादि, मायामार्गणायां संज्वलनमायाया जघन्यरसः सर्वाल्पः, क्षपकश्रेणौ मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वात् । ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः, सञ्ज्वलनमायालोभयोः जघन्यरसस्य युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । 'एत्तो उड्ढं ओघव्व' त्ति अतः परमोघवद् । तच्चैवम्–इह संज्वलनलोभस्य जघन्यरसतः संज्वलनमानस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, लोभापेक्षयान्तर्मुहूर्तात् प्राक्तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनात् । ततः संज्वलनक्रोधस्याऽनन्तगुणः, ओघोक्तादनन्तरोक्ताद् वा हेतोः । अतः परं सर्वमविशेषेणौघवद् वाच्यम् ॥४८१॥

अथ सिंहावलोकनन्यायेन क्रोधादित्रिकषायमार्गणासु कषायप्राभृतचूर्णिकारमतेनाल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—

अहवा कसायपाहुडचूरिणमये लहुरसस्स अप्पबहू ।
तीसुं कोहाईसुं चउसंजलणाण ओघव्व ॥४८२॥

(प्रे०) 'अहवा' इत्यादि, क्रोधमानमायारूपत्रिकषायमार्गणासु कषायप्राभृतचूर्णिकारमतेन संज्वलनचतुष्कस्याप्यल्पबहुत्वमोघवदेव भवति, अर्थात् सर्वमप्यल्पबहुत्वमोघवदेव ज्ञातव्यम् । किमुक्तं भवति ? संज्वलनलोभस्य रसोऽल्पस्ततो मायाया रसोऽनन्तगुणस्ततो मानस्य रसोऽनन्तगुणस्ततः संज्वलनक्रोधस्य रसोऽनन्तगुणः, ततः परमोघवदल्पबहुत्वं ज्ञेयम् । क्षपकश्रेणावद्वेदित्वनानन्तरमश्वकरणाद्धां अपूर्वस्पर्धकरूपां व्यतित्य क्षपकश्चतुःसंज्वलनानां स्थूलदृष्ट्या प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः किट्टीः करोति । बन्धे क्रोधस्य रसो वेद्यमानकिट्टिसमानः शेषमानादीनां स्वस्वप्रथमकिट्टिसमानो भवति । द्वादशकिट्टीनामल्पबहुत्वमेवम्–संज्वलनक्रोधस्य जघन्यरसादपि मानस्य प्रथमकिट्टेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनस्ततो मायाप्रथमकिट्टेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनस्ततोऽपि लोभप्रथमकिट्टेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अतो बन्धेऽपि संज्वलनचतुष्कस्याल्पबहुत्वमोघवदुक्तमिति ॥४८२॥ अथ त्रिज्ञानादिमार्गणास्वाह—

ओघव्व दुइमलोहं जाव तिणाणोहिसम्मखइएसुं ।
मंदरसस्स णपुमथी विण सयमुज्झ अओ उड्ढं ॥४८३॥

(प्रे०) 'ओघव्वे'त्यादि, त्रिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वरूपासु षड्मार्गणासु संज्वलनलोभजघन्यरसतः अप्रत्याख्यानावरणलोभजघन्यरसपर्यन्तमल्पबहुत्वमोघवद् वक्तव्यम्, ओघवदिहापि श्रेण्यादिगतजीवानां तत्स्वामिकत्वात् । इह ओघवदुक्ते तु स्त्रीनपुंसकवेदयोरप्यल्पबहुत्वमायाति, अत्र तु तयोर्बन्धाभावादुक्तम् 'णपुमथी विण' इति । 'सयमुज्झ' इत्यादि, इत ऊर्ध्वमल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञातव्यम्, परावर्तमानपरिणामेन

इत्यर्थः, केवलद्विकावरणस्यानन्तगुणः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणः, प्रशस्तत्वात्; तयोः परस्परं च तुल्यः, ततः सातवेदनीयस्यानन्तगुणः, प्रशस्तत्वे सति प्रकृतिविशेषात्। अत्र वीर्यान्तरायस्य जघन्यरसात् परतः सातवेदनीयं यावदप्योघवदेव क्रमो द्रष्टव्यः, नवरमोघोक्ता बहवः प्रकृतयः प्रस्तुतमार्गणायां बन्धानर्हाः, ततस्तासामत्र वर्जनं ज्ञेयमिति ॥४७७-४७८॥ अथ क्रोधमार्गणायामाह–

संजलणाण चउराहं मंदऽणुभागस्स अत्थि कोहम्मि।
इत्थिव्वऽप्पाबहुगं ओघव्वेत्तो परं णेयं ॥४७९॥

(प्रे०) 'संजलणाणे'त्यादि, क्रोधकषायमार्गणायां चतुर्णां संज्वलनानां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमनन्तरोक्तस्त्रीवेदमार्गणावद् भवति, कुतः? क्रोधमार्गणायामपि स्त्रीवेदमार्गणावत् चतुर्णामपि जघन्यरसस्य युगपत् प्रवर्तनाद् यथोक्त एव क्रमः अत एवात्र मानस्य जघन्यरसोऽल्पो वाच्य इति। ओघोक्तः क्रमस्तु तत्र प्राप्यते यत्र यथोत्तरं क्रोधादीनां जघन्यरसः पश्चात् पश्चाद् बन्धव्यवच्छेदादनन्तगुणहीनो बध्यते यथानन्तरोक्तापगतवेदमार्गणायाम्। 'ओघव्वेत्तो परं'ति अतः परं पुरुषवेदादीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् ज्ञेयम्। ओघवदिहापि नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसादयशःकीर्तेर्जघन्यरसोऽनन्तगुणो भवति, प्रस्तुतमार्गणायां सप्तमपृथ्वीनारकाणामप्यन्तःप्रवेशात्। ततः स्त्रीवेदोक्तोऽपवादोऽत्र नोक्त इति ॥४७९॥ अथ मानकषायमार्गणायामाह–

माणे सव्वत्थोवो अंतिममाणस्स तो विसेसहियो।
अंतिममायालोहाण कमा ओघव्व तेण परं ॥४८०॥

(प्रे०) 'माणे' इत्यादि, मानकषायमार्गणायाम् अन्तिममानस्य-संज्वलनमानस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततः संज्वलनमायालोभयोर्यथोत्तरं विशेषाधिकः, मान-माया-लोभानां जघन्यरसस्य युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात्, यत्रैषां युगपज्जघन्यरसबन्धस्तत्रायमेव क्रमः, अन्यथा लोभस्य सर्वस्तोकः, यथौघे इत्यपि बोध्यम्। ततः परमोघवत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वं भवति। तच्चैवम्–संज्वलनलोभस्य जघन्यरसतः संज्वलनक्रोधस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणः, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं च तुल्यः, अतः परं सर्वमप्यविशेषेणौघवद् वाच्यम्, तत्तु ओघप्ररूपणातोऽवगन्तव्यम् ॥४८०॥

अथ मायामार्गणायां कश्चिद् विशेषं प्रदर्श्यौघवदतिदिशति–

मायाए सव्वप्पो अंतिममायाअ तो विसेसहियो।
अंतिमलोहस्सेत्तो उड्ढं ओघव्व विण्णेयो ॥४८१॥

(प्रे०) 'मायाए' इत्यादि, मायामार्गणायां संज्वलनमायाया जघन्यरसः सर्वाल्पः, क्षपकश्रेणौ मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वात् । ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः, संज्वलन-मायालोभयोः जघन्यरसस्य युगपद् बध्यमानत्वेऽपि प्रकृतिविशेषात् । 'एत्तो उड्ढं ओघव्व' त्ति अतः परमोघवद् । तच्चैवम्-इह संज्वलनलोभस्य जघन्यरसतः संज्वलनमानस्य जघन्यरसो-ऽनन्तगुणः, लोभापेक्षयान्तर्मुहूर्तात् प्राक्तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनात् । ततः संज्वलनक्रोधस्या-ऽनन्तगुणः, ओघोक्तादनन्तरोक्ताद् वा हेतोः । अतः परं सर्वमविशेषेणौघवद् वाच्यम् ॥४८१॥

अथ सिंहावलोकनन्यायेन क्रोधादित्रिकषायमार्गणासु कषायप्राभृतचूर्णिकारमतेनाल्प-बहुत्वं दर्शयन्नाह—

अहवा कसायपाहुडचूरिणमये लहुरसस्स अप्पबहू ।
तीसुं कोहाईसुं चउसंजलणाण ओघव्व ॥४८२॥

(प्रे०) 'अहवा' इत्यादि, क्रोधमानमायारूपत्रिकषायमार्गणासु कषायप्राभृतचूर्णिकार-मतेन संज्वलनचतुष्कस्याप्यल्पबहुत्वमोघवदेव भवति, अर्थात् सर्वमप्यल्पबहुत्वमोघवदेव ज्ञातव्यम् । किमुक्तं भवति ? संज्वलनलोभस्य रसोऽल्पस्ततो मायाया रसोऽनन्तगुणस्ततो मानस्य रसोऽनन्तगुणस्ततः संज्वलनक्रोधस्य रसोऽनन्तगुणः, ततः परमोघवदल्पबहुत्वं ज्ञेयम् । क्षपकश्रेणाववेदिभवनानन्तरमश्वकरणाद्धां अपूर्वस्पर्धकरूपां व्यतित्य क्षपकश्चतुःसंज्वलनानां स्थूलदृष्ट्या प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः किट्टीः करोति । बन्धे क्रोधस्य रसो वेद्यमानकिट्टिसमानः शेषमानादीनां स्वस्वप्रथमकिट्टिसमानो भवति । द्वादशकिट्टीनामल्पबहुत्वमेवम्-संज्वलनक्रोधस्य जघन्यरसादपि मानस्य प्रथमकिट्टेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनस्ततो मायाप्रथमकिट्टेरुत्कृष्टरसोऽ-नन्तगुणहीनस्ततोऽपि लोभप्रथमकिट्टेरुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, अतो बन्धेऽपि संज्वलनचतुष्क-स्याल्पबहुत्वमोघवदुक्तमिति ॥४८२॥ अथ त्रिज्ञानादिमार्गणास्वाह—

ओघव्व दुइमलोहं जाव तिणाणोहिसम्मखइएसुं ।
मंदरसस्स णपुमथी विण सयमुज्झं अओ उड्ढं ॥४८३॥

(प्रे०) 'ओघव्वे'त्यादि, त्रिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वरूपासु षड्मार्गणासु संज्वलनलोभजघन्यरसतः अप्रत्याख्यानावरणलोभजघन्यरसपर्यन्तमल्पबहुत्व-मोघवद् वक्तव्यम्, ओघवदिहापि श्रेण्यादिगतजीवानां तत्स्वामिकत्वात् । इह ओघ-वदुक्ते तु स्त्रीनपुंसकवेदयोरप्यल्पबहुत्वमायाति, अत्र तु तयोर्बन्धाभावादुक्तम् 'णपुमथी विण' इति । 'सयमुज्झ' इत्यादि, इत ऊर्ध्वमल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञातव्यम्, परावर्तमानपरिणामेन

अथासंयममार्गणायामाह—

मंदरसस्सऽप्पबहू अजये णिरयव्व होइ मिच्छं जा।
ओघव्वेत्तो उड्ढं सुराउगं जा मुणेयव्वो ॥४१०॥

(प्रे०) 'मंदरसस्से'त्यादि, अयतमार्गणायां जघन्यरसस्यालपबहुत्वं मिथ्यात्वं यावद् नरकौघवद् भवति, उभयत्र गुणस्थानकाविशेषात्। 'एत्तो उड्ढं' ति, अतः परं सुरायुर्यावदोघवद् ज्ञातव्यम्। अयं भावः—वैक्रियशरीरनामादयो नरकौघमार्गणायां न बध्यन्ते इह तु बध्यन्ते, अत एव मिथ्यात्वात् परतो नरकौघवदनतिदिश्यौघवदतिदिष्टम्। अत्र चैवंस्वरूपमल्पबहुत्वं प्राप्यते—हास्यस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततो रतिजुगुप्साभयपुरुषवेदसंज्वलनमानानां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततः संज्वलनक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततः शोकाऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदानां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततः प्रचलानिद्रयोः यथोत्तरमनन्तगुणः, ततो मनःपर्यवज्ञानदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोश्च परस्परं तुल्यः। ततोऽवधिज्ञानावरणाऽवधिदर्शनावरणलाभान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः, तेषां परस्परं तुल्यः। ततः श्रुतज्ञानावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणभोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः, तेषां च परस्परं तुल्यः। ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्याऽनन्तगुणः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः तयोः परस्परं च तुल्यः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणः, ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोधमायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततो वीर्यान्तरायस्यानन्तगुण', ततः केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणयोः प्रत्येकमनन्तगुणः,तयोः परस्परं तुल्यश्च, ततः प्रचलाप्रचलाया अनन्तगुणः, ततो निद्रानिद्राया अनन्तगुणः, ततः स्त्यानर्द्धेरनन्तगुणस्ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्याऽनन्तगुणः, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोध-मायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततो मिथ्यात्वस्यानन्तगुणः, तत औदारिकशरीरनाम-वैक्रियशरीरनाम-तिर्यगायुष्क--मनुष्यायुष्क तैजसशरीरनाम--कार्मणशरीरनाम-तिर्यग्गति-नरकगति-मनुष्यगति-देवगति-नीचैर्गोत्राऽ-यशःकीर्तिनामा-ऽसातवेदनीयानां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततो यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रयोःप्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं तुल्यश्च, ततः सातवेदनीयस्यानन्तगुणः ततो नरकायुष्क-देवायुष्कयोर्यथोत्तरमनन्तगुण इति ॥४१०॥ अथ कृष्णलेश्यामार्गणायां प्रस्तुतं विभणिपुः सविशेषमनन्तरोक्ताऽसंयममार्गणावदतिदिशन्नाह—

मंदरसस्सऽप्पबहू किण्हाअ असंयमव्व सायं जा।
ताउ कमाऽणंतगुणो णेयो देवणिरयाऊणं ॥४११॥

(प्रे०) **'मंदरसस्से'** त्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां सातवेदनीयं यावत् प्रस्तुतं जघन्य-रसस्याल्पबहुत्वम् **'असंयमव्व'**त्ति अनन्तरगाथोक्ताऽसंयममार्गणायां यथा दर्शितं तथा भवति, हास्यमोहनीयादारभ्येति प्रकरणगम्यम् । ततः सातवेदनीयस्य जघन्यरसाद् देवनरकायुषोर्जघन्यरसो यथोत्तरमनन्तगुणः, प्रशस्तादपि देवायुषोऽप्रशस्तस्य नरकायुषो रसोऽनन्तगुण इहोक्तः स तु स्थित्याधिक्यादिति ॥४६१॥ अथ नीललेश्यामार्गणायामाह–

मंदरसस्सऽप्पबहू णीलाए णारगव्व मिच्छं जा ।
ताउ कमाऽणंतगुणो उरलतिरिणराउ तेयकम्माणा ॥४६२॥
तो विउवतिरिणिरयणरसुरणीअअजसअसायगाण कमा ।
ताउ जसुच्चाण तओ सायामरणारगाउगाण कमा ॥४६३॥ (गीतिद्वयम्)

(प्रे०) **'मंदरसस्से'**त्यादि, नीललेश्यामार्गणायां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं मिथ्यात्वं यावत् **'णारगव्व'** त्ति, नरकौघमार्गणावद् भवति, हास्यादारभ्येति गम्यते । कुतो नरकौघवदिति चेत्, यथा नरकमार्गणायां तज्जघन्यरसबन्धस्वामिनो नारकास्तथैव इहापि देवनैरयिका इति कृत्वा । **'ताउ'** त्ति ततो मिथ्यात्वस्य जघन्यरसादित्यर्थः, औदारिकशरीरनाम-तिर्यगायुष्क मनुष्यायुष्क-तैजसशरीरनाम-कार्मणशरीरनाम-वैक्रियशरीरनाम-तिर्यग्गतिनाम नरकगतिनाम-मनुष्यगतिनाम-देवगतिनाम-नीचैर्गोत्रा-ऽयशःकीर्तिनामा-ऽसातवेदनीयानां यथोत्तरमनन्तगुणः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं तुल्यश्च । ततः सातवेदनीय-देवायुष्क-नारकायुष्काणां यथोत्तरमनन्तगुणः । अत्रौघोक्तक्रमादयं विशेषः-ओघे औदारिकशरीर-वैक्रियशरीरनाम्नोः प्रत्येकं जघन्यरसः तीव्रसंक्लेशेन यदा तयोर्विंशतिकोटीकोटीसागरोपममिता स्थितिर्बध्यते तदा भवति, तत्र तयोर्जघन्यरसस्य परस्परमनन्तगुणहीनाधिक्यं प्रकृतिविशेषाज्जायते । इह तु औदारिकशरीरनाम्नो विंशतिकोटाकोटीसागरोपममिता स्थिति र्बध्यते, वैक्रियशरीरनाम्नः पुनरन्तःकोटाकोटिमिता, एवं प्रभूततररसोपेतत्वात् तस्य रसः कार्मणशरीरनाम्नो रसतोऽप्यनन्तगुणः प्राप्यते । ओघे औदारिकशरीरनामतोऽनन्तरं स्थानं वैक्रियनाम्नः, इह त्वौदारिकतस्तस्य पञ्चममिति ।

तथैव देवनारकायुषोस्तुल्यस्थितिकत्वात् नरकायुषतो देवायुषो रसोऽनन्तगुणोऽधिको वक्ष्यते, तस्य प्रशस्तत्वात् । इह तु नरकायुषोऽधिकः, सत्यपि तस्याप्रशस्तत्वे दीर्घतरस्थितिकत्वात् ॥४६२-४६३॥

अथ कापोतलेश्यामार्गणायां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं दर्शयति–

मंदरसस्सऽप्पबहू सायं जा होइ काउलेसाए ।
गीलव्व तओ कमसो गिरयसुराऊणऽणंतगुणो ॥४१४॥

(प्रे०) '**मदरसस्स**' इत्यादि, कापोतलेश्यामार्गणायां प्रस्तुतं जघन्यरसाल्पबहुत्वं सातवेदनीयं यावदनन्तरोक्तनीललेश्यामार्गणावद् भवति, कुतः ? यथा नीललेश्यामार्गणायां घात्यादिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामी नारकादिस्तथैव इहापि इति कृत्वा । तत्तत्प्रकृतिजघन्यरसबन्धस्वामिनामविशेषादिति भावः । ततः सातवेदनीयस्य जघन्यरसादित्यर्थः, नरकायुः-सुरायुषोः क्रमशोऽनन्तगुणः, ओघोक्तेनैव क्रमेणाऽनयोरायुषोर्जघन्यरसस्याल्पबहुत्वमिति । कुतः ? तयोर्बन्धस्य तुल्यस्थितिकत्वात्, देवायुषः प्रशस्तत्वाच्च । नीललेश्यायान्तु नरकायुर्देवायुषोऽपेक्षया जघन्यतोऽपि दीर्घस्थितिकं बध्यते ततस्तत्र नौघोक्तः क्रमः । अत एवात्र सर्वथा नीललेश्यावदनतिदिश्य सविशेषमतिदिष्टम् ॥४१४॥

अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोराह–

तेउपउमासु गोथो गिरयव्व मइउवभोगविग्घा जा ।
ताउ कमाऽणंतगुणो वीरियविग्घस्स केवलदुगस्स ॥४१५॥(गीतिः)
तो तइयमयस्सेत्तो ओघव्वुड्ढं हवेज्ज मिच्छं जा ।
तोऽणंतगुणोऽत्थि उरलतेअसकम्मतिरिणरगईण कमा ॥४१६॥(गीतिः)
ताउ अजसणीआणं तओ असायस्स तो जसुच्चाणं ।
तत्तोऽत्थि सायतिरिणरसुराउआहारगाण कमा ॥४१७॥

(प्रे०) '**तेउपउमासु**' इत्यादि, तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोर्मतिज्ञानावरणोपभोगान्तरायौ यावद् नरकौघमार्गणावद् ज्ञेयः, जघन्यरस इति गम्यते । हास्यस्य जघन्यरसादारभ्य यावद् मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोर्जघन्यरसस्य प्रस्तुतमल्पबहुत्वं यथा नरकौघे उक्तं तथैवात्र ज्ञेयमिति भावः । तच्चैवम्-हास्यमोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः, ततो रति-जुगुप्सा-भय-पुरुषवेद-संज्वलनमानानां यथोत्तरमनन्तगुणः । ततः सञ्ज्वलनक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततः शोका-रति-स्त्री-नपुंसकवेद प्रचला-निद्राणां यथोत्तरमनन्तगुणाधिकः । ततो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्पर तुल्यश्च । ततोऽवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणलाभान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः, तेषां परस्परं च तुल्यः, ततः श्रुतज्ञानावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणभोगान्तरायाणां प्रत्येकमनन्तगुणः, तेषां परस्परं च तुल्यः । ततः चक्षुर्दर्शनावरणस्यानन्तगुणः, ततो मतिज्ञानावरणोपभोगान्तराययोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं

तुल्यश्च । ततो वीर्यान्तरायस्यानन्तगुणः । ततः केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणयोः प्रत्येकमनन्तगुणः तयोः परस्परं तुल्यश्च । 'तइयमयस्स' त्ति ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्याऽनन्तगुणः 'एत्तो ओघव्वु ' इत्यादि, इत ऊर्ध्वं मिथ्यात्वं यावदोघवद् भवति, कुतः ? स्वामिनामविशेषात् । तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यौघप्ररूपणायां ये स्वामिनस्ते एवेहापि इति हेतोः । ओघवच्चैवम्—प्रत्याख्यानावरणमानस्य जघन्यरसात् प्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्यानन्तगुणाधिकः, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तर विशेषाधिकः, ततः प्रचलाप्रचलानिद्रानिद्रयोर्यथोत्तरमनन्तगुणः, ततः स्त्यानर्द्धेरनन्तगुणः, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्यानन्तगुणः, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकः, ततो मिथ्यात्वस्यानन्तगुणाधिकः, जघन्यरस इति सर्वत्रानुसर्तव्यम् ।

औदारिक-तैजस-कार्मणशरीर-तिर्यग्गति-मनुष्यगतिनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः । ततोऽयशःकीर्तिनीचैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः परस्परं च तुल्यः । ततोऽसातवेदनीयस्यानन्तगुणः, ततो यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणः, तयोः, परस्परं च तुल्यः । ततः सातवेदनीय-तिर्यगायु-मनुष्यायुष्क-देवायुष्का-ऽऽहारकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः । अत्रौघप्ररूपणातोऽयं विशेषः-ओघे औदारिकशरीरवद् वैक्रि शरीरनाम्नोऽपि जघन्यरसस्तस्य विंशतिकोटाकोटिसागरोपममितामुत्कृष्टस्थितिं बध्नद्भिर्बध्यते, ततस्तत्र औदारिकशरीरनामतोऽनन्तरं स्थानं वैक्रियनाम्नः, इह तु वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपममितां स्थितिं बध्नद्भिर्बध्यते तत औदारिकशरीरनाम्नोऽनन्तरं न वैक्रियशरीरस्य स्थानमिति ।

तथा ओघे नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसोऽल्पः, विशुद्ध्या बध्यमानत्वात् ततोऽयशःकीर्तेरनन्तगुणाधिकः, परावर्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वात् । इह तु नीचैर्गोत्रायशःकीर्त्योर्जघन्यरसस्तुल्यः, उभयोर्जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वात् ।

तथा ओघे तिर्यग्मनुष्यायुषोश्चापर्याप्तप्रायोग्यत्वेन तस्य जघन्यरसस्तैजसशरीरनाम्नो जघन्यरसत्तोऽल्पः । इह तु पर्याप्तप्रायोग्यत्वेन तयोर्जघन्यरसः सातवेदनीयस्य जघन्यरसादप्यनन्तगुणाधिकः, प्रभूततर इति भावः, यथा नरकमार्गणायाम् । वैक्रियशरीरनामदेवगतिनाम्नोर्जघन्यरसः कार्मणशरीरनाम्नो जघन्यरसतो यथास्थानमनन्तगुणः, तथा आहारकशरीरन म्नो जघन्यरसतो यथास्थान न्तगुणहीनो वाच्यः, कुतः ? आहारकशरीरनाम्नो जघन्यरसोऽप्रमत्तगुणस्थानके बध्यते तयोश्च प्रथमगुणस्थानक इति कृत्वा ।।४६६-४६७।।

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायामाह—

मंदरसस्सऽप्पबहू उरलं जोघव्व होइ सुक्काए।
तेउव्वेत्तो उड्ढं तिरिक्खगइआउवज्जाणं ॥४९८॥

(प्रे०) 'मदरसस्से'त्यादि' शुक्ललेश्यामार्गणायां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वमोघवद् भवति, प्रथमादिदशमगुणस्थानकानां सद्भावात्। किं सर्वासां प्रकृतीनाम्? नेत्याह 'उरल जा' औदारिकशरीरनाम यावत्, ततः परमन्यथोपलम्भात्। तदेवाह-'एत्तो उड्ढ' इत्यादि एतस्मादूर्ध्वं तेजोलेश्यामार्गणावत् प्रस्तुतमल्पबहुत्वं भवति। कुतः? स्वामिनामविशेषात्। किमुक्तं भवति? तेजोलेश्यामार्गणायां यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामी देवः, यासां च मनुष्यः, तासामिहापि स एवेति। अथात्रैव विशेषं दर्शयति 'तिरिक्ख' इत्यादि, तिर्यग्गतिनाम-तिर्यगायुष्करूपं प्रकृतिद्वयं वर्जयित्वा शेषाणामेव प्रकृतीनां तेजोलेश्यावत्प्रस्तुतमल्पबहुत्व भवति, कुतः? तस्येह बन्धानर्हत्वात् ॥४९८॥

अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह–

तेउव्व वेअगे जा दुइअं लोहं णपुंसथीवज्जं।
ताउ कमाऽणंतगुणो अजसअसायजससायाणं ॥४९९॥
ताउ कमा उरलविउवतेअसकम्मणरसुरगईण तओ।
उच्चाहाराण कमा दोण्हं आऊण सयमुज्झं ॥५००॥

(प्रे०) 'तेउव्वे'त्यादि, वेदकसम्यक्त्वमार्गणायामप्रत्याख्यानावरणलोभं यावत् तेजोलेश्यामार्गणावद् भवति, जघन्यरसस्याल्पबहुत्वमिति प्रकरणाद् गम्यते। तेजोलेश्यामार्गणायां नपुंसकस्त्रीवेदौ बन्धमर्हतः, इह तु तौ न बध्येते, अतः कारणादप्रत्याख्यानावरणलोभं यावत्प्रस्तुतमल्पबहुत्वं नपुंसकवेदस्त्रीवेदवर्जानामेव प्रकृतीनां तेजोलेश्यावद् भवति, तच्च प्रागुक्ततेजोलेश्यामार्गणाविवृत्तेर्ज्ञेयम्। अत्रेदमवधेयम्-तेजोलेश्यायां रतेर्जघन्यरसतः स्त्रीनपुंसकवेदयोर्जघन्यरसो यथोत्तरमनन्तगुणाधिकः, ततः प्रचलाया अनन्तगुण उक्तः, इह तु रतेर्जघन्यरसतः प्रचलाया जघन्यरसोऽनन्तगुण इत्येव वाच्यम्। कुतः? स्त्रीनपुंसकवेदयोर्बन्धाभावादिति। 'ताउ कमा' इत्यादि, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य जघन्यरसादित्यर्थः, अयशःकीर्तिनामाऽसातवेदनीययशःकीर्तिसातवेदनीयौदारिकशरीरनामवैक्रियशरीरनामतैजसशरीर---कार्मणशरीर-मनुष्यगति-देवगतिनामोच्चैर्गोत्राऽऽहारकशरीरनाम्नां यथोत्तरमनन्तगुणः। 'सयमुज्झ' ति नरकतिर्यगायुषोरिह बन्धानर्हत्वात् द्वयोर्मनुष्यदेवायुषोः प्रस्तुतमल्पबहुत्वं स्वयमूह्यम्, कुत इयमुक्तिर्ग्रन्थकारस्य? उच्यते,–अत्रार्थे विशेषनिर्णयाभावात्। तथाहि–प्रस्तुतमार्गणायामायुषो जघन्यरसं बध्नता पर्याप्त-

प्रायोग्यं वर्षपृथक्त्वादिस्थितिकमायुर्बध्यते, तत आयुषो जघन्यरसः सातवेदनीयस्य जघन्यरसतोऽनन्तगुणाधिकः, कुतः ? नरकौघादिमार्गणासु पर्याप्तप्रायोग्यस्यान्तर्मुहूर्तस्थितिकस्याप्यायुषो बन्धकस्य सातवेदनीयजघन्यरसत आयुषो जघन्यरसस्यानन्तगुणाधिक्येनोक्तत्वात् ।तथात्राहारकशरीरनाम्नो जघन्यरसत आयुषो जघन्यरसोऽनन्तगुणहीनः, कुतः ? आहारकशरीरनामसत्कजघन्यरसस्याप्रमत्तमुनिना बध्यमानत्वात् , आयुषो जघन्यरसस्य तु तुर्यगुणस्थानकवर्तिना बध्यमानत्वात् । एवं सातवेदनीयाहारकशरीरनाम्नोरन्तराले आयुषो जघन्यरसोऽनन्तगुणादिहीनादिर्यथास्थानं वक्तुमुचितः, किन्तु कस्याः प्रकृतेरनन्तरमायुषः स्थानं तत्तु चिरन्तनग्रन्थेष्वप्यदर्शनादुक्तं स्वयमूह्यमिति ॥४९९-५००॥

अथोपशमसम्यक्त्वमिश्रदृष्टिमार्गणयोः प्रस्तुतमल्पबहुत्वमवधिदर्शनादिमार्गणावदित्यापि सापवादमतिदिशन्नाह–

होइ अवहिव्वुवसमे अप्पबहू णरसुराउवज्जाणं ।
णपुमित्थीवज्जाणं मीसे णिरयव्व केवलदुगं जा ॥५०१॥(गीतिः)
ताउ कमाऽणंतगुणो अजसअसायजससायउरलाणं ।
तत्तो अत्थि विउवतेअसकम्मणरसुरउच्चगाणा कमा ॥५०२॥(गीतिः)

(प्रे०) 'होइ' इत्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यायुष्कदेवायुष्कवर्जानां मार्गणाबन्धार्हाणां प्रस्तुताल्पबहुत्वविषयभूतानां प्रकृतीनां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमवधिदर्शनमार्गणावद् भवति, कुतः ? अवधिदर्शनमार्गणावदिहापि रसबन्धार्हाणां दशमान्तानां गुणस्थानकानां सद्भावात् । आयुषोर्वर्जनं चात्र तयोर्बन्धाभावात् । यद्यपि अवधिदर्शनमार्गणायां हास्यमोहादीनामप्रशस्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः क्षपकाः, प्रकृते चोपशमकाः, तथापि मार्गणाप्रायोग्यजघन्यरसस्याल्पबहुत्वे न कश्चिद् विशेषो विद्यत इति ।

मिश्रदृष्टिमार्गणायामाह–'णपुमित्थीवज्जाणं' इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां नपुंसकवेदस्त्रीवेदवर्जानां प्रकृतीनां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं 'णिरयव्व' त्ति नरकौघमार्गणावद् भवति । किं सर्वासां प्रकृतीनाम् ? नेत्याह–'केवलदुगं जा' हास्यमोहनीयादारभ्य यावत् केवलद्विकम् , अतः परमन्यथोपलम्भात् ।

'ताउ' इत्यादि, ततः केवलद्विकस्य जघन्यरसादित्यर्थः, अयशःकीर्तिनामाऽसातवेदनीययशःकीर्तिनामसातवेदनीयौदारिकशरीरनामवैक्रियतैजसकार्मणशरीरनाममनुष्यगतिदेवगतिनामोच्चैर्गोत्राणां क्रमाद्–यथोत्तरमनन्तगुणः । अत्र केवलद्विकादुच्चैर्गोत्रं यावदविशेषेणाऽनन्तरोक्त-

क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणावदेव प्रस्तुतमल्पबहुत्वं किन्त्वत्र आहारकद्विकस्यायुषोश्च बन्धाभावात् वेदकादिवदनतिदिश्य पृथग् दर्शितम् ।।५०१–५०२।। अथ सास्वादनमार्गणायामाह–

होइ अपज्जपणिदियतिरिव्व सासायणम्मि विणा णपुमं ।
जाव खलु केवलदुगं तत्तो णेयो अणंतगुणो ॥५०३॥
तिरिणरसुरगइणीअअजसगाउसायाण होअए कमसो ।
ताउ जसुच्चाणा तत्रो सायतिरियणरसुराउगाणा कमा ॥५०४॥(गीतिः)

(प्रे०) 'होइ' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां नपुंसकवेदवर्जकेवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरूपकेवलद्विकावरणपर्यन्तमल्पबहुत्वमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वद्भवति । नपुंसकवेदस्य वर्जनं तद्बन्धाभावात् ज्ञेयम् । केवलद्विकजघन्यरसात्तिर्यग्गत्यादीनां जघन्यरसः क्रमेणानन्तगुणो ज्ञातव्यः । तद्यथा-केवलद्विकस्य जघन्यरसः पूर्वपदतोऽनन्तगुणः ततस्तिर्यग्गति-मनुष्यगति-देवगति--नीचैर्गोत्राऽयशःकीर्तिनामा--ऽसातवेदनीयानां यथोत्तरमनन्तगुणः । ततो यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रयोरनन्तगुणः, तयोः परस्परं च तुल्यः। ततः सातवेदनीय-तिर्यगायुष्क-मनुष्यायुष्क-देवायुष्काणां जघन्यरसः क्रमाद् यथोत्तरमनन्तगुणः। आहारकशरीरवर्जशरीरचतुष्कजघन्यरसस्याल्पबहुत्वं यथायोगं केवलद्विकादनन्तरं तिर्यगायुषो जघन्यरसाच्च प्राक् द्रष्टव्यम् ।।५०३-५०४।।

अथासंज्ञिमार्गणायां प्रस्तुतमल्पबहुत्वमाह–

अमणे मिच्छत्तं जा भवे अपज्जगपणिदितिरियव्व ।
तिरियव्वेत्तो उड्ढं अप्पाबहुगं णेयव्वं ॥५०५॥

(प्रे०) 'अमणे' इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां मिथ्यात्वपर्यन्तं रसाल्पबहुत्वमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वत् ज्ञेयम्, केवलं मिथ्यात्वगुणस्थानकस्यैव सद्भावात् । शेषप्रकृतीनामल्पबहुत्वं त्तिर्यगो ज्ज्ञेयम्, अत्रापि तिर्यग्गतिमार्गणावद् वैक्रियशरीरजघन्यरसत औदारिकशरीरजघन्यरसस्यानन्तगुणाधिक्यात् तथैव नीचैर्गोत्रजघन्यरसतोऽयशःकीर्तिजघन्यरसस्यानन्तगुणाधिक्यात् तिर्यग्वदतिदेशः कृतः । तच्चाल्पबहुत्वं सुगमत्वात् स्वयं नेयमिति गतं परस्थाने जघन्यरसबन्धाल्पबहुत्वम् ।।५०५।।

।। श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्रकृतिरसबन्धेऽल्पबहुत्वप्रतिपादनपर सप्तदश द्वार समाप्तिमगात्, तत्समाप्तौ च गत प्रथमाधिकार ।।

॥ द्वितीयो भूयस्काराधिकारः ॥

तदेवमुत्तरप्रकृतिरसवन्धेऽष्टादशद्वारात्मकं प्रथमाख्यं प्रथमाऽधिकारं सप्रपञ्चं विवृत्य संप्रति तत्रैव भूयस्काराख्यं द्वितीयमधिकारं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावत्तद्गतानां त्रयोदशद्वाराणां नामान्याह--

बीए भूओगारे अहिगारम्मि हविरे दुआराइं।
तेरस संतपयं तह सामी कालतराइं च ॥ १ ॥
भंगविचयो अ भागो परिमाणं खेत्तफोसणाउ तहा।
कालो अंतरभावा अप्पावहुगं जहाक्कमसो ॥ २ ॥

(प्रे०) "बीए" इत्यादि, भूयस्काराख्येऽस्मिन् द्वितीयेऽधिकारे वक्ष्यमाणानीमानि त्रयोदश द्वाराणि व्याख्यापथाः सन्ति । अथ तान्येव नामग्राहं दर्शयति-'संतपय'मित्यादि, सत्पदमिति प्रथमं द्वारम् , तथा समुच्चये, स्वामीति द्वितीयं द्वारं काल इति तृतीयं द्वारं चतुर्थमन्तरद्वारम् , इमानि चत्वारि द्वाराण्येकजीवाश्रयाणि ज्ञेयानि, पञ्चमं भङ्गविचयद्वारं षष्ठं द्वारं भागाख्यं सप्तमं परिमाणद्वारं क्षेत्रद्वारमष्टमं नवमं स्पर्शनाद्वारं दशमं कालद्वारमेकादशमन्तरद्वारं द्वादशं भावद्वारं त्रयोदशं द्वारमल्पबहुत्वाख्यमिति पञ्चमादीनि नव द्वाराणि नानाजीवाश्रयाणि सन्ति ॥१-२॥

अत्र भूयस्कार इति पदमल्पतरोऽवस्थितोऽवक्तव्य इति शेषपदत्रयस्योपलक्षकं ततश्चेह द्वितीयेऽधिकारे भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धस्याऽनन्तरोक्तैस्त्रयोदशद्वारैर्निरूपणं करिष्यते ।



॥ आद्यं सत्पदद्वारम् ॥

अथ भूयस्कारादिरसबन्धानां स्वरूपं प्रचिकटयिपुर्गाथायुग्ममाह--

पुव्वसमयाउ समये अणंतरे बंधए पहुत्तयरं ।
बंधो स भूअगारोऽप्पतरं बंधइ स अप्पतरो ॥ ३ ॥
तावइयं चिअ बंधइ सो णायव्वो अवट्ठिओ बंधो ।
होउं अबंधगो उण बंधइ स हवइ अवत्तव्वो ॥ ४ ॥

(प्रे०) "पुव्वसमयाउ" इत्यादि, विवक्षितपूर्वसमयादनन्तरे द्वितीये समये कश्चिज्जीवः प्रभूततरमधिकतरं रसं बध्नाति, तस्य जीवस्याऽयं बन्धो भूयस्कारबन्धो भवति । पूर्वसमयादनन्तरे द्वितीयसमयेऽल्पतररसं बध्नाति, तस्य बन्धोऽल्पतररसबन्ध उच्यते । 'तावइय'मित्यादि, यो विवक्षितसमये यावत्प्रमाणं रसं बद्धवान् द्वितीयसमयेऽपि=तदनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नाति तस्य बन्धोऽवस्थितबन्धो गीयते । अथाऽवक्तव्यबन्धस्वरूपमाह—'होउ'मित्यादि, अबन्धको रसस्येति प्रकरणाद् गम्यते भूत्वा पुना रसं बध्नाति तस्याऽयं बन्धोऽवक्तव्यरसबन्धो भवति, प्रागुक्तभूयस्कारादिबन्धत्वेन वक्तुमशक्यत्वात् ॥३-४॥ अथोघतोऽनन्तरोक्ताश्चत्वारो बन्धाः कतिपयप्रकृतीनामेव संभवन्त्युत सर्वासामित्याशङ्कयाऽऽह—

सव्वेसि पयडीणं रसस्स बंधो चउव्विहो अत्थि ।
भूगारो अप्पयरो अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥ ५ ॥

(प्रे०) "सव्वेसि" इत्यादि, सर्वासां रसबन्धप्रक्रमाच्चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनां चतुर्विधो रसबन्धोऽस्ति । अथ चातुर्विध्यमेवाऽऽह—'भूगारा'इत्यादि, सुगमम् । चतुर्विधबन्धे को हेतुः ? अत्रोच्यते—अध्यवसायवृद्धिप्रयुक्तो भूयस्कारबन्धः, तद्धानिप्रयुक्तोऽल्पतरः, तदवस्थानप्रयुक्तोऽवस्थितो बन्धः, अवक्तव्याख्यप्रकृतिबन्धसहभाव्यवक्तव्यरसबन्ध इति कृत्वा । ततश्चेदमायातम्-अध्यवसायानां वृद्धिहान्यवस्थानानामबन्धोत्तरपुनर्बन्धस्य च भावाच्चतुर्विधरसबन्धस्य सद्भावः ॥५॥

इत्योघतः सर्वप्रकृतीनां बन्धस्य भूयस्कारादींश्चतुरोऽपि प्रकारान् प्रदर्श्याऽथ मार्गणासु संभाव्यमानप्रकारान्विभणिपुस्तावत्त्रिमनुष्यादिचतुर्विंशतिमार्गणास्वाह—

सव्वाणोघव्व तिणरदुगणिंदितसपणमणवयेसु तहा ।
कायउरलणयणोयरभविसण्णीसु तह आहारे ॥६॥

॥ आद्यं सत्पदद्वारम् ॥

अथ भूयस्कारादिरसबन्धानां स्वरूपं प्रचिकटयिषुर्गाथायुग्ममाह--

पुव्वसमयाउ समये अणंतरे बंधए पहुत्तयरं।
बंधो स भूअगारोऽप्पतरं बंधइ स अप्पतरो ॥ ३ ॥
तावइयं चिअ बंधइ सो णायव्वो अवट्ठिओ बंधो।
होउं अबंधगो उण बंधइ स हवइ अवत्तव्वो ॥ ४ ॥

(प्रे०) "पुव्वसमयाउ" इत्यादि, विवक्षितपूर्वसमयादनन्तरे द्वितीये समये कश्चिज्जीवः प्रभूततरमधिकतरं रसं बध्नाति, तस्य जीवस्याऽयं बन्धो भूयस्कारबन्धो भवति। पूर्वसमयादनन्तरे द्वितीयसमयेऽल्पतररसं बध्नाति, तस्य बन्धोऽल्पतररसबन्ध उच्यते। 'तावइय'मित्यादि, यो विवक्षितसमये यावत्प्रमाण रसं बद्धवान द्वितीयसमयेऽपि=तदनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नाति तस्य बन्धोऽवस्थितबन्धो गीयते। अथाऽवक्तव्यबन्धस्वरूपमाह—'होउ'मित्यादि, 'अबन्धको रसस्येति प्रकरणाद् गम्यते भूत्वा पुना रसं बध्नाति तस्याऽयं बन्धोऽवक्तव्यरसबन्धो भवति, प्रागुक्तभूयस्कारादिबन्धत्वेन वक्तुमशक्यत्वात् ॥३-४॥ अथोघतोऽनन्तरोक्ताश्चत्वारो बन्धाः कतिपयप्रकृतीनामेव संभवन्त्युत सर्वासामित्याशङ्क्याऽऽह—

सव्वेसि पयडीणं रसस्य बंधो चउव्विहो अत्थि।
भूगारो अप्पयरो अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥ ५ ॥

(प्रे०) "सव्वेसि" इत्यादि, सर्वासां रसबन्धप्रक्रमाच्चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनां चतुर्विधो रसबन्धोऽस्ति। अथ चातुर्विध्यमेवाऽऽह--'भूगारा'इत्यादि, सुगमम्। चतुर्विधबन्धे को हेतुः? अत्रोच्यते--अध्यवसायवृद्धिप्रयुक्तो भूयस्कारबन्धः, तद्धानिप्रयुक्तोऽल्पतरः, तदवस्थानप्रयुक्तोऽवस्थितो बन्धः, अवक्तव्याख्यप्रकृतिबन्धसहभाव्यवक्तव्यरसबन्ध इति कृत्वा। ततश्चेदमायातम्-अध्यवसायानां वृद्धिहान्यवस्थानानामबन्धोत्तरपुनर्बन्धस्य च भावाच्चतुर्विधरसबन्धस्य सद्भावः ॥५॥

इत्योघतः सर्वप्रकृतीनां बन्धस्य भूयस्कारादींश्चतुरोऽपि प्रकारान् प्रदर्श्याऽथ मार्गणासु संभाव्यमानप्रकारान्निभणिषुस्तावत्त्रिमनुष्यादिचतुर्विंशतिमार्गणास्वाह—

सव्वाणोघव्व तिणरदुपणिदितसपणमणवयेसु तहा।
कायउरलणयणेयरभविसण्णीसु तह आहारे ॥६॥

(प्रे०) "सव्वाणोघव्व" इत्यादि, त्रिमनुष्यादिषु त्रयोविंशतिमार्गणासु, 'तह आहारे' त्ति, आहारिमार्गणायां च सर्वासां चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामोघवद् भवति, भूयस्कारादयश्चत्वारोऽपि बन्धा भवन्तीत्यर्थः । कुतः ? आसु सर्वासु मार्गणासूपशमादिश्रेण्यादिसद्भावात् ॥६॥

अथ सर्वनरकमार्गणासु प्रकृतमाह—

सव्वणिरयभेएसुं तेयालाअ धुवबंधिणीण तहा ।
पंचिंदियुरलदुगपरघाऊसासतसचउगाणं ॥ ७ ॥
बंधो भूयोगारो अप्पयरो तह अवट्ठिओ अत्थि ।
अत्थि चउविहो बंधो सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥ ८ ॥

(प्रे०) "सव्वणिरये"त्यादि, अष्टासु नरकमार्गणासु मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जत्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियादित्रसचतुष्काऽवसानानाञ्च नवानां भूयस्कारादयोऽवक्तव्यविरहितास्त्रयो रसबन्धा भवन्ति । कुतः ? ध्रुवबन्धिनीनां तथात्वात् । पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावेन निरन्तरबन्धित्वात् । किमुक्तं भवति ? मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वादिति भावः ।

अत्रेद तात्पर्यम्-या ध्रुवबन्धिप्रकृतयो मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानेऽपि बध्यन्ते याश्च मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिरूपास्तासामवक्तव्याख्यो बन्धो न भवतीति नियमसद्भावात् । यतोऽबन्धोत्तरपुनर्बन्ध एवाऽवक्तव्यबन्धव्यपदेशं लभते, ततः किम् ? आसामत्राऽबन्धो नैव लभ्यते, तत्कुतस्तदुत्तरभावी पुनर्बन्धलक्षणोऽवक्तव्यबन्ध इति ।

'चउविहो'इत्यादि,उक्तशेषाणां तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां प्रत्येकं चत्वारो भूयस्कारादयो रसबन्धा भवन्ति, अवक्तव्यबन्धस्याऽपि भावात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः—तत्र नरकौघमार्गणायामाद्यनरकत्रिके च मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपं ध्रुवबन्धिन्यष्टकं मनुष्यत्रिकं तिर्यक्त्रिकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकमुद्योतनाम जिननाम स्थिरषट्कमस्थिरषट्कं गोत्रद्विकं वेदनीयद्विकं हास्यादियुगलद्विकं वेदत्रिकञ्चेति त्रिपञ्चाशत् । चतुर्थादिनरकत्रिके जिननामवर्जा द्विपञ्चाशत् । सप्तमनरके मनुजायुषोऽपि बन्धाऽभावादेकपञ्चाशदिति ॥७-८॥

अथ तिर्यग्गत्योघादिष्वाह—

तिरिये पणिंदियतिरियतिगे य धुवबंधिऊणचत्ताए ।
तिविहो हवेज्ज बंधो चउव्विहो अत्थि सेसाणं ॥ ९ ॥

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमतीरूपासु चतसृषु मार्गणास्वेकोनचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां भूयस्कारादित्रिविधबन्धो भवति, कुतः ? मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टपञ्चमगुणस्थानकेऽपि तद्बन्धसद्भावात् । : किम् ? आसामवक्तव्यबन्धोऽत्र न प्राप्यते, अबन्धोत्तरपुनर्बन्धरूपत्वात्तस्येति । "सेसाणं" ति उक्तशेषाणां द्व्यशीतिप्रकृतीनां रसबन्धो भूयस्कारादिचतुष्प्रकारो भवति, अवक्तव्यबन्धस्याऽपि लाभात् । तदपि कुतः ? उच्यते, अध्रुवबन्धिनीनां तथात्वात् । मिथ्यात्वादिध्रुवबन्धिनीनां पुनर्मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानके बन्धाऽभावादिति ॥९॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्रकृतमाह—

असमत्तपणिदितिरियमणुसपणिदियतसेसु सव्वेसु ।
एगिंदियविगलिंदियपुहविदगवणप्फईसु च ॥ १० ॥
इगपणणासाए खलु धुवबंधीणं तहा उरालस्स ।
तिविहो हवेज्ज बंधो चउव्विहो अत्थि सेसाणं ॥ ११ ॥

(प्रे०) "असमत्ते" त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाचतुष्के 'सव्वे' इति पदस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वैकेन्द्रियादिसर्ववनस्पतिपर्यवसानास्वेकचत्वारिंशन्मार्गणासु चैकपञ्चाशद्ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽवक्तव्यवर्जभूयस्कारादित्रिविधो बन्धः, औदारिकशरीरस्य मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । ध्रुवबन्धिनीनां तु तथात्वादेव । शेषाणामेकषष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनां चतुर्विधो बन्धः, भूयस्कारादिरिति प्रकरणगम्यमिति ॥१०-११॥

अथ देवौघादिमार्गणास्वाह—

सुरसोहम्मदुगेसुं तेयालीसधुवबंधिणीण तहा ।
उरलपरघायऊसासतित्थबायरतिगाणं च ॥ १२ ॥
इह पणणासाए खलु बंधो तिविहोऽत्थि भूअगाराई ।
बंधो अत्थि चउविहो सेसाणं अद्धुवाणाए ॥ १३ ॥

(प्रे०) "सुर" इत्यादि, देवौघ सौधर्मेशानसुररूपासु त्रिमार्गणासु त्रिचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम पराघातनामो-च्छ्वासनाम जिननाम बादरत्रिकञ्चेति सप्तानां चेति प तः प्रकृतीनां भूयस्कारादिस्त्रिविधो बन्धोऽस्ति, हेतुः स्पष्टः । 'चउविहो' इत्यादि, सुगमम् ॥१२-१३॥

अथ भवनपतिदेवादिमार्गणासु प्रस्तुतमाह—

भवणतिगविउव्वेसुं तिचत्तधुवबंधिनायरतिगाण ।
परघूसासुरलाणं तिविहो चउहाऽत्थि सेसाण ॥ १४ ॥

(प्रे०) "भवण" इत्यादि, भवनपति-व्यन्तर ज्योतिष्कसुर वैक्रियकाययोगरूपासु चतुर्मार्गणासु ध्रुवबन्धिन्यादीनां नवचत्वारिंशत्प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धवर्जस्त्रिविधो रसबन्धः, बादरत्रिकादीनां बन्धस्य चतुर्विधत्वाऽभावस्तु मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । "सेसाण" मित्यादि सुगमम् । परं भवनपतित्रिकेऽष्टपञ्चाशतः, वैक्रियकाययोगे पुनर्नवपञ्चाशत इति ज्ञेयम्, जिननाम्नोऽपि नारकापेक्षयाऽवक्तव्यबन्धसंभवात् ॥१४॥ इदानीं सनत्कुमारादिदेवभेदेष्वाह–

तइआइसुरेसु छसु तेयालाअ धुवबंधिणीण तहा ।
पंचिंदियुरलदुगजिणपरघूसासतसचउगाणं ॥ १५ ॥
इइ तेपण्णासाए बंधो तिविहोऽत्थि भूअगाराई ।
बंधो बावण्णाए सेसाण चउव्विहो अत्थि ॥ १६ ॥

(प्रे०) "तइआइ" इत्यादि, सनत्कुमारादिसहस्रारान्तासु षण्मार्गणासु प्रकृतम् । 'तेआलाअ त्ति, मिथ्यात्वाद्यष्टविरहितत्वात् । जिननाम्नो मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वाऽभावेऽपि तद्बन्धकस्य निरन्तरं तद्बन्धप्रवर्तनेनाऽवक्तव्यबन्धाऽभावः । किमुक्तं भवति? तस्य चतुर्धा बन्धो न भवति किन्तु त्रिधैवेति । शेषं तु सर्वं गतार्थम् ॥१५-१६॥

अथाऽऽनतादिदेवमार्गणास्वाह—

तेराणताइगेसुं तेयालीसधुवबंधिणीण तहा ।
पंचिंदियणरुरलदुगजिणपरघूसासतसचउक्काणं ॥ १७ ॥ (गीतिः)
इइ पणपण्णासाए बंधो तिविहोऽत्थि भूअगाराई ।
बंधो अत्थि चउविहो छायालीसाअ सेसाणं ॥ १८ ॥

(प्रे०) "तेरा०" इत्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकाऽवसानेषु त्रयोदशदेवभेदेषु प्रत्येकम् । अत्र सर्वं सनत्कुमारादिमार्गणावत् । नवरं तिर्यक्त्रिकोद्योतयोरत्र बन्धाऽभावाद् मनुष्यद्विकस्य च मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात्, त्रिविधो बन्धः पञ्चपञ्चाशतः, मनुष्यद्विकप्रक्षेपात्। चतुर्विधस्तु षट्चत्वारिंशतः, मनुष्यद्विक तिर्यक्त्रिकोद्योतानां शोधनात् ॥१७-१८॥

अथाऽनुत्तरसुरादिमार्गणास्वाह—

पणऽणुत्तरमीसेसुं सायाइजुगलछक्कस्स चउहाऽत्थि ।
पणऽणुत्तरेसु मणुयाउस्स वि तिविहोऽत्थि सेसाणं ॥ १६ ॥

(प्रे०) "पण" इत्यादि, पणमार्गणासु प्रकृतम् । युगलषट्कन्त्वेवम्—साताऽसाते स्थिराऽस्थिरे शुभाऽशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती हास्यरती शोकाऽरती इति । चतुर्धा बन्धस्त्वासां द्वादशप्रकृतीनां बन्धस्य परावर्तमानत्वेनाऽवक्तव्यबन्धस्याऽपि लाभात् । 'मणुयाउस्स' त्ति, मिश्रदृष्टिमार्गणायामायुर्बन्धाऽभावात्पृथग्निर्देशः । चतुर्विधत्वं तु तद्बन्धस्य कादाचित्कत्वात् । 'तिविहो' इत्यादि, सुगमम् । नवरं शेषाणामिति स्वप्रायोग्यशेषाणामिति ज्ञेयम्, ततश्चाऽनुत्तरसुरमार्गणासु त्रिषष्टिः । मिश्रमार्गणायान्तु षट्षष्टिरिति ॥१६॥

अथ तेजस्कायवायुकायमत्कमर्वभेदेषु भूयस्कारादिबन्धानाह—

धुवबंधितिरिदुगउरलणीआणं सव्वतेउवाऊसुं ।
तिविहो हवेज्ज बंधो चउव्विहो अत्थि सेसाणं ॥ २० ॥

(प्रे०) "धुवे"त्यादि, एकपञ्चाशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा प्रस्तुतमार्गणासु ध्रुवबन्धिकल्पानां तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरनीचैर्गोत्राणां चेति पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनां मार्गणावर्तिभिः सर्वजीवैः सदैव बध्यमानत्वात् तासामवक्तव्यबन्धो नास्ति । अत एव तासां भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धा एव प्रस्तुतमार्गणावर्तिजीवानां भवन्ति, न पुनरासामवक्तव्यबन्धोऽपि । उक्तशेषाणां सायुष्काणां बन्धप्रायोग्याध्रुवबन्धिप्रकृतीनां चतुष्पञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुते परावर्तमानभावेन बन्धभावादासामवक्तव्यबन्धोऽपि भवति, अत आसां चतुष्पञ्चाशतो भूयस्कारादिचत्वारोऽपि बन्धाः प्रस्तुते भवन्ति ॥२०॥

अथौदारिकमिश्रादिमार्गणासु भूयस्कारादिबन्धानाह—

पणणधुवबंधिसुरदुगविउव्वदुगुरलजिणाणुरलमीसे ।
कम्मणाहारेसुं तिविहो चउहाऽत्थि सेसाणं ॥ २१ ॥

(प्रे०) "पणण" इत्यादि, पञ्चाशद्ध्रुवबन्धिन्यादीनां त्रिविधो बन्धः । कुत्र ? चकारस्य गम्यमानत्वाद् औदारिकमिश्रयोगः, कार्मणयोगः, अनाहारश्चेति त्रिमार्गणासु । सुरद्विकं नाम देवद्विकम् । ततश्च देवद्विकं वैक्रियद्विकमौदारिकशरीरनाम जिननाम चेति षट्प्रकृतीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वाऽभावेऽपि तद्बन्धकस्य गुणान्तरगमनाऽभावेन त्रिविधो बन्धः, न तु चतुर्विध इति भावः । 'चउहा' इत्यादि गतार्थम् । नवरं शेषाणामिति स्वप्रायोग्याणामिति बोध्यम् । ततश्चौदारिकमिश्रे उक्तशेषाणां द्वाषष्टिः । कार्मणाऽनाहारकमार्गण-

योस्तु षष्टेः, आयुषोर्बन्धाऽभावात्। ननु मिथ्यात्वस्य ध्रुवबन्धित्वेन कुतो नोक्त तद्बन्धस्य त्रिविधत्वम्? उच्यते, प्रकृतमार्गणासु द्वितीयादिगुणस्थानकभावेन मिथ्यात्वस्य मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थाने बन्धाऽभावात्। ततः किम्? मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानकेऽपि बध्यमानध्रुवबन्धिप्रकृतीनां बन्धस्य चतुर्विधत्वाऽभावः। मिथ्यात्वं तु न तथा, तस्मात्तद्बन्धस्य चातुर्विध्यमेवेति सर्वं संगतमिति, किञ्चात्र द्वितीयगुणस्थानात प्रथमगुणस्थाने यथा गमनं भवति, न तथा चतुर्थगुणस्थानाद् गुणान्तरगमन अत एव नानन्तानुबन्ध्यादीनामप्यवक्तव्यबन्धसम्भव इति ॥२१॥ अथ वैक्रियमिश्रमार्गणायामाह--

पणणाधुवबंधिजिणुरलपरघाऊसासखायरतिगाणं ।
विक्कियमीसे तिविहो बंधो चउहाऽत्थि सेसाणं ॥२२॥

(प्रे०) "पणण" इत्यादि, सर्वं गतार्थम्। नवरं जिननाम्नो मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वाऽभावेऽपि तद्बन्धकस्य निरन्तरं तद्बन्धप्रवर्तनात्। औदारिकशरीरनामादीनान्तु मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात्। उक्तशेषाः प्रकृतयस्तु नवचत्वारिंशदिति ॥२२॥

अथाऽऽहारककाययोगादिष्वाह--

आहारदुगे देसे सायाइछजुगलजिणसुराऊणं ।
बंधो अत्थि चउविहो सेसाण तिहा मुणेयव्वो ॥ २३ ॥

(प्रे०) "आहारदुगे" इत्यादि, आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-देशविरतिमार्गणासु प्रस्तुतम्। जिननाम्नश्चतुर्विधबन्धस्तु प्रस्तुतमार्गणासु तदभिनवबन्धस्य भावेनाऽवक्तव्यबन्धभावात्। शेष सर्वं गतार्थम्। नवरं शेषप्रकृतयस्तत्तन्मार्गणाप्रायोग्या वाच्याः ॥२३॥

अथ त्रिवेदेषु तथा क्रोधमार्गणायां प्रस्तुतमाह--

बंधो आवरणणवगचउसंजलणपणअंतरायाणं ।
वेअतिगे तह कोहे तिविहो चउहाऽत्थि सेसाणं ॥ २४ ॥

(प्रे०) "बंधो" इत्यादि, त्रिवेदक्रोधकषायरूपे मार्गणाचतुष्के प्रस्तुतम्। "आवरणणवग" त्ति, ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-सञ्ज्वलनचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकरूपा अष्टादश प्रकृतयः, तासां त्रिविधबन्धस्तु ध्रुवबन्धित्वात्। 'चउहा' इत्यादि, सुगमम्। शेषाः प्रकृतयस्तु षडुत्तरशतमिति ॥२४॥ अथाऽपगतवेदमार्गणायां प्रस्तुतभूयस्कारादीन् बन्धविशेषानाह--

अवगयवेए हवए सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
बंधो भूओगारो अप्पयरो तह अवत्तव्वो ॥ २५ ॥

(प्रे०) "अवगयवेए" इत्यादि, गतार्थम्। नवरमवस्थितबन्धाऽभावस्तु प्रस्तुतमार्गणायाः श्रेणावेव संभवेन तद्वर्तिजन्तो रसबन्धाध्यवसायाऽवस्थानाऽभावात् । अध्यवसायानां प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्यादिभावादिति भावः। मार्गणाबन्धप्रायोग्यप्रकृतयस्त्वेकविंशतिरिति ॥२५॥

अथ मानकषायादिमार्गणासु प्रकृतं विभणिषुस्तत्समानवक्तव्यत्वात्क्रोधमार्गणावत् सापवादमतिदिशन्नाह—

कोहव्व माणमायालोहेसु णवरि भवे अवत्तव्वो ।
कमसो संजलणाणं एगस्स य दोण्ह य चउण्हं ॥ २६ ॥

(प्रे०) "कोहव्व" इत्यादि, 'णवरि' त्ति अयं विशेषः—मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधमानयोर्लोभमार्गणायां तु चतुर्णां संज्वलनानामवक्तव्यबन्धः प्राप्यते । इदमुक्तं भवति—क्रोधमार्गणायां तु नैकस्याऽपि संज्वलनस्याऽवक्तव्यबन्ध आसीत्, श्रेणेरवतरज्जन्तोर्मार्गणाप्रारम्भक्षण एव संज्वलनचतुष्कबन्धप्रवर्तनात् । मायादित्रिमार्गणासु मार्गणाप्रारम्भाऽनन्तर संज्वलनक्रोधादिबन्धः प्रवर्तते, अतः सञ्ज्वलनक्रोधादेरवक्तव्यबन्धस्तत्रोपलभ्यत इति ॥२६॥

अथ ज्ञानचतुष्कादिष्वाह—

बंधो अत्थि चउविहो णाणचउगसंजमोहिसुक्कासु ।
सम्मखइउवसमेसु सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥ २७ ॥

(प्रे०) "बंधो" इत्यादि, ज्ञानचतुष्कादिषु दशमार्गणासु प्रकृतम्। चतुर्विधबन्धस्तु सर्वत्रोपशमश्रेणेरपि सद्भावात् । ततः किम् ? ध्रुवबन्धिन्यादीनामप्यवक्तव्यबन्धः प्राप्यत इति । स्वप्रायोग्याः प्रकृतयस्तु प्रथमाऽधिकारगतपञ्चमस्वामित्वद्वारतोऽवगन्तव्या इति ॥२७॥

अथ ज्यज्ञानमार्गणासु भूयस्कारादिबन्धानां दिदर्शयिषयाऽऽह—

तीसुं अणाणेसुं पण्णासाअ धुवबंधिपयडीणं ।
तिविहो हवेज्ज बंधो चउव्विहो अत्थि सेसाणं ॥ २८ ॥

(प्रे०) "तीसु" इत्यादि, 'पण्णासाअ' त्ति, मिथ्यात्ववर्जानाम्। 'तिविहो' त्ति, अवक्तव्यवर्जः, तद्वर्जनं तु तासां ध्रुवबन्धित्वात्। 'चउव्विहो' इत्यादि, सुगमम् । शेषप्रकृतयस्त्वेकसप्ततिरिति ॥२८॥ अथ सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणयोराह—

सामाइअछेएसुं णावावरणचरमलोहविग्घाणं ।
उच्चस्स अत्थि तिविहो बंधो चउहाऽत्थि सेसाणं ॥ २९ ॥

(प्रे०) "सामाइअ" इत्यादि, 'णवावरण' त्ति, ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-रूपा नव प्रकृतयः 'चरमलोह' त्ति, संज्वलनलोभः, 'विग्घाण' ति, अन्तरायपञ्चकस्यो-च्चैर्गोत्रस्य चाप्यवक्तव्यबन्धविरहस्तु तस्य मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । 'चउहा' इत्यादि, गतार्थम् । शेषप्रकृतयस्तु त्रिपञ्चाशत् । तास्चेमाः–निद्राद्विकं वेदनीयद्विकं लोभवर्जसञ्ज्वलन-त्रिकं हास्यरती शोकारती पुरुषवेदो भयजुगुप्से देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकमाहारक-द्विकं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदभिन्नं वर्ण-चतुष्कं त्रसदशकमस्थिराशुभे अयशःकीर्तिः पराघातोच्छ्वासाऽगुरुलघू-पघात-निर्माण-जिननामा नीति त्रिपञ्चाशदिति ॥२९॥

अथ परिहारविशुद्धिमार्गणायामाह–

परिहारम्मि चउविहो बारससायाइणिज्जराऊण ।
आहारदुगजिणाणं अत्थि तिहा सेसपयडीणं ॥ ३० ॥

(प्रे०) "परिहारम्मि" इत्यादि, चकारस्य गम्यमानत्वात्सातवेदनीयादीनां षोडश-तीनाम् । 'णिज्जराऊ' त्ति, देवायुः । चतुर्विधबन्धे हेतुरयम्–तत्र द्वादशानां सप्रति-पक्षत्वेनाऽवक्तव्यबन्धस्याऽपि संभवात् । देवायुराहारकद्विकजिननाम्नां बन्धस्य कादा-चित्कत्वात् । शेषं सर्वं गतार्थम् । नवरं शेषाः प्रकृतयस्त्रिपञ्चाशदिति ॥३०॥

अथ सूक्ष्मसंपरायमार्गणायामयतकापोतलेश्ययोश्चाऽऽह—

सुहमे दुहाऽत्थि बंधो सप्पाउग्गाण अजयकाऊसु ।
तिविहो धुवबंधीणं तेयालाअ चउहाऽत्थि सेसाणं ॥ ३१ ॥ (गीतिः)

(प्रे०) " हमे" इत्यादि, सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायां स्वप्रायोग्याणां सप्तदशप्रकृतीनां रसबन्धो भूयस्काराऽल्पतराख्यौ इति द्विधा भवति, इहाऽवस्थिताऽवक्तव्यौ न भवत इति भावः । कुतो न भवतः ? उच्यते–अध्यवसायाऽवस्थानाऽभावान्न भवत्यवस्थितबन्धः । मार्गणाप्रारम्भ-तस्तदवसानं यावत्कस्या अपि प्रकृतेर्न तनबन्धाऽभावान्न संभवत्यवक्तव्यबन्धोऽपीति । अथाऽयत-कापोतलेश्यामार्गणयोराह–'तिविहो' इत्यादि, सुगमम् । नवरं शेषाः प्रकृतय एकोनाशीति-रिति ॥३१॥

अथ कृष्णनीललेश्यामार्गणयोः प्रकृतमाह—

किण्हाए नीलाए तेयालीसधुवबंधितित्थाणं ।
तिविहो हवेज्ज बंधो चउव्विहो अत्थि सेसाणं ॥ ३२ ॥

(प्रे०) "अवगयवेए" इत्यादि, गतार्थम्। नवरमवस्थितबन्धाऽभावस्तु प्रस्तुतमार्गणायाः श्रेणावेव संभवेन तद्वर्तिजन्तो रसबन्धाध्यवसायाऽवस्थानाऽभावात् । अध्यवसायानां प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्यादिभावादिति भावः। मार्गणाबन्धप्रायोग्यप्रकृतयस्त्वेकविंशतिरिति ॥२५॥

अथ मानकषायादिमार्गणासु प्रकृतं विभणिषुस्तत्समानवक्तव्यत्वात्क्रोधमार्गणावत् सापवादमतिदिशन्नाह—

कोहव्व माणमायालोहेसु णवरि भवे अवत्तव्वो ।
कमसो संजलणाणं एगस्स य दोण्ह य चउण्हं ॥ २६ ॥

(प्रे०) "कोहव्व" इत्यादि, 'णवरि' त्ति अयं विशेषः—मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधमानयोर्लोभमार्गणायां तु चतुर्णां संज्वलनानामवक्तव्यबन्धः प्राप्यते । इदमुक्तं भवति—क्रोधमार्गणायां तु नैकस्याऽपि संज्वलनस्याऽवक्तव्यबन्ध आसीत्, श्रेणेरवतरज्जन्तोर्मार्गणाप्रारम्भक्षण एव संज्वलनचतुष्कबन्धप्रवर्तनात् । मायादित्रिमार्गणासु मार्गणाप्रारम्भाऽनन्तरं संज्वलनक्रोधादिबन्धः प्रवर्तते, अतः सञ्ज्वलनक्रोधादेरवक्तव्यबन्धस्तत्रोपलभ्यत इति ॥२६॥

अथ ज्ञानचतुष्कादिष्वाह—

बंधो अत्थि चउविहो णाणचउगसंजमोहिसुक्कासु ।
सम्मखइउवसमेसु सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥ २७ ॥

(प्रे०) "बंधो" इत्यादि, ज्ञानचतुष्कादिषु दशमार्गणासु प्रकृतम्। चतुर्विधबन्धस्तु सर्वत्रोपशमश्रेणेरपि सद्भावात्। ततः किम् ? ध्रुवबन्धिन्यादीनामप्यवक्तव्यबन्धः प्राप्यत इति। स्वप्रायोग्याः प्रकृतयस्तु प्रथमाऽधिकारगतपञ्चमस्वामित्वद्वारतोऽवगन्तव्या इति ॥२७॥

अथ त्र्यज्ञानमार्गणासु भूयस्कारादिबन्धानां दिदर्शयिषयाऽऽह—

तीसुं अणाणेसुं पणासाअ धुवबंधिपयडीणं ।
तिविहो हवेज्ज बंधो चउव्विहो अत्थि सेसाणं ॥ २८ ॥

(प्रे०) "तीसुं" इत्यादि, 'पणासाअ' त्ति, मिथ्यात्ववर्जानाम्। 'तिविहो' त्ति, अवक्तव्यवर्जः, तद्वर्जनं तु तासां ध्रुवबन्धित्वात्। 'चउव्विहो' इत्यादि, सुगमम्। शेषप्रकृतयस्त्वेकसप्ततिरिति ॥२८॥ अथ सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणयोराह—

सामाइअछेएसुं णाणावरणचरमलोहविग्घाणं ।
उच्चस्स अत्थि तिविहो बंधो चउहाऽत्थि सेसाणं ॥ २९ ॥

(प्रे०) "सामाइअ" इत्यादि, 'णवावरण' त्ति, ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-रूपा नव प्रकृतयः 'चरमलोह' त्ति, संज्वलनलोभः, 'विग्घाण' ति, अन्तरायपञ्चकस्यो-च्चैर्गोत्रस्य चाप्यवक्तव्यबन्धविरहस्तु तस्य मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । 'चउहा' इत्यादि, गतार्थम् । शेषप्रकृतयस्तु त्रिपञ्चाशत् । ताश्चेमाः–निद्राद्विकं वेदनीयद्विकं लोभवर्जसञ्ज्वलन-त्रिकं हास्यरती शोकारती पुरुषवेदो भयजुगुप्से देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकमाहारक-द्विकं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदभिन्नं वर्ण-चतुष्कं त्रसदशकमस्थिराशुभे अयशःकीर्तिः पराघातोच्छ्वासाऽगुरुलघु-पघात-निर्माण-जिननामा नीति त्रिपञ्चाशदिति ॥२९॥

अथ परिहारविशुद्धिमार्गणायामाह–

परिहारम्मि चउविहो बारससायाइणिज्जराऊण ।
आहारदुगजिणाणं अत्थि तिहा सेसपयडीणं ॥ ३० ॥

(प्रे०) "परिहारम्मि" इत्यादि, चकारस्य गम्यमानत्वात्सातवेदनीयादीनां षोडश-तीनाम् । 'णिज्जराऊ' त्ति, देवायुः । चतुर्विधबन्धे हेतुरयम्-तत्र द्वादशानां सप्रति-त्वेनाऽवक्तव्यबन्धस्याऽपि संभवात् । देवायुराहारकद्विकजिननाम्नां बन्धस्य कादा-चित्कत्वात् । शेषं सर्वं गतार्थम् । नवरं शेषाः प्रकृतयस्त्रिपञ्चाशदिति ॥३०॥

अथ सूक्ष्मसंपरायमार्गणायामयतकापोतलेश्ययोश्चाऽऽह–

सुहमे दुहाऽत्थि बंधो सप्पाउग्गाण अजयकाऊसु ।
तिविहो धुवबंधीणं तेयालाअ चउहाऽत्थि सेसाणं ॥ ३१ ॥ (गीतिः)

(प्रे०) " हमे" इत्यादि, सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायां स्वप्रायोग्याणां सप्तदशप्रकृतीनां रसबन्धो भूयस्काराऽल्पतराख्यौ इति द्विधा भवति, इहाऽवस्थिताऽवक्तव्यौ न भवत इति भावः । कुतो न भवतः ? उच्यते–अध्यवसायाऽवस्थानाऽभावान्न भवत्यवस्थितबन्धः । मार्गणाप्रारम्भ-तस्तदवसानं यावत्कस्या अपि प्रकृतेर्न तनबन्धाऽभावान्न संभवत्यवक्तव्यबन्धोऽपीति । अथाऽयत-कापोतलेश्यामार्गणयोराह–'तिविहो' इत्यादि, सुगमम् । नवरं शेषाः प्रकृतय एकोनाशीति-रिति ॥३१॥

अथ कृष्णनीललेश्यामार्गणयोः प्रकृतमाह–

किण्हाए नीलाए तेयालीसधुवबंधितित्थाणं ।
तिविहो हवेज्ज बंधो चउव्विहो अत्थि सेसाणं ॥ ३२ ॥

(प्रे०) "किण्हाए" इत्यादि, 'तेयालीस' त्ति, मिथ्यात्वाद्यष्टवर्जाः । जिननाम्नोऽवक्तव्यबन्धाऽभावस्तु प्रस्तुतमार्गणयोर्मनुष्याणामेव जिननामबन्धभावात् । तेषाञ्च प्रस्तुतमार्गणयोः तद्बन्धप्रारम्भाऽभावात् । शेषं तु गतार्थम् । नवरं शेषाः प्रकृतयोऽष्टासप्ततिरिति ॥३२॥

अथ तेजोलेश्यामार्गणायामाह—

पणतीसाअ धुवाणं परघाऊसासबायरतिगाणं ।
तेऊअ अत्थि तिविहो बंधो चउहात्थि सेसाणं ॥ ३३ ॥

(प्रे०) 'पणतीसाअ' इत्यादि, तत्र 'पणतीसाअ' त्ति, मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिकाऽऽद्यद्वादशकषायवर्जाः । तद्वर्जनं तु तासां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानके बन्धाऽभावात् । पराघातनामादीनां त्रिविधबन्धस्तु तेषां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । 'चउहा' इत्यादि, सुगमम् । नवरं शेषाः प्रकृतयः पञ्चसप्ततिरिति ॥३३॥

अथ पद्मायाम्—

पणतीसधुवपणिदियपरघाऊसासतसचउकाणं ।
पउमाअ अत्थि तिविहो बंधो चउहाऽत्थि सेसाणं ॥ ३४ ॥

(प्रे०) "पणतीस" इत्यादि, इह सर्वमनन्तरोक्ततेजोलेश्यामार्गणावदेव, नवरं पञ्चेन्द्रियत्रसनाम्नोरिह मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वेनाऽवक्तव्यबन्धाऽभावात् त्रिविधो बन्धः, न तु तेजोलेश्यावच्चतुर्विधः । शेषाः प्रकृतयस्तु सप्ततिः, स्थावरैकेन्द्रियाऽऽतपनाम्नां बन्धाऽभावात्पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्बन्धस्याऽनन्तरमेवोक्तत्वाच्च ॥३४॥

अथाऽभव्यादित्रिमार्गणास्वाह—

इगपण्णासाए धुवबंधीण अभवियमिच्छअमणेसु ।
तिविहो हवेज्ज बंधो चउव्विहो अत्थि सेसाणं ॥ ३५ ॥

(प्रे०) "इगपण्णासाए" इत्यादि, अत्रैकपञ्चाशतो नाम सर्वासाम् । कुतस्त्रिविध एव बन्ध इति चेत् ? उच्यते, आद्यस्यैव गुणस्थानकस्य भावेन या अपि ध्रुवबन्धिन्या अबन्धस्याऽभावात् । ततः किम् ? अबन्धस्याऽभावेन नूतनबन्धप्रवर्तनरूपस्याऽवक्तव्यबन्धस्याऽभाव एवेति । शेषं कण्ठ्यम् । नवरं शेषाः प्रकृतयः सप्ततिरिति ॥३५॥

अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

वेअगसम्मत्ते खलु स हस्सरइथिरसुहजस ।
ताण य पडिवक्खाणं मज कसायाण अट्ठण्हं ॥ ३६ ॥

तह णरसुरतिगुरालियविउवाहारदुगवइरतित्थाणं ।
अत्थि चउविहो बन्धो अत्थि तिहा सेसपयडीणं ॥ ३७॥

(प्रे०) 'वेअग" इत्यादि, इह 'पच्चिवक्खाण' ति, सातादिप्रतिपक्षभूताऽसातशोकाऽरत्यस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिरूपाणां च । तथा द्वितीयगाथायां त्रिकशब्दस्य द्विकशब्दस्य च स्वपूर्ववर्तिपदेषु प्रत्येकं योजनात् सातवेदनीयादिजिनाऽवसानानां चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनां चतुर्विधो बन्धः, अवक्तव्यबन्धस्याऽपि लाभात् । कथम् ? सातादीनां परावर्तमानत्वात् । अष्टकषायाणां ध्रुवबन्धित्वेऽपि मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थाने बन्धाऽभावात् । नरद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननानां क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिमनुष्यस्य दिवं गतस्य देवभवप्रथमसमये तदवक्तव्यबन्धभावात् । सुरद्विकवैक्रियद्विकयोरप्यनन्तरोक्तनीत्यैव, नवरं व्यत्ययेन ज्ञेयम्, तद्यथा-क्षायोपशमसम्यग्दृष्टिदेवस्य मानुष्यं प्राप्तस्य मनुजभवप्रथमसमये तदवक्तव्यबन्धो भवतीति । आहारद्विकस्याऽऽयुषोश्च बन्धस्य कादाचित्कत्वात् । जिननाम्नस्तु मार्गणाप्रविष्टस्य कस्यचिदेव मनुष्यभवे नूतनबन्धप्रवर्तनात् । इत्येवमासां सर्वासामवक्तव्यबन्धः लभ्यत इति । 'तिहा' इत्यादि, सुगमम् । शेषाः प्रकृतय एकोनपञ्चाशदिति ॥३६-३७॥

अथ प्रस्तुतसत्पदवक्तव्यं समापयन्सास्वादनमार्गणायां प्रकृतं विभणिषुराह—

पणासधुवपणिदियपरघाऊसासतसचउक्काणं ।
सासाणे अत्थि तिहा बंधो चउहाऽत्थि सेसाणं ॥ ३८ ॥

(प्रे०) "पणास" इत्यादि, सुगमम्, नवरं 'पणास' त्ति, मिथ्यात्वविरहिताः, तद्बन्धस्य प्रथमगुणस्थान एव भावात् । पराघातनामादीनां तु मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वाद्ध्रुवबन्धिवत् त्रिविध एव बन्धः । 'चउहा' इत्यादि, गतार्थम् । शेषाः प्रकृतयस्त्वष्टचत्वारिंशत्ताश्चेमाः-वेदनीयद्विकम्, हास्यरती, शोकाऽरती, स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, देवत्रिकम्, मनुष्यत्रिकम्, तिर्यक्त्रिकम्, वैक्रियद्विकम्, औदारिकद्विकम्, आद्यसंहननपञ्चकम्, आद्यसंस्थानपञ्चकम्, विहायोगतिद्विकम्; अस्थिरषट्कम्, स्थिरषट्कम्, उद्योतनाम गोत्रद्विकञ्चेति ॥३८॥ गतं सत्पदद्वारम् ।

॥श्री प्रेमप्रभाटिकाविभूषिते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्तं स्वामित्वद्वारम्। तत्राऽऽदौ तावदुत्तरप्रकृतीनां रसस्य भूयस्कारादित्रिविधबन्धानामोघाऽऽदेशाभ्यां स्वामित्वं निरूपयंस्तथाऽवक्तव्यबन्धस्य स्वामित्वादिभावपर्यन्तेषु द्वारेषु वक्तव्यतामतिदिशन्नाह—

सव्वेसि पयडीणं अगणयरो कुणइ भूअगारं च ।
अप्पयरमवट्ठाणं एमेव हवेज्ज सव्वासु ॥ ३९ ॥
णवरि अवेए सुहमे सायजसुच्चाण सेढिमारूढो ।
णए भूओगारं णिवडंतो कुणइ अप्पयरं ॥ ४० ॥
सेसाण भूअगारं कुणए उवसामगो णिवडमाणो ।
उवसमगो खवगो वा चडमाणो णइ अप्पयरं ॥ ४१ ॥
एगारससामिपहुडिदारेसु भवे परूवणा सव्वा ।
ओहेणाएसेण अवत्तव्वस्स ठिइबंधव्व ॥ ४२ ॥

(प्रे०) "**सव्वेसि**"मित्यादि, ओघतश्चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनाम्, सप्तत्युत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सायुषां सर्वप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धानां स्वामी तद्बन्धकेष्वन्यतमो भवति। अयं भावः—सामान्यत ओघे मार्गणासु च संक्लेशविशुद्ध्योः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं भावेन ...त्र बन्धप्रायोग्याणां भूयस्काराऽल्पतरबन्धौ संभवतः। तत्र शुभप्रकृतीनां संक्लेशवृद्धावल्पतरः, विशुद्धिवृद्धौ भूयस्कारः, अशुभप्रकृतीनां तु संक्लेशाऽवस्थायां भूयस्कारबन्धः, विशुद्ध्यवस्थायामल्पतरबन्धो भवति, एवं गतवेदं सूक्ष्मसंपरायं च विहाय प्रतिमार्गणं रसबन्धाऽध्यवसायसत्काऽवस्थानस्याऽपि संभवादोघे मार्गणासु च बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धकालेऽवस्थितरसबन्धस्याऽपि ...ोग्यत्वं भवति, अतोऽत्र 'अन्यतर' शब्देनौघे मार्गणासु च विशुद्ध्यमानः शुभप्रकृतीनां भूयस्कारबन्धकतया, अशुभप्रकृतीनां पुनरल्पतरबन्धकतया, संक्लिश्यमानस्तु शुभ...तीनामल्पतरबन... ।, अशुभप्रकृतीनां भूयस्कारबन्धकतया, अवरि... रसबन्धाध्यवसायः पुनः शुभा...भप्रकृतीनामवस्थितबन्धकतया ग्राह्यः। अपगतवेदसूक्ष्मसंपरायसंयमयोः स्वामि... -पोद्य स्पष्टतया ...द्वयेन दर्शयति। तद्यथा-अ... वेदसूक्ष्मसंपरायमार्गणाद्वये उपशमश्रेणेः क्षपकश्रेणेर्वाऽऽरोहकाणां प्रवर्धमाना विशुद्धिर्भवति, ...स्तत्र बध्यमानशुभप्रकृतीनां सातवेदनीय-यशःकी...च्चैर्गोत्ररूपाणां ते भूयस्क... बन्धस्वामिनः, सूक्ष्मसंपराये ज्ञानावरणादिचतुर्दशानामशुभ...तीनां तथाऽपगतवेदमार्गणायां संज्व...कसहितानामष्टादशानामशुभप्रकृतीनां ते पुन-

ल्पतररसबन्धस्वामिनो भवन्ति । उक्तमार्गणाद्वय उपशमश्रेणितः प्रतिपततां वर्धमानसंक्लेशो भवति, अतस्तत्र बध्यमानशुभप्रकृतित्रयस्य तेऽवरोहका अल्पतररसबन्धस्य स्वामितया; त एव पुनरशुभप्रकृतीनां यथासंभवं चतुर्दशानामष्टादशानां वा भूयस्काररसबन्धस्वामितया प्राप्यन्त इति । अत्र मार्गणाद्वये दशमगुणस्थानकस्य चरमसमयं यावदवस्थितपरिणामस्यैवाऽभावान्न भवत्यवस्थितरसबन्धः, अतो न तत्स्वामित्वनिरूपणमिति । तदेवं गाथात्रयेण भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धानां स्वामित्वमोघाऽऽदेशाभ्यां निरूपितम् ।

अथाऽवक्तव्यरसबन्धस्य प्राऽऽह—"एगारसे" त्यादि, अवक्तव्यबन्धो नाम बन्धप्रथमसमयवर्तित्वम् । तत्र तद्बन्धस्य भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितबन्धत्वेन निरूपणाऽभावात्तत्तत्प्रकृतीना बन्धप्रथमसमय एव; यथा तत्तत् प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धो भवति; तथैव स्थितिरसप्रदेशबन्धानामपि तदैवाऽवक्तव्यबन्धो भवति, केवलमेकादशगुणस्थानतः प्रतिपततः सातवेदनीयस्य प्रकृतिबन्धेऽवक्तव्यबन्धाऽभावेऽपि स्थितिरसप्रदेशबन्धानामवक्तव्यबन्धो भवति, स्थितिरसबन्धस्य तत्रैकादशगुणस्थानेऽभावात् , प्रदेशबन्धस्य भावेऽपि तत्राऽकषायप्रदेशबन्धत्वेन सकषायप्रदेशबन्धस्य च प्रस्तुतेऽधिकृतत्वेनोपशान्तमोहे तदभावात् । अतः प्रकृतिबन्धादिष्ववक्तव्यबन्धस्य तुल्यत्वेऽपि भूयस्कारादिबन्धानां प्रकृतिबन्धे नानाप्रकृतिबन्धसद्भाव एव भावेन नानाप्रकृतिबन्धस्य बन्धस्थानरूपत्वेन च तत्र प्रकृतिबन्धे भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धानां बन्धस्थानान्यधिकृत्यैव निरूपितत्वात् न तत्र प्रत्ये कृतिमधिकृत्याऽवक्तव्यबन्धस्य निरूपणम् ; अवक्तव्यबन्धस्य भूयस्कारादिबन्धसापेक्षत्वात् तत्तत्प्रकृतिबन्धे भूयस्कारादिप्रकृतिबन्धस्याऽसंभवान्न प्रकृतिबन्धे त्प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धनिरूपणमिति । अतः स्थितिबन्धसत्काऽवक्तव्यबन्धस्य प्ररूपणा यथा स्वामित्वाद्येकादशद्वारेषु कृता तथैव प्रस्तुते रसबन्धसत्काऽवक्तव्यबन्धेऽपि निरूपणा कार्या । तथैव प्रदेशबन्धेऽपीति । अल्पबहुत्वं विहाय स्वामित्वाद्येकादशद्वारेष्ववक्तव्यबन्धस्य स्थितिरसप्रदेशेष्वेकरूपत्वेन तत्प्ररूपणायाः समानत्वात्तथैवाऽतिदेश इति । स्वामित्वाद्येकादशद्वारनामानि पुनरेवम्-स्वामित्वद्वारं कालद्वारमन्तरद्वारं भङ्गविचयद्वारं भागद्वारं परिमाणद्वारं क्षेत्रद्वारं स्पर्शनाद्वारं नानाजीवाश्रयं कालद्वारं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारं भावद्वारं चेति । क्तव्यबन्धनिरूपणस्य विस्तरतः प्राक् स्थितिबन्ध उत्तरत्र प्रदेशबन्धे च त्वात् करिष्यमाणत्वाच्च ततोऽवसातव्यः न पुनरत्र प्रतन्यते; विशेषाऽभावात् । ननु युक्तं स्थितिबन्धे विवरणम् , प्रदेशबन्धे कस्मात्पुनर्विवरिष्यत इति चेद् ? उच्यते, भिन्नभिन्नरुचिकत्वात्तत्तद्वृत्तिकाराणामिति न दोषः ॥३९-४२॥ तदेवं स्वामित्वद्वारं गतम् ।

श्री प्रेमप्रभाटिकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे द्वितीय स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

अथ तृतीयकालद्वारस्य निरूपणाऽवसरः, तत्र भूयस्कारादिपदत्रयस्यौघादेशाभ्यां जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधमेकजीवाश्रयं कालं सातिदेशं सापवादं च निरूपयन्नाह—

तिपयाण लहू समयो सव्वाणाऊणऽवट्ठियस्स गुरू ।
सत्तऽड व खणाऽणेसिं भिन्नमुहुत्तमखिलाण दुपयाणं॥ ४३ ॥ (गीतिः)
सव्वह एवं णवरि अगुरुरसकालो अवट्ठियस्स गुरू ।
कम्माणाहारेसुं हवेज्ज दुपयाण समयूणो ॥ ४४ ॥

(प्रे०) "तिपयाण" इत्यादि, ओघतश्चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धानामेकजीवाश्रितो जघन्यकालः समयप्रमाणो भवति, परावर्तमानपरिणामे वृद्धिहान्योः समयेनाऽपि परावर्तनात् समयप्रमाणः कालः प्राप्यत इति । रसबन्धाऽध्यवसाये एकसमयतोऽष्टसमयं यावज्जीवस्याऽवस्थानं भवति । तत्र यद्येकसमयमात्रमवस्थानं करोति; तदा तत्पूर्वसमयगतरसबन्धाऽध्यवसायतोऽस्य न्यूनत्वमधिकत्वं वाऽवश्य भवति । अतः प्रथमसमये भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोरन्यतरस्यैव भावेन नाऽवस्थितबन्धतया तस्य ग्रहणं कार्यम्, अतो रसबन्धाऽध्यवसाये यदा समयद्वयं जीवस्याऽवस्थितिर्भवति तदा द्वितीयसमये समयमात्रमवस्थितरसबन्धो भवति । यदा पुना रसबन्धाऽध्यवसाय उत्कृष्टतोऽष्टसमयान् यावज्जीवस्याऽवस्थितिर्भवति, तदा प्रकृतिबन्धस्य निरन्तरं भावेनाऽऽद्यसमयं विहाय शेषेषु सप्तसमयेष्ववस्थितरसबन्धो भवति, अत ओघतश्चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य तथाऽपगतवेदसूक्ष्मसंपरायमार्गणयोरवस्थितरसबन्धस्याऽभावात्ते विहाय कार्मणाऽनाहारकद्वयं च वर्जयित्वा शेषासु षट्षष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सायुषां सर्वासां प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धस्य जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठकालस्तु सप्तसमया विज्ञेयः । अत्र केचिदष्टसमया इति प्रतिपादयन्ति, तत्तु रसबन्धाऽध्यवसायाऽवस्थानस्य तथात्वेन तथा निर्देशः, न पुनरवस्थितरसबन्धस्याऽष्टसमया इति । भूयस्काराऽल्पतररसबन्धयोर्ज्येष्ठकालोऽन्तर्मुहूर्तं संक्लेशविशुद्ध्यद्धाया अवश्यमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं परावर्तनादेतयोरपि परावृत्तिः, अत उक्तकाल एवोत्कृष्टतः प्राप्यत इति । एवं साऽतिरे [illegible] थया पदत्रयस्य बन्धकालो दर्शितः, केवलं यो कार्मणाऽनाहारकयोर्विशेषः, स 'णवरि' इत्यादिना दर्श्यते—कार्मणाऽनाहारकमार्गणयो रसबन्धकजीवानां विग्रहगतौ [illegible] यत्रयमुत्कृष्टतोऽवस्थानान्न पदत्रयस्य ज्येष्ठकाल उक्तप्रमाणोऽत्र संभवति, अतस्तत्राऽपवादकथनम्—भूय [illegible] ल्पतरबन्धयोरुत्[illegible] कालस्तु समय न्यूनतत्तत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकालप्रमाणः कार्मणाऽनाहा[illegible] र्गणाद्वये भवति, प्रथमसमय-

बन्धस्य भूयस्काराऽल्पतरबन्धत्वेनाविवक्षणात्तथाऽवस्थितरसबन्धस्य मार्गणाप्रथमसमयेऽपि विवक्षितत्वेन तस्यानुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालवदुत्कृष्टकालो भवति, अत्रेदृग्विवक्षणहेतुस्तु स्थितिबन्धे विस्तरतो विवृत्तोऽतस्ततोऽवसेय इति । अयं भावः–अत्र मार्गणाद्वये ज्ञानावरणीयादिद्विनवतिप्रकृतीनां वैक्रियद्विकादीनां कासाश्चित्प्रकृतीनां क्रमेणाऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठकालः समयत्रयप्रमाणः समयद्वयप्रमाणश्च ज्ञातव्यः, तथा भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोस्तासामेव प्रकृतीनां क्रमेण समयद्वयप्रमाणः समयप्रमाणश्च ज्ञातव्य इति ॥४३-४४॥ तदेवं कालद्वारं समाप्तम् ।

॥ श्री प्रेमप्रभाटिकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे तृतीय कालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ चतुर्थमन्तरद्वारम् ॥

अथ उत्तरप्रकृतिरसबन्धे भूयस्काराऽधिकारेऽन्तरद्वारस्याऽवसरः, तत्राऽऽदौ तावद् भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धानां तन्निरूपयन्नाह—

समयो तिपयाणंतरमोहाएसेहिं हस्समखिलाणं ।
भूगारप्पयराणं गुरुमगुरुरसव्व विरागोयं ॥४५॥
णवरि जहिं जाण दुखणा गुरुमगुरुरसस्स तहिं मुहुत्तंतो ।
सि णऽखिलाण अवेए कम्मे सुहमे अणाहारे ॥४६॥

(प्रे०) "समयो" इत्यादि, ओघतः सर्वप्रकृतीनामादेशतो मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सर्वप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धानामेकजीवाश्रितं जघन्यमन्तरं समयप्रमितं भवति, विवक्षितबन्धद्वयाऽन्तराले समयप्रमाणस्य विरुद्धरसबन्धस्य प्राप्तेरिति । केवलं कार्मणाऽनाहारकयोर्भूयस्काराऽल्पतररसबन्धयोरन्तरं नाऽस्ति, मार्गणाद्वये द्वितीयतृतीयसमयद्वये एव तद्बन्धप्रायोग्यत्वात्, अन्तरस्य समयत्रयाधीनत्वात् । सूक्ष्मसंपरायाऽपगतवेदमार्गणाद्वये बन्धप्रायोग्याणां भूयस्काराऽल्पतररसबन्धयोरन्तरं नाऽस्ति, निरन्तरप्रवृत्तमार्गणायां तद्बन्धविच्छेदादनु तयोः पुनर्बन्धाऽभावात् ।

भूयस्काररसबन्धस्य ज्येष्ठमन्तरं यासु मार्गणासु यासां प्र ृतीनां गुणप्रत्ययेन भवप्रत्ययेन वा प्रकृतिबन्धाऽन्तरं भवति, तासां तत्प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं भवति यद्वाऽनुत्कृष्टरसबन्धाऽन्तरवद् भवति, अयं भावः–प्रकृतिबन्धे यासु यासां यावत् प्रकृतिबन्धान्तरं निरूपितं तावत् तासु तासामनुत्कृष्टरसबन्धान्तरं प्राप्यते, तदेवान्तर्मुहूर्ताधिकं भूयस्काराल्पतररसबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरमवधेयम्, यासां पुनरनुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं प्रकृतिबन्धान्तराभावेन तत्प्रयुक्तं न प्राप्यते, त—

णमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालप्रयुक्तं प्राप्यते, किन्त्वत्र तद्विरुद्धबन्धप्रयुक्तमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्राप्यते, अतो 'नवरि' इत्यादिनाऽपोदितम् । एवमल्पतररसबन्धस्याऽपि ज्येष्ठमन्तरं प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य संभवे तत्प्रयुक्तम् , तदसंभवे विपरितबन्धज्येष्ठकालप्रयुक्तं विज्ञेयमिति । गाथाया उत्तरार्धेन तु कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वयेऽवेदसूक्ष्मसंपराययोश्च भूयस्काराऽल्पतररसबन्धयोरन्तराऽभावो दर्शितः, स च जघन्याऽन्तरप्रस्तावे भावितः । तदेवमोघाऽऽदेशाभ्यां बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतररसबन्धानां जघन्यमुत्कृष्टं चाऽन्तरमवस्थितरसबन्धस्य च जघन्याऽन्तरं दर्शितम् ॥४५-४६॥ अथाऽवस्थितरसबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं मापवादमतिदेशेन दर्शयन्नाह–

जह अत्थि वक्खमाणो पएसबंधे अवट्ठिअस्स गुरु ।
तहिह वि से गुरुमुज्झं णवरं जहि वुच्चए जेसि ॥ ४७ ॥
सेढिअसंखियभागो तहि सि जेट्ठं असंखलोगाऽत्थि ।
सुरविउवदुगजिणाणं उरालमीसे मुहुत्तंतो ॥ ४८ ॥
सव्वाण हुरंतो वेउव्वाहारमीसजोगेसु ।
जाणाऽत्थि ताण णेयं समयो कम्मे अणाहारे ॥ ४९ ॥
सव्वासु लेसासु पयडीबंधंतरव्व विण्णेयं ।
उक्कोसमंतरं खलु देवविउव्वियदुगाणं तु ॥ ५० ॥

(प्रे०) 'जह' इत्यादि, ओघतो बन्धप्रायोग्यचतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामादेशतो बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामेकजीवाश्रयमवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं यथोत्तरग्रन्थे उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे द्वितीयभूयस्काराधिकारे वक्ष्यति ग्रन्थकारस्तथाऽत्राऽप्यवसातव्यम् , विहाय वक्ष्यमाणान्यपवादपदानीति ।

ननु पूर्वनिरूपितग्रन्थेऽतिदेशस्तु युक्तः, वक्ष्यमा न्थे त्वतिदेशः कथं विहितः, कस्मात् पुनरत्र स्पष्टं प्रदर्श्य तत्राऽतिदेशो न कृत इति चेत् , उच्यते, इह तावद् मूलकारस्तद्ग्रन्थवृत्तिकाराश्च समकालभाविनः, अत्र च प्रदेशबन्धसत्का भूयस्काराऽधिकारस्य वृत्तिर्मुनिश्रीमुनिचन्द्रविजयेन प्रथमं विहिता ततस्तत्र विस्तरतस्तत्प्ररूपणमावश्यकं तदनु च कियत्सु वर्षेषु गतेषु रसबन्धसत्कास्याधिकारस्य वृत्तिर्मया मुनिजयघोषेण प्रारब्धा, अतोऽत्र विस्तरतो विहितमपि गाथासमूहं विमुच्य ग्रन्थकृता पुनस्तत्संक्षेपः कृत इति न काचिदनुपपत्तिरयुक्तं वेत्यवधार्यम् ।

अथ प्रस्तुतम्–अत्राऽतिदेशकरणेऽयं भावार्थः–यथाऽवस्थितप्रदेशबन्धः क्वचित्कदाचिद् भवति तथाऽवस्थितरसबन्धोऽपि । यथा च तत्राऽवस्थितप्रदेशबन्धस्य योगस्थानाऽवस्थानाऽधीनत्वे-

नाऽवस्थितयोगस्य चोत्कृष्टतः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणकालं यावद्विरहसंभवाच्छ्रेण्यसंख्येयभागतो न्यूनकायस्थितिकासु मार्गणास्ववस्थितप्रदेशबन्धो भवति वा, न वा, तथैवाऽवस्थितरसबन्धस्य रसबन्धाऽध्यवसायाऽवस्थानाधीनत्वेन रसबन्धाऽवस्थानस्योत्कृष्टतोऽसंख्येयलोककालप्रमाणं यावदप्राप्यमाणत्वात् ततो न्यूनकायस्थितिकासु मार्गणासु तत्र प्रविष्टज्येष्ठकायस्थितिकजीवस्याऽप्यवस्थितरसबन्धः कदाचिद् भवति, कदाचित्तु सम्पूर्णमार्गणाज्येष्ठकायस्थितिं व्यतिक्रामतोऽपि तन्न भवति । अतोऽवस्थितरसबन्धस्याऽवस्थितप्रदेशबन्धस्याऽसंख्यलोकतो न्यूनकायस्थितिकासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनां यथासम्भवं मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते च रसबन्धाऽवस्थानस्याऽवस्थितप्रदेशबन्धस्य वा प्रवर्तनेन मार्गणाया देशोनज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं ज्येष्ठमन्तरं प्राप्यते । केवलं जिननाम्नस्तत्तन्मार्गणायां प्रकृतिबन्धकालाऽपेक्षया यथासंभव भावना कार्येति । अत एवाऽवस्थितप्रदेशबन्धाऽन्तरवदवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं प्राप्यते ।

प्रस्तुते श्रेण्यसंख्यभागप्रमाणज्येष्ठकायस्थितिका नैकाऽपि मार्गणा, ततोऽधिककायस्थितिका मार्गणा पुनरसंख्यलोकादिकायस्थितिकैव, न पुनरसंख्यलोकतो न्यूना काचित् । अतोऽसंख्यलोककायस्थितिकासु तदधिककायस्थितिकासु वा मार्गणास्वेकेन्द्रियाऽवस्थायां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनामवस्थितप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं तत्र श्रेण्यसंख्येयभागो निरूपितम् , प्रस्तुते तु तासां ज्येष्ठाऽन्तरमसंख्येयलोकप्रमाणं विज्ञेयमिति प्रथमोऽपवादः ।

औदारिकमिश्रयोगमार्गणायां करणाऽपर्याप्ताऽवस्थाया योगसत्काऽवस्थानस्याऽभावेन देवद्विकादिपञ्चानामवस्थितप्रदेशबन्धो न भवति, अतस्तदन्तरमपि नाऽस्ति, प्रस्तुते त्वपर्याप्ताऽवस्थायामपि तद्भावाद् देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नामवस्थितरसबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् मार्गणाकायस्थितेरेवाऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वात् । शेषप्रकृतीनां पुनस्तत्राऽपि लब्ध्यपर्याप्तानां द्वित्रिभागादूर्ध्वमवस्थितयोगस्थानाऽवाप्त्या तत्राऽप्यवस्थितप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमन्तर्मुहूर्तं लभ्यते, तथैवाऽत्राऽपि, केवलमत्राऽन्तरत्वेन प्राप्यमाणमन्तर्मुहूर्तं विशेषाऽधिकं संख्येयगुणं वा द्रष्टव्यम् ।

वैक्रियमिश्राऽऽहारकमिश्रयोगद्वये योगस्य प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्ध्याऽवस्थानं नैव भवति, अतोऽवस्थितप्रदेशबन्धाऽभावान्न तदन्तराऽवकाशः, प्रस्तुते तु तद् भवति, रसबन्धाऽध्यवसायसत्कवृद्धिहान्योः सद्भाववदवस्थानस्याऽपि भावात् । अत उक्तमार्गणाद्वये बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, मार्गणाकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन ततोऽधिकाऽन्तरस्याऽसम्भवात् , इति मार्गणात्रयसत्को द्वितीयोऽपवादः ।

कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये स्थावराणां प्रकृष्टकालः त्रिसमयमितः प्राप्यते तत्र यासां प्रकृतीनां बन्धो भवितुमर्हति तासामवस्थितरसबन्धस्य समयप्रमाणमन्तरं जघन्यमुत्कृष्टं च प्राप्यते,

यासां पुनः प्रकृतीनां बन्धः प्रस्तुतमार्गणाद्वये केवलं त्रसजीवानामेव भवति तासां बन्धकजीवाऽपेक्षया प्राप्यमाणप्रस्तुतमार्गणायाः समयद्वयमेवाऽवस्थानादवस्थितबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्तीति तृतीयोऽपवादः ।

'सव्वा ' मित्यादि, लेश्यामार्गणापट्के देवद्विकवैक्रियद्विकयोरवस्थितप्रदेशबन्धाऽन्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुते तदन्तरमन्तर्मुहूर्तादभ्यधिकमवसातव्यम् , तदन्तरं पुनरेवम्—कृष्णलेश्यायां देवद्विकस्य पल्याऽसंख्येयभागः, वैक्रियद्विकस्य सातिरेकद्वाविंशतिसागरोपमाणि, नीललेश्यायां देवद्विकस्य पल्योपमासंख्येयभागः, वैक्रियद्विकस्य पल्याऽसंख्येयभागाऽधिकसागरोपमदशकं सातिरेकसप्तदशसागरोपमाणि वा, कापोतलेश्यायां देवद्विकस्य पुनर्यावत्स्थितिषु नैरयिकेषु क्षायिकसम्यग्दृशामुत्पत्तिर्भवति तावत्कालं प्रकृतिबन्धाऽन्तरं तच्च देशोनसागरोपमं साऽतिरेकसागरोपमत्रयं वा, अत्राऽवस्थितरसबन्धाऽन्तरं पुनरन्तर्मुहूर्तेनाऽभ्यधिकं बोद्धव्यम् । वैक्रियद्विकस्य पल्यासंख्यभागाधिकं सागरोपमत्रयं सप्तसागरोपमं वा । शुभलेश्यात्रये देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्देशोनकायस्थितिः प्रस्तुताऽन्तरं विज्ञेयमिति । मतान्तरे पुनः कृष्णलेश्यानीललेश्यामार्गणाद्वये देवद्विकस्याऽन्तर्मुहूर्तं प्रस्तुताऽन्तरं विज्ञेयम् , तेषां मते देवेषु पर्याप्ताऽवस्थायामशुभलेश्याया अभावादिति तुर्योऽपवादः । एवं च माऽपवादमवस्थितरसबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं प्ररूपितम् ।

अथाऽतिदेशादिना प्राप्तमवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं निरूपयामः—

तत्राऽऽदौ तावदोघन एवम्—नरकत्रिक-देवत्रिकवैक्रियद्विकानां मनुष्यायुपश्चाऽऽवलिकाया असंख्यभागगतसमयप्रमिताः पुद्गलपरावर्ताः । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिताः समयाः । आहारकद्विकस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः । जिननाम्नो देशोनपूर्वकोटिद्वयाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । शेषाणां पञ्चोत्तरशतस्यैकेन्द्रियेषु बन्धप्रायोग्याणामवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमसंख्येयलोका भवन्ति ।

नरकौघे जिननाम्नः पल्याऽसंख्यभागाऽधिकं सागरोपमत्रयम्, मनुष्यतिर्यगायुषोर्देशोनषण्मासाः, शेषाणामष्टनवतेर्देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमरूपा देशोनकायस्थितिः । एवं **तृतीयनरकमार्गणायाम्** , देशोनकायस्थितिरत्र देशोनसप्तसागरोपमरूपा विज्ञेया । **आद्यनरकद्वय** एवमेव, नवरं जिननाम्नो देशोनकायस्थितिर्ज्येष्ठान्तरमवसेयम् , कायस्थितिस्तु प्रागनेकशो निरूपितत्वान्न पुनरत्र दर्श्यते इति । **चतुर्थपञ्चमषष्ठनर** तिमार्गणात्रये जिननाम्नो बन्धाऽभावात्तद्वर्जानामष्टनवतेर्ज्येष्ठाऽन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणम् , आयुष्कद्वयस्य तु देशोनषण्मासा इति । **सप्तमनरके** मनुष्यायुर्वर्जानामेवमेवाऽन्तरमवसातव्यमि ।

तिर्यग्गत्योघमार्गणाया सर्वासामवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमोघवद् भवति, केवलमायुष्कत्रिकस्य पूर्वकोटेर्देशोनत्रिभागः । **पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ—पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्—**

तिरश्चीमार्गणा ये नपुंसकवेदाऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकाणां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननानां विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिका-ऽऽतप-केन्द्रियजाति-स्थावरनाम्नां नरकद्विक-तिर्यग्द्विकोद्योतनीचैर्गोत्राणां च समुदितानां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं पूर्वकोटीपृथक्त्वं भवति; ज्येष्ठकायस्थितिमत्कचरमभवरूपे युगलिकभवे भवाद्यन्तर्मुहूर्तं विहाय आभ्य एकस्या अपि प्रकृतेर्बन्धाऽभावान्न तद्भवमत्कापल्योपम त्रयप्रमाणा स्थितिः प्रस्तुतेऽन्तरत्वेन प्राप्यते, तद्धीना तु सा कायस्थितिः पूर्वकोटीपृथक्त्वमिता भवतीति । शेषाणामष्टसप्ततेर्देशोनकायस्थितिप्रमाणं ज्येष्ठमन्तरं विज्ञेयम्, ताः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः— ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणनवक--नपुंसकवेदवर्जमोहनीयसत्कपञ्चविंशतिप्रकृत्यन्तरायपञ्चकानि साताऽसातवेदनीयो--च्चैर्गोत्र-देवद्विक--पञ्चेन्द्रियजाति--वैक्रियद्विक-तैजस-कार्मण--समचतुरस्र-सुखगति-वर्णचतुष्काऽगुरुलघू-पघात-पराघातो-च्छ्वास-निर्माण-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभाऽयशःकीर्तिनामानि च । देवमनुष्यनरकायुषां पूर्वकोटीतृतीयभागो देशोनः । तिर्यगायुषः पुनः पूर्वकोटिदेशोनत्रिभागाऽधिका पूर्वकोटिः । **अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायोः** सप्तोत्तरशतस्य देशोना स्वज्येष्ठकायस्थितिरवस्थितरसबन्धस्य प्रकृष्टान्तरम्, तच्चान्तर्मुहूर्तम् । वेद्यमानायुष्कस्य साधिकास्वज्येष्ठभवस्थिति अवेद्यमानायुष्कस्य तु स्वज्येष्ठभवस्थितेर्देशोनतृतीयभागः ।

मनुष्यौघे नपुंसकवेदादीनां पूर्वोक्तानां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामाहारकद्विकस्येति सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां पूर्वकोटीपृथक्त्वम् । जिननाम्नो देशोनपूर्वकोटिः । शेषाणां ज्ञानावरणादीनामष्टसप्ततेर्देशोनकायस्थितिः । आयुष्कचतुष्कस्य तु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावज्ज्येष्ठाऽन्तरं प्राप्यतेकेवलं तिर्यग्मनुष्यायुषो र्व्यत्ययः कार्य इति । एवं **पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणाद्वये**ऽपि विभावनीयम् ।

देवौघे स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्व-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद नीचैर्गोत्रा-ऽऽद्यवर्जसंहननसंस्थानपञ्चक-कुखगति-दुर्भगत्रिकरूपाणां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमाणि । एकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनाम्नां साधिकसागरोपमद्वयम् । तिर्यग्द्विकस्यो-द्योतनाम्नश्च देशोनाऽष्टादशसागरोपमाणि । शेषाणामेकसप्ततेरवस्थितरसबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं विज्ञेयम् । एकसप्ततिः प्रकृतयः पुनरनुत्तरदेवेषु बन्धप्रायोग्या मनुष्यायुर्विहीनाः सर्वा विज्ञेया इति । तिर्यग्मनुष्यायुष्कद्वयस्य तु देशोनषण्मासाः । **भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कमार्गणात्रये** बन्धप्रायोग्याणामेकोत्तरशतस्याऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं देशोनकायस्थितिः, आयुष्कद्वयस्य देशोनषण्मासाः । **सौधर्मेशानयो**र्द्व्युत्तरशतस्य देशोनकायस्थितिः, आयुष्कद्वयस्य देशोनषण्मासाः । **सनत्कुमारादिसहस्रारान्तासु** षण्मार्गणासु नवनवतेर्देशोनज्येष्ठकायस्थितिः, आयुष्कद्वयस्य देशोनषण्मासाः । **आनतादिनवम-**

ग्रैवेयकान्तासु त्रयोदशदेवमार्गणासु पण्णवतेर्देशोनज्येष्ठकायस्थितिः, मनुष्यायुष्कस्य देशोन-षण्मासाः। पश्चाऽनुत्तरसुरमार्गणास्वेकसप्ततेर्देशोनकायस्थितिः, मनुष्यायुष्कस्य देशोनषण्मासाः।

एकेन्द्रियौघे **सूक्ष्मैकेन्द्रियौघे** च सप्तोत्तरशतस्याऽवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमोघवद् भवति, तच्चाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणम्। **एकेन्द्रियसत्कशेषपञ्चभेदेषु** सप्तोत्तरशतस्य देशोनज्येष्ठकायस्थितिः। समस्तस्वप्येकेन्द्रियमार्गणाभेदेषु मनुष्यायुषः स्वज्येष्ठभवस्थितेस्तृतीय-भागो देशोनः। तिर्यगायुषस्त्वेकेन्द्रिय-सूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणाद्वयेऽसंख्येयलोकाः, शेषभेदपञ्चके देशोनज्येष्ठकायस्थितिः। **विकलेन्द्रियभेदनवके** सप्तोत्तरशतस्य तिर्यगायुषश्चाऽवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं देशोनकायस्थितिः। मनुष्यायुषस्तु ज्येष्ठभवस्थितेर्देशोनतृतीयभागः। **पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-चक्षुर्दर्शनमार्गणासु सञ्ज्ञिमार्गणायां** चेति षण्मार्गणासु जिननाम्नोऽवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमोघवद् भवति, तच्च देशोनपूर्व-कोटिद्वयाऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, शेषाणां पञ्चदशोत्तरशतस्याऽऽयुष्कचतुष्कस्य चाऽन्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः।

पृथ्वीकायौघ सूक्ष्मपृथ्वीकायौघा-ऽप्कायौघ सूक्ष्माऽप्कायौघ-वनस्पतिकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघ-सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायौघमार्गणासु सप्तसु बन्धप्रायो-ग्याणां सप्तोत्तरशतस्य तिर्यगायुष्कस्य चौघवज्ज्येष्ठाऽन्तरं प्राप्यते, तच्चाऽसंख्येया लोकाः। मनुष्यायुषो ज्येष्ठाऽन्तरं स्वज्येष्ठभवस्थितेर्देशोनतृतीयभागः। **शेषपृथ्वीकायभेदपञ्चकेऽप्काय-भेदपञ्चके साधारणवनस्पतिकायभेद के प्रत्येकवनस्पतिकायभेदत्रये** चेत्यष्टा-दशमार्गणासु सप्तोत्तरशतस्य तिर्यगायुषश्चाऽवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोना कायस्थितिः, मनुष्यायुषश्च ज्येष्ठभवस्थितेस्तृतीयभागो देशोनः। **तेजस्कायौघे सूक्ष्मतेजस्कायौघे वायु-कायौघे सूक्ष्मवायुकायौघे** चेति मार्गणाचतुष्के चतुरुत्तरशतस्य तिर्यगायुषश्चाऽन्तरमसंख्येया लोकाः। **शेषतेजस्कायमार्गणापञ्चके शेषवायुकायमार्गणापञ्चके** चेति दशसु चतुरुत्तर-शतस्य तिर्यगायुषश्च देशोनज्येष्ठकायस्थिति प्रस्तुताऽन्तरं विज्ञेयमिति। **अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये** सप्तोत्तरशतस्य तिर्यगायुषश्च देशोनज्येष्ठकायस्थितिः, साऽप्यन्त-र्मुहूर्तमेव। मनुष्यायुषस्त्वन्तर्मुहूर्तम्, तच्च कायस्थितितः कियन्न्यूनं तत्स्वयं विज्ञातव्यम्।

मनोयोगौघे तदुत्तरभेदचतुष्के वचनयोगौघे तदुत्तरभेदचतुष्के ...चतुष्के चेत्येवं चतुर्दशमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां विंशत्युत्तरशतस्याऽवस्थितरसबन्धस्योत्कृष्टाऽन्त-रमन्तर्मुहूर्तं विज्ञेयम्, मार्गणायाः कायस्थितेरेवाऽन्तर्मुहूर्तत्वेन तदधिकाऽन्तरस्याऽसम्भवात्। **काययोगौघे** वैक्रियषट्का-ऽऽहारकद्विक जिननाम्नां देवनरकायुषोश्चाऽवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठा-ऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तद्बन्धकानां प्रस्तुतमार्गणाकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्। एकेन्द्रियेषु बन्ध-

प्रायोग्याणां सप्तोत्तरशतस्य तिर्यगायुपश्चाऽसंख्येयलोकप्रमाणमन्तरं प्राप्यते । मनुष्यायुष्कस्य तु देशोनकायस्थितिः । **औदारिककाययोगे** वैक्रियषट्का-ऽऽहारकद्विकजिननाम्नां देवनरकायुषोश्चाऽन्तर्मुहूर्तम् , सप्तोत्तरशतस्य देशोनज्येष्ठकायस्थितिः, तिर्यग्मनुष्यायुषोः पृथ्वीकायज्येष्ठभवस्थितेर्देशोनतृतीयभागः । **औदारिकमिश्रे** प्रस्तुताऽन्तरं देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नामन्तर्मुहूर्तम्, शेषाणां देशोनकायस्थितिः । तिर्यग्मनुष्यायुषोस्त्वन्तर्मुहूर्तोनज्येष्ठकायस्थितिः । **वैक्रियमिश्र आहारकमिश्रे** च सर्वासां देशोनज्येष्ठकायस्थितिः । **आहारकमिश्रे** देवायुषः पुनरन्तर्मुहूर्तम् । **वैक्रियकाययोगे आहारककाययोगे** च सर्वासामवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं देशोनजेष्ठकायस्थितिः, तच्चाऽन्तर्मुहूर्तम् । **कार्मणकाययोगा-नाहारकमार्गणयोरेकेन** मतेन सप्तोत्तरशतस्याऽवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं समयः, अन्यमते पुनरेकेन्द्रियप्रायोग्याणामेकेन्द्रियाऽवस्थायां वेदनप्रायोग्याणां प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यतेः, केवलं त्रसकायिकानां वेदनयोग्यानां तदन्तरमेव नाऽस्ति, एकेन्द्रियेभ्य एकेन्द्रियेष्वेवोत्पद्यमानानां तद्बन्धाऽभावस्य तैरभ्युपगमात् । ताः प्रकृतयः पुनरिमाः—स्त्रीवेद-पुरुषवेदो-च्चैर्गोत्र-मनुष्यद्विक-द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कौदारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्का--ऽऽद्यसंस्थानपञ्चक--खगतिद्वय-त्रसनाम-सुभगत्रिक- दुःस्वरनामानि देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामानि चेति त्रयस्त्रिंशत् । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकोनाशीतिप्रकृतीनां पुनः प्रस्तुताऽन्तरं द्विधापि एकः समयः प्राप्यत इति । ता. प्रकृतयो नामत इमाः—ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणनवक षोडशकषाय-भयजुगुप्सा-मिथ्यात्व हास्य--रति-शोका-ऽरति-नपुंसकवेद-साताऽसातवेदनीय-नीचैर्गोत्रा ऽन्तरायपञ्चकानि तथा तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिनामौ-दारिक-तैजसकार्मणशरीर हुण्डकसंस्थान-वर्णचतुष्का ऽगुरुलघुचतुष्क-निर्माणा -ऽऽतपो-द्योत-बादरत्रिक-स्थावरचतुष्क दुर्भगा ऽनादेय-स्थिरा-ऽस्थिर शुभा-ऽशुभ यशःकीर्त्य-यशःकीर्तिनामानीति ।

स्त्रीवेदमार्गणायां जिननाम्नः प्रस्तुताऽन्तरं देशोनपूर्वकोटिः, नरकायुषः पूर्वकोटितृतीयभागो देशोनः, शेषाणामष्टादशोत्तरशतस्य ज्येष्ठाऽन्तर देशोनज्येष्ठकायस्थितिः । **पुरुषवेदमार्गणायां** जिननाम्नो ज्येष्ठाऽन्तरं साऽतिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, नरकायुषः पूर्वकोटितृतीयभागो देशोनः शेषाणामष्टादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः । **नपुंसकवेदमार्गणायां** जिननाम्नः सातिरेकसागरोपमत्रयमन्तरम् , वैक्रियाऽष्टकमनुष्यायूरूपाणां नवानामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः । देवायुषः पूर्वकोटितृतीयभागो देशोन , आहारकद्विकस्य देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्तः, शेषाणां सप्तोत्तरशतस्याऽसंख्येयलोकाः । **अपगतवेदसूक्ष्मसंपरायमार्गणाद्वये**ऽवस्थितरसबन्धस्यैवाऽभावान्न तत्र बन्धाऽन्तरस्य प्ररूपणेति ।

मतिज्ञान-श्रुत ।-ऽवधिज्ञाना -ऽवधिदर्शन- सम्यक्त्वौघ -क्षयोपशमसम्यक्त्व-मार्गणासु षट्सु जिननाम्नः साऽतिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणमन्तरम ,

शेषाणामष्टसप्ततिप्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरं देशोनकायस्थितिः, तच्च साधिकषट्षष्टिः सागरोपमाणि विज्ञेयम् । **मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ--सामायिक-च्छेदोपस्थाप** **-परिहारविशुद्धि-**मार्गणापञ्चके चतुःषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठाऽन्तर देशोनकायस्थितिर्देशोनपूर्वकोटिप्रमाणं ज्ञातव्यम्, देवायुषश्च पूर्वकोटीतृतीयभागो देशोनः। **मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञाना ऽभव्य-मिथ्यात्व**मार्गणासु चतसृषु वैक्रियाऽष्टकस्य मनुष्यायुषश्चाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणं प्रस्तुताऽन्तरं भवति, शेषाणामष्टोत्तरशतप्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरमसंख्येया लोकाः । **विभङ्गज्ञान**मार्गणायां देवद्विक-नरकद्विक-वैक्रियद्विक-विकलत्रिक सूक्ष्मत्रिक रूपाणां द्वादशानां देशोनपूर्वकोटी देवनैरयिकेभ्यो विभङ्गज्ञानेन सह च्यवनस्य **श्रीमद् भगवतीसूत्रा** शतकाऽभिप्रायतो निषेधेन तिर्यग्मनुष्याणां विभङ्गज्ञानस्थितेर्देशोनपूर्वकोटीप्रमाणत्वात् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः प्रस्तुताऽन्तरमेकत्रिंशत्सागरोपमाणि, देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि, एकेन्द्रियस्थावरा-ऽऽतपनाम्ना सातिरेकसागरोपमद्वयम् , शेषाणामायुर्वर्जानां पञ्चनवतेः प्रस्तुताऽन्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः, ताश्च पञ्चनवतिप्रकृतयः सप्तमनरकमार्गणायां बन्धप्रायोग्या मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं तिर्यगायुश्च विहाय शेषा विज्ञेया इति, चतुर्णामप्यायुषां प्रस्तुताऽन्तरं पूर्वकोटिदेशोनतृतीयभागः ।

देशविरतौ देवायुर्वर्जानां षट्षष्टिबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरं पूर्वकोटी देशोना, देवायुषस्तु पूर्वकोटितृतीयभागो देशोनः। **असयममार्गणायां** बन्धप्रायोग्याणामष्टादशोत्तरशतप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमोघवद् भवति, केवलं जिननाम्नो देशोनैकपूर्वकोटयभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । **अचक्षुर्दर्शने भव्ये च सर्वासां** प्रस्तुताऽन्तरमोघवद्विज्ञेयमिति । **चक्षुर्दर्शने** पञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः सममुक्तम् ।

कृष्णलेश्यायां वैक्रियद्विकस्याऽवस्थितरसबन्धस्य प्रस्तुताऽन्तरं द्वाविंशतिसागरोपमाणि, तच्च प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽपेक्षया विज्ञेयम् , प्रदेशबन्धसत्काऽवस्थितरसबन्धज्येष्ठान्तरस्याऽन्तमुर्हूर्तप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुते उक्तकालप्रमाणमन्तर प्राप्यते; षष्ठनरकमुत्पित्सुस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवचरमाऽन्तमुर्हूर्ते नरकगतिप्रायोग्य बध्नस्तत्प्रथमसमये वैक्रियद्विकस्याऽवस्थितरसबन्धं कृत्वा पुनर्नरकेभ्यः सम्यक्त्वेन सहोद्वृत्तो भवप्रथमाऽन्तमुर्हूर्तचरमसमये देवप्रायोग्य बध्नन् वैक्रियद्विकस्याऽवस्थितरसबन्धं करोति, एवं प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते । **नीलकापोतलेश्याद्वये** नारकस्योक्तलेश्याद्वये या ज्येष्ठा स्थितिः सा अन्तमुर्हूर्तद्वयाधिका प्रस्तुते वैक्रियद्विकस्याऽन्तरत्वेन विज्ञेया ।

मार्गणात्रये नरकद्विक-विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकाणामष्टानां प्रस्तुतान्तरमन्तमुर्हूर्तम् , देवद्विकस्य कापोतलेश्याया यावत्स्थितिषु नरकेषु क्षायिकसम्यग्दृशामुत्पत्तिर्भवति तावदन्तरम् । नीलकृष्णलेश्याद्वये तु देवद्विकस्य पल्योपमस्यासंख्येयभागः, जिननाम्नः कापोते सागरोपमत्रय साऽ-

तिरेकं प्रस्तुताऽन्तरत्वेन प्राप्यते, जिननामसत्ताकानामेतावन्स्थितिप्रत्पादात् , तत्र च भवाद्यन्त-मुहूर्तं विहाय जिननाम्नो नियमतो बध्यमानत्वात्प्रस्तुताऽन्तरं तावत्प्रमाणं प्राप्यत इति। नीलकृष्णलेश्याद्वये जिननाम्नः केवलं मनुष्येष्वेव बध्यमानत्वात् मनुष्याणां लेश्यायाः परावर्तमानत्वाच्च तत्र प्रस्तुताऽन्तरमन्तमुहूर्तं प्रकृष्टतो भवति। एकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनाम्नां प्रस्तुताऽन्तरं पल्योपमस्याऽसंख्येयभागः, कृष्णाद्यशुभलेश्यावतां देवानां ज्येष्ठस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् , तिर्यग्मनुष्याऽपेक्षया तदन्तरस्याऽन्तमुहूर्तमितत्वाद् , नारकाणां चोक्तप्रकृतीनां बन्धाऽभावान्न तदपेक्षया प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति। अन्ये पुनरासां तिसृणां देवद्विकस्य च प्रस्तुताऽन्तरमन्तमुहूर्तं ब्रुवन्ति, तैर्देवानां पर्याप्ताऽवस्थायां प्रस्तुतलेश्यात्रयस्य अनङ्गीकरणात्। उक्तशेषाणामायुर्वर्जानामष्टनवतिप्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः, ज्येष्ठकायस्थितिरशुभलेश्यात्रये नारकाऽपेक्षयैव प्राप्यते, नारकाणां चाऽऽसां बन्धस्य प्राप्यमाणत्वाद् , शेषभावना तु सुगमा।

तेजोलेश्यापद्मलेश्याद्वये आहारकद्विकस्याऽवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमन्तमुहूर्तम्। देवद्विकवैक्रियद्विकयोः प्रदेशबन्धसत्कप्रस्तुतान्तरस्याऽन्तमुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि रसबन्धसत्कप्रस्तुताऽन्तरं देशोनकायस्थितिमितं भवति, भवाऽऽद्यन्तमुहूर्तेऽपर्याप्ताऽवस्थायामपि तद्बन्धभावात्। शेषाणामायुर्वर्जानां द्व्युत्तरशतप्रकृतीनां नवनवतिप्रकृतीनां चाऽवस्थितरसबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमवस्थितप्रदेशबन्धान्तरवद्देशोनकायस्थितिः। देवायुषोऽन्तरमन्तमुहूर्तम्। तिर्यग्मनुष्यायुषोस्तु देशोनषण्मासाः। **शुक्ललेश्यायां** स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्वानां द्वितीयादिसंहननपञ्चक-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक-कुखगति-दुर्भगत्रिक-नीचैर्गोत्र-स्त्री नपुंसकवेदरूपाणां सप्तदशानां चेति समुदितानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरं साऽतिरेकैकत्रिंशत्सागरोपमाणि। देवद्विक-वैक्रियद्विकयोः प्रस्तुताऽन्तरं देशोनकायस्थितिः, अवस्थितप्रदेशबन्धस्य तु तदन्तमुहूर्तं भवति। आहारकद्विकस्य प्रस्तुतान्तरमन्तमुहूर्तम्। शेषाणामायुर्वर्जानामनुत्तरदेवे बन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुताऽन्तरं देशोनकायस्थितिः। देवायुषः प्रस्तुताऽन्तरमन्तमुहूर्तम्। मनुष्यायुषस्तु देशोनषण्मासाः। **भव्यमार्गणायां** प्रस्तुताऽन्तरं सर्वमोघवद् भवति, तच्चाचक्षुर्दर्शनमार्गणया सह दर्शितमेव। **अभव्यमार्गणायां** मत्यज्ञानमार्गणया सह प्रस्तुताऽन्तरं निरूपितम्।

सम्यक्त्वौघे मतिज्ञानादिमार्गणाभिस्समं प्रस्तुतं निरूपितम्। तदनु **क्षायिकसम्यक्त्व** मार्गणायां सप्तसप्ततिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिः, अत्र देशोनत्वं विशेषतो भावनीयम्, न पुनः सर्वत्र सममिति। देवायुषोऽन्तरं पूर्वकोटीत्रिभागो देशोनः, मनुष्यायुषः पुनर्देशोनषण्मासाः। **क्षयोपशमसम्यक्त्व** मार्गणायां नवसप्ततेरपि बन्ध-

प्रायोग्याणां सर्वासां प्रस्तुताऽन्तरं मतिज्ञानादिमार्गणाभिस्समं कथितम् । **उपशमसम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे** च सर्वासां बन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुताऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । **सास्वादने**ऽप्येवमन्तर्मुहूर्तम् । पञ्चेन्द्रियमार्गणया समं **संज्ञिमार्गणायां** प्रस्तुताऽन्तरं निरूपितम् ।

असंज्ञिमार्गणायामायुर्वर्जानां त्रयोदशोत्तरशतस्य प्रस्तुताऽन्तरमोघवद् भवति । तद्यथा—वैक्रियषट्कस्य प्रस्तुताऽन्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां त्वसंख्येयलोकाः, देवनरकमनुष्यायुषां पूर्वकोटीत्रिभागो देशोनः, तिर्यगायुषस्त्वसंख्येयलोकाः । **आहारिमार्गणायां** जिननाम्नोऽवस्थितरसबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं साऽधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, शेषाणां पञ्चदशोत्तरशतप्रकृतीनामायुष्कचतुष्कस्य च प्रस्तुताऽन्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः; सा चाऽङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवतीति । अनाहारकमार्गणायां तु कार्मणकाययोगमार्गणया समं दर्शितम् । तदेवमवस्थितरसबन्धस्याऽन्तरं समाप्तमिति । अवक्तव्यरसबन्धस्य स्वामित्वादिमात्रपर्यवसानद्वाराणामतिदेशेनाऽऽदावेव दर्शितत्वान्नाऽत्र प्रदर्श्यत इति गतमन्तरद्वारम् ॥४७-५०॥

श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे चतुर्थमन्तरद्वारं समाप्तम् ।



॥ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारं निरूपयन्नाह—

णिरयणरसुराऊणं सेसपया तिरिण अत्थि भयणीआ ।
अधुवा अवट्ठिओ जिणविउवछगाहारगदुगाणं ॥५१॥
भूओगारप्पयरा णियमा सेसाण सेसतिपयाऽत्थि ।

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, प्रस्तुते भङ्गविचयद्वारे बन्धप्रायोग्यप्रकृतिमत्कभूयस्कारादिपदचतुष्केभ्यः संभवत्पदानां प्रकृतिनामेकाऽनेकबन्धकजीवैर्भङ्गा भिन्नभिन्नकालजा विकल्पा निरूपणीयाः । तत्र प्रथमं संभवत्पदेषु जीवानां ध्रुवाऽध्रुवत्वं निरूपणीयम् । यत्र यदा भूयस्काराद्यन्यतमपदस्य बन्धकत्वेन जीवानां ध्रुवत्वं तत्र तदा तत्पदस्याऽनेके जीवा बन्धकत्वेन सदैव प्राप्यन्ते, यस्य पदस्य बन्धका अध्रुवास्तस्यैकोऽनेके वा बन्धकतया प्राप्यन्ते, बन्धकैः शून्यमपि तत्पदं प्राप्यते, अत्र तत्तत्काले बन्धेन प्राप्यमाणसर्वपदानां संयोगनिष्पन्ना भङ्गा चिन्तनीयाः । न पुनः पदचतुष्कस्य संभवेऽसंयोगजा द्विकसंयोगजास्त्रिकसंयोगजाश्चतुःसंयोगजाश्च पृथक् पृथक् चिन्तनीयाः । अतो यत्र यावन्ति ध्रुवाणि पदानि तेषां सर्वेषामेक एव भङ्गो भवति, अनेकजीवानां सर्वदैव तद्बन्धकत्वात् । यत्र यावन्ति पदान्यध्रुवाणि तत्र तावन्ति त्रिकाणि स्थापयित्वा परस्परं गुणनीयानि । यदि तत्र तस्या विवक्षितप्रकृतेरेकमपि पदं ध्रुवं स्यात् तर्हि तत्र यावद्गुणनफलं प्राप्यते तावन्तो भङ्गा भवन्ति, यदि पुनस्तस्या विवक्षितप्रकृतेरेकमपि पदं ध्रुवं नाऽस्ति तर्हि तत्राऽध्रुवपदमत्कत्रिकाणां यावद्गुणनफलं प्राप्यते ततो रूपमपसारणीयम्, एकेनोनास्तद्गुणनफलसख्याका भङ्गाः प्राप्यन्त इत्यर्थः । यथैकं पदमध्रुवं शेषपदानि ध्रुवाणि तत्र त्रयो भङ्गा भवन्ति । यत्र पदद्वयमध्रुवम्, एकमपि ध्रुवपदं नास्ति तत्र त्रिकं त्रिकेण गुणिता रूपोना कृता अष्टौ भङ्गा प्राप्यन्ते यथा सूक्ष्मसंपराये मतिज्ञानावरणादीनाम् । यत्र पदद्वयमध्रुवं पदद्वयस्य ध्रुवत्वं तत्र त्रिकं त्रिकेण गुणितं सन्नव, इति नव भङ्गा भवन्ति । यत्र पदत्रयस्याऽध्रुवत्वं न चैकस्याऽपि पदस्य ध्रुवत्वं तत्र षड्विंशतिर्भङ्गा भवन्ति, यथाऽपगतवेदमार्गणायां ज्ञानावरणादीनामवस्थितरसबन्धपदस्याऽभावः, शेषाणि त्रीणि पदान्यध्रुवाणि, अतस्तत्र ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां षड्विंशतिर्भङ्गा भवन्ति । यत्र पुनः पदचतुष्कस्याऽप्यध्रुवत्वं तत्र चत्वारि त्रिकाणि परस्परं गुणयित्वा रूपोनानि क्रियन्ते तावत्प्रमाणा अशीतिर्भङ्गा भवन्ति, यथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मतिज्ञानावरणादीनाम्, ओघतो वा नरकाद्यायुष्कत्रयस्येति । अतो भङ्गविचयद्वारस्याऽवगमनार्थं तत्तत्प्रकृतीनां भूयस्कारादि-

पदानां सत्पदद्वारे सत्तया निरूपितानां बन्धकैर्ध्रुवत्वमध्रुवत्वं वा निरूपणीयम् । सति च भूयस्कारादिपदानां ध्रुवाऽध्रुवत्वज्ञाने सुखेन स्वयमेव भङ्गानामवगतिः स्यात्, तदवगमप्रकारस्तु स्थितिबन्धादिषु प्रागनेकशो निरूपितः, तथेहाऽपि भूयस्कारादिपदानां ध्रुवाध्रुवत्वं प्रदर्श्य अन्ते तद्भङ्गानयनार्थं करणगाथामेकां वक्ष्यति, न पुनर्भङ्गप्रकारं तत्संख्याप्रदर्शनं च । अत्राऽप्यवक्तव्यपदस्य प्राक् स्वामित्वद्वारेऽतिदेशेनैकादशद्वारेषु निरूपितत्वान्नाऽत्र प्रदर्श्यते, भङ्गसंख्याऽवगमार्थिना तु तज्ज्ञानस्याऽप्यत्राऽऽवश्यकत्वम्, अतः प्रसङ्गतस्तदपि वयं दर्शयाम इति ।

अथ गाथोक्ता भङ्गाः प्रदर्श्यन्ते— ओघतः नरकमनुष्यदेवायुषां प्रत्येकं प्रकृतिबन्धस्याऽध्रुवत्वाद्भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धस्याऽध्रुवत्वं भवति, अतो दर्शितरीत्याऽशीतिरशीतिर्भङ्गा विज्ञेयाः, एवं सर्वासु मार्गणासूक्तायुर्भ्यो यद्यदायुषो बन्धस्तत्र तस्याऽशीतिर्भङ्गा भवन्ति । "जिणे"त्यादि, जिननाम्न आहारकद्विकस्य चेति प्रकृतित्रयस्य भूयस्काराऽल्पतरौ ध्रुवौ तत्प्रकृतिबन्धकानां ध्रुवत्वात्, अवक्तव्याऽवस्थितावध्रुवौ, अवक्तव्यबन्धस्य तु केषांचित् कदाचिदेव भावात्, अवस्थितरसबन्धस्य तु यत्रासंख्येयलोकप्रमिता अनन्ता वा जीवा अवस्थितरसबन्धप्रायोग्यास्तत्रैव ध्रुवत्वम्, अन्यत्र त्वध्रुवत्वमित्यत्र पदद्वयस्याऽध्रुवत्वम्, भङ्गास्तु त्रयाणामपि नव नव भवन्ति । देवद्विकवैक्रियद्विकनरकद्विकानां षण्णां प्रत्येकं भूयस्काराऽल्पतररसबन्धौ ध्रुवौ यत्र प्रकृतीनां बन्धस्य ध्रुवत्वं तत्र परावर्तमानबन्धवतीप्रकृतीनां पदद्वयस्य ध्रुवत्वम्, अवस्थितावक्तव्यरसबन्धयोस्त्वसंख्येयलोकप्रमितबन्धकाऽभावादध्रुवत्वमित्यत्र षण्णामपि प्रकृतीनां प्रत्येकं नव नव भङ्गा भवन्ति । उक्तशेषाणामष्टोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितबन्धानां ध्रुवत्वम्, बन्धकजीवानामानन्त्यात् । अवक्तव्यबन्धस्य तु मतिज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकनाम्नश्चाध्रुवत्वम्, शेषाणां षष्टेरवक्तव्यबन्धस्य ध्रुवत्वम्, परावर्तमानबन्धत्वात् । अत्र भङ्गास्तु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भवन्ति, शेषाणां षष्टेस्त्वेक एव भङ्गः पदचतुष्कस्य समुदितो भवति, अनेकजीवानां सर्वदैव चतुर्णां पदानां प्रत्येकं बन्ध या लाभात् । शेषप्रकृतयः पुनर्नामत इमाः—साताऽसात-हास्यादियुगलद्वय-वेदत्रय-गोत्रद्वय-मनुष्यद्विक-तिर्यग्द्विक-जातिपञ्चकौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योत-त्रसदशक-स्थावरदशकनामानि तिर्यगायुश्चेति ॥५१॥

अथाऽऽयुर्वर्जानां मार्गणासु भूयस्कारादिरसबन्धसत्कभङ्गानयनार्थं ध्रुवाध्रुवत्वं निरुरूपयिषुर्यासु बन्धप्रायोग्याणां तदोघवद् भवति तासु तमोघवदतिदेशेन प्राह साऽर्धगाथया—

सप्पाउग्गाणाउगवज्जाणोघव्व सपयाण ॥५२॥

तिरिकायुरलणपुमचउकमायअणाणजुगलअजएसुं ।
अणयणकुलेसभवियरमिच्छामणासु आहारे ॥५३॥

(प्रे०) "सप्पाउग्गाणे"त्यादि, तिर्यग्गत्योघ-काययोगौघौ-दारिककाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-ऽशुभलेश्यात्रय-भव्याऽ-भव्य--मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-हारकमार्गणासु विंशतौ बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां कर्मणामवक्तव्यवर्जानां भूयस्कारादित्रिविधस्यबन्धानामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धस्य च प्राऽध्रुवबन्धमोघवद् भवति, अतोऽध्रुवबन्धिप्रकृतिषु भङ्गा अप्योघवत्प्राप्यन्ते, भावनाऽप्योघवत्कार्या सुगमा चेति । बन्धप्रायोग्याः प्रकृतयस्तु-तिर्यग्गत्योघा-ऽज्ञानद्वय--मिथ्यात्वा-ऽभव्या-ऽसंज्ञिमार्गणासु जिननामा-ऽऽहारकद्विकवर्जानां त्रयोदशोत्तरशतम्, असंयमा-ऽशुभलेश्यात्रयमार्गणास्वाहारकद्विकवर्जानां चतुर्दशोत्तरशतम् । काययोगौघौ-दारिकयोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्याऽऽहारकमार्गणासु दशसु षोडशोत्तरशतमिति । सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतिभ्यो यत्र यस्या अवक्तव्यबन्धस्य सत्त्वं भवति तत्र तस्यास्त्रयो भङ्गा भवन्ति, यत्र पुनर्यस्या अवक्तव्यबन्ध एव नाऽस्ति तत्र तस्या अवक्तव्यबन्धाऽभावेन शेषाणां पदत्रयाणां ध्रुवत्वेन चैक एव भङ्गो भवति । ध्रुवबन्धिप्रकृतिष्ववक्तव्यबन्धस्य सत्त्वं सत्पदद्वारतो विज्ञेयमिति ॥५२-५३॥

अथाऽध्रुवमार्गणासु दर्शयति—

अधुवा असमत्तणरविउवमीसाहारदुगअवेएसुं ।
छेए परिहारसुहुमउवसमसासाणमीसेसुं ॥५४॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकद्विकापगतवेद-च्छेदोपस्थापनीय परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसंपरायो-पशम-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादनमार्गणास्वेकादशसु प्रत्येकं मार्गणाया एवाऽध्रुवत्वेन बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां बन्धस्याऽध्रुवत्वात् संभवद्भूयस्कारादिसत्पदानामध्रुवत्वं भवति, भङ्गास्तु संभवत् पदानुसारेणाऽऽनेतव्याः, तद्यथा—

अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च पदत्रयस्याऽध्रुवत्वात् षट्त्रिंशतिर्भङ्गा भवन्ति, शेषाणामेकोनषष्टेश्चतुर्णां पदानामध्रुवत्वादशीतिर्भङ्गा भवन्ति ।

वैक्रियमिश्रे मिथ्यात्ववर्जानां षट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पराघातो-च्छ्वासौ-दारिकशरीर-बादरत्रिकजिननाम्नां चेति त्रिपञ्चाशतोऽवक्तव्यवर्जपदत्रयस्याऽध्रुवत्वात् षड्विंशतिर्भङ्गाः । शेषाणामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां चतुर्णामपि पदानामध्रुवत्वादशीतिर्भङ्गा विज्ञेया इति ।

आहारकद्विके सातादियुगलषट्कस्य जिननाम्नश्चेति त्रयोदशानामशीतिर्भङ्गाः, शेषाणामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनामवक्तव्यपदाऽभावात्पदत्रयमत्काः षड्विंशतिर्भङ्गाः ।

अपगतवेदमार्गणायामेकविंशतेरपि भूयस्काराऽल्पतराऽवक्तव्यबन्धानामध्रुवत्वात् षड्विंशतिर्भङ्गा भवन्ति ।

छेदोपस्थापनीयमार्गणायां ज्ञानावरणादिचतुर्दशानां संज्वलनलोभस्योच्चैर्गोत्रस्य चाऽवक्तव्यपदाऽभावः पदत्रयस्याऽध्रुवत्वम् , भङ्गसंख्यायाः परिमाणस्तु सामान्यतः पदत्रयस्याऽध्रुवत्वेन षड्विंशतेर्भावेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां जघन्यपदगतजीवानां परिमाणस्य स्पष्टतया निर्णयस्याभावात्तासां भङ्गसंख्या स्वयं परिभावनीयेति । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनां चतुर्णामपि पदानामध्रुवत्वम् , भङ्गसंख्या तूक्तहेतुना स्वयं परिभावनीयेति ।

परिहारविशुद्धौ सातवेदनीयादियुगलषट्कस्याऽऽहारकद्विकस्य जिननाम्नश्च चतुर्णामपि पदानामध्रुवत्वाच्छेषाणामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धाऽभावात्पदत्रयस्याऽध्रुवत्वम् ,भङ्गसंख्या तु स्वयं परिभावनीया, जघन्यपदगतजीवानामनिर्णयात् ।

सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां ज्ञानावरणादिसप्तदशप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धस्यौघे दशमगुणस्थानप्रथ मये भावेन तासामबन्धस्य चैकादशगुणस्थाने लाभेऽपि प्रस्तुतमार्गणायामासामबन्धकत्वेनाऽलाभाद् मार्गणाप्रथमसमये बन्धप्रारम्भस्य भावेऽप्यासामवक्तव्यबन्धस्याऽस्यां मार्गणायामविवक्षणं विज्ञेयमित्यतो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धौ भवतः, तथा च भङ्गा अत्र सप्तदशानां प्रत्ये ा ङ्गौ भवन्तीति ।

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तसप्ततेरपि प्रकृतीनां प्रत्येकं चतुर्णामपि पदानामध्रुवत्वम् , भङ्गसंख्या तु प्रत्येकमशीतिर्विज्ञेयेति ।

सास्वादने षट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां सप्तानां चेति त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनामवक्तव्यपदस्य बन्धाऽभावात्पदत्रयस्य ध्रुवत्वम् , तेन तासां प्रकृतीनां प्रत्येकं षड्विंशतिर्भङ्गा भवन्ति, शेषाणां बन्धप्रायोग्याणा पञ्चचत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं चतुर्णामपि भूयस्कारादिरसबन्धपदानामध्रुवत्वं भवति, अतो भङ्गाः प्रत्ये शीतिर्विज्ञेया इति ।

सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां वेदनीयादिद्वादशानां चतुर्णामपि पदानामध्रुवत्वम् , भङ्गास्तु तासां प्रकृतीनां प्रत्ये शीतिः, शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां द्वाषष्टिप्रकृतीनामवक्तव्य पदस्य बन्धाऽभावात्पदत्रयस्याऽध्रुवत्वम् , भङ्गास्तु षड्विंशतिरिति ॥५४॥

अथ यासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धस्य बन्धप्रायोग्यजीवानामसंख्यलोकप्रमाणत्वस्यानन्तत्वस्य वा भावेन ध्रुवत्वं भवति तासु बन्धप्रायोग्याणां पदानां ध्रुवाऽध्रुवत्वं प्रदर्शयन्नाह—

णियमा सव्वेगिंदियणिगोयपत्तेयतसमत्तेसु ।
वणपज्जवायररहियभूदगऽगणिवाउभेएसु ॥५५॥

(प्रे०) "णियमा" इत्यादि, एकेन्द्रियसत्कसप्तभेदेषु साधारणवनस्पतिकायसत्कसप्तभेदेषु पृथ्वीकायादिचतुष्कसत्कद्वादशसूक्ष्मभेदेषु पृथ्व्यप्तेजोवायुकायौघभेदचतुष्के तद्बादरौघभेदचतुष्के प्रत्येकवनस्पतिकायौघ—अपर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकायेषु वनस्पतिकायौघे चेत्येकचत्वारिंशद्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वप्रकृतीनां भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितरसबन्धाः सदैव प्राप्यन्ते, अवक्तव्यबन्धस्तु यस्यां प्रकृतौ संभवति तस्यां सोऽपि सदैव प्राप्यते, इत्यतस्सर्वासां प्रत्येकमेवैक एव भङ्गो भवतीति । भावना तु सुगमा स्वयं कार्या चेति ॥५५॥ अथौदारिकमिश्रादिमार्गणात्रये प्राह—

ओरालमीसजोगे कम्मणजोगे तहा अणाहारे ।
सुरविउव्वदुगजिणाणं अधुवा तिण्णि णिअमाऽणसि ॥५६॥

(प्रे०) "ओराले"त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगे कार्मणकाययोगेऽनाहारकमार्गणायाञ्चेति मार्गणात्रय आयुर्वर्जबन्धप्रायोग्याः प्रकृतयो द्वादशोत्तरशतं भवन्ति, ताभ्यो देवद्विकवैक्रियद्विक-जिननाम्नां बन्धकाः संख्येयाः कादाचित्काश्चेति पञ्चानामवक्तव्यबन्धाऽभावेन शेषाणां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धत्रयस्याऽध्रुवत्वात् षड्विंशतिर्भङ्गा भवन्ति । शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धा ध्रुवा भवन्ति, षट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चावक्तव्यबन्धस्याऽभावत्तेनैक एव भङ्गस्तासां प्रत्येकं भवति । मिथ्यात्वस्यावक्तव्यबन्धस्याऽध्रुवत्वाच्छेषपदत्रयस्य ध्रुवत्वाच्च त्रयो भङ्गा भवन्ति, शेषाणामेकोनषष्ट्यध्रुवबन्धिप्रकृतीनां चतुर्णामपि पदानां ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवतीति ॥५६॥

अथ शेषमार्गणासु भूयस्कारादिपदानां ध्रुवाऽध्रुवत्वं निरूपयन्नाह—

सेसासु हुंति णियमा सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
भूओगारप्पयरा अवट्ठिओ अत्थि भयणीओ ॥५७॥

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणास्वसंख्यलोकप्रदेशप्रमितजीववतीष्वनन्तजीववतीषु वा तथैकादशस्वध्रुवमार्गणासु ...

प्रस्तुतभङ्गविचयो निरूपितः । शेषाः पञ्चनवतिमार्गणाः, ताश्च ध्रुवा असंख्यलोकतो न्यूनराशिकाश्च, अत एतासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतररसबन्धौ ध्रुवौ सदैव प्राप्येते इति, अवस्थितबन्धस्तु भजनीयः । शेषा मार्गणा नामतः पुनरिमाः—अष्टनरकभेदाश्चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदा त्रिमनुष्यभेदास्त्रिंशद्देवमार्गणा नवविकलाक्षमार्गणास्त्रिपञ्चेन्द्रियमार्गणा बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकायास्त्रित्रसकायमार्गणा मनोयोगौघश्चत्वारस्तदुत्तरभेदा वचनयोगौघश्चत्वारस्तदुत्तरभेदा वैक्रियथोगः स्त्रीवेदः पुंवेदो मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यवज्ञानानि विभङ्गज्ञानं संयमौघ-सामायिक देशविरति-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुभलेश्यात्रय सम्यक्त्वौघ क्षायिक क्षायोपशमिक संज्ञिमार्गणाश्चेति । एतासु बन्धप्रायोग्याणामवक्तव्यरसबन्धस्य सत्त्वमसत्त्वमध्रुवत्वं च ज्ञात्वा भङ्गा निरूपणीया इति ॥५७॥

अथ मार्गणासु बन्धप्रायोग्यायुष्कर्मणां बन्धे ध्रुवाध्रुवत्वं निरूरूपयिषुस्तिर्यग्गत्योघादिद्वाषष्टिमार्गणासु प्राह—

जहि बासट्ठीए णो रसस्स तिरियाउगस्स अड भंगा ।
तहि तिरियाउस्स पया सेसा तिण्णि णियमा णेया ॥५८॥
भयणीआ तिपयाऽण्णा सप्पाउग्गाण आउगाणऽत्थि ।

(प्रे०) "जहि" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघादिद्वाषष्टिमार्गणासु तिर्यगायुषश्चत्वार्यपि पदानि ध्रुवाणि भवन्ति, भूयस्कारादिपदचतुष्कस्य ध्रुवत्वं त्वेतासु तिर्यगायुर्बन्धस्य ध्रुवत्वाद् बन्धकपरिमाणस्याऽसंख्येयलोकतदधिकप्रमाणत्वाच्च । अत्र ग्रन्थकृता द्वाषष्टिमार्गणानां नाम्नोऽग्रहणार्थम् "जहि" इत्यादिना दर्शितम्, एतासु द्वाषष्टिमार्गणासु तिर्यगायुर्बन्धस्य ध्रुवत्वाज्ज्येष्ठादिचतुर्विधरसबन्धानामष्टावष्टौ भङ्गा नैव भवन्ति किन्तु त्रयस्त्रय एक एको वा भवन्ति । द्वाषष्टिमार्गणाः पुनरसंख्येयलोकप्रमितजीवयुक्ता अनन्तजीवयुक्ता वा भवन्ति, ता नामत इमाः-तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रिय-सप्तसाधारणवनस्पतिकाय-पृथ्वीकायौघा ऽप्कायौघ-तेजस्कायौघ-वायुकायौघ-वनस्पतिकायौघ-सूक्ष्मपृथ्वीकायभेदत्रय-सूक्ष्माप्कायभेदत्रय-सूक्ष्मतेजस्कायभेदत्रय-सूक्ष्मवायुकायभेदत्रय-बादरपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकायौघ-बादराऽपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकाय-काययोगौघौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रय-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञया-हारकमार्गणा इति । उक्तद्वाषष्टिमार्गणासु तिर्यगायुर्व्यतिरिक्तस्य यस्य यस्याऽऽयुषो बन्धः संभवति तासु तस्य तस्याऽऽयुषो भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धाः प्रत्येकमध्रुवा भवन्ति, प्रकृतिबन्धस्यैव सान्तरत्वादेकादिबन्धकतया तत्प्रकृतिबन्धस्य लाभाच्च, अतस्तासु तिर्यगायुर्व्यतिरिक्तायुषां प्रत्येकं भङ्गास्त्वशीतिर्भवन्तीति ॥५८॥

अथ गाथाऽर्धेनोक्तशेषास्वेकोत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुषां ध्रुवाऽध्रुवत्वं दर्शयति—

सेसासुं भयणीआ सव्वाणाऽऽऊण तिपयाणाणा ॥५९॥

(प्रे०) "सेसासु"मित्यादि, शेषास्वुक्तातिरिक्तासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणा मर्वेषामायुषां प्रत्येकमवक्तव्यरसबन्धस्य प्रागतिदेशेन दर्शितत्वात्तदन्यपदत्रयस्य बन्धोऽध्रुवो भवति, प्रकृतिबन्धस्यैवाऽध्रुवत्वात् , अवक्तव्यबन्धोऽप्येतासु बन्धाऽर्हाणामायुषां प्रत्येकमध्रुवो लभ्यते, अतश्चतुर्णामपि पदानामध्रुवत्वादेतासु बन्धाऽर्हाणामायुषां प्रत्येकमशीतिर्भङ्गा भवन्ति । भावना तु सुगमा स्वयं च कार्येति । एकोत्तरशतमार्गणा नामत इमाः—सर्वनरक-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्य-देवभेदा नव विकलभेदाः पञ्चेन्द्रियभेदत्रयं बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकायास्त्रसकायत्रयं सर्वे मनोवचनयोगा वैक्रियाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोगाः स्त्रीपुरुषवेदौ मतिश्रुताऽवधि-मनःपर्यवज्ञानानि विभङ्गज्ञानं संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देशविरति-चक्षुर्दर्शना- ऽवधिदर्शन--शुभलेश्यात्रिक- सम्यक्त्वौघ--क्षायिक -क्षायोपशमिक-सास्वादन--संज्ञि-मार्गणा इति ॥५९॥ अथोक्तभङ्गानामानयनार्थं करण प्रदर्शयन्नाह—

तिगुणीकाऊण पया अधुवा अराणोराणताडिया कज्जा ।
रूवेणूणा अधुवा तावइआ चेव धुवसहिया ॥६०॥

(प्रे०) "तिगुणो"इत्यादि, यत्र यावन्ति पदानि सभवन्ति तासां संख्या प्रथमं ग्राह्या । तत्र ताभ्यो ध्रुवपदानामध्रुवपदानां च संख्या पृथक् कार्या। यत्र यावन्त्यध्रुवपदानि प्राप्यन्ते तत्र तावद्वारं त्रिकं स्थापयित्वा परस्परं गुणनीयम् ,गुणिते च सति यद्गुणनफलं प्राप्यते तस्माद्रूपमपनीते या सख्याऽवशिष्टा साऽध्रुवपदानां भङ्गसंख्या विज्ञेया । यदि पुनस्तत्र ध्रुवपदान्येकद्वयादीनि सन्ति तर्हि तत्रैको भङ्गो ध्रुवपदसत्कः प्रक्षेपणीयः, संभवत्सर्वध्रुवपदानां समुदितानामेकस्यैव भङ्गस्य लाभान्न ध्रुवपदाना संख्याया भेदे ध्रुवपदसत्कभङ्गसंख्यायां नानात्वम् । यथौघे जिननाम्नो भूयस्कारादिपदचतुष्काद् भूयस्काराऽल्पतररसबन्धौ ध्रुवौ,अवस्थिताऽवक्तव्यरसबन्धावध्रुवौ,अत्राऽध्रुवपदद्वयं भवत्यतस्त्रिकद्वयं स्थापनीयम्, तयोः परस्परं गुणने नवसंख्या भवति तस्माद्रूपेऽपनीतेऽष्टौ भङ्गा अध्रुवपदद्वयसत्काः समागताः, ध्रुवपदसत्कश्चैको भङ्गस्तत्र प्रक्षिप्यत इति नव भङ्गाः । अत्राऽध्रुवपदसत्कभङ्गेष्वपि ध्रुवपदानां प्रत्येकमनेके बन्धका इत्युल्लेखनीयम् , अत एव ध्रुवपदानां य एको भङ्गस्तस्मिन्नध्रुवपदानामभावो वाच्य इति, विशेषभावना तु प्राक् स्थितिबन्धवृत्तौ कृता ततः सा भावनीया, अत्रोक्ता भङ्गा अप्येतदनुसारेण भावनीया इति ॥६०॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे पञ्चम भङ्गविचयद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

अथ भूयस्कारादिरसबन्धकानां प्रत्येकं भागप्ररूपणामाह—

सव्वह खलु आसन्नदुभागो सव्वाण बंधगा णेया।
भूगारप्पयराणं केइ दुभागो कमऽहियूणो ॥६१॥
णवरि अवेए सुहमे भूगारस्स असुहाण संखंसो।
अप्पयरस्स सुहाणं पडिवक्खपयस्स संखंसा ॥६२॥
अगुरुरसस्स हवन्ते संखेज्जा जाण बंधगा णेया।
सिमवट्ठियस्स संखियभागोऽशगोसि असंखंसो ॥६३॥

(प्रे०) "सव्वह" इत्यादि, ओघत आदेशतो वा बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां भूयस्कारबन्धका अल्पतरबन्धकाश्च प्रत्येकं तत्तत्प्रकृतिबन्धकानामासन्नाऽर्धभागप्रमाणा भवन्ति, अत्र मूलकृता पादोनगाथया केषाञ्चिदभिप्रायो दर्शितः, यतः केषाञ्चिदेतदभिप्रेतम्, यदि वा पदद्वयस्याऽऽसन्नाऽर्धभागप्रमाणत्वस्य सामान्यतो निर्देशात्तद्विशेषस्य विशेषप्रमाणनिर्णयाय हेत्वादिकस्य च बहुश्रुतगम्यत्वं ज्ञापितम्। कुत एवमिति चेत्? उच्यते, यदि संक्लेशाद्धाया आधिक्यं स्यात्तर्ह्यशुभप्रकृतीनां भूयस्कारबन्धकानामाधिक्यं स्यात् तत्र बध्यमानशुभप्रकृतीनां चाल्पतरबन्धकानामाधिक्यं स्यात्, यदि पुनर्विशुद्ध्यद्धाया आधिक्यं स्यात्तर्हि शुभप्रकृतीनां भूयस्कारबन्धकाधिक्यं स्यात्, तत्र बध्यमानाशुभप्रकृतीनां अल्पतरबन्धकानामाधिक्यं च स्यात्, न सर्वत्र सर्वासां भूयस्कारबन्धकानामेवाधिक्यं प्रतिभाति, अतः पदद्वयस्य मुकुलिताऽभिधानमिति। अत्राऽन्ये पुनरेवं प्रदर्शयन्ति—सर्वत्रौघे आदेशे वा बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनां भूयस्कारबन्धकास्तत्तत्प्रकृतीनां साऽतिरेकाऽर्धभागप्रमाणा भवन्ति, अल्पतरबन्धकास्तु देशोनाऽर्धभागप्रमाणा इति। अत्र तत्तत्प्रकृतीनां संक्लेशाद्धा विशुद्ध्यद्धा च पृथक्पृथग्विज्ञेया, तेनाऽशुभप्रकृतीनां भूयस्कारवच्छुभ तीनां भूयस्कारस्यैवाऽऽधिक्यम्, अशुभप्रकृतिसत्कायाः संक्लेशाऽद्धायाः प्रवर्तमानेऽपि तत्र कियत्कालं यावच्छुभप्रकृतीनां परावर्तमानादिबन्धस्य यथासंभवं भूयस्कारादिबन्धस्य च प्रवर्तनसंभवेन न शुभानामल्पतररसबन्धकानामाधिक्यं संभवति, एवं विशुद्ध्यद्धायाः प्रवर्तमाने शुभप्रकृतीनां भूयस्काररसबन्धस्य भावेऽपि विशुद्ध्यद्धायाः प्रारम्भेऽशुभप्रकृतीनां परावर्तमानादिबन्धस्य यथासंभवं भूयस्कारादिबन्धस्य च प्रवर्तनेनाऽशुभानां नाऽल्पतररसबन्धकानामाऽऽधि म्। एवं च केषाञ्चिन्मतं भवति, स चाऽऽगमानुसारेण उपयुज्यविमर्शनीयम्, नाऽत्राऽस्माकं कश्चिदाग्रह इति। प्राप्ताऽतिप्रसक्तिं वारणाया

ऽपवादं दर्शयति "णवरि" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसंपरायसंयमे च यथाक्रममष्टादशानां चतुर्दशानां च बन्धप्रायोग्याऽशुभप्रकृतीनां भूयस्कारबन्धकाः संख्येयभागमात्रा अल्पतरबन्धकाः संख्येयबहुभागमिता भवन्ति, भूयस्कारबन्धकतया प्राप्यमाणाऽवरोहकोपशामकजीवेभ्यः क्षपकश्रेणिगतजीवानां द्विगुणत्वात्तेषाश्चाऽल्पतरबन्धकतया प्राप्यमाणत्वात् तथा मार्गणाद्वयेऽपि सातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां शुभप्रकृतीनां त्वल्पतरबन्धकेभ्यो भूयस्कारबन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, भावना तु सुगमाऽनन्तरोक्तभावनाऽनुसारेण स्थानवैपरीत्येन च कार्येति ।

अवस्थितरसबन्धकानां भागस्त्वेवम्–यत्र यासां प्रकृतीनां बन्धका अनन्ता असंख्यलोकमिता वाः तत्र तासामवस्थितरसबन्धकानामप्यनन्तादित्वादसंख्यलोकप्रमाणभागेनतद्बन्धकपरिमाणं विभज्यैकभागप्रमाणा अवस्थितबन्धकाः सदैव प्राप्यन्त इति कृत्वा तत्र तासामवस्थितरसबन्धका असंख्यभागप्रमाणा भवन्ति । यत्र जीवानामानन्त्येऽपि तत्तद्देवद्विकादिप्रकृतिबन्धकजीवानामेवाऽसंख्येयप्रमाणत्वं भवति तत्र तत्तत्प्रकृतिबन्धकपरिमाणं तत्प्रायोग्याऽसंख्येयसंख्यया विभज्यैकभागप्रमाणास्तत्र तासामवस्थितरसबन्धका उत्कृष्टपदे भवन्ति । न पुनः कुत्रचिदपि कासाश्चित्प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धका अनन्तभागप्रमाणा भवितुमर्हन्ति । अतो "ऽणोसिअसंखंसा" इति दर्शितम् । केवल यत्र जीवा एव संख्येया यद्वा तत्तत्प्रकृतिबन्धका एव संख्येयास्तत्राऽवस्थितबन्धका उत्कृष्टपदगता अपि संख्येयभागमात्रा एव प्राप्यन्ते, अत एतान् पृथगुक्त्वा शेषा एकत्र प्ररूपिता इति । गाथार्थस्तु सुगम इति ।

अवक्तव्यरसबन्धकानां प्ररूपणा तु स्वामित्वद्वार एव भावपर्यन्तद्वारेष्वतिदेशेन दर्शिताऽतो नाऽत्र प्रदर्श्यते ग्रन्थकारेणेति । अत्र भागद्वारे स्थानाऽशून्यार्थमवक्तव्यरसबन्धकभागप्ररूपणायाः सक्षेपार्थो दर्श्यते, स पुनरेवम्–यासां प्रकृतीनां बन्धका एव संख्येयास्तासामवक्तव्यबन्धकाः संख्येयभागमात्रा भवन्ति, यासां प्रकृतिबन्धकानामानन्त्यं तत्र ध्रुवबन्धिनीनां सर्वासामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽवक्तव्यरसबन्धसंभवे ते तत्राऽनन्तभागमात्रा भवन्ति, तद्वर्जानां त्वसंख्येयभागप्रमाणा अवक्तव्यबन्धकाः प्राप्यन्ते, अत्र भागाकारस्त्वन्तर्मुहूर्तसमयराशिप्रमाणो विज्ञेय इति । यत्र यासां प्रकृतीनां बन्धका एवाऽसंख्येया भवन्ति तत्राऽवक्तव्यबन्धकानां संख्येयत्वेऽसंख्येयत्वे वा तासां सर्वासां तत्तत्प्रकृतिबन्धकजीवानामसंख्येयभागप्रमाणा जीवा अवक्तव्यरसबन्धका भवन्तीति ॥६१–६३॥ तदेवं भूयस्काररसबन्धाऽधिकारे भागद्वारं समाप्तम् ।

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे
भूयस्काराधिकारे षष्ठ भागद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ सप्तमपरिमाणादीनि द्वादशभावान्तानि षड् द्वाराणि ॥

अथ परिमाण-क्षेत्र-स्पर्शना-काला-ऽन्तर-भावरूपेषु षट्सु द्वारेषु सातिदेशं सापवादं भूयस्कारादिबन्धान् निरूपयन्नाह—

छसु परिमाणाईसुं दारेसु अगुरुसव्व तिगयाणं ।
सव्वाण णवरि णियमा णऽवट्ठियो जाण गुरुकालो ॥६४॥
सिमअवट्ठिअस्स संखियसमयाऽत्थि उ जाण बंधगा संखा ।
जाण असंखा तेसिं आवलिआए असंखंसो ॥६५॥
पयडीणोघाण भवे अवट्ठिअस्स समयो लहू कालो ।
लहुमंतरं वि समयो असंखलोगंतरं जेट्ठं ॥६६॥
णवरं अवट्ठिअस्स उ बायरपज्जेयवाउकायम्मि ।
सव्वाण बंधगाणं खेत्तं णाऊण सयमुज्झं ॥६७॥

(प्रे०) "छसु" इत्यादि, परिमाणादिषु भावपर्यवसानेषु षड्द्वारेषु भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धकानां परिमाणादीनि यथाऽनुत्कृष्टरसबन्धकानां परिमाणादीनि दर्शितानि; वक्ष्यमाणाऽपवादपदानि विहायौघे मार्गणासु च तथैव प्ररूपयितव्यानि ।

तत्र भूयस्काराऽल्पतररसबन्धयोः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं प्रवर्तनेन तत्प्रकृतिबन्धकजीवानामासन्नाऽर्धभागस्य सर्वदैव लाभेन तथा सामान्यतः स्वस्थानगतानां भूयस्काररसबन्धसत्कैकोनसर्वविकल्पानामल्पतरबन्धसत्कसर्वविकल्पानां चाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्वरूपत्वेन न तयोरुक्तद्वारषट्केऽनुत्कृष्टरसबन्धनिरूपणतः कश्चिद्विशेष इति । यद्यप्यनुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणनियतसख्यातो भूयस्काराऽल्पतरबन्धकपरिमाणस्याऽऽसन्नाऽर्धभागप्रमाणत्वेन नियतसख्यापरिमाणं तद्वन्न भवति, तथाऽपि संख्येयत्वाऽसंख्येयत्वाऽनन्तत्वादिरूपेण तुल्यत्वात्तद्वदतिदेशोऽवधारणीयः । अनुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणादिषड्द्वारनिरूपणमनुत्कृष्टस्थितिबन्धकपरिमाणादिनिरूपणतः प्रकृतिबन्धसत्कपरिमाणादिनिरूपणातः सातवेदनीयं विहाय नाऽतिरिच्यते, तथाऽप्यनुत्कृष्टरसबन्धकवदतिदेशस्त्वासन्नत्वाद्रसबन्धप्रक्रमाच्च ।

प्रागवक्तव्यरसबन्धस्य स्वामित्वद्वारे स्वामित्वादिभावपर्यन्तानामेकादशद्वाराणामतिदेशेन निरूपणं विहितम्, एवं च भूयस्काराऽल्पतराऽवक्तव्यपदानां भावपर्यन्तद्वाराणां निरूपणम् ।

अथाऽवस्थितरसबन्धस्य भण्यते—परिमाणद्वारे ओघत आदेशतश्च सर्वासु मार्गणासु यथासंभवं यासां बन्धकपरिमाणं संख्येयं तत्र तासां प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकजीवा ज्येष्ठपदे संख्येया भवन्ति, यासां प्रकृतीनां बन्धकजीवानां परिमाणमसंख्येयं तत्र तासामवस्थितरसबन्धकजीवा ज्येष्ठपदेऽसंख्येया भवन्ति, जघन्यपदे तु असंख्यलोकतो न्यूनजीवराशिकासु यत्रावस्थितरसबन्धः प्राप्यते, तर्हि तस्य निर्वर्तका एकादयोऽपि जीवाः प्राप्यन्त इति। यत्र पुनर्यासां प्रकृतीनामनन्ता जीवा बन्धका भवन्ति तत्र तासामवस्थितरसबन्धका अनन्ताः सदैव प्राप्यन्ते। सामान्यतो गुणाऽभिमुखाऽवस्थागतान् मिथ्यात्वाद्यधस्तनगुणस्थानाऽभिमुखगतान् च विहाय सर्वत्राऽवस्थितरसबन्धस्य प्रायोग्यत्वादवस्थितरसबन्धप्रायोग्यरसबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुत्कृष्टरसबन्धाऽध्यवसायस्थानेभ्यः किञ्चिन्न्यूनत्वेपि रसबन्धाऽध्यवसायाऽवस्थानस्य कस्यचित्क्वचिदेव लाभात् यत्र यासामनन्तजीवा असंख्यलोकप्रमितजीवा वा बन्धकास्तत्र तासामवस्थितरसबन्धस्य सदैव लाभेऽपि तदसंख्येयभागप्रमितानामेवाऽवस्थितरसबन्धकत्वम्। असंख्येयलोकेभ्यो न्यूनतमाऽसंख्येयेषु प्रकृतिबन्धकेषु तदवस्थितरसबन्धस्य साऽन्तरत्वेऽपि जघन्यपदे एकजीवस्य बन्धकतया भावेऽपि ज्येष्ठपदेऽसंख्येयजीवानामवस्थितरसबन्धस्य लाभादतिदेशस्य सङ्गतिः।

क्षेत्रद्वारे यत्राऽसंख्येयलोकप्रमितानामनन्तजीवानां वा प्रकृतिबन्धकत्वं तत्राऽवस्थितरसबन्धकानामप्यनन्तानामसंख्येयलोकप्रमाणानां वा लाभात्समुद्घातक्षेत्रस्य स्वस्थानक्षेत्रस्य च प्रकृतिबन्धकस्पर्शनावत्प्राप्यमाणत्वेनाऽतिदेशः संगच्छते। बादरपर्याप्तवायुकायवर्जासु यत्राऽसंख्येयलोकतो न्यूनं प्रकृतिबन्धकपरिमाणं तत्र प्रकृतिबन्धकक्षेत्रस्यैव लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वादनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रमिवाऽवस्थितरसबन्धकक्षेत्रमपि लोकाऽसंख्येयभागमात्रमेव भवति। पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायां पुनर्बन्धप्रायोग्याणां पञ्चोत्तरशतस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रस्य देशोनलोकप्रमाणत्वेऽप्यवस्थितरसबन्धकक्षेत्रं पुनर्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणमेव संभवति, अतिदेशानुसारेण तु देशोनलोकप्रमाणं क्षेत्रं प्राप्यत इत्यपवादभणनम्।

स्पर्शनाया अतीतकालविषयत्वेन प्रतिमार्गणं प्रतिप्रकृतीनां बन्धकत्वेनाऽतीतकाले समुदितानामनन्तजीवानां लाभेन प्रतिमार्गणं रसबन्धाऽध्यवसायेभ्योऽसंख्येयबहुभागप्रमितरसबन्धाऽध्यवसायानामवस्थितरसबन्धप्रायोग्यत्वेन समुद्घाताद्यवस्थायामप्यवस्थितरसबन्धाऽध्यवसायस्य प्रायोग्यत्वेन च ओघे मार्गणासु च तत्तत्प्रकृतिबन्धकानां यावती स्पर्शना प्राप्यते तावत्येवाऽनुत्कृष्टरसबन्धेऽवस्थितरसबन्धे च प्राप्यत इति तथैवाऽतिदेशः।

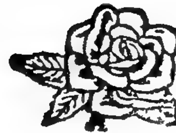
नानाजीवानाश्रित्य कालद्वारे ओघे मार्गणासु च यासां प्रकृतीनां बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिता अनन्ता वा तत्र तासामनुत्कृष्टरसबन्धवदवस्थितरसबन्धः सदैव प्राप्यते।

यत्र पुनर्यासां प्रकृतीनां बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतो न्यूना असंख्येयास्तत्राऽवस्थितरस-बन्धस्य जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठस्त्वावलिकाया असंख्येयभागः। सामान्यतोऽनुत्कृष्टरस-बन्धस्य ध्रुवमार्गणासु सर्वाद्धा, सान्तरमार्गणासु तु मार्गणाज्येष्ठकालः प्राप्यत इत्यपवादभणनम्। यत्र पुनर्यासां प्रकृतीनां बन्धकाः संख्येया भवन्ति, तत्र तासामवस्थितरसबन्धस्य जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठकालस्तु संख्येयसमया भवति, अतो द्वितीयगाथायामपवादद्वयं प्रदर्शितम्।

नानाजीवानाश्रित्याऽन्तरद्वारनिरूपणायाम्—यत्र यत्र यस्या यस्याः प्रकृतेरवस्थितबन्ध स्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशेभ्यो न्यूना असंख्येयजीवाः संख्येयजीवा वा तत्राऽवस्थितरसबन्धस्या ऽन्तरस्य सद्भावस्तच्च जघन्यतः समयः,उत्कृष्टतस्त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितं विज्ञेयमिति। विशेषतस्तु मूलप्रकृतिरसबन्धमनुसृत्य भावना कार्या सुगमा चेति।

भा ारे तु रसबन्धस्य कषायप्रत्ययत्वेन कषायोदयस्य त्वौदयिकभावत्वेन रसबन्ध ऽवान्तराः सर्वेऽपि भेदा औदयिकभावेन भवन्तीति। तदेवमवस्थितरसबन्धस्याऽपि भावद्वारा-ऽन्तं णं म् ॥६४-६७॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे सप्तमपरिमाणादिपञ्चद्वाराणि भावान्तानि समाप्तानि ॥



॥ अथ त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

अथ भूयस्कारादिचतुर्णां पदबन्धकानामल्पबहुत्वमोघतो मार्गणासु च सातिदेशं सापवादं निरूपयन्नाह—

भणिअं तु वक्खमाणो पएसबंधे जहऽत्थि अप्पबहुं ।
तहिह वि णेयं णवरं दुपयाणं अंतिमाणं तु ॥६८॥
भूगारप्पयराणं अप्पबहुं बंधगाण भणियव्वं ।
जुगवं परोप्परं उण सयं च जहसंभवं णेय ॥६९॥

(प्रे०) "भणिअ" इत्यादि, प्रस्तुताऽल्पबहुत्ववृत्तिरचनात्पूर्वमेव प्रदेशबन्धसत्कभूयस्काराऽधिकाराऽन्तर्गताऽल्पबहुत्वस्य वृत्ते रचितत्वेन ग्रन्थकृता तदतिदेशः साऽपवादो विहितः, तद्यथा–यथा प्रदेशबन्धे भूयस्काराऽधिकारे ओघत आदेशतो वा बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थिताऽवक्तव्यबन्धकानां परस्परमल्पबहुत्वं प्रदर्शितं तथैव प्रस्तुते रसबन्धभूयस्काराऽधिकारे भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धकानामल्पबहुत्वं भवति; यतस्तद्वदत्राऽप्यवस्थितबन्धस्य क्वचिदेव भावात्, अवक्तव्यबन्धस्य त्वेकरूपत्वात्, तत्तत्प्रकृतिबन्धकालमध्ये भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं तद्वत्परावर्तमानेन लाभादत्राऽप्युक्ताऽल्पबहुत्वं प्राप्यते ।

अपवादपदं त्वेवम्–ओघत आदेशतो वा तत्तद्मार्गणासु यत्र यासां प्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतरप्रदेशबन्धौ भवतस्तत्र तयोरल्पतरप्रदेशबन्धकेभ्यो भूयस्कारप्रदेशबन्धका विशेषाऽधिका दर्शिताः, ऽवक्तव्याऽवस्थितपदाऽनन्तरं क्रमेण पदद्वयं दर्शितम् । प्रस्तुते रसबन्धभूयस्काराऽधिकारे रसस्य भूयस्काराऽल्पतरबन्धौ युगपद्गणनीयौ, अवक्तव्याऽवस्थितपदद्वयाऽनन्तरं तृतीयपदरूपेण, न पुनः पृथगल्पतररसबन्धकानां पदं प्ररूप्य ो भूयस्काररसबन्धस्य पदमिति,

एवमिति चेत् ? उच्यते—अवस्थिताऽवक्तव्यपदद्वय द्वितीयपदतो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकानां प्रत्येकं तत्तत्प्रकृतीनां संख्यातजीवबन्धकत्वे संख्येयगुणत्वेन, असंख्यजीवबन्धकत्वेऽनन्तजीवबन्धकत्वे वाऽसंख्यगुणत्वेन लाभेऽपि न पुनः परं तयोर्विशेषोऽवगम्यते, यद् भूयस्काररसबन्धकानामाधि यदुताऽल्पतररसबन्धकान ि म् । ः पदद्वयस्य युगपदल्पबहुत्वमुक्तमिति । एतच्च सर्वं विवेचितं भागद्वारे, अतस्तदनुसारेण प्रस्तुतेऽपि साधनीयम् । अन्यमते तु ओघ आदेशे च यथासंभवं सर्वमार्गणासु ीसामन बन्धकेभ्यो भूयस्कारबन - स्यैव तैराऽऽधिक्याऽङ्गीकरणात्तन्मते प्रस्तुताऽपवादो न भवति, सर्वत्र भूयस्काराऽल्पतरपदयोरप्यल्पबहुत्वं तद्वद्भवतीत्यवधार्यमिति । अत्रौघतो मार्गण वाऽल्पबहुत्वं क्रमशो दर्शयामः,

मध्ये क्रमप्राप्तास्वौदारिकमिश्रादिमार्गणासु प्राप्ताऽपवादपदानि, ग्रन्थकारस्तत्प्रदर्शकगाथाभिः प्रदर्शयिष्यते ।

ओघतोऽल्पबहुत्वमेवम्—सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽवक्तव्य-बन्धकाः स्तोकाः, प्रकृतिबन्धकानामनन्तत्वेऽप्याद्यकषायाऽष्टकस्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानां द्वादशानां पल्योपमाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणा एवोत्कृष्टतोऽवक्तव्यबन्धका भवन्ति, शेषाणां पञ्चत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धका उत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव, औदारिकशरीरनाम्नो-ऽवक्तव्यबन्धकाः प्रतराऽसंख्येयभागगताऽसंख्येयसूचिश्रेणिगतप्रदेशमिता भवन्ति । तत आसा-मष्टचत्वारिंशतोऽवस्थितरसबन्धका अनन्तगुणाः, प्रकृतिबन्धकानामेकाऽसंख्यभागगताऽनन्त-जीवानामवस्थितरसबन्धकत्वात् । ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धयोः प्रत्येकं बन्धका असंख्येय-गुणाः, तत्तत्प्रकृतिबन्धकानां प्रत्येकमासन्नाऽर्धभागप्रमाणत्वात् । अत्र गुणाकारस्त्वसंख्यलोकाका-शप्रदेशप्रमितोऽवसेयः । भूयस्काराऽल्पतरयोः परस्परं विशेषस्तु बहुश्रुतेभ्यः स्वयमवधार्य इति ।

आहारकद्विकस्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, अत्राऽवस्थितरसबन्धस्य केषाञ्चित्क्वचिदेव जायमानत्वात्, आहारकद्विकसत्ताकानामप्रमत्तगुण-स्थानकं प्रविशतां जीवानामवक्तव्यबन्धस्य तु निश्चयेन लाभात्, ततो भूयस्काराऽल्पतररसयो-र्बन्धकाः संख्येयगुणाः, प्रकृतिबन्धकजीवानामेव संख्येयत्वान्नाऽसंख्येयगुणत्वमिति । यत्र प्रकृति बन्धका असंख्येया अनन्ता वा भवन्ति, तत्राऽवक्तव्याऽवस्थितरसबन्धकेभ्यो भूयस्काराऽल्प-तररसबन्धका असंख्येयगुणा एव भवन्तीत्यवधार्यमिति ।

जिननाम्नोऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, संख्येयानामेव तल्लाभात्, अवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, अवस्थितरसबन्धकाना देवनैरयिकेषूत्कृष्टपदेऽसंख्येयानां लाभात्, ततो भूय-स्काराऽल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः ।

उक्तशेषाणामेकोनसप्ततिप्रकृतीनामवस्थितबन्धकाः स्तोकाः, क्वचिदेव तद्बन्धस्य लाभात्तद-न्तरकालस्य दीर्घत्वाच्च, ततोऽवक्तव्यबन्धका असंख्येयगुणाः, देवनरकमनुष्यायूंषि विना शेषाणां प्रकृतेः सामान्यतः तद्बन्धप्रायोग्याणां प्रत्यन्तर्मुहूर्तमवक्तव्यबन्धस्य लाभात्, तथाऽऽयुस्त्रय-स्य बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव, तत्प्रारम्भप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्य सर्वेषामप्यवश्यं लाभात्, अत्र गुणाकारस्तु प्रकृतिबन्धकानामसंख्यलोकप्रमाणत्वेऽनन्तत्वे वा सत्यसंख्येयलोकप्रमाणो ज्ञातव्यः, शेषासु नवप्रकृतिषु यथासंभवं श्रेण्यसंख्येयभागः प्रतराऽसंख्येयभागो वा गुणकत्वेन ग्राह्यः । ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तत्तत्प्रकृतिबन्धकजीवानां प्रत्यन्तर्मुहूर्तमसंख्येय-यान् यावदन्तर्मुहूर्तं यावद् वाऽनयोर्बहुलतया प्रवर्तनात्, अत्र गुणकराशिस्त्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणो

बोद्धव्य इति । एता एकोनसप्ततिप्रकृतयो नामतः पुनरिमाः-वैक्रियाऽष्टक-मनुष्यायुष्क-हास्यादि-युगलद्वय-वेदत्रय वेदनीयद्वय-गोत्रद्वय-तिर्यग्द्विक--मनुष्यद्विक--जातिपञ्चकौ- दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क संस्थानषट्क-खगतिद्वय-पराघातोच्छ्वासनामाऽऽतपो -द्योत-त्रसदशक-स्थावरदशकनामानि तिर्यगायुष्कं चेति । अत्र भूयस्काराऽल्पतरयोः परस्परं विशेषस्तु स्वयमवसेय इति ।

मार्गणायामल्पबहुत्वं पुनरेवम्-काययोगौघा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारकमार्गणासु चतसृषु सर्वमप्यल्पबहुत्वमोघवद् भवति, भावनाऽपि तद्वदेव कार्या । लोभमार्गणायां पुनर्ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशानामवक्तव्यबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकानां स्तोकत्वं वाच्यम्, शेष सर्वं बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुताऽल्पबहुत्वमोघवद्विज्ञेयमिति ।

नरकगत्योघ-प्रथमादिषण्नरक-तृतीयाद्यष्टमान्तदेवेषु स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वानामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । उक्तशेषैकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां नवानां चेत्यष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धस्याऽभावात्प्रस्तुतत्रयोदशमार्गणास्वासामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकास्ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । मनुष्यायुषोऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, अवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धकाः संख्येयगुणा इति । जिननाम्नः पुनर्नरकौघ आद्यनरकत्रये चाऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः । तृतीयादिदेवमार्गणाषट्के तु जिननाम्नोऽवक्तव्यबन्धाभावात्तस्याऽवस्थितरसबन्धका अल्पाः, ततो भूयस्काराल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति । त्रयोदशस्वपि मार्गणासूक्तशेषाणां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां हास्यादियुगलद्वय-वेदत्रय-वेदनीयद्वय-गोत्रद्वय-तिर्यगायुष्क -मनुष्यद्विक-तिर्यग्द्विक संहननषट्क--संस्थानषट्क--खगतिद्वयो-द्योत स्थिरषट्का-स्थिरषट्कानां त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

सप्तमनरकमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणामल्पबहुत्वं नरकौघमार्गणावद् भवति, केवलं तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकगोत्रद्विकानामवक्तव्यरसबन्धकानां स्तोकत्वात्स्त्यानर्द्धित्रिकवदल्पबहुत्वं भवति, तच्चैवम्-अवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः, तिर्यग्द्विकादिषण्णां परावर्तमानेन बन्धाऽभावादवक्तव्यरसबन्धकानां स्तोकत्वं परिभावनीयमिति ।

तिर्यग्गत्योघे बन्धप्रायोग्याणां सप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रस्तुताऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति, केवलं ज्ञानावरणादिपञ्चत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां देशविरतिगुणस्थाने बन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुतमार्गणायामवक्तव्यरसबन्धाऽभावाच्चासां पञ्चत्रिंशतोऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्तीति । शेषं सर्वमोघवद् भावनीयमिति ।

पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायां ज्ञानावरणादिपञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । स्त्यानर्द्धित्रिकादिद्वादशप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चेति त्रयोदशप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाणामेकोनसप्ततिप्रकृतीनामध्रुवबन्धिनीनामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तद्यथा—अवस्थितबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । आसां नामान्योघत एव ज्ञातव्यानीति ।

पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् *तिरश्चीं* मार्गणाद्वये प्रस्तुताऽल्पबहुत्वमनन्तरदर्शितपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावद् भवति, केवलं प्रस्तुते औदारिकशरीरनाम्नोऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, प्रस्तुतमार्गणाद्वये लब्ध्यपर्याप्तानामसंख्येयबहुभागप्रमाणानां प्रवेशाभावेन शेषजीवेभ्यो बहुभागप्रमितजीवानां च परावर्तमानभावेन तद्बन्धप्रवर्तनादन्तर्मुहूर्तेनाऽवश्यमवक्तव्यरसबन्धलाभात्, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकायसप्तैकेन्द्रियभेदनव विकला भेदसप्तपृथ्वीकायसप्ताऽप्कायैकादशवनस्पतिकायभेदेष्वेति समुदितासु पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽवक्तव्यबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाणामेकषष्टिबन्धप्रायोग्याणामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामोघवत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, तद्यथा— अवस्थि बन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतरबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

मनुष्यौघे वैक्रियाऽष्टकस्याऽवस्थितबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतरबन्धकाः संख्येयगुणाः, अत्र बन्धकजीवानामेव संख्येयत्वेन नाऽसंख्येयगुणत्वमिति । जिननाम्नोऽवस्थिताऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः पदद्वयबन्धकानां क्वचिदेवोपलम्भात्, उत्कृष्टपदे पदद्वयात् यत्पदस्य आधिक्यं स्यात्तत्पदं पश्चात्स्थापनीयम्, अस्माभिस्तु न स्पष्टमवगम्यते, अतो बहुश्रुतेभ्यस्तदवधारणीयम् । पदद्वयतो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा इति । सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽवक्तव्यरस-

बन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । आहारकद्विकस्यैवम्–अवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा इति । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकषष्टिध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवस्थितबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणाद्वये सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवस्थितरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः । जिननाम्नोऽनन्तरदर्शितमनुष्यौघमार्गणावत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं विज्ञेयमिति । शेषाणां द्वासप्ततिप्रकृतीनामध्रुवबन्धिनीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसयोर्बन्धकाः संख्येयगुणा इति ।

देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशानमार्गणाषट्के वैक्रियकाययोगे च एकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्ग-त्रसनाम-स्थावरनामाऽऽतपनाम्नामोघवदल्पबहुत्वं भवति, तद्यथा–अवस्थितरसबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । वैक्रियकाययोगे जिननाम्नोऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । देवौघ-सौधर्मेशानमार्गणात्रये तु जिननाम्नोऽवक्तव्यबन्धाऽभावादवस्थितबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । उक्तसप्तमार्गणासु शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां सप्तनवतिप्रकृतीनां प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं सनत्कुमारदेवमार्गणावद्विज्ञेयम् । तच्चाऽऽसन्न एव दर्शितत्वात्ततोऽवधार्यमिति ।

आनतादिनवमग्रैवेयकान्तासु त्रयोदशमार्गणासु मिथ्यात्वाद्यष्टानामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । एकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कौदारिकद्विकमनुष्यद्विकजिननाम्नां द्वादशानाञ्चेत्येकपञ्चाशत्प्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति । मनुष्यायुषोऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः,ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां हास्यादियुगलद्वयवेदत्रयवेदनीयद्वयगोत्रद्वयसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्काऽस्थिरषट्कानां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः,ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः,ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका [illegible]-ख्येयगुणा इति ।

अनुत्तरदेव　गंणाचतुष्के सातवेदनीयादिद्वादशानामवरि　　बन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । मनुष्यायुष्कस्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूय- राऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः । शेषाणां प्रस्तुतेमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामेकोनषष्टि-प्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो भूयस्काराऽल्पतररस-बन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति ।

सर्वार्थसिद्धदेवेऽनुत्तरसुरवत्सर्वमप्यल्पबहुत्वं विज्ञेयम् , केवलमसंख्येयगुणस्थाने संख्यात-गुणं वक्तव्यमिति विशेषः । कुतः ? मार्गणागतजीवानां संख्येयमात्रत्वात् ।

पञ्चेन्द्रियौघ　प्तिपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्या　सकाय-वचनयोगौघ-व्य-वहारवचनयोग-चक्षुर्दर्शनमार्गणास्विति सप्तमार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्चाऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्का-राऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। वैक्रियाऽष्टकस्य मनुष्यायुषश्चाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । आहा-रकद्विकस्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्कार-ऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः । औदारिकशरीरनाम्नः पञ्चेन्द्रियौघ-त्रसकायौघमार्गणाद्वयेऽ-वक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररस-बन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति। पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिशेषमार्गणापञ्चके केवलं पर्याप्तजीवानां प्रवेशात् तेषां च संख्येयभागप्रमितानां संख्येयबहुभागप्रमितानां वा यथासभवं प्रत्यन्तर्मुहूर्तं वैक्रिय-द्विकस्य बन्धसम्भवेनौदारिकशरीरनाम्नोऽपि प्रत्यन्तर्मुहूर्तमवक्तव्यबन्धस्य लाभादौदारिकनाम्नो ऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररस-बन्धका असंख्येयगुणा भवन्तीति । उक्तशेषाणां षष्ट्यध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येय-गुणा भवन्ति ।

सप्ततेजःकायमार्गणाभेदेषु सप्तवायुकायमार्गणाभेदेषु च सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धि-प्रकृतीनां तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरनीचैर्गोत्राणां चेत्येकपञ्चाशत्प्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धाऽभावाद-वस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां चतुष्पञ्चाशत्प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन　　ंख्येयगुणा इति । चतुष्पञ्चाशत्प्रकृतयः

पुनरिमाः--हास्यादियुगलद्वय-वेदत्रय-वेदनीयद्वय-तिर्यगायुष्क--जातिपञ्चकौ--दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योत-त्रसदशक स्थावरदशकनामानि।

मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-सत्याऽसत्य-सत्याऽसत्यवचनयोगत्रयरूपास्वष्टसु मार्गणासु देवद्विक-वैक्रियद्विकौ-दारिकशरीरपराघातोच्छ्वास-बादरत्रिकरूपाणां दशप्रकृतीनामवक्तव्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, उक्तपदद्वयस्य विशेषस्तु स्वयं ज्ञातव्यः, यतः प्रस्तुतमार्गणासु देवानां प्राधान्येऽपि तिरश्चां तत्संख्येयभागप्रमाणत्वेन तत्राऽपि युगलिकतिरश्चामासामवक्तव्यबन्धाऽभावान्न स्पष्टं निरूपयितुं शक्यतेऽस्माभिरतः परस्परं विशेषस्तु स्वयमेव ज्ञेय इति यद्वा युगलिकेभ्योऽपि जलचरसंज्ञिजीवानामाधिक्यात् तदपेक्षया देवद्विकादिदशानामवस्थितबन्धकेभ्योऽवक्तव्यबन्धका असंख्येयगुणाः सम्भाव्यन्ते इति । तत उक्तपदद्वयतो भूयस्काराऽल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः। सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्चाऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः,ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति । आहारकद्विकस्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकषष्टिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

औदारिककाययोग ओघवत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां विज्ञेयम् । केवलं जिननाम्नो बन्धकानामेव प्रस्तुतमार्गणायां संख्यातत्वात्तस्य जिननाम्नः पदचतुष्कसत्कप्रस्तुताऽल्पबहुत्वं मनुष्यौघवद्विज्ञेयम् , तच्च सुगमं तत एव चाऽवधार्यमिति । एतावत्पर्यन्तं तु प्रदेशबन्धाऽनुसारेण प्राप्यत इति तथैव दर्शितम् ॥६८-६९॥

अथ क्रमप्राप्तौदारिकमिश्रादिमार्गणासु प्रदेशबन्धतो विशेष इति तासु प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं पृथग्दर्शयति—

सव्वप्पा ओरालियमीसे कम्मे तहा अणाहारे ।
सुरविउव्वदुगजिणाणं अवत्तिअस्सऽत्थि ताहिन्तो ॥७०॥
भूगारप्पयराणं संखेज्जगुणा हवेज्ज मिच्छस्स ।
ओघव्वऽप्पाबहुगं अपज्जमणुयव्व सेसाणं ॥७१॥

(प्रे०) "**सव्वप्पा**"इत्यादि, **औदारिकमिश्र कार्मणाऽनाहार** [मा]र्गणात्रये देवद्विकवै[क्रि]यद्विकजिननाम्नां प्रदेशबन्धेऽल्पतराऽवस्थितप्रदेशबन्धाऽभावेऽपि प्रस्तुते रसबन्धाऽधिकारे-

अनुत्तरदेव गंणाचतुष्के सातवेदनीयादिद्वादशानामवरि बन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसवन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसवन्धका असंख्येयगुणाः । मनुष्यायुष्कस्याऽवस्थितरसवन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसवन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयराऽल्पतररसवन्धकाः संख्येयगुणाः । शेषाणां प्रस्तुतेमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामेकोनषष्टिप्रकृतीनामवक्तव्यरसवन्धाऽभावादवस्थितरसवन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति ।

सर्वार्थसिद्धदेवेऽनुत्तरसुरवत्सर्वमप्यल्पबहुत्वं विज्ञेयम् , केवलमसंख्येयगुणस्थाने संख्यातगुणं वक्तव्यमिति विशेषः । ः १ मार्गणागतजीवानां संख्येयमात्रत्वात् ।

पञ्चेन्द्रियौघ ाप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्या सकाय-वचनयोगौघ-व्यवहारवचनयोग-चक्षुर्दर्शनमार्गणास्विति सप्तमार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्चाऽवक्तव्यरसवन्धकाः स्तोकाः,ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। वैक्रियाऽष्टकस्य मनुष्यायुषश्चाऽवस्थितरसवन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । आहारकद्विकस्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः,ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः । औदारिकशरीरनाम्नः पञ्चेन्द्रियौघ-त्रसकायौघमार्गणाद्वयेऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति । पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिशेषमार्गणापञ्चके केवलं पर्याप्तजीवानां प्रवेशात् तेषां च संख्येयभागप्रमितानां संख्येयबहुभागप्रमितानां वा यथासंभवं प्रत्यन्तमुर्हूर्तं वैक्रियद्विकस्य बन्धसम्भवेनौदारिकशरीरनाम्नोऽपि प्रत्यन्तमुर्हूर्तमवक्तव्यबन्धस्य लाभादौदारिकनाम्नोऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः,ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्तीति । उक्तशेषाणां षष्ट्यध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति ।

सप्ततेजःकायमार्गणाभेदेषु सप्तवायुकायमार्गणाभेदेषु च सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरनीचैर्गोत्राणां चेत्येकपञ्चाशत्प्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां चतुष्पञ्चाशत्प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन असंख्येयगुणा इति । चतुष्पञ्चाशत्प्रकृतयः

पुनरिमाः--हास्यादियुगलद्वय-वेदत्रय-वेदनीयद्वय-तिर्यगायुष्क--जातिपञ्चकौ--दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योत-त्रसदशक स्थावरदशकनामानि।

मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-सत्याऽसत्य-सत्याऽ यवचनयोगत्रयरूपास्वष्टसु मार्गणासु देवद्विक-वैक्रियद्विकौ-दारिकशरीरपराघातोच्छ्वास-बादरत्रिकरूपाणां दशप्रकृतीनामवक्तव्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, उक्तपदद्वयस्य विशेषस्तु स्वयं ज्ञातव्यः, यतः प्रस्तुतमार्गणासु देवानां प्राधान्येऽपि तिरश्चां तत्संख्येयभागप्रमाणत्वेन तत्राऽपि युगलिकतिरश्चामासामवक्तव्यबन्धाऽभावान्न स्पष्टं निरूपयितुं शक्यतेऽस्माभिरतः परस्परं विशेषस्तु स्वयमेव ज्ञेय इति यद्वा युगलिकेभ्योऽपि जलचरसंज्ञिजीवानामाधिक्यात् तदपेक्षया देवद्विकादिदशानामवस्थितबन्धकेभ्योऽवक्तव्यबन्धका असंख्येयगुणाः सम्भाव्यन्ते इति । तत उक्तपदद्वयतो भूयस्काराऽल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः। सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्चाऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः,ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति । आहारकद्विकस्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः। शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकषष्टिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

औदारिककाययोग ओघवत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां विज्ञेयम् । केवलं जिननाम्नो बन्धकानामेव प्रस्तुतमार्गणायां संख्यातत्वात्तस्य जिननाम्नः पदचतुष्कसत्कप्रस्तुताऽल्पबहुत्वं मनुष्यौघवद्विज्ञेयम्, तच्च सुगमं तत एव चाऽवधार्यमिति । एतावत्पर्यन्तं तु प्रदेशबन्धाऽनुसारेण प्राप्यत इति तथैव दर्शितम् ॥६८-६९॥

अथ क्रमप्राप्तौदारिकमिश्रादिमार्गणासु प्रदेशबन्धतो विशेष इति तासु प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं पृथग्दर्शयति—

सव्वप्पा ओरालियमीसे कम्मे तहा अणाहारे ।
सुरविउव्वदुगजिणाणं अवट्ठिअरसऽत्थि ताहिन्तो ॥७०॥
भूगारप्पयराणं संखेज्जगुणा हवेज्ज मिच्छस्स ।
ओघव्वऽप्पाबहुगं अपज्जमणुयव्व सेसाणं ॥७१॥

(प्रे०) "सव्वप्पा" इत्यादि, औदारिकमिश्र कार्मणाऽनाहार मार्गणात्रये देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां प्रदेशबन्धेऽल्पतराऽवस्थितप्रदेशबन्धाऽभावेऽपि प्रस्तुते रसबन्धाऽधिकारे-

ऽवस्थिताऽल्पतरबन्धयोरपि संभवाद् 'णवरि' इत्यादिना भण्यमानापवादरूपेण विशेषतोऽल्प बहुत्वं पृथग्दर्शितम्, तद्यथा—देवद्विकादिपञ्चानामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्कारा-ऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा', अत्र संख्येयगुणत्वं तु प्रकृतिबन्धकानामेव संख्येयत्वात्। अत्र मार्गणाप्रथमसमय एव देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्धप्रारम्भाद् मार्गणाप्रथमसमयबन्धस्य च विशेष-रूपेण विवक्षितत्वान्नाऽत्राऽऽसामवक्तव्यबन्धस्य सद्भाव इति पदत्रयस्यैवाऽल्पबहुत्वमिति। मिथ्यात्वस्याऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तद्यथा—अवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरस-बन्धका अनन्तगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। उक्तशेषाणां मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणामौदारिकमिश्रेऽष्टोत्तरशतप्रकृतीनां कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये षडुत्तरशतप्रकृ-तीनामपर्याप्तमनुष्यमार्गणावत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं विज्ञेयम्। तद्यथा--षट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृ-तीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽवक्तव्यरसबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाःस्तोकाः, ततो भूयस्का-राऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। शेषाणामेकषष्टेरेकोनषष्टेश्चाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतरबन्धका असंख्येयगुणा इति ॥७०-७१॥

अथ वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रमार्गणासु भूयस्कारादिपदानामल्पबहुत्व-मपवादरूपेण निरूपयन्नाह——

विउवव्वऽप्पाबहुगं विउव्वमीसम्मि सव्वपयडीणं।
णवरं ण अवत्तव्वो थीणद्धितिगाणचउगाणं ॥७२॥
होअन्ति बंधगाऽप्पा तित्थस्स अवट्ठिअस्स ताहितो।
भूगारप्पयराणं संखेज्जगुणा मुणेयव्वा ॥७३॥
मणुसिव्वाहारदुगे बारसकसायाइजिणसुराऊणं।
सव्वत्थव्व हवेज्जा सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥७४॥

(प्रे०) "वि　व्व" इत्यादि, वैक्रि　मिश्रे प्रदेशबन्धे भूयस्कारबन्धस्यैकस्यैव यथासंभवम-वक्तव्यबन्धसहितस्य द्वयस्यैव वा भावेऽपि प्रस्तुते रसबन्धभूयस्काराद्यधिकारे भूयस्कारादि-चतुर्णां पदाना त्रयाणां वा यथासंभवं सद्भावात्प्रस्तुते बन्धप्रायोग्याणां 　सामल्पबहुत्वं वैक्रिय काययोगवद् भवति। केवलं वैक्रियमिश्रे वर्तमानस्य चतुर्थगुणस्थान तोऽधस्तनगुणस्थाने गम-नाऽभावात्स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपसप्तानामवक्तव्यरसबन्धो न भवति, अत आसां प्रकृतीनामवस्थितर　न्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः।

जिननाम्नोऽल्पबहुत्वं पुनरेवम्—प्रस्तुतेऽवक्तव्यबन्धस्याऽभावादवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः, वैक्रियकाययोगे जिननाम्नो बन्धकानामसंख्येयत्वेनाऽवक्तव्यरसबन्धस्य च नरकाऽपेक्षया सद्भावादवक्तव्यतोऽवस्थितरसबन्धकास्ततोऽपि भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः क्रमेणाऽसंख्येयगुणा भवन्ति, तथाऽपि प्रस्तुते जिननामबन्धकानामेव संख्येयत्वादवक्तव्यबन्धाभावाच्चाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा एव भवन्तीति वैक्रिययोगतः प्रस्तुते विशेषः ।

शेषमल्पबहुत्वं वैक्रियकाययोगवद् भवति, तद्यथा -मतिज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरबादरत्रिकपराघातोच्छ्वासनाम्नामवक्तव्यबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः । मिथ्यात्वस्याऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाणां सातवेदनीयादीनां परावर्तमानबन्धानामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । ता अष्टाचत्वारिंशत्प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—साताऽसातवेदनीय--हास्यादियुगलद्वय--वेदत्रय-गोत्रद्वय-तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकैकेन्द्रियजाति-पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क--संस्थानषट्क-खगतिद्वया-ऽऽतपोद्योत-त्रस-स्थावर स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्कनामानीति ।

आहारका-ऽऽहारकमिश्रमार्गणाद्वये साताऽसातवेदनीय -हास्य-रति शोका--ऽरति-स्थिरा-ऽस्थिर शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य-यशःकीर्तिनाम्नां द्वादशानां देवायुषो जिननाम्नश्च प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं मानुषीमार्गणावद्विज्ञेयम् । पर्याप्तमनुष्यमार्गणायामपि तथैवाऽल्पबहुत्वस्य लाभेऽपि मानुषीमार्गणावदतिदेशस्तु छन्दोऽनुरोधाद् द्रष्टव्य इति । अल्पबहुत्वं पुनरेवम्- त्रयोदशानां सातवेदनीयादीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा भवन्तीति । जिननाम्नोऽवस्थिताऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः । शेषाणां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामेकोनपञ्चाशतोऽवक्तव्यरसबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, एतदल्पबहुत्वं सर्वार्थसिद्धदेवमार्गणावद् भवतीति तद्वदतिदिष्टम् । गाथार्थस्तु स्वयं भावनीयः सुगमश्च । एवं क्रमप्राप्तेषु त्रिषु योगभेदेषु यथायोगमपवादसम्भवेन प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं निरूपितम् ॥७२-७४॥

अथ पूर्वोक्ताऽतिदेशानुसारेण प्राप्तमल्पबहुत्वं वेदादिमार्गणासु दर्श्यते, तद्यथा- ?-वेदमार्गणायां पुरुषवेदमार्गणायां च मनोयोगमार्गणावत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं विज्ञेयम् ,

केवलं ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्काऽन्तरायपञ्चकानां संज्वलनचतुष्कस्य चेत्यष्टादशाना-मुक्तमार्गणाद्वयेऽवक्तव्यरसबन्धस्यैवाऽभावादासामष्टादशानामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतरर न्धका असंख्येयगुणा इति। शेषाणामेकोनत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवक्त-व्यरसबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। देवद्विक-वैक्रियद्विकौ-दारिकशरीर-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकाणामवक्तव्याऽ-वस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, परस्परं विशेषस्तु मनोयोगमार्गणावत्स्वयं भावनीयः बहुश्रुता-दिति, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति। आहारकद्विकस्याऽवस्थित-रसबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः। शेषाणामेकषष्टिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति। अत्राऽपि शेषप्रकृत्यन्त-र्गतजिननामप्रकृतेः स्त्रीवेदमार्गणायां केवलं मानुषीष्वेव बन्धभावाज्जिननामबन्धकानामल्पबहुत्वं मनुष्यौघमार्गणावद्विज्ञेयम्, तच्चैवम्—अवक्तव्याऽवस्थितरसबन्धयोर्बन्धकाः स्तोकाः, परस्परं विशेषस्तु स्वयं परिभावनीय इति। ततः संख्येयगुणा भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका विज्ञेया इति।

नपुंसकवेदमार्गणायां प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं सर्वमोघवद्विज्ञेयम्, केवलं ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क संज्वलनचतुष्काऽन्तरायपञ्चकरूपाणामष्टादशानामवक्तव्यबन्धो न भवति, आसां ध्रुवबन्धित्वे सति तद्बन्धविच्छेदादर्वागेव प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदात्। अल्पबहुत्व-भावना त्वोघानुसारेण यथासंभवं कार्येति।

क्रोधमानमायामार्गणात्रयेऽपि नपुंसकवेदमार्गणावदेव प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, ... मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्याऽवक्तव्यबन्धोऽपि प्राप्यत इति कृत्वा तस्य सर्वमप्यल्प-बहुत्वमोघवद् भवति। मायामार्गणायां सञ्ज्वलनक्रोधमानयोरवक्तव्यबन्धः प्राप्यत इत्यतस्त-योरल्पबहुत्वमोघवत्प्राप्यत इति, शेषं सर्वं नपुंसकवेदमार्गणावदवगन्तव्यमिति ॥७२-७४॥

अथ अपगतवेदसूक्ष्मसंपराययोः प्रस्तुताल्पबहुत्वस्य प्रदेशबन्धतो विशेषत्वात् प्राह—

भूगारप्पयराणं असुहाण कमा अवेअसुहमेसुं।
संखगुणाऽवत्तव्वा सुहाण अप्पयरइयराणं ॥७५॥

(प्रे०) 'भूगारे'त्यादि, अपगतवेदमार्गणायां ज्ञानावरणादिचतुर्दशानां सञ्ज्वलन-चतुष्कस्य चेत्यष्टादशानामवस्थितरसबन्धाऽभाव एव, ततोऽत्राऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकास्ततो भूयस्काररसबन्धकाः संख्येयगुणाः, अवरोहकाणां नवमदशमगुणस्थानगतानां तद्भावात् ततोऽ-ल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः, श्रेणिद्वयारोहकाणां भावात्। सातवेदनी :कीर्तिनामो-

च्चैर्गोत्राणामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणास्ततो भूयस्काररसबन्धकाः संख्येयगुणाः। भावना तु ज्ञानावरणादिप्रकृतितो वैपरित्येन कार्येति। एवं सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां सप्तदशानां बन्धप्रायोग्याणामप्यल्पबहुत्वं विज्ञेयमिति।

मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघमार्गणासु पञ्चस्वाहारकद्विकस्य मनुष्यायुषश्चाऽवस्थितबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः। देवायुषः सातवेदनीयादिद्वादशानां चावस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां त्रिषष्टिप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। अत्र त्रिषष्टिप्रकृतयः पुनः प्रस्तुतमार्गणासु ध्रुवबन्धिन्यस्तत्कल्पा वा। देवद्विकादिचतुर्णां मनुष्यद्विकादिपञ्चानाञ्चेति नवानां तत्तद्भवमाश्रित्याऽऽसां ध्रुवबन्धिकल्पत्वान्न तासां परावर्तमानबन्धः प्राप्यते, अतोऽवक्तव्यबन्धकानामेव स्तोकत्वम्, अत्र मनुष्यपञ्चकस्याऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येया भवन्ति। शेषाणामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां त्ववक्तव्यरसबन्धकाः संख्येया भवन्तीति। त्रिषष्टिः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्का-ऽऽद्यवर्जद्वादशकषाय-भय जुगुप्सा-पुरुषवेद-देवद्विक-मनुष्यद्विक- पञ्चेन्द्रियजातिनामौ-दारिकद्विक- वैक्रियद्विक--तैजसकार्मणशरीर-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघू -पघात--पराघातो--च्छ्वास-निर्माण-जिननाम-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिको च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकानीति।

मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणाद्वये सातवेदनीयादिद्वादशानां देवायुष आहारकद्विकस्य चेति पञ्चदशानामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति। जिननाम्नोऽवक्तव्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, परस्परं विशेषस्तु स्वयं परिभावनीयः। ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः। शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः। शेषाः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणषट्क-संज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सापुरुषवेद-देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्का-ऽगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासनिर्माणत्रसचतुष्कसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकानीति। आसामवक्तव्यबन्धः श्रेणितोऽवरोहकाणामेव प्राप्यते, अतस्तद्बन्धकाना स्तोकत्वमिति।

अज्ञानद्वये बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामल्पबहुत्वमोघवद्भवति, केवल ध्रुवबन्धिनीनां मिथ्यात्ववर्जानां षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाना स्तोकत्वं भवतीति।

विभङ्गज्ञानमार्गणायां षट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । मिथ्यात्वस्यौदारिकशरीर-पराघातो-च्छ्वास-बादर-त्रिकरूपाणां षण्णां चावक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, अत्र मिथ्यात्वस्य सास्वादनतो मतान्तरेण मिश्रतोऽपि वा मिथ्यात्वगुणस्थानप्राप्तस्य प्रथमसमये तल्लाभादुत्कृष्टतः पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणास्ते प्राप्यन्ते; अतस्तेषामल्पत्वम्, औदारिकशरीरादीनां षण्णामवक्तव्यबन्धकास्तु विभङ्गज्ञानिनस्तिर्यग्मनुष्या एव प्राप्यन्ते तथा केवलमौदारिकशरीरस्यावक्तव्यबन्धस्य विभङ्गज्ञानितिर्यग्मनुष्येभ्यो देवनारकतया उत्पद्यमानभवप्रथमसमयवर्तिनोऽपि, विभङ्गज्ञानितिरश्चां देवेभ्योऽसंख्येयभागप्रमाणत्वेनाऽवक्तव्यबन्धप्रायोग्यजीवानामेव मार्गणागतजीवानामसंख्येयभागप्रमाणत्वेनाऽवक्तव्यबन्धकानां स्तोकत्वम्, ततः सप्तानामवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, देवानामपि तल्लाभात् । ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकषष्टिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति । एतच्चाऽल्पबहुत्वमेकषष्टिप्रकृतीनामोघवत्प्राप्यत इति । शेषाः प्रकृतयो नामतः सुगमा इति ।

सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये मनःपर्यवज्ञानमार्गणावत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं विज्ञेयम् । केवलं ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्काऽन्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्रसञ्ज्वलनलोभरूपाणां षोडशप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धः प्रस्तुतमार्गणायां न प्राप्यते । आसां प्रकृतीनां ध्रुवबन्धित्वेन तत्कल्पत्वेन वोपशमश्रेणितोऽवरोहकाणां पञ्चदशप्रकृतीनां दशमगुणस्थानप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्य संयमौघे भावेऽपि प्रस्तुते नवमगुणस्थानं यावदेव सद्भावान्न तासामवक्तव्यबन्धसंभवः, सञ्ज्वलनलोभस्य तु मार्गणाप्रथमसमय एव श्रेणितोऽवरोहकाणामवक्तव्यबन्धस्य लाभेऽपि तद्बन्धस्य प्रस्तुतमार्गणयोरलाभान्नाऽवक्तव्यबन्धस्य विवक्षा, अतस्तन्निषेध इति । शेषं त्वल्पबहुत्वं मनःपर्यवज्ञानमार्गणावद् भावनायमिति ।

परिहारविशुद्धिमार्गणायां सातवेदनीयादिद्वादशानामाहारकद्विकस्य जिननाम्नो देवायुषश्च प्रस्तुताऽल्पबहुत्वमनन्तरदर्शितमनःपर्यवज्ञानमार्गणावद्विज्ञेयम्, शेषाणामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां त्वत्राऽवक्तव्यबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा इति ।

देशविरतिमार्गणायां [illegible]वेदनीयादिद्वादशानां देवायुषश्चाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति । जिननाम्नः पुनरवक्तव्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः परस्परं विशेषस्तु स्वयं परिभावनीयः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः, [illegible] नामबन्धकानां

प्रस्तुते संख्येयत्वाद् मनुष्यमार्गणावद् भावना कार्येति । शेषाणां त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतेऽवक्तव्यरसबन्धाऽभावेनाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । असंयमे कापोतलेश्यायां चौघवदल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, केवलमेकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकानां स्तोकत्वं विज्ञेयम् । भावना त्वोघानुसारेण स्वयं कार्या सुगमा चेति । कृष्णलेश्यानीललेश्ययोश्चौघवदल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, केवलमेकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धो नाऽस्ति, तथाऽत्र जिननाम्नोऽवक्तव्यरसबन्धाऽभावात्तत्प्रकृतिबन्धकानां च संख्येयत्वात्तस्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः, इत्योघतोऽपवादद्वयम् । शेषाऽल्पबहुत्वं पुनरेवम्-स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वानामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका अनन्तगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । एकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकोनसप्ततिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

तेजोलेश्यामार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सातैजसकार्मणशरीरवर्णचतुष्काऽगुरुलघूपघातनिर्माणनामान्तरायपञ्चकानामेकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पराघातोच्छ्वासबादरत्रिकनाम्नां चाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । आसामवक्तव्यरसबन्धो नैव प्राप्यत इति । आद्यद्वादशकषायस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वानां षोडशानां देवद्विकवैक्रियद्विकौदारिकशरीरनाम्नां ऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, तेजोलेश्यायां तिर्यग्मनुष्याणां देवप्रायोग्यस्यैव बध्यमानत्वात्र देवद्विकादीनां परावर्तमानता, अतो न तासामवक्तव्यरसबन्धकानामाधिक्यम्, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । आहारकद्विकस्य मनुष्यायुषश्चाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः । जिननाम्नोऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाणां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां हास्यादियुगलद्वयवेदत्रयवेदनीयद्वयगोत्रद्वयमनुष्यद्विकतिर्यग्द्विकैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाऽङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयाऽऽतपोद्योतत्रसस्थावरस्थिरषट्काऽस्थिरषट्कनाम्नां देवतिर्यगायुषोश्च पञ्चाशतोऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

पद्मलेश्या ।तेजोलेश्यावत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं विज्ञेयम् , केवलमेकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनाम्नां बन्धाऽभावात्तदल्पबहुत्वं न वाच्यम् ; अत एव पञ्चेन्द्रियत्रसनाम्नोरवक्तव्यबन्धाऽभावात्तयोरवस्थितबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इत्येवमल्पबहुत्वं भवति । तथौदारिकाऽङ्गोपाङ्गस्याऽत्र परावर्तमानत्वाऽभावेनानौदारिकशरीरनामवद् भवपरावर्तनेन क्वचिदेवौदारिकाङ्गोपाङ्गस्याऽवक्तव्यबन्धभावात् , औदारिकाऽङ्गोपाङ्गस्याऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणा', ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । तथा तेजोलेश्यायां देवानां प्राधान्यं भवति; ते च तिर्यग्भ्यः संख्येयगुणा भवन्ति । पद्मलेश्यायां पुनस्तिरश्चां प्राधान्यम् , ते च पद्मलेश्याकदेवेभ्योऽसंख्येयगुणा भवन्ति, तेषां च तिरश्चां देवप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात्तेषां तृतीयादिकल्पप्रायोग्यबन्धकत्वेन केवलं पुरुषवेदस्य बन्धप्रायोग्यत्वाच्च, पुरुषवेदसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्राणां सप्तानामपि प्रस्तुताऽल्पबहुत्वेऽवस्थितबन्धकेभ्योऽवक्तव्यरसबन्धकानां स्तोकत्वमवसातव्यम् । अतः पद्मलेश्यायां पुरुषवेदादिसप्तानामल्पबहुत्वमेवम्—अवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्तीति ।

शुक्ललेश्या 'देवमनुष्यायुषोराहारकद्विकस्य चाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः; ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः, अत्राऽऽयुषोर्बन्धकानामेव संख्येयत्वात्संख्येयगुणत्वम् , शेषं सुगमम् । सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकपञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्काणां चाऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणा', ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । पुरुषवेदसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्राणां सप्तानां **श्रीप्र पनासूत्रा**ऽभिप्रायेण शुक्ललेश्याया तिरश्चां प्राधान्येन मार्गणागतजीवानामसंख्येयबहुभागप्रमाणत्वेन तेषाञ्चाऽऽसां सप्तानां निरन्तरं बध्यमानत्वात प्रस्तुते देवानामेव आसां परावर्तमानेन बध्यमानत्वादासामवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः; ते च असंख्येया भवन्ति, अत्र श्रेणिगतजीवानामवक्तव्यबन्धस्वामित्वेऽप्यप्राधान्यमिति, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, तिरश्चामपि तल्लाभात् । ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । अन्यमतेन पुनः प्रस्तुतमार्गणाया देवानामेव प्राधान्यम् तत्राऽपि संख्येयतमभागप्रमाणानां मिथ्यादृष्टित्वेन तेषामेवाऽऽसां सप्तानां प्राधान्येनाऽवक्तव्यबन्धकत्वेन सद्भावात्तासां सप्तानामवस्थिताऽवक्तव्यबन्धकानां स्तोकत्वम् , परस्परमल्पबहुत्वं तु श्रुत्य ज्ञातव्यम् । ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । उक्तशेषाणां स्त्रीवेदनपुंसकवेदहास्यादियुगलद्वयवेदनीयद्वयनीचैर्गोत्रसहननषट्काऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिस्थिरशुभयशः-

कीर्तिनामाऽ-स्थिरषट्कनाम्नामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

भव्यमार्गणायामोघवदल्पबहुत्वं प्राग्दर्शितम् ।

अभव्यमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायामसंज्ञि गणायाश्च सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धाऽभावेनाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । औदारिकशरीरनाम्नोऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका अनन्तगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकोनसप्ततिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः ।

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायामवधिज्ञानवत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां ज्ञातव्यम्, केवलं जिननाम्नोऽवक्तव्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः; परस्परं विशेषस्तु स्वयं परिभावनीयः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः, प्रस्तुतमार्गणायां जिननामबन्धकानां संख्येयत्वात् । आयुर्द्वयस्य बन्ध एव न भवति । शेषबन्धप्रायोग्याः षट्सप्ततिः प्रकृतयः, तासां सर्वमप्यल्पबहुत्वमवधिज्ञानमार्गणावद्विभावनीयम् ।

क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि सर्वमप्यल्पबहुत्वमवधिज्ञानमार्गणावद्विज्ञेयम्, केवलं देवायुषो बन्धकानां संख्येयत्वादवधिज्ञानमार्गणायां मनुष्यायुषो यथाऽल्पबहुत्वं दर्शितं तथा प्रस्तुते मनुष्यायुषो देवायुषश्च द्रष्टव्यम्, तच्चैवम्—आयुर्द्वयस्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा इति ।

क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां सातवेदनीयादिद्वादशानां देवायुषश्चाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । आहारकद्विकमनुष्यायुषोरवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः । प्रत्याख्यानावरणा-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कयोर्देवद्विक-वैक्रियद्विक-मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचानां जिननाम्नश्चेत्यष्टादशानामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां पञ्चचत्वारिंशत्प्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धाऽभावात् अवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-संज्वलनचतुष्क-भय-जुगुप्सा-पुरुषवेदो-च्चैर्गोत्र पञ्चेन्द्रियजाति-तैजसकार्मणशरीर-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघू-पघात-निर्माण-समचतुरस्र-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिका-ऽन्तरायपञ्चकानीति ।

पद्मलेश्यायां तेजोलेश्यावत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, केवलमेकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनाम्नां बन्धाऽभावात्तदल्पबहुत्वं न वाच्यम्; अत एव पञ्चेन्द्रियत्रसनाम्नोरवक्तव्यबन्धाऽभावात्तयोरवस्थितबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इत्येवमल्पबहुत्वं भवति। तथौदारिकाऽङ्गोपाङ्गस्याऽत्र परावर्तमानत्वाऽभावेनानौदारिकशरीरनामवद् भवपरावर्तनेन क्वचिदेवौदारिकाङ्गोपाङ्गस्याऽवक्तव्यबन्धभावात्, औदारिकाऽङ्गोपाङ्गस्याऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। तथा तेजोलेश्यायां देवानां प्राधान्यं भवति; ते च तिर्यग्भ्यः संख्येयगुणा भवन्ति। पद्मलेश्यायां पुनस्तिरश्चां प्राधान्यम्, ते च पद्मलेश्याकदेवेभ्योऽसंख्येयगुणा भवन्ति, तेषां च तिरश्चां देवप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात्तेषां तृतीयादिकल्पप्रायोग्यबन्धकत्वेन केवलं पुरुषवेदस्य बन्धप्रायोग्यत्वाच्च, पुरुषवेदसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्राणां सप्तानामपि प्रस्तुताऽल्पबहुत्वेऽवस्थितबन्धकेभ्योऽवक्तव्यरसबन्धकानां स्तोकत्वमवसातव्यम्। अतः पद्मलेश्यायां पुरुषवेदादिसप्तानामल्पबहुत्वमेवम्—अवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्तीति।

शुक्ललेश्यायां देवमनुष्यायुषोराहारकद्विकस्य चाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः; ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः, अत्राऽऽयुषोर्बन्धकानामेव संख्येयत्वात्संख्येयगुणत्वम्, शेषं सुगमम्। सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकपञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्काणां चाऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। पुरुषवेदसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्राणां सप्तानां **श्रीप्रज्ञापनासूत्रा**ऽभिप्रायेण शुक्ललेश्यायां तिरश्चां प्राधान्येन मार्गणागतजीवानामसंख्येयबहुभागप्रमाणत्वेन तेषाञ्चाऽऽसां सप्तानां निरन्तरं बध्यमानत्वात् प्रस्तुते देवानामेव आसां परावर्तमानेन बध्यमानत्वादासामवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः; ते च असंख्येया भवन्ति. अत्र श्रेणिगतजीवानामवक्तव्यबन्धस्वामित्वेऽप्यप्राधान्यमिति, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, तिरश्चामपि तल्लाभात्। ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। अन्यमतेन पुनः प्रस्तुतमार्गणायां देवानामेव प्राधान्यम् तत्राऽपि संख्येयतमभागप्रमाणानां मिथ्यादृष्टित्वेन तेषामेवाऽऽसां सप्तानां प्राधान्येनाऽवक्तव्यबन्धकत्वेन सद्भावात्तासां सप्तानामवस्थिताऽवक्तव्यबन्धकानां स्तोकत्वम्, परस्परमल्पबहुत्वं तु स्वयं ज्ञातव्यम्। ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। उक्तशेषाणां स्त्रीवेदनपुंसकवेदहास्यादियुगलद्वयवेदनीयद्वयनीचैर्गोत्रसंहनन‌षट्काऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिस्थिरशुभयशः-

कीर्तिनामाऽ-स्थिरषट्कनाम्नामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

भव्यमार्गणायामोघवदल्पबहुत्वं प्राग्दर्शितम् ।

अभव्यमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायाञ्च सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धाऽभावेनाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । औदारिकशरीरनाम्नोऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका अनन्तगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकोनसप्ततिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः ।

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायामवधिज्ञानवत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां ज्ञातव्यम्, केवलं जिननाम्नोऽवक्तव्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः; परस्परं विशेषस्तु स्वयं परिभावनीयः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः, प्रस्तुतमार्गणायां जिननामबन्धकानां संख्येयत्वात् । आयुर्द्वयस्य बन्ध एव न भवति । शेषबन्धप्रायोग्याः षट्सप्ततिः प्रकृतयः, तासां सर्वमप्यल्पबहुत्वमवधिज्ञानमार्गणावद्विभावनीयम् ।

क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि सर्वमप्यल्पबहुत्वमवधिज्ञानमार्गणावद्विज्ञेयम्, केवलं देवायुषो बन्धकानां संख्येयत्वादवधिज्ञानमार्गणायां मनुष्यायुषो यथाऽल्पबहुत्वं दर्शितं तथा प्रस्तुते मनुष्यायुषो देवायुषश्च द्रष्टव्यम्, तच्चैवम्—आयुर्द्वयस्याऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा इति ।

क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां सातवेदनीयादिद्वादशानां देवायुषश्चाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । आहारकद्विकमनुष्यायुषोरवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणाः । प्रत्याख्यानावरणा-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कयोर्देवद्विक-वैक्रियद्विक-मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचानां जिननाम्नश्चेत्यष्टादशानामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां पञ्चचत्वारिंशत्प्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धाऽभावात् अवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः । शेषाः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-संज्वलनचतुष्क-भय-जुगुप्सा-पुरुषवेदो-च्चैर्गोत्र पञ्चेन्द्रियजाति-तैजसकार्मणशरीर-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघू-पघात-निर्माण-समचतुरस्र-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिका-ऽन्तरायपञ्चकानीति ।

सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां सातवेदनीयादिद्वादशानामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, तोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां द्वाषष्टिप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धाऽभावादवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा इति।

सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां षट्चत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां चेति त्रिपञ्चाशतोऽवक्तव्यबन्धाऽभावेनाऽवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्तीति। देवद्विकवैक्रियद्विकयोरवस्थिताऽवक्तव्यरसयोर्बन्धकाः स्तोकाः; परस्परं विशेषस्तु स्वयं परिभावनीयः, तद्यथा—संज्ञिपर्याप्ततिर्यक्षु संख्येयवर्षायुष्काणां प्राधान्येऽवस्थितरसबन्धकेभ्योऽवक्तव्यरसबन्धकानामाधिक्यम्, असंख्येयवर्षायुष्काणां प्राधान्येऽवक्तव्यरसबन्धकेभ्योऽवस्थितरसबन्धकानामाधिक्यं भवति, इत्येवं विकल्पद्वयं परिभावनीयम्। ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति। औदारिकद्विकस्याऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, प्रस्तुतमार्गणागतदेवानां शेषगतित्रयादसंख्येयगुणत्वात्तेषां चौदारिकद्विकस्य निरन्तरं बन्धकत्वेऽपि तस्याऽवस्थितादिबन्धप्रायोग्यत्वात्, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्तीति। शेषाणां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। शेषाः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः-हास्यादियुगलद्वयस्त्रीपुरुषवेदसाताऽसातवेदनीयनीचैरुच्चैर्गोत्रद्वयतिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकाऽऽद्यसंहननपञ्चकाऽऽद्यसंस्थानप -खगतिद्वयोद्योतस्थिरषट्काऽस्थिरषट्कनामानि देवतिर्यगायुषी मनुष्यायुष्कश्च। केवलमत्र मनुष्यायुषः पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात्तेषां च संख्येयत्वेन मनुष्यायुषो बन्धकाः संख्येया भवन्ति, अतोऽवक्तव्यबन्धकादीनां संख्येयगुणत्वं भवति न त्वसंख्येयगुणत्वमिति।

संज्ञिमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकनाम्नामौदारिकशरीरनाम्नश्च प्रस्तुतेऽल्पबहुत्वं मनोयोगमार्गणावद्विज्ञेयम्, तद्यथा—अवक्तव्याऽवस्थितयोर्बन्धकाः स्तोकाः परस्परं विशेषस्तु स्वयमूह्यः, ततो भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः। शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणावत्प्रस्तुतेऽल्पबहुत्वं भवति, तद्यथा—सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्चाऽवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणाः। आहारकद्विकस्याऽवस्थितरसबन्धकाः सर्वाऽल्पास्ततोऽवक्तव्यरसबन्धकाः संख्येयगुणास्ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति। शेषाणां षष्टिप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येय-

गुणाः, ततो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्तीति । शेषपष्टिप्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—हास्यादियुगलद्वय-वेदत्रय-वेदनीयद्वय-गोत्रद्वया-ऽऽयुष्कचतुष्क-मनुष्यद्विक-तिर्यग्द्विक-नरकद्विक-जातिपञ्चकौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क- संस्थानषट्क-खगतिद्वया--ऽऽतपो-द्योत-त्रस-स्थावरचतुष्क-स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्कनामानि । असंज्ञिमार्गणायामभव्यमार्गणया समम्रुक्तम् ।

आहारकमार्गणायां काययोगादिमार्गणाभिस्सममोघवत्प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं दर्शितम् । 'अनाहारकमार्गणायां च कार्मणकाययोगमार्गणया सह प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं प्ररूपितम् ।

उक्ताऽल्पबहुत्वमोघ आदेशे चाऽपगतवेदं सूक्ष्मसंपरायं विहाय सर्वत्र भूयस्काराऽल्पतर-पदद्वयस्य तृतीयपदेन ग्रहणं भवति । अन्यमतेन तु भूयस्कारबन्धकानामाऽऽधिक्यम् । आद्यपदद्वयं त्ववक्तव्याऽवस्थितयोर्यथासंभवं भवति, तत्राऽपि यत्र मार्गणागताऽसंख्येयबहुभागजीवानां संख्येयबहुभागजीवानां वा यासां प्रकृतीनां प्रत्यन्तर्मुहूर्तमवक्तव्यबन्धस्य सद्भावस्तासामवक्त-व्यबन्धका अधिकाः प्राप्यन्ते, तत्र जीवानां तत्प्रकृतिबन्धकतया संख्येयत्वे संख्येयगुणा अव-स्थितरसबन्धकेभ्योऽवक्तव्यरसबन्धका भवन्तिः तत्प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयत्वेऽवस्थितरसबन्ध-केभ्योऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति । आयुषस्तु सर्वत्राऽवक्तव्यरसबन्धकानामेवा-ऽऽधिक्यम्, यत आयुर्बन्धकानां बन्धप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्याऽवश्यं लाभादवस्थितबन्ध-स्त्वायुर्बन्धकाले कदाचिद् भवति, न सर्वेषामायुर्बन्धकानां तदिति । तत्राऽपि तत्तदायुष्कप्रकृति-बन्धकानां संख्येयत्वे संख्येयगुणत्वम्, असंख्येयत्वेऽसंख्येयगुणत्वं चाऽवस्थितरसबन्धकेभ्यो-ऽवक्तव्यबन्धकानां प्राप्यते । एवमेवाऽऽहारकद्विकस्याऽप्यवक्तव्यबन्धकानामवस्थितरसबन्ध-केभ्यः संख्येयगुणत्वं भावनीयमिति । यत्र पुनर्मार्गणागतजीवेभ्यः संख्येयबहुभागप्रमितजीवे-ष्वसंख्येयबहुभागप्रमितजीवेष्वनन्तबहुभागप्रमितजीवेषु वा यासां प्रकृतीनां ध्रुवबन्धो भवतिः यद्वा तत्प्रकृतिबन्धकजीवेभ्यो बहुभागप्रमितानां जीवानां यासां प्रकृतीनां मार्गणाकालं यावद् वा तेषां तद्बन्धो निरन्तरं प्राप्यते तत्र तासामवक्तव्यबन्धकाः स्तोका भवन्ति, तासामवस्थित-बन्धका असंख्येयगुणा इति, एवं दर्शितबीजपदेनात्रोक्ताऽल्पबहुत्वे आद्यपदद्वयस्याऽवस्थिताऽव-क्तव्यरूपस्य क्रमेण प्रथमद्वितीयतयाऽवस्थाने संख्येयगुणत्वादिरूपेऽल्पबहुत्वे च उक्तभावनया सर्वत्र यथासंभवं भावना कार्येति ॥१७५॥

तदेवं समाप्तं त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारं तत्समाप्तौ च "भूगार" इत्यनेनोद्दिष्टो द्वितीयो भूयस्काराख्योऽधिकारः समाप्तिं गतः ।

॥ इति श्रीप्रेमप्रभाटीकाविभूषिते श्रीबन्धविधान उत्तरप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराऽधिकारे त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ तदेवं द्वितीयो भूयस्काराख्योऽधिकारः समाप्तः ॥

॥ तृतीयः पदनिक्षेपाधिकारः ॥

गोत्तरप्रकृतिरसबन्धे तृतीयस्य पदनिक्षेपाऽधिकारस्याऽवसरः, अत्र भूयस्कारविशेष उत्कृष्टवृद्धिरूपो जघन्यवृद्धिरूपः, तथाऽल्पतरविशेष उत्कृष्टहानिरूपो जघन्यहानिरूपो वा तथोत्कृष्टरसबन्धवृद्धिहान्योर्यदुत्कृष्टप्रमाणं भवति तदनन्तरसमयभाव्युत्कृष्टाऽवस्थानम् , एवं जघन्यरसबन्धवृद्धिहान्योर्यज्जघन्यप्रमाणं भवति तदनन्तरसमयभाविजघन्याऽवस्थानं। एवं पदषटकं प्रस्तुताऽधिकारे निरूपयिष्यते, अत्र पदनिक्षेपस्य विस्तरतः शब्दार्थस्तु मूलप्रकृतिस्थितिबन्धवृत्तौ यथा दर्शितस्तथा भावनीयः। अथ पदनिक्षेपाऽधिकारे द्वारनामानि निरूपयन्नाह—

तइए पयणिक्खेवे अहिगारे तिरिण हुंति दाराइं।
संतपयं सामित्तं अप्पाबहुगं ति जहकमसो ॥७६॥

(प्रे०) "तइए" इत्यादि, तृतीये=अधिकारक्रमाऽपेक्षया तृतीये "पयणिक्खेवे" भूयस्कारादिविशेषनिरूपणात्मके पदनिक्षेपाऽभिधानाऽधिकारे त्रीणि द्वाराणि भवन्ति। वृद्धिहान्यवस्थानरूपाणां भूयस्कारादित्रयाणां जघन्योत्कृष्टात्मके पदद्वये निक्षेपणाच्चिन्तनात्प्रस्तुताऽधिकारः पदनिक्षेप इत्यभिधीयते। तत्र त्रीणि द्वाराणि सन्ति, (१) सत्पदम् (२) स्वामित्वम् (३) अल्पबहुत्वञ्च। तान्येवाह—"संत " इत्यादि, गतार्थम् ॥७६॥

॥ अथ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

अथ मं सत्पदद्वारमोघतो मार्गणासु च प्राऽऽह—

सव्वाण अत्थि दुविहा वुड्ढी हाणी तहा अवट्ठाणं।
सव्वासु मग्गणासु सपाउग्गाण एमेव ॥७७॥
णवरि दुहाऽवट्ठाणं णत्थि अवेअसुहमेसु सव्वेसिं।
कम्माणाहारेसुं देवविउव्वदुगतित्थाणं ॥७८॥

(प्रे०) "सव्वाण" त्यादि, ओघतो चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टा जघन्या चेति द्वे वृद्धी एवं द्वे हानी तथा द्विप्रकारमवस्थानं च सत्तया विज्ञेयम्, सर्वासां प्रत्येकं नानावृद्धिहान्यवस्थानानां भावेन तेभ्यो ह्रस्वज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां प्रस्तुतप्ररूपणायां विषयतया प्राप्तिरिति। एवं सर्वासु मार्गणासु सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु बन्धप्रायोग्याणां सायुषां सर्वेषां कर्मणां द्विविधवृद्धिहान्यवस्थानानि भवन्ति। सामान्यतः सर्वमार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां प्रत्येकमसंख्येयलोकप्रमिताऽध्यवसायानां लाभेनाऽनेकप्रकाराणि वृद्धिहान्यवस्थानानि भवन्ति, अतो निर्दिष्टद्विविधवृद्धिहान्यवस्थानानि सुतरां प्राप्यन्ते।

अत्राऽपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसंपरायमार्गणायाञ्च प्राप्ताऽतिप्रसक्तिमपनयन्नाह— "णवरि" इत्यादि, उक्तमार्गणाद्वयस्य श्रेणावेव लाभेन तत्र चाऽवस्थितरसबन्धस्याऽभावाञ्च तद्विशेषरूपस्योत्कृष्टजघन्यभेदभिन्नस्याऽवस्थानस्याऽवकाश इति ।

तथा कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां बन्धकाः सम्यग्दृष्टय स्तेषां चोत्कृष्टत उक्तमार्गणाद्वये समयद्वयमेवाऽवस्थितिर्भवति । तत्र मार्गणाप्रथमसमये भूयस्काराऽल्पतरबन्धाऽविवक्षितत्वाद् द्वितीयसमये तल्लाभेऽपि प्रस्तुतबन्धकानां तृतीयसमये मार्गणायामनवस्थानात्, वृद्धिहान्योरनन्तरभाव्यवस्थानमुक्तमार्गणाद्वये देवद्विकादीनां पञ्च प्रकृतीनां न प्राप्यत इति ।

उक्ताऽपवादद्वयं विहाय सर्वत्र बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां रसबन्धस्योत्कृष्टवृद्धिहान्य वस्थानानि जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि च सत्तया विद्यन्ते । गतं सत्पदद्वारम् ॥७७ ७८॥

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

अथ स्वामित्वद्वारं निरूपयन्नादावोघतो रसबन्धस्योत्कृष्टवृद्ध्यादिस्वामिनः प्ररूपयति—

असुहधुवअसायणपुमसोगअरइणीअतिरिदुगाण तहा ।
हुंडेगिंदियथावरपणाअथिराईण गुरुवुड्ढि ॥७९॥
स कुणइ चउठाणियजवमज्झस्सुवरि गओ कुणंतो जो ।
अंतोकोडाकोडीं ठिइं अणंतगुणवुड्ढीए ॥८०॥
रसमंतमुहुत्तं जा वड्ढंतो जेट्ठसंकिलेसेणं ।
डायं गुरुं गओ गुरुठिइं गुरुरसं च बंधंतो ॥८१॥

(प्रे०) "असुहे"त्यादि, अशुभप्रकृतीनां स्थितिवृद्धौ रसवृद्धिर्भवति, अत उत्कृष्टरसबन्धो ज्येष्ठस्थितिबन्धे जायमान एव भवति, ज्येष्ठबन्धतः प्रागनन्तरसमये यथासंभवमल्पतम रसबन्धं करोति, स च स्थितिबन्धमपि यथासंभवमल्पमेव निर्वर्त्तयति, सा च प्रस्तुतेऽन्तःकोटाकोटीरूपा, रसस्थानकमधिकृत्य पुनः स चतुःस्थानिकरससत्कयवमध्यमस्योपरि वर्तमानः संक्लेशवशेनाऽन्तर्मुहूर्तं यावत्प्रतिसमयमनन्तगुणरसं वर्धयन्, संक्लेशवृद्धेर्द्विचरमसमयतश्चरमसमय उत्कृष्टफालां दत्वा यः स्थितिरसयोरुत्कृष्टवृद्धिं करोति स प्रस्तुते ज्ञानावरणाद्यशुभध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति । अत्राऽशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धवृद्धिस्वामिन उत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्धिस्वामिनो यथा भवन्ति तथैव भावनीयाः । अतः स्थितिबन्धेऽशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्धौ "चतुःस्थानिकरसयवमध्योपरि वर्तमानः" इत्यादि रसबन्धनिरूप

णम् , अत्र रसबन्धे पुनरशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धवृद्धौ "अन्तःकोटाकोटीस्थितिबन्धं कुर्वन्" इत्यादिस्थितिबन्धसंदर्भप्रदर्शनम् । अतो मूलोत्तरस्थितिबन्धाऽनुसारेणाऽशुभप्रकृतीनां रसबन्धस्यो- ्ष्टवृद्धिस्वामित्वं भावनीयम् । ऽन्तमुहूर्तं यावत्प्रतिसमयमनन्तगुणवर्धमानसंक्लेशो भवतीति विशेषः । "अन्तःकोटीकोटीस्थितिं बध्नन्" "चतुःस्थानिकरसयवमध्यस्योपरि वर्तमानः" "अन्त-र्मुहूर्तं यावत्प्रवर्धमानसंक्लेशः" इत्येतद्विशेषणत्रयमुत्कृष्टडायं कुर्वतो हेतुतया विभावनीयमिति ।

अत्राऽऽद्यगाथया संगृहीता अशुभप्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शना-वरणनवक-षोड याय-भय-जुगुप्सा मिथ्यात्वा-ऽशुभवर्णचतुष्को-पघाता ऽन्तरायपञ्चकानि तथा-ऽसातवेदनीय-नपुं वेद-शोका--ऽरतिमोहनीय नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विक हुण्डसंस्थानै-केन्द्रियजाति-ह ा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामानि चेत्यष्टपञ्चाशत्प्रकृतयः । अत्र दुःस्वरनामादीनामग्रहणं तु तासां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामिनो मतिज्ञानावरणादिना सह तुल्यत्वेऽपि ज्येष्ठहानेः स्वामिनां विलक्षणत्वात् ॥७९-८१॥

अथाऽशुभध्रुवादिप्रकृतीनां ज्येष्ठहानेः मित्वं प्ररूपयन्नाह—

तिव्वरसं बधंतो जो मरियेगिंदिये समुप्पराणो ।
तप्पाउग्गजहराणो गओ स कुणए गुरुं णि ॥८२॥

(प्रे०) " व्वरस"मित्यादि, आसामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धो देवेष्वपि भवति, देवो भवचरमसमय आसां ज्येष्ठरसबन्धं कृत्वा कालं करोति ततः स एकेन्द्रियेषूत्पन्नः सन्भवप्रथमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं प्राप्त आसामुत्कृष्टां रसबन्धहानिं करोति, अत्र देवा-ऽपेक्षयैव नायाः प्रयोजनं तूत्कृष्टहानौ एकेन्द्रियेषूत्पादस्याऽऽवश्यकत्वाद् भवचरमसमये ज्ये सबन्धस्याऽऽवश्यकत्वाच्च ।

इदमुक्तं भवति---भवचरमसमय आसां ज्येष्ठस्थितिरसबन्धे सति स्वनिकृष्टतमस्थानेष्वेवो-त्पादो भवति, तत्र तिर्यग्मनुष्याणां नरकरूपं नारकाणां तु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपं स्वनिकृष्टतमं स्थानं भवति, अतो न ते भवचरमसमय आसां ज्येष्ठरसबन्धं कृत्वैकेन्द्रियेषूत्पद्यन्तेऽतो देवानामेव णं विज्ञेयमिति ।

अत्र केषाञ्चिन्मते भवचरमाऽन्तर्मुहूर्ते ज्येष्ठस्थितिबन्धाऽभावाज्ज्येष्ठरसबन्धोऽपि न भवति यतस्तन्मत एकेन्द्रियजातिनामादीनां ज्येष्ठस्थित्युदीरणाऽन्तर्मुहूर्तोना प्रतिपादिता, अत-स्तन्मते प्रस्तुते विचार्यमाण उत् रसबन्धतः साकारोपयोगक्षयेणाऽनाकारोपयोगं प्राप्तस्य तत्प्रायोग्यं जघन्यरसबन्धं कुर्वतो ज्येष्ठहानिर्भवति, तथाऽपि कर्मप्रकृतिचूर्ण्यादिषु भवचरमसमयेऽपि ज्येष्ठस्थित्यादीनां प्रतिपादितत्वात्तन्मताऽपेक्षयैव स्थितिरसबन्धसत्कपदनिक्षेपप्ररूपणा विज्ञेयेति ।

यथाऽशुभप्रकृतीनां द्व्यशीतेरप्युत्कृष्टरसबन्धवृद्धिस्वामिनो ये स्थितिबन्धसत्कज्येष्ठवृद्धा उक्तास्त एव सविशेषतरा भवन्ति, एवं ज्येष्ठहानौ ज्येष्ठाऽवस्थाने च रसबन्धस्वामिनः स्थितिबन्धोक्ता एव सविशेषा विज्ञेया भवन्ति, अतः प्रस्तुतज्येष्ठहानिस्वामिनोऽपि स्थितिबन्धाऽनुसारेण भावनीया इति ॥८२॥

अथाऽऽसामेवाऽष्टपञ्चाशतो ज्येष्ठाऽवस्थानरसबन्धस्य स्वामिनः प्ररूपयन्नाह—

तदरिहलहुरसबंधे सागारखयेण जो गुरुं उ गओ ।
सो णइ अवट्ठाणं गुरुमेमेव रइहस्साणं ॥८३॥

(प्रे०) 'तदरिहे'त्यादि, आसामष्टपञ्चाशतः प्रत्येकं ये ज्येष्ठरसबन्धकास्त आसां ज्येष्ठरसबन्ध कुर्वन्तः साकारोपयोगे वर्तमानाः साकारोपयोगक्षयेण यदाऽनाकारोपयोगं प्राप्नुवन्ति तदा ते तासां द्विस्थानिकरसबन्धं कुर्वन्ति, तत्राऽपि यावन्तमल्पतमं बद्धुं शक्यते तावन्तं ज्येष्ठरसबन्धाऽनन्तरक्षणे वर्तमानास्ते बध्नन्ति तदा तासां स्वस्थानसंभवां ज्येष्ठहानिं कुर्वन्ति तदनन्तरसमये च ज्येष्ठाऽवस्थानं भवति ।

अत्र स्वस्थानज्येष्ठहानितः परभवप्रथमसमयगतस्यैकेन्द्रियस्य या ज्येष्ठहानिः सा विशेषाधिका भवति तथाऽपि तदनन्तरसमये नियमतः स्थितिबन्धस्य वृद्धिर्हानिर्वा भवति, अतस्तत्र स्थितिबन्धस्य यथा ज्येष्ठाऽवस्थानं न प्राप्यते तथा रसबन्धस्याऽपि । यथा च तत्र स्वस्थानज्येष्ठहान्यनन्तरक्षणे ज्येष्ठस्थितिबन्धाऽवस्थानं भवति तथा प्रस्तुतेऽपि, अतस्तथा दर्शितं ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामित्वम् ।

ज्ये　वृद्ध्यनन्तरमवस्थानस्य भावेऽपि ज्येष्ठवृद्धितः स्वस्थानज्येष्ठहानेरधिकत्वेन वृद्ध्यनन्तरभाव्यवस्थानस्य स्वस्थानहान्यनन्तरभाव्यवस्थानतो न्यूनत्वात्तद्वर्जनमिति ।

'एमेव' इत्यादि, हास्यरत्योर्ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो यथासंभवं मतिज्ञानावरणवद्विज्ञेया इति ॥८३॥

अथ सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राणां ज्ये　द्धिहान्यवस्थानस्वामिनो दर्शयन्नाह—

खवगोऽणुभागबंधे चरमे खलु सुहुमसंपरायस्स ।
कुणए जेट्ठं वुड्ढि सायजसुच्चाण कम्माणं ॥८४॥
उवसामगो भविस्सइ जो अकसायी अणंतरखणे सो ।
मरिअ तदरिहजहण्णे जाअसुरो कुणइ गुरुहाणि ॥८५॥

सुविसुद्धो अपमत्तो जो वड्ढिअऽणंतगुणिअवड्ढीए ।
स कुणइ अणंतरखणो अवट्ठिओ गुरुमवट्ठाणं ॥८६॥

(प्रे०) "खवगो" इत्यादि, सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राणां त्रयाणां ज्येष्ठरसबन्धः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकचरमसमये क्षपकस्य भवत्यतस्तस्य द्विचरमसमयप्राप्तरसबन्धप्रमाणतश्चरमसमये प्राप्तरसबन्धे यावती रसस्य वृद्धिर्भवति साऽत्रोक्तप्रकृतित्रयस्य ज्येष्ठवृद्धितया प्राप्यते; तदनन्तरं नियमतोऽबन्धकतया भवनाद् वृद्ध्यनन्तरमवस्थानं न प्राप्यते । इयं वृद्धिः शेषवृद्धिहानितोऽनन्तगुणाऽधिकैव भवति ।

उक्तप्रकृतित्रयस्य ज्येष्ठहानिस्वामिनः पुनरेवम्—उपशमश्रेणिसमारोहकस्य सूक्ष्मसंपरायचरमसमये सातवेदनीयादित्रयाणां यावद्रसबन्धो भवति तद्बन्धं विधाय पञ्चत्वं प्राप्य देवेषूत्पन्नस्य यथासंभवं यावज्जघन्यरसबन्धो भवितुमर्हति तावद् बध्नाति तस्य ज्येष्ठहानिर्भवति । क्षपकश्रेण्यां निधनाऽभावात्प्रतिपाताऽभावाच्च न तत्र हानिः प्राप्यते, उपशमश्रेणितोऽवरोहकस्य सूक्ष्मसंपरायप्रथमसमये यो रसबन्धो भवति तस्य प्रमाणमारोहकसूक्ष्मसंपरायचरमसमयगतरसबन्धतोऽनन्तगुणहीनत्वान्नाऽवरोहकाऽपेक्षया ज्येष्ठहानिः प्राप्यते । सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानक उपशमश्रेणावारोहकाणां समकालप्रविष्टजीवानामध्यवसायस्य तुल्यत्वान्न तत्र सूक्ष्मसंपरायचरमसमये रसबन्धनानात्वम् , अतस्तत्र यथासंभवं ज्येष्ठरसबन्धं करोतीत्यादि, सुविशुद्धत्वमित्यादि वा न दर्शितम् ।

यथासंभवं तीव्रविशुद्धितस्तीव्रसंक्लेशतश्च यः कालं करोति तस्य भवप्रथमसमयवद् द्वितीयसमयेऽपि स्थितिरसयोर्नियमतः परावर्तनाज्ज्येष्ठहानिरनन्तरक्षणेऽप्यवस्थानं न भवतीति । अतोऽवस्थानस्वामी ज्येष्ठहानिस्वामितः पृथग् दर्शयति—योऽप्रमत्तसंयतोऽनन्तगुणविशुद्ध्याऽन्तर्मुहूर्तं यावत्प्रतिसमय वर्धमानः संस्तस्य द्विचरमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कुर्वंश्चरमसमये यदा ज्येष्ठरसबन्धं कृत्वा तदनन्तरसमये च तावन्तमेव रसबन्ध करोति तदा ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी भवति ।

अत्राऽऽह कश्चित्—ननु सामान्यतः स्वस्थानवृद्धितः स्वस्थानहानिरेवाऽधिका भवति, साकारोपयोगक्षयेण द्विस्थानके गमनात् , प्रस्तुतेऽप्रमत्तसंयतस्य स्वस्थानवृद्धिः स्वस्थानहानिश्च भवति, अतोऽत्र हान्यनन्तर ज्येष्ठाऽवस्थानं वक्तुमुचितं तत्कथं वृद्ध्यनन्तरं तद्दर्शितमिति चेत्? उच्यते, सत्या भवदुक्ता स्वस्थानज्येष्ठहान्यनन्तरावस्थानसंभवारेका, केवलमयमत्र विशेषः—यासां शुभप्रकृतीनामप्रमत्तसंयतस्य बन्धसंभवस्तासां शुभप्रकृतीनामप्रमत्तसंयतस्य रसबन्धसत्का

या स्वस्थानज्येष्ठवृद्धिर्भवति तदनन्तरं साकारोपयोगक्षयाऽभावेन वा कारणाऽन्तरेण वा मत-विशेषेण वा वृद्ध्यनन्तरमेवाऽवस्थानं प्राप्यते, विशेषहेतवस्तु बहुश्रुतगम्या इति ॥८४-८६॥

अथ स्त्रीवेदादिप्रकृतीनां रसबन्धस्य ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि निरूपयन्नाह—

थीपुमविगलसुहुमतिगमसंघयणागिइचउक्कपयडीणं ।
सोगव्व जेट्ठवुड्ढि परं तदरिहगुरुबंधसकेसं ॥८७॥ (गीतिः)
तदरिहलहुरसबंधं सागारक्खयेण तदरिहगुरुओ ।
पत्तो हाणि जेट्ठं से काले गुरुमवट्ठाणं ॥८८॥

(प्रे०) 'थी' इत्यादि, स्त्रीवेदपुरुषवेदविकलत्रिकसूक्ष्मत्रिकमध्यमसंहननचतुष्कमध्यम-संस्थानचतुष्करूपाणां षोडशानामशुभप्रकृतीनां रसबन्धस्य ज्येष्ठवृद्धिस्वामिनः शोकप्रकृतिवद्वि-ज्ञेयाः, मतिज्ञानावरणादिप्रकृतिभिस्सह तस्याः स्वामिनो दर्शितत्वाच्छन्दानुवृत्त्या शोकवदतिदेशः, अन्यथा मतिज्ञानावरणादिवदतिदेशेऽपि न दोषः, केवलं सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेऽशुभत्वे सत्योघोत्कृष्ट-स्थितेरभावेनाऽऽसां बन्धाऽभावात्तत्प्रायोग्यज्येष्ठसंक्लेशं प्राप्तानां ज्येष्ठवृद्धिरवसेया, इत्यत्र विशेषः, शेषमतिदेशाऽनुसारेण भावनीयमिति ।

निरुक्तषोडशप्रकृतीनां रसबन्धस्य ज्येष्ठहानिरासां ज्येष्ठरसबन्धकस्य साकारोपयोगक्षये-णाऽनाकारोपयोगं प्राप्य तत्प्रायोग्यं संभवज्जघन्यरसबन्धस्थानं प्राप्तस्य विज्ञेया, स्वस्थाने साकारक्षयनिमित्ता चेमा ज्येष्ठा हानिर्भवति । परस्थाने मरणप्रयुक्ता ज्येष्ठहानिस्त्वशुभप्रकृतिभ्यो यासां प्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धो सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेन प्राप्यते, भवचरमसमये तज्ज्येष्ठरसबन्धा-ऽनन्तरं तद्बन्धकानामेकेन्द्रियेषूत्पत्तिसंभवस्तासामेवाऽशुभानां परस्थानज्येष्ठहानिर्विज्ञेया ।

परस्थानज्येष्ठहान्यनन्तरं षड्विधरसबन्धहानिवृद्धीनामन्यतमाया अवश्यंभावेन परस्थान-हान्यनन्तरमवस्थानं न प्राप्यते, अत एव परस्थानज्येष्ठहानिवतीषु प्रकृतिष्वपि ज्येष्ठाऽवस्थान तु तासां स्वस्थाने साकारक्षयप्रयुक्ता या तत्प्रायोग्या ज्येष्ठहानिः प्राप्यते तदनन्तरसमये भवति । अतस्तासां प्रकृतीनां ज्येष्ठहान्यवस्थानयोः स्वामिनां भिन्नत्वम् । प्रस्तुते तु निरुक्तषोडशप्रकृ-तीनां ज्येष्ठहानेः स्वस्थाने भावेन ज्येष्ठहान्यनन्तरसमये ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी भवति, अतो ज्येष्ठहान्यवस्थानयोः स्वामिनामैक्यमिति ॥८७-८८॥

अथौघतो नरकायुषो वृद्ध्यादिस्वामिन प्राह—

णिरयाउस्स कुणइ गुरुवुड्ढि तदरिहजहणासंकेसा ।
तदरिहजेट्ठं पत्तो बंधतो तिव्वमणुभागं ॥८९॥

तदरिहलहुरसबंधं　सागारखयेण　तदरिहगुरूओ ।
पत्तो हाणि　जेट्ठं　से　काले　गुरुमवट्ठाणं　॥९०॥

(प्रे०) "णिरयाउ "त्यादि, नरकायुषो बन्धकस्तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कुर्वन्नदनन्तरसमये यो ज्येष्ठरसबन्धं करोति स उत्कृष्टवृद्धेः स्वामी भवति, तथा य उत्कृष्टरसबन्धं कृत्वा साकारक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं करोति स ज्येष्ठहानेः स्वामी विज्ञेयः, हान्यनन्तरसमये ज्येष्ठाऽवस्थानं भवति । विशेषभावना त्वनन्तरदर्शितरीत्या यथासंभवं कार्येति ॥८९-९०॥

अथ तिर्यगाद्यायुस्त्रिकादिप्रकृतीनां रसबन्धस्योत्कृष्टवृद्ध्यादीनां स्वामित्वं निरूपयन्नाह—

तदरिहगुरुसुद्धिमिओ तदरिहलहुसुद्धिओ गुरुं वुड्ढि ।
आउतिगमणुयपणगायवाण　कुणइ　गुरुरसबंधी　॥९१॥
तदरिहलहुरसबंधं　सागारखयेण　तदरिहगुरूओ　।
पत्तो　हाणि　जेट्ठं　से　काले　गुरुमवट्ठाणं　॥९२॥

(प्रे०) "तदरिहे"त्यादि, देवमनुष्यतिर्यगायुर्मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननाऽऽतपनाम्नां नवानां शुभप्रकृतीनां श्रेणावबन्धप्रायोग्याणां स्वस्थाने एवाऽऽसां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि प्राप्यन्ते, अत्र तत्तत्प्रकृतेर्ज्येष्ठरसबन्धप्रायोग्या या तत्प्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धिस्तत्र गमनयोग्या या तत्प्रायोग्या जघन्या विशुद्धिस्ततो यो ज्येष्ठविशुद्धिम् , इतः=प्राप्तः स ज्ये द्धेः स्वामी विज्ञेयः ।

यस्तत्तत्प्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धं कृत्वा साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धस्थानं प्राप्य तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं करोति स तत्तत्प्रकृतीनां ज्येष्ठहानेः स्वामी विज्ञेयः ।

तथा ज्ये ानेरनन्तरसमये योऽवस्थानं करोति स ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी भवति । ज्येष्ठरसबन्धस्वामिनमवबुध्य त्रयाणामपि पदानां विशेषभावना कार्या सुगमा चेति ॥९१-९२॥

नरकद्विकादीनां रसबन्धस्य ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः प्राह—

वुड्ढिअवट्ठाणाइं णिरयदुगछिवट्ठकुखगइसराणं　।
सोगव्व गुरुं　णि　जेट्ठाव　णपुव्व　णो ॥९३॥

(प्रे०) "वुड्ढी" इत्यादि, नरकद्विकसेवार्तकुखगतिदुःस्वरनाम्नां पञ्चानामशुभप्रकृतीनां सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे बन्धप्रायोग्याणां स्वस्थान एवाऽऽसां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि प्राप्यन्ते । आसामेकेन्द्रियप्रायोग्यत्वाऽभावेन न परस्थाने मरणकृता ज्येष्ठहानिरतस्तां विहाय वृद्ध्यवस्थाने

शोकमोहनीयवद् भवतः, भावनाऽपि तद्वत्कार्या सुगमा च । ज्येष्ठाऽवस्थानप्रायोग्या स्वस्थानभवा या ज्येष्ठहानिः; साऽत्र ज्येष्ठहानितया विज्ञेया, अतो ज्येष्ठाऽवस्थानपूर्वक्षणवर्तिनो ज्येष्ठ हानेः स्वामितया दर्शिताः, न तु "सोगव्व" इत्यतिदेशेनेति ॥९३॥

अथ देवद्विकादीनां ज्येष्ठवृद्ध्यादेः स्वामिनो दर्शयन्नाह—

गुरुवुड्ढि सुरविउवाहारदुगाणंतबंधठिअखवगो ।
उवसामगो पडंतो गुरुहाणि बंधदुइअखणे ॥९४॥
सुविसुद्धो अपमत्तो जो वड्ढिअऽणंतगुणिअवुड्ढीए ।
स कुणइ अणंतरखणे अवट्ठिओ गुरुमवट्ठाणं ॥९५॥

(प्रे०) "गुरुवुड्ढि"मित्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकनाम्नां षण्णां शुभनाम प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धि क्षपकश्रेणिमारूढोऽष्टमगुणस्थाने बन्धचरमसमये स्थितः सम्भवदधिकतमविशुद्धौ वर्तमानः करोति, सोऽप्यनन्तरप्राक्क्षणे तत्प्रायोग्यस्याऽल्पतमस्य रसस्य निर्वर्तको द्रष्टव्य इति । अष्टमगुणस्थाने सर्वसमयेष्वसंख्यलोकप्रमिताऽध्यवसायानां भावेनाऽधिकतमविशुद्धौ वर्तमान इत्यादि वृत्तौ भणनम् ।

"उवसामगो" इत्यादि, य उपशमश्रेणितोऽवरोहन्नष्टमगुणस्थानं प्राप्य क्रमेण बन्धं प्रारभते तत्र संभवदधिकतमं रसं बद्ध्वा तद्द्वितीयसमयेऽनन्तगुणहीनं संभवदल्पतमं च रसं बध्नाति तस्याऽऽसां षण्णां ज्येष्ठा हानिर्भवतीति । अत्राऽऽरोहकस्य चरमबन्धाऽनन्तरं मरणभावे ततो देवेष्वेव गमनेन तत्राऽऽसां बन्धाऽभावान्न सातवेदनीयवदग्रेवक्ष्यमाणशेषप्रकृतिसत्कज्येष्ठहानिवद् वा ज्येष्ठहानेः स्वामित्वं भवति, अतः पृथक्स्वामित्वप्रदर्शनमिति ।

" वि द्धो" इत्यादि, आसां षण्णामवस्थानरसबन्धस्य स्वामिनस्तु यथा सातवेदनीयादेः प्रागदर्शितास्तथैव द्रष्टव्याः, तुल्यस्वामिकत्वात् , मूलकृता पुनः सैव गाथा पाठकबुद्धिस्थिरीकरणार्थं पुनरत्र पठिता, न तु ोऽत्र कश्चिदर्थभेदो हेतुभेदो वा, विहाय प्रकृतिभेदमिति ॥९४-९५॥

अथोद्योतनाम्नो ज्येष्ठवृद्ध्यादिस्वामिनः प्राह—

उज्जोअस्स तमतमो सम्मं पडिवज्जए स से काले ।
गुरुवुड्ढि तदरिहगुरुविसुद्धिओ तदरिहलहुगओ ॥९६॥
मंदरसं बंधंतो गुरुहाणिमणंतरं अवट्ठाणं ।

(प्रे०) "उज्जोअरस" इत्यादि, उद्योतनाम्नो रसबन्धस्य ज्येष्ठवृद्धिं सप्तमनारकः सम्यक्त्वाऽभिमुखोऽनन्तरसमये यः सम्यक्त्वं ग्रहीष्यति स मिथ्यात्वचरमसमये वर्तमानः करोति, तस्य च द्विचरमसमयतश्चरमसमये यावती रसस्य वृद्धिर्भवति तावत्यत्र ज्येष्ठवृद्धिर्विज्ञेयेति । अत्र सप्तमनारकस्यैवाऽभिमुखाऽवस्थायां तिर्यक्प्रायोग्यबन्धस्य भावेनोद्योतस्य बन्धः, अन्यत्र त्वेतावद्विशुद्धौ बन्धाऽभाव एव, अतः सप्तमनारकस्य ग्रहणम् ।

एवं सप्तमनारक एव स्वस्थानसर्वविशुद्धमिथ्यादृष्टिरुद्योतस्य तत्प्रायोग्यज्येष्ठरसबन्धं कृत्वा साकारक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं प्राप्तो ज्येष्ठहानिं करोति, अत्राऽभिमुखाऽवस्थानतः पतनाऽभावात्स्वस्थानमिथ्यादृष्टेर्ग्रहणम् । अत एव मूलकृता "तदरिहगुरुविसुद्धिओ" इति दर्शितम् । संज्ञिषु स्वस्थानविशुद्धौ सप्तमनारकान्विहायोद्योतस्य बन्धाऽभावात्सप्तमनारकस्य ग्रहणमिति ।

ज्येष्ठहान्यनन्तरसमये योऽवस्थानं करोति तस्य ज्येष्ठाऽवस्थानं भवति स ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी भवतीति भावः ॥६६॥

अथोक्तशेषप्रकृतीनां रसबन्धस्य ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः प्ररूपयन्नाह—

वुड्ढिअवट्ठाणाइं गुरूणि देवव्व सेसाणं ॥६७॥

उवसामगो भविस्सइ अबंधगो जो अणंतरखणे सो ।

मरिअ तदरिहजहण्णो जाअसुरो कुणइ गुरुहाणि ॥६८॥

(प्रे०) "वुड्ढि" इत्यादि, अत्र शेषप्रकृतित्वेनाऽष्टमगुणस्थाने देवगतिनाम्ना सह बन्धविच्छेदप्रायोग्याः शुभा नामप्रकृतयो विज्ञेयाः, ताश्च त्रयोविंशतिर्ना इमाः—पञ्चेन्द्रियजाति-तैजसकार्मणशरीर-समचतुरस्र सुखगति-शुभवर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-पराघातो-च्छ्वास-निर्माण-जिननाम-त्रसनवकनामानीति ।

आसां सर्वप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धेर्ज्येष्ठाऽवस्थानस्य च स्वामिनो देवगतिप्रकृतिवद्विज्ञेयाः । ज्येष्ठरसबन्धस्वामिनां तुल्यैकरूपत्वात्सप्तमगुणस्थानसत्कस्वस्थानविशुद्धेरपि तुल्यैकरूपत्वाच्च स्वामिनस्तद्वत्प्राप्यन्ते, भावनाऽपि तद्वत्कार्या । तत्रैवाऽऽसामभणनं तु ज्येष्ठहानेः स्वामिनां भिन्नत्वात्, यतो देवगत्यादीनां श्रेणौ कालकरणाऽनन्तरं देवत्वेन समुत्पन्नस्याऽबध्यमानत्वेऽपि पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां बध्यमानत्वात् ।

एवं गाथाया उत्तरार्धेन ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थानयोः स्वामिनो निरूप्यैकगाथया ज्येष्ठहानेः स्वामिनो दर्शयन्नाह—"उवसामगो" इत्यादि, य उपशमश्रेणिमारोह [illegible] बन्धचरमसमये

ज्येष्ठरसबन्धं विधाय कालं च कृत्वा देवत्वेनोत्पन्नो भवप्रथमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं करोति, स ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, अयश्च ज्येष्ठहानेः स्वामी सातवेदनीयज्येष्ठहानिस्वामिना समानप्रायः, केवलं बन्धविच्छेदस्थानस्य भिन्नत्वात्तावान्विशेष इति, भावनाऽपि तद्वद्यथासंभवं कार्येति ॥९७-९८॥

तदेवमोघतो विंशत्युत्तरशतस्य रसबन्धसत्कज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो निरूपिताः ।

अथ मार्गणासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः करणरूपेण संक्षेपतो दर्शयन्नाह--

सव्वह जाणुवसमगो खवगो वा गुरुरसस्स स कुणइ मि ।
गुरुवुड्ढि गुरुहाणि उवसमगो बंधदुइअखगो ॥९९॥
अतिमबंधे कालं किच्चा उवसामगो सुरो जाओ ।
जइ हवउ मग्गणा ता स चेव कुणए गुरुं हाणि ॥१००॥
सुविसुद्धो अपमत्तो जो वड्ढिअऽणंतगुणिअवुड्ढीए ।
स कुणइ अणंतरखणे अवट्ठिओ गुरुमवट्ठाणं ॥१०१॥
जाण सुहाण अहिमुहो तिव्वणुभागस्स बंधगो अत्थि ।
ताण स च्चिय गुरुवुड्ढि कुणए उज्जोअवज्जाणं ॥१०२॥
पडिउवरिमगुणठाणा गुरुहाणि कुणइ बंधदुइअखणे ।
हाउं सठाणसुद्धो अवट्ठिओ गुरुमवट्ठाणं ॥१०३॥
णवरि तदरिहगुरूओ सागारखणेण देसमीसेसु ।
तदरिहलहुरसबंधं पत्तो णए गुरुं हाणि ॥१०४॥
असुहाणुज्जोअस्स य तिव्वणुभागस्स बंधगो अत्थि ।
जाण अहिमुहो तेसिं स चेव कुणए गुरुं वुड्ढि ॥१०५॥
तदरिहलहुरसबंधं सागारखयेण तदरिहगुरूओ ।
पत्तो हाणि जेट्ठं से काले गुरुमवट्ठाणं ॥१०६॥
सेसाण गुरुं वुड्ढि वि उक्किट्ठो सुहासुहाण कमा ।
कुणए तदरिहमंदा बंधंतो तदरिहगुरुरसं ॥१०७॥

तद्‌रिहलहुरसबंधं सागारखणा तद्‌रिहगुरूओ ।
पत्तो हाणि जेट्ठं से काले गुरुमवट्ठाणं ॥१०८॥
जहि गुरुरसमेगिंदियजोग्गाणं बंधिउं सुरो जेसि ।
एगिंदिये वि गच्छइ तहि सि ओवव्व गुरुहाणि ॥१०९॥
कम्माणाहारेसुं तद्‌रिहजेट्ठा उ बायरेगिंदा ।
तद्‌रिहमंदऽणुभाग गओ कुणइ गुरुमवट्ठाणं ॥११०॥
णवरि सुहखवीमाए तेउपउमवेअगेसु गुरुहाणि ।
सायाईण गुरुरसा तद्‌रिहमंदरसजाअसुरो ॥१११॥

(प्रे०) "सव्वहे"त्यादि, गाथात्रयोदशकम् । तत्राऽऽद्यगाथात्रयेण यासु मार्गणासु यासां शुभप्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धस्य स्वामिनः क्षपकश्रेणिवर्तिन उपशमश्रेणिवर्तिनो वा भवन्ति तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां ज्येष्ठहानिवृद्ध्यवस्थानस्वामिनो दर्शिताः ।

चतुर्थादिगाथात्रयेण यासु मार्गणासु यासामुद्योतनामवर्जानां शुभप्रकृतीनां संयमादिगुणाऽभिमुखानां ज्येष्ठरसबन्धो भवति तासु मार्गणासु तासां शुभप्रकृतीना रसबन्धस्य ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो निरूपिताः । तत्र देशविरतौ सम्यग्मिथ्यात्वे च ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः सविशेषं दर्शिता इति ।

तदनु सप्तमाऽष्टमगाथाद्वयेन यासु मार्गणासु यासामशुभप्रकृतीनां मिथ्यात्वादिगुणाऽभिमु ज्येष्ठरसबन्धं कुर्वन्ति तासु मार्गणासु ां प्रकृतीनां तथा यासु मार्गणासूद्योतनाम्नो ज्येष्ठरसबन्धः सम्यक्त्वाऽभिमुखाऽवस्थायां सप्तमनारकस्य प्राप्यते तासु मार्गणासु तस्य ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः प्ररूपिताः ।

ततो गा श्वकेन यासु मार्गण ां प्रकृतीनां स्वस्थानविशुद्धानां स्वस्थानसंक्लिष्टानां वा ज्येष्ठरसबन्धो भवति तासु णासु तासां प्रकृतीनां स्वस्थानज्येष्ठवृद्धेः, स्वस्थानज्येष्ठहानेश्च, तथैकादशत्रयोदशगाथाद्वयेन परस्थानज्येष्ठहानेः, स्वस्थानहान्यनन्तरप्राप्तज्येष्ठाऽवस्थानस्य, तथाऽ देन द्वादशगाथया ऽनाह मार्गणाद्वय एकेन्द्रियाणामेवाऽवस्थानबन्धस्य लाभात्तत्र संभवज्ज्येष्ठा स्वामिनः प्ररूपिता इति । गाथाक्षरार्थस्तु सुगमः ।

भावार्थः पुनरयम्—सर्वमार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां न्धस ये ज्येष्ठवृद्धिस्वामिनसामान्यतस्ते त्रिविधा भवन्ति, तद्यथा—(१) यत्र श्रेणेरारोहको बन्धविच्छेदचरमसमये मार्गणा-

चरमसमये वा वर्तमानस्संस्तत्र बन्धप्रायोग्यदेवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धं करोति, तत्र सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राणां नवमदशमगुणस्थानयोरेव प्रस्तुतश्रेणिवर्तिमार्गणासु ज्येष्ठरसबन्धभावेन नवमदशमगुणस्थानयोश्च मुक्तावलिसंस्थानेनाऽध्यवसायानां भावेन चैकैकाऽध्यवसायस्य प्रतिसमयं लाभात्तत्प्रायोग्याल्परसबन्धतो ज्येष्ठरसबन्धं प्राप्तो ज्येष्ठवृद्धिं करोतीति न वक्तव्यम् , किन्तु बन्धविच्छेदद्विचरमसमयतश्चरमसमयं प्राप्तो ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति । शेषदेवद्विकाद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां त्वष्टमगुणस्थान एव ज्येष्ठरसबन्धस्य भावेनाऽष्टमगुणस्थाने च प्रतिसमयं नानाऽध्यवसायानां भावेन बन्धविच्छेदद्विचरमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कृत्वा यश्चरमसमये ज्येष्ठरसबन्धं करोति स तासां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति ।

(२) यासु मार्गणासु श्रेणिं विहाय संयमाद्यभिमुखानां यासां शुभानां तथा मिथ्यात्वाद्यभिमुखाऽवस्थायां यासामशुभप्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धो भवति, तासामभिमुखाऽवस्थाया द्विचरमसमये यस्तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कृत्वा चरमसमये ज्येष्ठरसबन्धं करोति, स ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी विज्ञेयः ।

(३) यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां श्रेणिद्वयं गुणाद्यभिमुखावस्थां च विहाय ज्येष्ठरसबन्धो भवति, तासां स्वस्थान एव तत्प्रायोग्यजघन्यविशुद्धितस्तत्तत्प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धिं प्राप्तः शुभप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति । अशुभप्रकृतीनां पुनः स्वस्थान एव तत्प्रायोग्यजघन्यसंक्लेशतस्तत्तद्मार्गणायां तत्तत्प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशं प्राप्तो ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति ।

अत्र सातिरेकप्रथमाऽर्धगाथया चतुर्थसप्तमगाथाभ्यां नवमगाथया च क्रमशस्त्रिविध वृद्धेः स्वामिनः स्वरूपं दर्शितम् ।

ज्येष्ठहानेः स्वामिनः सामान्यतस्त्रिविधा भवन्ति, तद्यथा—(१) यासां शुभप्रकृतीनामुपशमश्रेणौ बन्धस्ततः कालकरणे देवभवप्रथमसमयेऽपि तन्मार्गणायाः सम्भवस्तत्र च तासां प्रकृतीनामुपशमश्रेणौ बन्धचरमसमये सम्भवज्ज्येष्ठरसबन्धं कृत्वा निधनं प्राप्य देवेषूत्पन्नो भवप्रथमसमये तत्प्रायोग्यं जघन्यरसबन्धं करोति, स ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, यासां शुभप्रकृतीनामुपशमश्रेणौ बन्धस्ततः कालकरणे मार्गणाया विच्छेदश्च भवति तर्हि तत्र तासां प्रकृतीनामुपशमश्रेणितोऽवरोहंस्तत्तत्प्रकृतेर्बन्धं प्रारभ्य तत्प्रायोग्याऽधिकरसबन्धं च कृत्वा बन्धद्वितीयसमये तत्प्रायोग्याऽल्पतमरसं बध्नन् ज्येष्ठहानेः स्वामी भवतीति ।

(२) यासु गुणाऽभिमुखाऽवस्थायां यासां शुभानां ज्येष्ठरसबन्धस्तासां प्रकृतीनामुपरितनगुणस्थानतोऽवरोहन् मार्गणाप्रथमसमये तत्प्रायोग्याऽधिकतम रसबन्धं कृत्वा यस्तद्द्वितीयसमये तत्प्रायोग्यमल्पतमं रसबन्धं करोति स ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, यदि वा तासामपि स्वस्था-

नोत्कृष्टविशुद्धितः साकारक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कुर्वतो ज्येष्ठहानिर्भवति । अत्र प्रथम-मतस्य प्राधान्यम् । अभिमुखावस्थायां यासामशुभप्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धो भवति तासामभिमु-खावस्थातो मार्गणाचरमसमयं यावत्प्रतिपाताऽभावात्स्वस्थानवर्ती क्लेशतः साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं प्राप्तो ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति ।

(३) यासु स्वस्थाने यासां ज्येष्ठरसबन्धो भवति ताभ्यो यासां प्रकृतीनां देवेषु भव-चरमसमये ज्येष्ठरसबन्धं कृत्वैकेन्द्रियेषूत्पादः संभवति तत्र च ता मार्गणा अप्यवतिष्ठन्ते तदा तासां रसबन्धस्य ज्येष्ठहानिस्ताद्दगेकेन्द्रियस्य भवप्रथमसमये प्राप्यते, यदि पुनस्तत्र भवचरम-समये ज्येष्ठरसबन्धो नाऽस्ति, यदि वा ततो ज्येष्ठरसबन्धाऽनन्तरमेकेन्द्रियेषूत्पादो नाऽस्ति, तासां स्वस्थान एव साकारोपयोगक्षयेण ज्येष्ठा हानिः प्राप्यत इति ।

अत्र द्वितीयगाथया पञ्चमषष्ठाष्टमगाथाभिः दशमत्रयोदशगाथाभ्यां क्रमशस्त्रिविधहानेः स्वरूपं दर्शितम् ।

ज्येष्ठाऽवस्थानं पुनर्द्विविधं भवति, तद्यथा—(१) यत्र शुभप्रकृतीनामप्रमत्तसंयतस्य बन्धः संभवति तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामप्रमत्तसंयतस्य स्वस्थाने या प्रकृष्टा वृद्धिः प्राप्यते तदनन्तरसमये तत्रैवाऽवस्थानं कतुः ज्येष्ठाऽवस्थानं भवति ।

(२) अप्रमत्तस्याऽसंभवे तत्प्रकृतीनां यः स्वस्थानभवः प्रकृष्टरसबन्धस्तं निर्वर्त्य ततः साकारक्षयेण पतित्वा योस्तत्प्रायोग्याऽल्पतमरसबन्धं करोति तदनन्तरसमये च यस्तद्रसबन्धस्थाने एवाऽवस्थानं करोति, स तासां ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी विज्ञेय इति ।

तथा कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वय एकेन्द्रियव्यतिरिक्तानां वृद्धिहान्यनन्तरगताऽवस्थान-स्याऽसंभवात् त्रिसमयाऽनाहारकस्यैवाऽवस्थानभावेन तस्य चैकेन्द्रियेष्वेव संभवात्सप्तोत्तरशतस्य मार्गणातृतीयसमयवर्तिनो बादरैकेन्द्रियास्तत्र संभवत्प्रकृष्टहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थान करोतीति विशेष. ।

एवं सामान्यतो मार्गणासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां रसबन्धस्य ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वा-मिनो दर्शिताः ॥९९-१०० ।

अथ एतदेव विनेयजनाऽनुग्रहाय विशेषतः प्रतिमार्गणं दर्शयामः, तद्यथा—**नरकगत्योघ उद्योतनाम्नः** पदत्रयस्य स्वामिन ओघवद् भवन्ति, शेषाणां शतप्रकृतीनां पदत्रयस्य स्वामिनः स्वस्थाने भवन्ति, तत्राऽपि ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यते । **स नरकमार्गणा-**स्वामुद्योतनाम्नः पदत्रयस्य स्वामिन ओघवद् भवन्ति । शेषाणामष्टनवतिप्रकृतीनां पदत्रयस्य स्वामिनो नरकौघवद्विज्ञेया. । **प्रथमादिषण्नरक-तिर्यग्मार्गणापञ्चकाऽपर्याप्तमनुष्य-त्रिंशद्देवभेद-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकला -ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पृथ्व्यादि कायस** -

कोनचत्वारिंशद्भेदाऽपर्याप्तत्रसकाया--ऽऽहारककाययोगा--ऽसञ्ज्ञिलक्षणास्वेकोत्तर-शतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सायुषां सर्वेषां कर्मणां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्व-स्थाने प्राप्यन्ते । तत्राऽपि ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति । **मनुष्यौघ-पर्याप्त-मनुष्यमानुषीमार्गणात्रय औदारिककाययोगे स्त्रीवेदमार्गणायाञ्चेति पञ्चमार्गणासु** देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानसुखगति-शुभवर्णचतुष्काऽगुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणजिननामत्रसदशकसातवेदनीयोच्चैर्गोत्राणां द्वात्रिं-शतो ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, ज्येष्ठहानेः स्वामिन उपशमश्रेणितोऽवरो-हन्तो बन्धद्वितीयसमये वर्तमाना भवन्ति । शेषाणां मतिज्ञानावरणादिद्वानवतिप्रकृतीनां पद-त्रयस्य स्वामिनः स्वस्थानस्था भवन्ति, तत्राऽपि ज्येष्ठहान्यनन्तरसमये ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति । द्वानवतिः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मोहनीय-षड्विंशत्य-सातवेदनीया-ऽऽयुष्कचतुष्क-नीचैर्गोत्र-नरकद्विक-तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक जातिचतुष्कौ-दारिकद्विक-संहननषट्क-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक-कुखगतिनामा ऽशुभवर्णचतुष्को-पघाता-ऽऽतपो-द्योत-स्थावरदशका-ऽन्तरायपञ्चकानि ।

पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-चक्षुर्दर्शन संज्ञि-मार्गणासु षट्सु देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, अत्र तत्प्रायोग्यवृद्ध्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यते, देवद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकवर्जानां षड्विंशतेर्ज्येष्ठहानिस्तु देवभवप्रथमसमये लाभात्परस्थाने प्राप्यत इत्यपि स्मर्तव्यम् । उद्योत-नाम्नोऽपि पदत्रयस्य स्वामिन ओघवद् भवन्ति, देवद्विकादितोऽस्य स्वामिनो भिन्नत्वात्पृथ-ग्दर्शितमिति । शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनामेकनवतिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्ध्यादिपदत्रयस्य स्वामिनः स्वस्थाने प्राप्यन्ते, अत्राऽपि ज्येष्ठहान्यनन्तरसमये ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति । एकनवतिः प्रकृतयः पुनरुद्योतनामरहिता अनन्तरदर्शिता एवेति ।

मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क-नपुंसकवेद-मार्गणासु देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, ज्येष्ठ-हानेः स्वामिनः पुनरुपशमश्रेणितोऽवरोहन्तो बन्धद्वितीयसमये वर्तमाना विज्ञेयाः, केवलं नपुं-सकवेदमार्गणायां जिननाम्नो ज्येष्ठवृद्धेः स्वामिन उपशमश्रेणेरारोहका बन्धचरमसमयवर्तिनो भवन्ति, न पुनः क्षपकाः, क्षपकश्रेणौ नपुंसकवेदिनो जिननाम्नो बन्धाऽभावात् । उद्योतनाम्नो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन एकादशस्वपि मार्गणास्वोघवद् भवन्ति । शेषाणामेकनवतेः पदत्रयस्याऽपि स्वामिनः स्वस्थाने प्राप्यन्ते, तत्राऽपि ज्येष्ठहानेरनन्तरसमये ज्येष्ठाऽवस्थानं

शमश्रेणितोऽवरोहन्नवमगुणस्थानके मार्गणाद्विचरमसमयनश्चरमसमयं प्राप्तो ज्येष्ठवृद्धिं करोति, उपशमश्रेणिमारोहन्मार्गणाप्रथमसमयबन्धतो मार्गणाद्वितीयसमयबन्धे ज्येष्ठहानिं करोति ।

मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वोघमार्गणापञ्चके देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, भावनाऽप्योघवत्कार्येति । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्काऽसातवेदनीयाऽऽद्यवर्जद्वादशकषायाऽरतिशोकभयजुगुप्सापुरुषवेदाऽशुभवर्णचतुष्कोपघाताऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामा-ऽन्तरायपञ्चकानि द्वाचत्वारिंशत्तामा चतुर्थगुणस्थानवर्ती मिथ्यात्वाऽभिमुखो मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कृत्वा मार्गणाचरमसमये मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठरसबन्धं करोति स ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति । यः पुनश्चतुर्थगुणस्थाने स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टस्तत्प्रायोग्यतीव्ररसं बद्ध्वा साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं करोति स तासां ज्ञानावरणादिद्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, तदनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नन् स एव ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी भवति । उक्तमार्गणापञ्चके मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नां देवमनुष्यायुषोर्हास्यरत्योश्चेति नवानां स्वस्थाने एव ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो भवन्ति, अत्र नवाना ज्येष्ठहान्यनन्तरसमये ज्येष्ठाऽवस्थान प्राप्यत इत्यवधार्यम् ।

मनःपर्यवज्ञानसंयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणासु देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, केवलं सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये सातवेदनीयादित्रयाणां मार्गणाचरमसमये नवमगुणस्थानकचरमसमयरूपे वर्तमानः क्षपको ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी विज्ञेयः । द्वात्रिंशतो ज्येष्ठहानेः स्वामी तु श्रेणितोऽवरोहन् बन्धद्वितीयसमये मार्गणाद्वितीयसमये वा वर्तमानो विज्ञेयः, अत्र मरणाऽनन्तर देवेषु प्रस्तुतमार्गणानामभावात्परस्थानहानिर्नैव प्राप्यत इति । ज्ञानमार्गणात्रयोक्तानां मध्यमकषायाऽष्टकवर्जाना मतिज्ञानावरणादीनां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो ज्ञानत्रयमार्गणावद्विज्ञेयाः, केवलं तत्र चतुर्थगुणस्थानवर्तिनस्तेऽत्र तु षष्ठगुणस्थानवर्तिनः । तथा मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां मिथ्यात्वाऽभिमुखत्वाऽभावादविरतसम्यक्त्वाऽभिमुखो ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी विज्ञेय इति ।

अज्ञानमार्गणाद्वये मिथ्यात्वमार्गणायाञ्च जिननामाऽऽहारकद्विकयोर्बन्धाऽभावाद् देवद्विकाद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीना मनुष्यपञ्चकस्योद्योतनाम्नश्च यथासंभव संयमसम्यक्त्वाऽभिमुखानां मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्याऽल्पतम रस बद्ध्वा यो मार्गणाचरमसमये मार्गणाप्रायोग्यं ज्येष्ठरसं बध्नाति स ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति, यः स्वस्थानतीव्रविशुद्ध आसा

प्राप्यत इति । **काययोगौघ कषायचतुष्काऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणास्वष्ट** चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति ।

वैक्रियकाययोग उद्योतनाम्नो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, शेषाणां त्र्युत्तरशतप्रकृतीनां पदत्रयस्य स्वामित्वं स्वस्थाने प्राप्यते, तत्राऽपि ज्येष्ठहानेरनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं भवतीति ।

औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्राऽऽहारकमिश्रमार्गणात्रये मतद्वयं भवति, तत्रैकेन मतेन शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्राक्समयमनपेक्ष्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धिः स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशश्च प्राप्यते, तन्मते बन्धप्रायोग्याणां सर्वप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि स्वस्थान प्राप्यन्ते, तत्र स्वस्थाने ज्येष्ठवृद्ध्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थान प्राप्यत इति । येषां मते पुनर्मार्गणाचरमसमय एव ज्येष्ठरसबन्धस्तन्मतेन बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां प्रत्येकं यो मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्य-जघन्यरसं बद्ध्वा चरमसमये तत्तन्मार्गणायां तत्तत्प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टरसं बध्नाति, स उत्कृष्ट-वृद्धेः स्वामी ज्ञातव्यः । यो मार्गणात्रिचरमसमये तत्प्रायोग्योत्कृष्टरस बद्ध्वा द्विचरमसमये तत्प्रायोग्यं जघन्य बध्नाति, चरमसमये च तावन्तमेव बध्नाति स उत्कृष्टाऽवस्थानस्य स्वामी भवति, उत्कृष्टहानेः स्वाम्युत्कृष्टाऽवस्थानप्राक्क्षणवर्तिमार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्यं जघन्यं रसं बध्नन् भवत्युत मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्योत्कृष्टरसं बद्ध्वा चरमसमये तत्प्रायोग्यं जघन्यं बध्नन्निति स्वयमेव ज्ञातव्यम् ।

कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये बन्धप्रायोग्यद्वादशोत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठा वृद्धिर्हानिश्च संज्ञिभ्यः संज्ञिषूत्पद्यमानस्य मार्गणाद्वितीयसमये प्राप्यते, अत्राऽपि स्वस्थानस्था ज्येष्ठवृद्धिहानि-स्वामितया बोध्याः । देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नामवस्थानस्यैवाऽभावेन तद्वर्जानां शेष-प्रकृतीनामवस्थानस्वामी बादरैकेन्द्रियपर्याप्तो बोध्यः, विशेषभावना प्राग्गाथावृत्तितो ज्ञातव्या ।

पुरुषवेदमार्गणाया देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, नवरं सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्तिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी मार्गणा-चरमसमयस्थः श्रेणिगतः, हानेः स्वामी तु उपशमश्रेणावारोहन् मार्गणाचरमसमये तत्प्रायोग्य-ज्येष्ठरसबन्ध विधाय कालं कृत्वा देवतयोत्पद्यमानो ज्ञातव्यः । शेषाणां द्वानवतिप्रकृतीनां तु स्वस्थान उत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानि भवन्ति, अत्र ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति ।

अपगतवेदमार्गणाया सातवेदनीय यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राणा ज्येष्ठवृद्धेः स्वामिनः **क्षपकश्रेणौ** सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्त्तिनो भवन्ति, ज्येष्ठहाने स्वामिन उपशामकाः श्रेणितोऽव-रोहन्तो बन्धं प्रारभ्य द्वितीयसमयवर्त्तिनो विज्ञेयाः । अवस्थानं त्वेकविंशतेरपि नैव भवति । ज्ञानावरणपञ्चक -दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक सञ्ज्वलनचतुष्करूपाणामष्टादशप्रकृतीनामुप-

शमश्रेणितोऽवरोहन्नवमगुणस्थानके मार्गणाद्विचरमसमयतश्चरमसमयं प्राप्तो ज्येष्ठवृद्धि करोति, उपशमश्रेणिमारोहन्मार्गणाप्रथमसमयबन्धतो मार्गणाद्वितीयसमयबन्धे ज्येष्ठहानिं करोति।

मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वोघमार्गणापञ्चके देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, भावनाऽप्योघवत्कार्येति। ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्काऽसातवेदनीयाऽऽद्यवर्जद्वादशकषायाऽरतिशोकभयजुगुप्सापुरुष-वेदाऽशुभवर्णचतुष्कोपघाताऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामा-ऽन्तरायपञ्चकानि द्वाचत्वारिंशत्तामा चतुर्थगुणस्थानवर्ती मिथ्यात्वाऽभिमुखो मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कृत्वा मार्गणाचरमसमये मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठरसबन्धं करोति स ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति। यः पुनश्चतुर्थगुणस्थाने स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टस्तत्प्रायोग्यतीव्ररसं बद्ध्वा साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं करोति स तासां ज्ञानावरणादिद्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, तदनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नन् स एव ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी भवति। उक्तमार्गणापञ्चके मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नां देवमनुष्यायुषोर्हास्यरत्योश्चेति नवानां स्वस्थाने एव ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो भवन्ति, अत्र नवानां ज्येष्ठहान्यनन्तरसमये ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इत्यवधार्यम्।

मनःपर्यवज्ञानसंयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणासु देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, केवलं सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये सातवेदनीयादित्रयाणां मार्गणाचरमसमये नवमगुणस्थानकचरमसमयरूपे वर्तमानः क्षपको ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी विज्ञेयः। द्वात्रिंशतो ज्येष्ठहानेः स्वामी तु श्रेणितोऽवरोहन् बन्धद्वितीयसमये मार्गणाद्वितीयसमये वा वर्तमानो विज्ञेयः, अत्र मरणाऽनन्तरं देवेषु प्रस्तुतमार्गणानामभावात्परस्थानहानिर्नैव प्राप्यत इति। ज्ञानमार्गणात्रयोक्तानां मध्यमकषायाऽष्टकवर्जानां मतिज्ञानावरणादीनां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो ज्ञानत्रयमार्गणावद्विज्ञेयाः, केवलं तत्र चतुर्थगुणस्थानवर्तिनस्तेऽत्र तु षष्ठगुणस्थानवर्तिनः। तथा मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां मिथ्यात्वाऽभिमुखत्वाऽभावादविरतसम्यक्त्वाऽभिमुखो ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी विज्ञेय इति।

अज्ञानमार्गणाद्वये मिथ्यात्वमार्गणायाश्च जिननामाऽऽहारकद्विकयोर्बन्धाऽभावाद् देवद्विकाद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां मनुष्यपञ्चकस्योद्योतनाम्नश्च यथासंभवं संयमसम्यक्त्वाऽभिमुखानां मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्याऽल्पतमं रसं बद्ध्वा यो मार्गणाचरमसमये मार्गणाप्रायोग्यं ज्येष्ठरसं बध्नाति स ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति, यः स्वस्थानतीव्रविशुद्ध आसां

तत्प्रायोग्यज्येष्ठरसं बद्ध्वा ।गेपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बध्नाति स तासां ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, तदनन्तरसमये योऽवस्थानं करोति स ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी भवति । मतिज्ञानावरणादीनां षष्टिप्रकृतीनामेकेन्द्रियप्रायोग्याणां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, भावनाऽपि तद्वत्कार्या । शेषाणां षड्विंशतेः स्वस्थाने ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि भवन्ति, अतस्तदपेक्षया तत्स्वामिनो विज्ञेयाः, अत्र हान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं भवतीति । षड्विंशतिः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—स्त्रीवेद-पुरुषवेदाऽऽयुश्चतुष्क-नरकद्विक-विकलत्रिकाऽऽद्यवर्जसंहनन-पञ्चका-ऽऽद्यान्त्यवर्जसंस्थानचतुष्क-कुखगतिनामा-ऽऽतप-सूक्ष्मत्रिक दुःस्वरनामानीति ।

विभङ्गज्ञानमार्गणायां देवद्विकादिपञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामज्ञानद्वयमार्गणोक्तानां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनोऽज्ञानद्वयमार्गणावद्विज्ञेयाः, शेषाणां षडशीतिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थानस्था भवन्ति, अत्राऽऽसां हान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यते । षडशीतिप्रकृतयस्तु ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकाऽसातवेदनीयषोडशकषायाऽरतिशोकभयजुगुप्सानपुंसकवेदमिथ्यात्वतिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिहुण्डकाऽशुभवर्णचतुष्कोपघातस्थावराऽस्थिराऽशुभदुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिनामनीचैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकानि हास्यरती, एवं षष्टिप्रकृतयस्तथाऽज्ञानमार्गणाद्वयोक्ताः स्त्रीवेदादिषड्विंशतिप्रकृतयः ।

परिहारविशुद्धिमार्गणायां मतिज्ञानावरणादिचतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो ज्ञानत्रयमार्गणावद्विज्ञेयाः, केवलं प्रस्तुते च्छेदोपस्थापनाऽभिमुखानां ज्येष्ठवृद्धिर्वाच्या, न तु मिथ्यात्वाऽभिमुखानाम् , तासामत्राऽसंभवात् । तथा षष्ठगुणस्थान एवाऽऽसां पदत्रयस्य ज्येष्ठस्वामित्वं वाच्यमिति विशेषः । योऽप्रमत्तसंयतोऽनन्तगुणविशुद्ध्या वर्धमानस्तस्या द्विचरमसमये तत्प्रायोग्याऽल्परसं बद्ध्वा चरमसमये संभवज्ज्येष्ठरसं बध्नाति स देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति । ज्येष्ठहान्यवस्थानस्वामिनौ तु मूलप्रकृत्यनुसारेण स्वय परिभावनीयौ, यद्यत्र हानिर्ज्येष्ठरसबन्धतः साकारक्षयप्रयुक्ता भवेत्तर्हि तदनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यते, अन्यथा पुनर्वृद्ध्यनन्तर ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इत्यत्र सूक्ष्मेक्षिकया मतान्तरं विवक्षान्तरं वाऽवधार्यम् , अन्यथा मूलोत्तरप्रकृतीनां पदनिक्षेपस्वामित्वे विरोधः स्यादिति । अत्र तत्त्व बहुश्रुतेभ्योऽवसेयमिति । हास्यरतिमोहनीययोर्देवायुषश्च ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थानस्था भवन्ति, अत्र ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति ।

देशविरतिमार्गणायां देवद्विकादीनामाहारकद्विकवर्जानां त्रिंशत्प्रकृतीनामप्रमत्तसंयमाऽभिमुखो मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्याऽल्पत बन्धं कृत्वा चरमसमये मार्गणाप्रायोग्य-

सर्वोत्कृष्टरसबन्धं करोति स ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति, यः स्वस्थानविशुद्ध आसां तत्प्रायोग्यज्येष्ठरसबन्धं कृत्वा तदनन्तरं साकारक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बध्नाति स ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, तदनन्तरसमये च तावन्तमेव रसं बध्नन् ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी ज्ञेयः, अत्र ज्येष्ठहानितो ज्येष्ठवृद्धेरधिकत्वेऽपि ज्येष्ठवृद्धयनन्तरसमये मार्गणायाः परावर्तनान्न ज्येष्ठवृद्धयनन्तरमवस्थानं प्राप्यते, स्वस्थाने तु वृद्धितो हानेरधिकत्वाज्ज्येष्ठहान्यनन्तरमवस्थानं प्राप्यत इति । मतिज्ञानावरणादीनामष्टात्रिंशतोऽशुभानां मिथ्यात्वाऽभिमुखो मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्याल्पतरसं बद्ध्वा चरमसमये यो मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठरसबन्धं करोति स ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति । स्वस्थानज्येष्ठसंक्लिष्टस्तत्प्रायोग्याऽधिकतमं रसं बद्ध्वा साकारक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बध्नाति स ज्येष्ठहानेः स्वामी विज्ञेयः, तदनन्तरं स एव ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी भवति, अत्राऽपि हानितो वृद्धेराधिक्येऽपि तदनन्तरं मार्गणायाः परावर्तनात्स्वस्थानवृद्धितः स्वस्थानहानेरेवाऽधिकत्वाच्च हानेरनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति । हास्यरत्योर्देवायुषश्च स्वस्थानस्थो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामी भवति, अत्र हानेरनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति ।

सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राणां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी क्षपको मार्गणाचरमसमयवर्ती ज्येष्ठहानेस्तु स्वाम्युपशमश्रेणितोऽवरोहन्मार्गणाद्वितीयसमयवर्ती विज्ञेयः, अवस्थानं तु नैव प्राप्यत इति । ज्ञानावरणादिचतुर्दशानामुपशमश्रेणिमारोहन्मार्गणाद्वितीयसमये ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, स एवोपशमश्रेणितोऽवरोहन्मार्गणाचरमसमये वर्तमानो ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति, अवस्थानं तु नाऽस्ति ।

असंयमे देवद्विकाद्येकोनत्रिंशतो जिननाम्नश्चेति त्रिंशतो ज्येष्ठवृद्धेः स्वाम्यप्रमत्तसंयमाऽभिमुखोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यविशुद्धः संस्तत्प्रायोग्याल्पतमं रसबन्धं कृत्वा मार्गणाचरमसमये मार्गणाप्रायोग्यामुत्कृष्टां विशुद्धिं प्राप्य मार्गणाप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टरसबन्धं यः करोति स विज्ञेयः, अविरतसम्यग्दृष्टिः स्वस्थानतीव्रविशुद्धः साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यांविशुद्धिं प्राप्त आसां तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कुर्वञ्ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, तदनन्तरसमये योऽवस्थानं करोति स देवद्विकादित्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी विज्ञेयः । उद्योतनाम्नो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, तद्भावनाऽप्योघवत्कार्येति । मतिज्ञानावरणादिषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति । अत्र ज्येष्ठा हानिः परस्थाने एकेन्द्रियस्य भवति ज्येष्ठाऽवस्थानं तु स्वस्थाने तत्प्रायोग्यज्येष्ठहान्यनन्तरं भवति, वृद्धिस्तु स्वस्थान एवेति सर्वाऽपि भावनौघवत्कार्येति । पुरुषवेदस्त्रीवेदाऽऽयुश्चतुष्कनरकद्विकमनुष्यद्विकविकलत्रिकौदारिकद्विकसंहननषट्कमध्यमसंस्थानचतुष्ककुखगतिनाम-

तत्प्रायोग्यज्येष्ठरसं बद्ध्वा गेपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बध्नाति स तासां ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, तदनन्तरसमये योऽवस्थानं करोति स ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी भवति। मतिज्ञानावरणादीनां षष्टिप्रकृतीनामेकेन्द्रियप्रायोग्याणां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, भावनाऽपि तद्वत्कार्या। शेषाणां षड्विंशतेः स्वस्थाने ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि भवन्ति, अतस्तदपेक्षया तत्स्वामिनो विज्ञेयाः, अत्र हान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं भवतीति। षड्विंशतिः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः–स्त्रीवेद-पुरुषवेदाऽऽयुश्चतुष्क-नरकद्विक-विकलत्रिकाऽऽद्यवर्जसंहनन-पञ्चका-ऽऽद्यान्त्यवर्जसंस्थानचतुष्क-कुखगतिनामा-ऽऽतप-सूक्ष्मत्रिक दुःस्वरनामानीति।

विभङ्गज्ञानमार्गणायां देवद्विकादिपञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामज्ञानद्वयमार्गणोक्तानां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनोऽज्ञानद्वयमार्गणावद्विज्ञेयाः, शेषाणां षडशीतिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थानस्था भवन्ति, अत्राऽऽसां हान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यते। षडशीतिप्रकृतयस्तु ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकाऽसातवेदनीयषोडशकषायाऽरतिशोकभयजुगुप्सानपुंसकवेदमिथ्यात्वतिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिहुण्डकाऽशुभवर्णचतुष्कोपघातस्थावराऽस्थिराऽशुभदुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिनामनीचैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकानि हास्यरती, एवं षष्टिप्रकृतयस्त थाऽज्ञानमार्गणाद्वयोक्ताः स्त्रीवेदादिषड्विंशतिप्रकृतयः।

परिहारविशुद्धिमार्गणायां मतिज्ञानावरणादिचतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो ज्ञानत्रयमार्गणावद्विज्ञेयाः, केवलं प्रस्तुते च्छेदोपस्थापनाऽभिमुखानां ज्येष्ठवृद्धिर्वाच्या, न तु मिथ्यात्वाऽभिमुखानाम्, तासामत्राऽसंभवात्। तथा षष्ठगुणस्थान एवाऽऽसां पदत्रयस्य ज्येष्ठस्वामित्वं वाच्यमिति विशेषः। योऽप्रमत्तसंयतोऽनन्तगुणविशुद्ध्या वर्धमानस्तस्या द्विचरमसमये तत्प्रायोग्याऽल्परसं बद्ध्वा चरमसमये संभवज्ज्येष्ठरसं बध्नाति स देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति। ज्येष्ठहान्यवस्थानस्वामिनौ तु मूलप्रकृत्यनुसारेण स्वय परिभावनीयौ, यद्यत्र हानिर्ज्येष्ठरसबन्धतः साकारक्षयप्रयुक्ता भवेत्तर्हि तदनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यते, अन्यथा पुनर्वृद्ध्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इत्यत्र सूक्ष्मेक्षिकया मतान्तरं विवक्षान्तरं वाऽवधार्यम्, अन्यथा मूलोत्तरप्रकृतीनां पदनिक्षेपस्वामित्वे विरोधः स्यादिति। अत्र तत्त्व बहुश्रुतेभ्योऽवसेयमिति। हास्यरतिमोहनीययोर्देवायुषश्च ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थानस्था भवन्ति, अत्र ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति।

देशविरतिमार्गणायां देवद्विकादीनामाहारकद्विकवर्जानां त्रिंशत्प्रकृतीनामप्रमत्तसंयमाऽभिमुखो मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्याऽल्पत बन्धं कृत्वा चरमसमये मार्गणाप्रायोग्य-

सर्वोत्कृष्टरसबन्धं करोति स ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति, यः स्वस्थानविशुद्ध आसां तत्प्रायोग्य-ज्येष्ठरसबन्धं कृत्वा तदनन्तरं साकारक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बध्नाति स ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, तदनन्तरसमये च तावन्तमेव रसं बध्नन् ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी ज्ञेयः, अत्र ज्येष्ठहानितो ज्येष्ठवृद्धेरधिकत्वेऽपि ज्येष्ठवृद्धयनन्तरसमये मार्गणायाः परावर्तनान्न ज्येष्ठ-वृद्धयनन्तरमवस्थानं प्राप्यते, स्वस्थाने तु वृद्धितो हानेरधिकत्वाज्ज्येष्ठहान्यनन्तरमवस्थानं प्राप्यत इति । मतिज्ञानावरणादीनामष्टात्रिंशतोऽशुभानां मिथ्यात्वाऽभिमुखो मार्गणाद्विचरम-समये तत्प्रायोग्याल्परसं बद्ध्वा चरमसमये यो मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठरसबन्धं करोति स ज्येष्ठ-वृद्धेः स्वामी भवति । स्वस्थानज्येष्ठसंक्लिष्टस्तत्प्रायोग्याऽधिकतमं रसं बद्ध्वा साकारक्षयेण तत्प्रा-योग्यजघन्यरसं बध्नाति स ज्येष्ठहानेः स्वामी विज्ञेयः, तदनन्तरं स एव ज्येष्ठाऽवस्था-नस्य स्वामी भवति, अत्राऽपि हानितो वृद्धेराधिक्येऽपि तदनन्तरं मार्गणायाः परावर्तनात्स्व-स्थानवृद्धितः स्वस्थानहानेरेवाऽधिकत्वाच्च हानेरनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति । हास्यरत्योर्देवायुषश्च स्वस्थानस्थो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामी भवति, अत्र हानेरनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति ।

सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राणां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी क्षपको मार्गणाचरमसमयवर्ती ज्येष्ठहानेस्तु स्वाम्युपशमश्रेणितोऽवरोहन्मार्गणाद्वितीयसमयवर्ती विज्ञेयः, अवस्थानं तु नैव प्राप्यत इति । ज्ञानावरणादिचतुर्दशानामुपशमश्रेणिमारोहन्मार्गणा-द्वितीयसमये ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, स एवोपशमश्रेणितोऽवरोहन्मार्गणाचरमसमये वर्तमानो ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति, अवस्थानं तु नाऽस्ति ।

असंयमे देवद्विकाद्येकोनत्रिंशतो जिननाम्नश्चेति त्रिंशतो ज्येष्ठवृद्धेः स्वाम्यप्रमत्तसंय-माऽभिमुखोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यविशुद्धः संस्तत्प्रायोग्याल्पतमं रसबन्धं कृत्वा मार्गणाचरमसमये मार्गणाप्रायोग्यामुत्कृष्टां विशुद्धिं प्राप्य मार्गणाप्रायोग्यसर्वो-त्कृष्टरसबन्धं यः करोति स विज्ञेयः, अविरतसम्यग्दृष्टिः स्वस्थानतीव्रविशुद्धः साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यविशुद्धिं प्राप्त आसां तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कुर्वञ्ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, तदनन्तरसमये योऽवस्थानं करोति स देवद्विकादित्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठाऽवस्थानस्य स्वामी विज्ञेयः । उद्योतनाम्नो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, तद्भावनाऽप्योघव-त्कार्येति । मतिज्ञानावरणादिषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति । अत्र ज्येष्ठा हानिः परस्थाने एकेन्द्रियस्य भवति ज्येष्ठाऽवस्थानं तु स्वस्थाने तत्प्रायोग्यज्येष्ठहान्य-नन्तरं भवति, वृद्धिस्तु स्वस्थान एवेति सर्वाऽपि भावनौघवत्कार्येति । पुरुषवेदस्त्रीवेदाऽऽयु-श्चतुष्कनरकद्विकमनुष्यद्विकविकलत्रिकौदारिकद्विकसंहननषट्कमध्यमसंस्थानचतुष्ककुखगतिनाम-

ऽऽतपसूक्ष्मत्रिकदुःस्वरनाम्नामेकत्रिंशतो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवत्स्वस्थाने भवन्ति, भावनाऽप्योघवत्कार्येति ।

चक्षुर्दर्शनमार्गणायां पञ्चेन्द्रियौघादिना सममचक्षुर्दर्शनमार्गणायां काययोगादिना सममवधिदर्शनमार्गणायामवधिज्ञानेन सह बन्धप्रायोग्याणां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो निरूपिताः ।

कृष्णलेश्यामार्गणायां मतिज्ञानावरणादिषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्तीति देवेषु पर्याप्ताऽवस्थायामशुभलेश्यामङ्गीकुर्वतां श्रीप्रज्ञापनादिसूत्राऽभिप्रायेण, अन्येषां मतेन पुनरासां षष्टेरपि ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि स्वस्थाने प्राप्यन्त इति मतद्वयेनाऽऽसां स्वामित्वं विज्ञेयमिति । देवद्विकाद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां जिननाम्नश्च पुरुषवेदादीनामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां च समुदितानामेकषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थानस्था भवन्ति, अत्राऽऽसां ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति । उद्योतनाम्नो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, ओघोक्तानामुद्योतनाम्नो ज्येष्ठवृद्ध्यादिस्वामिनां सप्तमनरकनारकत्वेन कृष्णलेश्याकत्वात् ।

एवमेव **नीललेश्यायां कापोतलेश्यायाञ्च** ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वं विज्ञेयम् , केवलमुद्योतनाम्नो ज्येष्ठवृद्धेः स्वामित्वं स्वस्थाने भवतीति विशेषः, अतो मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठरसबन्धतः साकारक्षयेण ज्येष्ठहान्यवस्थाने वाच्ये, न तु तत्प्रायोग्यज्येष्ठरसबन्धत इति ।

तेजोलेश्यायां मतिज्ञानावरणादिषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, ज्येष्ठहानेः स्वामिनः पुनरागमाऽभिप्रायेण देवेभ्यश्च्युतानामेकेन्द्रियाणामपर्याप्ताऽवस्थायां तेजोलेश्याया भावात्त एव भवप्रथमसमयस्था एकेन्द्रिया ज्येष्ठहानेः स्वामिनो भवन्ति, अन्यमतेन पुनः संज्ञिष्वेव शुभलेश्याया अधिकृतत्वेन तन्मते स्वस्थाने ज्येष्ठहानेः स्वामिनामद्भावात्त एव वाच्या इति । देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धेः स्वाम्यप्रमत्तः संयतः स्वस्थाने भवति, स एव ज्येष्ठरसबन्धकः कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नो देवभवप्रथमसमये देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकवर्जानां षड्विंशतेस्तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कुर्वञ्ज्येष्ठहानेः स्वामी भवति, देवद्विकादीनां षण्णां तु परिहारविशुद्धिवज्ज्येष्ठहानेः स्वामित्वभावना कार्या, द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठाऽवस्थानस्वामिनोऽपि परिहारविशुद्धिमार्गणावद्विभावनीया इति । शेषाणां पुरुषवेद-स्त्रीवेद-तिर्यग्मनुष्यदेवायुस्त्रिक-मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-संहननषट्क-मध्यमसंस्थानचतुष्क-कुखगतिनामाऽऽतपो-द्योत-दुःस्वरप्रकृतीनां त्रयोविंशतेर्ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थाने भवन्ति, अतो ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति ।

पद्मलेश्यायां देवद्विकादिद्वात्रिंशतो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनस्तेजोलेश्यामार्गणावद् भवन्ति । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामशीतिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थाने प्राप्यन्ते, ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति । ताः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक--मोहनीयसत्कषड्विंशति-तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-संहननषट्का ऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक- कुखगतिनामा-ऽशुभवर्णचतुष्को-पघातो-द्योता--ऽस्थिरषट्का-ऽसातवेदनीय-नीचैर्गोत्रा ऽन्तरायपञ्चकानि देवमनुष्यतिर्यगायुस्त्रिकं चेत्यशीतिः ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति; ओघोक्तस्वामिनामत्र लाभात् , ओघोक्तस्वामिनां शुक्ललेश्याकत्वाच्च । शेषाणां षट्सप्ततिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थाने भवन्ति, अत्राऽपि ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति । षट्सप्ततिः प्रकृतयः पुनरनन्तरोक्तपद्मलेश्यामार्गणोक्ता एव तिर्यक्त्रिकमुद्योतनाम च विहाय इति ।

भव्यमार्गणायां काययोगादिमार्गणाभिस्समं दर्शितम् ।

अभव्यमार्गणायां मतिज्ञानावरणादीनां षष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, अत्राऽऽसां ज्येष्ठहानिरेकेन्द्रियेषु भवति, ज्येष्ठाऽवस्थानं तु स्वस्थाने भवति । शेषाणां सातवेदनीयाद्येकषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थाने भवन्ति, अत्राऽऽसामेकषष्टेरपि प्रकृतीनां ज्येष्ठहान्यनन्तरसमये ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यत इति । एकषष्टिप्रकृतयः पुनरिमाः—सातवेदनीय-स्त्रीवेद-पुरुषवेदा-ऽऽयुश्चतुष्क--नरकद्विक-मनुष्यद्विक- देवद्विक-विकलत्रिक-पञ्चेन्द्रियजातिनामौ- दारिकद्विक-वैक्रियद्विक-तैजसकार्मणशरीर—संहननषट्का-ऽऽद्य-संस्थानपञ्चक-खगतिद्वय-शुभवर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-पराघातो- च्छ्वासा-ऽऽतपोद्योत--निर्माणनाम-त्रसदशक-सूक्ष्मत्रिक-दुःस्वरनामोच्चैर्गोत्राणीति । भावना तु सुगमा स्वयं कार्येति ।

सम्यक्त्वौघमार्गणायां मतिज्ञानादिमार्गणाभिस्सह बन्धप्रायोग्याणां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो निरूपिताः ।

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकादिद्वात्रिंशतो ज्येष्ठवृद्धेः स्वाम्युपशमको तत्तद्बन्धविच्छेदसमये चरमबन्धे वर्तमानो भवति, आसामेव ज्येष्ठहानेर्ज्येष्ठाऽवस्थानस्य च स्वाम्योघवद्विज्ञेयः, मतिज्ञानावरणादीनां द्वाचत्वारिंशतो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो ज्ञानत्रयमार्गणावद्विज्ञेयाः, भावनाऽपि तद्वत्कार्या । ताः प्रकृतयः पुनरेताः— ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्का-ऽऽद्यवर्जद्वादशकषाया-ऽरति-शोक -भय-जुगुप्सा-पुरुषवेदा--ऽशुभवर्णचतुष्को---पघाता-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामा-ऽसातवेदनीया-ऽन्तरायप ानीति । शेषाणां हास्यरति-

मनुष्यद्विकौदारिकद्विक वज्रर्षभनाराचरूपाणां सप्तानां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थाने भवन्ति । भावना तु ज्ञानत्रयमार्गणावत्कार्येति ।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकादिद्वात्रिंशतो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनस्तेजोलेश्यामार्गणावद्विज्ञेया इति । मतिज्ञानावरणादिद्वाचत्वारिंशत्प्रकृतीनां हास्यरतिमनुष्यपञ्चकदेवमनुष्यायुर्लक्षणानां नवानां च ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो मतिज्ञानादिमार्गणावद्भवन्ति, अतस्तद्वद्भावना कार्या सुगमा चेति ।

क्षायिकसम्यक्त्वे देवद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, ओघोक्तस्वामिनामत्र प्रवेशात् । शेषाणां मतिज्ञानावरणादिद्वाचत्वारिंशतो हास्यरत्योर्मनुष्यपञ्चकस्य देवमनुष्यायुषोश्चेत्येकपञ्चाशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धस्य स्वस्थान एव भावेन ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थाने भवन्ति, अत्राऽऽसां ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठाऽवस्थानं प्राप्यते, अत्र मिथ्यात्वाऽभिमुखत्वाऽभावाद् मतिज्ञानावरणादीनां द्वाचत्वारिंशतो ज्येष्ठवृद्धिः स्वस्थान एव प्राप्यत इति ज्ञानमार्गणात्रिकाद्विशेषः, शेषा तु सर्वाऽपि प्ररूपणा ज्ञानमार्गणात्रयवदेव भवतीति ।

सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां मतिज्ञानावरणादीनां द्वाचत्वरिंशतो मिथ्यात्वाऽऽभिमुखः; देवद्विकाद्येकोनत्रिंशतो मनुष्यपञ्चकस्य च सम्यक्त्वाऽभिमुखो ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी भवति । आसां षट्सप्ततेर्ज्येष्ठहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थाने भवन्ति। हास्यरत्योर्ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थाने भवन्ति ।

सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां मिथ्यात्वाभिमुखानां यासां ज्येष्ठरसबन्धो भवति तासां मतिज्ञानावरणादीनां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामिनो मार्गणाचरमसमयवर्तिनो भवन्ति; ज्येष्ठहान्यवस्थानस्वामिनस्तु स्वस्थानस्था विज्ञेया इत्येकं मतम् । **अन्यमते** तु मतिज्ञानावरणादीनामपि ज्येष्ठवृद्धिः स्वस्थाने प्राप्यत इति । ताः प्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक षोडशकषाय- भय- जुगुप्साऽरतिशोकस्त्रीवेदासातवेदनीयनीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विक-पञ्चमसंहननसंस्थान-कुखगतिनामाशुभवर्णचतुष्कोपघातास्थिरषट्कान्तरायपञ्चकनामान्यष्टपञ्चाशत् । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थाने भवन्ति । ताः प्रकृतयो नामत इमाः—सातवेदनीयपुरुषवेदहास्यरतिमोहनीयदेवमनुष्यतिर्यगायुष्कदेवद्विकमनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकवैक्रियद्विकतैजस—कार्मणशरीराद्यसंहननचतुष्काद्यसंस्थानचतुष्कसुखगतिशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वास—निर्माणनामोद्योतत्रसदशकोच्चैर्गोत्राणीति । अत्र मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां पञ्चोत्तरशतस्य ज्येष्ठहान्यनन्तरसमये ज्येष्ठावस्थानं प्राप्यत इति ।

मिथ्यात्वमार्गणायां मत्यज्ञानादिमार्गणाभ्यां सह प्रस्तुतस्वामित्वं निरूपितम् । **संज्ञिमार्गणायां** पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः सह दर्शितं ज्येष्ठवृद्ध्यादिस्वामित्वम् । **असज्ञि-मार्गणायां** बन्धप्रायोग्याणामेकविंशत्युत्तरशतस्य ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थाने भवन्ति । आहारिमार्गणायां काययोगादिमार्गणाभिः सह तथाऽनाहारके कार्मणकाययोगेन सह रसबन्धस्य ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो निरूपिताः । तदेवं समाप्तं तृतीये पदनिक्षे-पाधिकारे ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानस्वामित्वनिरूपणम् ॥ ९९-१११ ॥

अथ रसबन्धस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघत आदेशतश्च निरूपयन्नाह--

सव्वह जाणुवसमगो खवगो वा लहुरसस्स सो चेव ।
ताण णइ लहुहाणिं लहुवुड्ढिं बंधदुइअखणे ॥११२॥
उवसामगो पडंतो, सव्वविसुद्धो कुणेइ अपमत्तो ।
वुड्ढिअ अणंतभागं अवट्ठिओ लहुमवट्ठाणं ॥११३॥
जाण अहिमुहो सामी असुहाण तिरिदुगणीअवज्जाणं ।
मंदणुभागस्स भवे स चिअ कुणइ ताण लहुहाणिं ॥११४॥
पडिअ उवरि गुणठाणा लहुवुड्ढिं कुणइ बंधदुइअखणे ।
वड्ढिअ सठाणसुद्धोऽणंतसमवट्ठिओ अवट्ठाणं ॥११५॥ (गीतिः)
सुहतिरिदुगणीआणं जाण अहिमुहो तहाऽत्थि कयकरणो ।
असुहाण जाण तेसिं स चेव णए लहुं हाणिं ॥११६॥
असुहाण तिव्वकिट्ठो सठाणसुद्धो सुहाण लहुवुड्ढिं ।
वड्ढिअ अणंतभागं से काले लहुमवट्ठाणं ॥११७॥
आहारदुगस्स तहा, सेसाणं लहुरसस्स जो सामी ।
सो चिअ अणंतभागं वड्ढिअ णए लहुं वुड्ढिं ॥११८॥
हाउं हाणिं लहुगं अणणयरो णइ लहुमवट्ठाणं ।
णवरि कुणए अवेए इमे सायजसउच्चाणं ॥११९॥
उवसामगो चडंतो मग्गणादुइअसमये लहुं वुड्ढिं ।
कम्माणाहारेसुं सव्वाणोगिदिए अवट्ठाणं ॥१२०॥(गीतिः)

(प्रे०) "सव्वहे"त्यादि, इह ओघत आदेशतश्च यासामशुभप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः क्षपकश्रेणौ उपशमश्रेणौ वा भवति, तासां बन्धविच्छेदद्विचरमसमयगतरसबन्धतश्चरमसमयकृतरसबन्धे यावती हानिर्भवति तावती तासां जघन्यहानिर्ज्ञातव्या, तासां निर्वर्तको बन्धविच्छेदचरमसमये वर्तमानः क्षपकः, उपशमसम्यक्त्वे चोपशामको विज्ञेयः, तादृश्यः प्रकृतयो नामतः पुनरिमा'—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-संज्वलनचतुष्काशुभवर्णचतुष्कोपघातान्तरायपञ्चक-हास्यरतिभयजुगुप्सापुरूषवेदरूपास्त्रिंशदासां यद्यप्यत्रानन्तगुणा हानिर्भवति तथापि सा एव जघन्यहानिर्विज्ञेया ।

यत इतोऽसंख्येयान्यनन्तगुणवृद्धिस्थानानि व्यतिक्रम्य स्थितं यत्स्थानं तस्मात् स्थानादनन्तरं यदनन्तभागवृद्धिस्थानं स्वस्थानविशुद्धाऽप्रमत्तसंयतादिप्रायोग्यं तत्र भवा या पूर्वस्थानापेक्षयाऽनन्तभागवृद्धिर्यद्वाऽनन्तभागवृद्धिस्थानतः स्वस्थानतो जघन्यस्थानगमनेन या अनन्तभागहानिः सा श्रेणिगतदर्शितहानितोऽनन्तगुणा द्रष्टव्या, अयं भावः—ज्ञानावरणादीनां निरुक्तत्रिंशत्प्रकृतीनां स्वबन्धविच्छेदचरमसमये जघन्यरसबन्धको यस्मिन् स्थाने स्थितः, तदेव तासां जघन्यरसबन्धस्थानं ततः पश्चानुपूर्व्या नवमगुणस्थानप्रथमसमय यावत् केवलान्यनन्तगुणवृद्धानि असंख्येयानि रसबन्धस्थानानि भवन्ति, ततोऽष्टमगुणस्थानकचरमसमयगतं जघन्यानुभागबन्धस्थानमनन्तगुणमितः पश्चानुपूर्व्या विचार्यमाणे समानसमयस्थिताध्यवसायानां नानाजीवापेक्षया वृद्धेः षट्स्थानक्रमेण भावेऽपि विभिन्नसमयस्थिताध्यवसायाना नियमतोऽनन्तगुणतारतम्यस्य लाभः, अत एकजीवापेक्षयाऽष्टमगुणस्थानेऽप्यनन्तभागवृद्धिर्न सम्भवति, एव यथाप्रवृत्तकरणरूपे सप्तमगुणस्थानेऽपि भिन्नसमयस्थितानां षट्स्थानवृद्धिहानियुक्ताध्यवसायानां तुल्याध्यवसायानां च नानाजीवापेक्षया भावेऽप्येकजीवापेक्षया तु पश्चानुपूर्व्या उत्तरोत्तरसमयेऽनन्तगुणाध्यवसायानामेव भावेन नानन्तभागवृद्धिहान्योः सम्भवः, एतत्स्थानपर्यन्तमेकजीवापेक्षयाऽवस्थानस्याप्यसम्भव एव,

अतोऽप्रमत्तसंयतस्वस्थानतीव्रविशुद्धो ज्ञानावरणादीनां तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बद्ध्वा ततोऽनन्तभागं रसं वर्धयित्वाऽवस्थितरसं बध्नन् जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवति। इयं च जघन्यावस्थितरसबन्धप्रायोग्या वृद्धिर्जघन्यहानितो जघन्यवृद्धितश्चानन्तगुणा भवति, द्वयोरन्तरालेऽनन्तगुणवृद्धस्थानानामसंख्येयानां भावात् ।

आसां त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यवृद्धेः स्वामी य उपशमश्रेणितोऽवरोहन् प्रथमसमये जघन्यरसबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयेऽनन्तगुणवृद्धं रसबन्धं करोति स भवति, यत उपशमश्रेणितोऽवरोहतः प्रथमसमयबन्धतो द्वितीयबन्धे यावती वृद्धिर्भवति सा वृद्धिर्जघन्यवृद्धित्वेन बोध्या,

सा च जघन्यहानितोऽनन्तगुणा, तत्तत्स्थाने क्षपकस्य बन्धत उपशमश्रेण्यारोहकस्य बन्धस्यानन्तगुणत्वात्, ततोऽपि श्रेण्यवरोहकस्य बन्धस्यानन्तगुणत्वात्। "सव्वविसुद्धो" इत्यादिना पादोनद्वितीयगाथया ज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यावस्थानस्वामिनो दर्शिताः, ते च प्रागेव भाविता इत्याद्यगाथाद्वयार्थः ॥

ओघत आदेशतश्च यासामशुभप्रकृतीनां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रवर्जानां जघन्यरसबन्धः सम्यक्त्वाद्यऽभिमुखावस्थायां भवति, तासां योऽभिमुखावस्थाया द्विचरमसमये तत्प्रायोग्याल्पतमं रसं बद्ध्वा चरमसमये जघन्यरसं बध्नाति स जघन्यहानेः स्वामी भवति। स चैवम्-ओघतः स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वलक्षणानामष्टानां योऽप्रमत्तसंयताभिमुखस्तीव्रविशुद्धया वर्धमानो मिथ्यादृष्टिः, स मिथ्यात्वावस्थायाश्चरमसमये जघन्यहानेः स्वामी भवति, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्यैवमेव जघन्यहानेः स्वामी भवति, नवरमविरतसम्यग्दृष्टिरप्रमत्तसंयताभिमुखो वाच्यः। प्रत्याख्यानावरणस्यैवमेव जघन्यहानेः स्वामी विज्ञेयः, केवलं देशविरतिमनुष्योऽप्रमत्तसंयताभिमुखो द्रष्टव्यः, एवं मार्गणास्वपि गुणाभिमुखावस्थाया यासामशुभप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको भवति तासां स एव जघन्यहानेः स्वामी भवत्यतो जघन्यरसबन्धस्वाम्यनुसारेण जघन्यहानेः स्वामिनो निरूपणीयाः सुगमाश्चेति।

आसामेव गुणाभिमुखावस्थायां जघन्यरसबन्धानां प्रकृतीनां यथासम्भवमूर्ध्वतमगुणस्थानतो मरणं विहाय पतितस्य तत्प्रायोग्यमन्दतमसंक्लेशयुक्तस्य बन्धप्रारम्भप्रथमसमयतो बन्धद्वितीयसमये वर्तमानस्य रसस्य बन्धे जघन्यवृद्धिर्भवति। एषा वृद्धिः प्रागुक्तजघन्यहानितोऽनन्तगुणा भवतीति।

आसामेव गुणाभिमुखावस्थायां जघन्यरसबन्धानामशुभप्रकृतीनां गुणाभिमुखावस्थां विहाय या स्वस्थानतीव्रविशुद्धिः, तस्यां वर्तमानस्तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बद्ध्वाऽनन्तभागवृद्धरसस्थानं प्राप्य यो रसस्यानन्तभागवृद्धिं करोति तदनन्तरं च तावन्तमेव रसं बध्नाति, स जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवति, अत्रैवोपलक्षणेनाऽनन्तभागहान्यनन्तरमपि जघन्यावस्थानं प्राप्तुमर्हति, तदप्यत्र निरूपणीयम्। एषाऽवस्थानप्रायोग्या जघन्या वृद्धिर्जघन्यवृद्धिहानिभ्यामनन्तगुणा द्रष्टव्या इति, अत्र जघन्यहानिवृद्ध्यवस्थानानि क्रमशोऽनन्तगुणानि द्रष्टव्यानि। एवं मार्गणास्वपि गुणाभिमुखानां जघन्यरसबन्धानां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो भावनीयाः। इति तृतीयचतुर्थगाथार्थः।

ओघतो मार्गणासु वा (१) यासां शुभप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धोऽधस्तनगुणाद्यभिमुखावस्थायां तासाम्, (२) तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्यत्र सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां जघन्यरसबन्धो

भवति तत्र तासां तिसृणाम्, (३) **तथा** यासु मार्गणासु यासामशुभप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धः कृतकरणावस्थायां भवति तासु तासाम्, एतद्विकल्पत्रिकान्यतमगतानां जघन्यरसबन्धकः, जघन्यहानेः स्वामी भवति, तस्य द्विचरमसमयबन्धतश्चरमसमयबन्धे यावती हानिर्भवति तावद्धानिर्जघन्यहानितया विज्ञेया, सा च द्विचरमसमयबन्धतश्चरमसमयबन्धस्याऽनन्तगुणहीनत्वाज्जघन्यरसबन्धतोऽनन्तगुणा एव हानिर्भवतीति ।

अत्रौघत आहारकद्विकस्य प्रमत्तसंयताभिमुखोऽप्रमत्ताद्धायाश्चरमसमये वर्तमानो जघन्यहानेः स्वामी विज्ञेयः, जिननाम्नो मिथ्यात्वनरकाभिमुखोऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानचरमसमये वर्तमानः सर्वसंक्लिष्टो जघन्यहानेः स्वामी भवति, जघन्यरसबन्धतोऽनन्तगुणा एवात्र हानिर्विज्ञेया । सप्तमनरकनारकः सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यात्वचरमसमये सर्वविशुद्धस्तिर्यग्द्विकस्य नीचैर्गोत्रस्य च जघन्यरसबन्धं जघन्यहानिं च विदधातीति । **एवं मार्गणास्वपि** निरुक्तत्रिविधप्रकृतीनां जघन्यहानिस्वामिनो भावनीया इति ।

यासु मार्गणासु यासामशुभप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धः कृतकरणावस्थायां भवति तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्यत्र जघन्यरसबन्धः सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां भवति तासां प्रकृतीनां यः स्वस्थानतीव्रविशुद्धस्तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कृत्वाऽनन्तभागं रस वर्धयति स जघन्यवृद्धेः स्वामी भवति, तदनन्तरसमये च तस्य जघन्यावस्थानं प्राप्यत इति, अत्र तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्तूपरितनगुणस्थानतोऽवरोहन् बन्धद्वितीयसमये जघन्यवृद्धेः स्वामी मतान्तरेण भवतीत्यवधेयम् ।

अधस्तनगुणाद्यभिमुखावस्थायां यासां शुभानामोघतो मार्गणासु च यत्र जघन्यरसबन्धो भवति तासां प्रकृतीनां तत्र यः स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टस्तत्प्रायोग्यजघन्यरसं विरच्याऽनन्तभागविशुद्धः सन्ननन्तभागवृद्धरसं बध्नाति, स तासां जघन्यवृद्धेः स्वामी विज्ञेयस्तदनन्तरसमये च तावन्तमेव रस बध्नन् जघन्यावस्थानं विदधाति । आसां जघन्यहानितो जघन्यवृद्धिरनन्तगुणा भवतीति । पञ्चमषष्ठगाथयोरर्थः ।

"आहारकद्विकस्य तथा" इत्यनेन पञ्चमषष्ठगाथोक्तप्रकारेण आहारकद्विकस्य पदत्रयसत्कस्वामिनो विज्ञेयाः ।

ओघतो मार्गणासु वा उक्तशेषाणां प्रकृतीनां स्वस्थानविशुद्धानां स्वस्थानसंक्लिष्टानां मध्यमपरिणामानां वा जघन्यरसबन्धभावेन तासां यो जघन्यरसबन्धस्वामी स एव तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्थानतोऽनन्तभागवृद्धस्थानं गत एतासां जघन्यवृद्धिं करोति, अनन्तभागाधिकजघन्यरसबन्धस्थानाज्जघन्यरसबन्धस्थानं प्राप्तो जघन्यां हानिं करोति, जघन्यवृद्धिहान्यन्यतरबन्धानन्तरसमये जघन्यावस्थान प्राप्यत इति, ताः प्रकृतय ओघे पुनरिमाः—शोकारतिस्त्रीनपुंसकवेदानां चतुर्णां जघन्यरसबन्धः स्वस्थानविशुद्धानां भवति । पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विक-

वैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणाऽऽतपोद्योतनामत्रस-चतुष्कनाम्नामेकविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टानां भवति । साताऽसात-वेदनीयायुश्चतुष्कनरकद्विकमनुष्यद्विकदेवद्विकजातिचतुष्कसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वय-स्थिरषट्कस्थावरदशकोच्चैर्गोत्राणां सप्तचत्वारिंशतो जघन्यरसबन्ध ओघे परावर्तमानपरिणामे भवति, एवं च द्विसप्ततेः शेषप्रकृतितयौघे ग्रहणमवसातव्यमिति । एवं मार्गणास्थानेष्वपि स्वस्थानविशुद्धानां स्वस्थानसंक्लिष्टानां मध्यमपरिणामानां वा जघन्यरसबन्धानां प्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो भावनीयाः ।

केवलमपगतवेदे सूक्ष्मसंपराये चोक्तद्वात्रिंशतितः केवलं सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चै-र्गोत्राणि बध्यन्ते, तासां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यां रसबन्धवृद्धिं य उपशमश्रेणिमारूढो मार्गणाद्वितीयसमये वर्तमानः करोति, तस्य प्रथमसमयतो द्वितीयसमये यावती वृद्धिर्भवति सा जघन्यवृद्धित्वेनात्र ग्राह्या, सा च प्रथमसमयबन्धतोऽनन्तगुणवृद्धा अवसातव्या, प्रति-समयमनन्तगुणविशुद्धत्वात्, श्रेणौ निरुक्तप्रकृतित्रयस्य शुभत्वादारोहकस्यैव वृद्धिर्भवति, न त्ववरोहकस्य तत्र केवलं हानेरेव भावात्, तत्राप्युपशमकतः क्षपकस्यानन्तगुणविशुद्धत्वान्न तत्र जघन्यवृद्धिः संभवतीत्युपशमकस्य ग्रहणम् । अयं प्रथमोऽपवादः ।

अथ द्वितीयोऽपवादस्त्वेवम्—कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये त्रसजीवानां समयद्वये एवावस्था-नाद् यथा ज्येष्ठावस्थानमेकेन्द्रियेषु प्राप्यते तथा जघन्यावस्थानमपि । अतः सप्तोत्तरशतप्रकृती-नामेकेन्द्रियप्रायोग्याणां मार्गणाप्रथमसमयगततत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धतो द्वितीयसमयेऽनन्तभाग-वृद्धं बध्नतस्तत्प्रायोग्या या जघन्या वृद्धिर्भवति तथा मार्गणाप्रथमसमयेऽनन्तभागाधिकं तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयेऽनन्तभागहानिं कृत्वा तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कुर्वतस्तत्प्रायोग्या या जघन्या हानिर्भवति तदनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नतो जघन्यावस्थानं प्राप्यते, आभ्यः प्रकृतिभ्यः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यरसबन्धा याः प्रकृतयः, ता विहाय शेषाणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य संज्ञिषु विशुद्धावस्थायां संक्लेशावस्थायां वा भावेन तत्र च तासां जघन्यवृद्धिहान्योर्लाभात् तादृशप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहानिभ्यां जघन्या-वस्थानस्यानन्तगुणत्वमवधार्यम्, परावर्तमानजघन्यरसबन्धानां पुनर्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां प्रमाणं तुल्यमवसेयम्, तथा देवद्विकादिपञ्चानां त्ववस्थानमेव न भवतीति ।

तदेवं नवानां गाथानां समासतोऽर्थो भावितः । ओघतश्चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य जघन्यवृद्धि-हान्यवस्थानानां स्वामित्वं यथास्थानं वृत्तौ दर्शितम् । अथ वृत्तौ मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सायुष्काणां कर्मणां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वं दर्शयामः, तद्यथा—

नरकगत्योघे मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्यानर्धित्रिकतिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राणामेकादशानां जघन्या हानिः सम्यक्त्वाभिमुखानां मिथ्यात्वचरमसमये भवति, जघन्या वृद्धिस्तूपरितनगुणस्थानतोऽवरोहन् तत्प्रायोग्यमन्दतमसंक्लिष्टो बन्धप्रारम्भद्वितीयसमये वर्तमानः करोति । स्वस्थानतीव्रविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्ततोऽनन्तभागोत्तरं बध्नाति तस्य तदनन्तरसमये जघन्यावस्थानं प्राप्यत इति । पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासोद्योतनिर्माणत्रसचतुष्करूपाणामष्टादशानामनन्तभागाधिकजघन्यरसं बद्ध्वा यदि स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टो भूत्वा जघन्यरसं बध्नाति तदा जघन्यहानेः स्वामी भवति, जघन्यरसबन्धं विधाय तदनन्तभागोत्तरं बध्नतो जघन्यां वृद्धिं करोति, जघन्यवृद्धिहान्योरन्यतरस्या अनन्तरसमये तावन्तं रसं बध्नन् जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवति । एवं जिननाम्नोऽपि स्वस्थानसंक्लिष्टाविरतसम्यग्दृष्टेरपेक्षया जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो भावनीयाः । ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्काद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्माहास्यरतिपुरुषवेदान्तरायपञ्चकाशुभवर्णचतुष्कोपघातारतिशोकस्त्रीवेदनपुंसकवेदानां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां स्वस्थानविशुद्ध्यपेक्षया जघन्यरसबन्धस्वामित्वं ज्ञात्वाऽनन्तभागवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामी विज्ञेयः । शेषाणां त्रयस्त्रिंशत्परावर्तमानप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामभावेनाऽऽसां जघन्यरसबन्धस्थानतस्तदुत्तरानन्तभागाधिकरसबन्धस्थानापेक्षया जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो भवन्ति । ताः प्रकृतयः नामतः पुनरिमाः—सातासातवेदनीयमनुष्यतिर्यगायुष्कमनुष्यद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्कास्थिरषट्कोच्चैर्गोत्राणि । तिर्यग्मनुष्यायुष्कयोर्यो मार्गणाप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धस्य स्वामी स विज्ञेय इति ।

सप्तमनरकमार्गणायां नरकौघवद्विज्ञेयम्, केवलं जिननाममनुष्यायुषोर्बन्धाभावान्न तत्स्वामिनो वाच्याः । तथा मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धस्य मिथ्यात्वाभिमुखाविरतसम्यग्दृष्टेर्भावेन ते चतुर्थगुणस्थानचरमसमयवर्तिनो जघन्यहानेः स्वामिनो विज्ञेयाः, अविरतसम्यग्दृष्टिः स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टस्ततो भग्नोऽनन्तभागविशुद्धो भवति, स उक्तप्रकृतित्रयस्य जघन्यवृद्धेः स्वामी भवतिः तदनन्तरमवस्थानं प्राप्तो जघन्यावस्थानस्य स्वामी विज्ञेयः । अत्र परावर्तमानस्वामिकप्रकृतिष्वेकोनत्रिंशत्प्रकृतयो ग्राह्या इति ।

प्रथमादिषड्नरकमार्गणासु नरकौघवद् बन्धप्रायोग्याणां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो विज्ञेयाः, केवलं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानभावेन लाभाद् मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रवत् तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो विज्ञेयाः, इत्यतोऽत्र परावर्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धवत्यः षट्त्रिंशत्प्रकृतयः ॥

तिर्यग्गत्योघे स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वाप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां द्वादशानां देशविरत्यभिमुखाना जघन्यरसबन्धभावेन बन्धविच्छेदचरमसमये जघन्यरसबन्धका जघन्यहानेः स्वामिनो विज्ञेयाः। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य जघन्यवृद्धेः स्वामी देशविरतितः तत्प्रायोग्यमंदसंक्लेशे पतितो बन्धद्वितीयसमये जघन्या वृद्धिं कुर्वन् भवति, योऽविरतसम्यग्दृष्टिःस्व-स्थानविशुद्धाभूत्वा ततोऽनन्तभागोत्तरं बध्नाति,तदनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नाति स जघन्याव-स्थानस्य स्वामी भवति। स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टानां त्वेवमेव जघन्यद्वयवस्थानयोः स्वामिनो विज्ञेयाः। नवरं मिथ्यादृष्टीनधिकृत्येति विशेषः । ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-प्रत्याख्यानावरण-चतुष्क संज्वलनचतुष्क हास्यरति-भयजुगुप्साऽशुभवर्णचतुष्कोपघातान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुस्त्रि-शत्प्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थानसर्वविशुद्धदेशविरतास्तत्प्रायोग्यजघन्यरस-बन्धस्थाने स्थितास्तदुत्तरानन्तभागाधिकजघन्यरसबन्धस्थाने वा स्थिता यथासम्भवं भावनीयाः, अरतिशोकयोरेवं नवरं तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । स्त्रीनपुंसकवेदयोरप्येवमेव, केवलं तत्प्रायोग्य-विशुद्धमिथ्यादृष्टिरिति । पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपरा-घातोच्छ्वासनिर्माणत्रसचतुष्करूपाणां सप्तदशानां तीव्रसंक्लिष्टः, औदारिकद्विकातपोद्योतनाम्नां तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो जघन्यरसबन्धं करोति,तस्य जघन्यरसबन्धस्थानं तदुत्तरमनन्तभागाधिक-जघन्यस्थानं चाधिकृत्य पदत्रयसत्कस्वामित्वभावना कार्येति। एवं सर्वत्रापि यथासंभव स्वामित्वं विज्ञेयमिति। तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्तु स्वस्थानविशुद्धस्य तेजोवायुकायिकस्य जघन्यरसबन्ध इति। शेषाणां सप्तचत्वारिंशतो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः परावर्तमानमध्यमपरिणामा विज्ञेया इति। ता नामत इमाः—वेदनीयद्विका-ऽऽयुष्कचतुष्क-नरकद्विक-मनुष्यद्विक-देवद्विकै-केन्द्रियादि-जातिचतुष्कसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्कस्थावरदशकनामान्युच्चैर्गोत्रं चेति।

पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्त-तिरश्चीमार्गणात्रिके बन्धप्रायोग्याणामेकविंश-त्युत्तरशतस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनस्तिर्यग्गत्योघवद्विज्ञेयाः, केवलं तिर्यग्द्विकनीचै-र्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन भवति, अतो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनः परावर्तमानमध्यमपरिणामा विज्ञेयाः, यतोऽत्र परावर्तमध्यमपरिणामेन पञ्चाशत्प्रकृ-तीनां जघन्यरसो बध्यते।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् अपर्याप्तमनुष्यः सप्तपृथ्वीकायमार्गणा-सप्ता-प्कायमार्गणा-वनस्पतिकायसत्कैकादशमार्गणा-नवविकलाक्षा ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायाइत्येवमष्टात्रिंशद् मार्गणास्तास्वौदारिकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरु-लघुनिर्माणनाम्नां तीव्रसंक्लिष्टः; औदारिकाङ्गोपाङ्गपराघातोच्छ्वासातपोद्योतनाम्नां तत्प्रा-योग्यसंक्लिष्टो जघन्यरसबन्धं करोति, मतिज्ञानावरणादित्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनां

हास्यरतिपुरुषवेदानां चेति षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां मार्गणाप्रायोग्यतीव्रविशुद्धः स्वस्थानस्थो जघन्यरसबन्धं करोति । शोकारतिस्त्रीनपुंसकवेदानां प्रकृतीनां स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धो जघन्यरसबन्धं करोति । शेषाणां परावर्तमानेन जघन्यरसबन्धं करोति, ताः परावर्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धवत्यः प्रकृतयः पुनर्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां दर्शिताः पञ्चाशत् ता एव देवत्रिकनरकत्रिकप्रथमसंहननपञ्चेन्द्रियजातिसहिता एकोनपञ्चाशदिति । आसु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य श्रेणिमभिमुखावस्थां च विहायान्यत्र भावेन जघन्यरसबन्धस्थानं तदनन्तरं विद्यमानानन्तभागोत्तरं च स्थानमवलम्ब्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो विज्ञेया इति ।

एकेन्द्रियसप्तकसप्तमार्गणास्वेवमेव, केवलं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानतीव्रविशुद्धतेजोवायुकायिकस्यैव भावेन तदपेक्षया तीव्रविशुद्धाः त्रिविधस्वामिनो वाच्याः । अत एव परावर्तमानप्रकृतिषु तिसृणां वर्जनात् षट्चत्वारिंशदिति । यथैकेन्द्रिय-भेदेषु जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः प्राप्यन्ते तथैव **सप्ततेजस्कायभेदेषु सप्तवायु-कायभेदेषु** च बन्धप्रायोग्याणां स्वामित्वं विज्ञेयम् , केवलं प्रस्तुतचतुर्दशमार्गणासु मनुष्य-त्रिकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धाभावेन परावर्तमानपरिणामे जघन्यरसबन्धा द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयो वाच्या इति ।

मनुष्यमार्गणात्रये सर्वासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वमोघवद्भवति, केवलमौदारिकद्विकातपोद्योतनाम्नां सर्वसंक्लिष्टस्य बन्धाभावेन तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टापेक्षया स्वामित्वं प्राप्यत इति । तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरोघे सप्तमनारकापेक्षया त्रिविधस्वामिनो गदिताः, किन्तु प्रस्तुते उक्तप्रकृतित्रयस्य जघन्यरसबन्धः परावर्तमानपरिणामेन भवति, अतः प्रस्तुते परावर्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धकानाश्रित्य स्वामित्वभावना कार्येति, प्रस्तुते परावर्त-माने जघन्यरसबन्धाः प्रकृतयः पञ्चाशत् ; ताश्च पुनः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावद् भवन्तीति ।

देवौघे स्त्यानर्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो नरकमार्गणावद् विज्ञेयाः, जिननाम्नोऽविरतसम्यग्दृष्टिः स्वस्थानसंक्लिष्टो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि करोति, पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणा-ऽऽतपोद्योतत्रसचतुष्काणामेकोनविंशतेः स्वस्थानसर्वसंक्लिष्टा जघन्यवृद्ध्यादित्रयाणां स्वामिनो भवन्तीति । चतुर्थगुणस्थाने बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चत्रिंशदशुभध्रुव-बन्धिप्रकृतीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां चेत्यष्टात्रिंशतोऽविरतसम्यग्दृष्टिः स्वस्थानतीव्रविशुद्धो जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामी भवति, शोकारत्योः स एव, परं तत्प्रायोग्यविशुद्धः । स्त्रीनपुंसक-वेदयोस्तु स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धो जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी भवति । शेषाणां सातवेदनीया-

दीनामष्टात्रिंशतः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यबन्धस्वामिनमनुसृत्य जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामिनो विज्ञेया इति । शेषाः प्रकृतयो नामत इमाः—वेदनीयद्वयं मनुष्यायुस्तिर्यगायुष्कद्वय तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकैकेन्द्रियजातिसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्कस्थावरनामाऽस्थिर-षट्कनामानि गोत्रद्वयं चेति ।

भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कमार्गणास्वेवमेव, नवरं जिननाम्नो बन्धो नास्ति, पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्जघन्यरसबन्धः परावर्तमानपरिणामेन भवत्यतस्तदनुसारेण जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामिनो भावनीयाः । अतः परावर्तमानपरिणामेनात्र जघन्यरसबन्धाः प्रकृतयश्चत्वारिंशद् भवन्तीति । अत एव च स्वस्थानसंक्लिष्टानां जघन्यरसबन्धवत्यः प्रकृतयोऽत्र सप्तदशेति, तत्रापि औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामिनो भवन्तीति ।

सौधर्मेशानमार्गणाद्वये भवनपतिवदेत्र जघन्यवृद्ध्यादिस्वामिनो विज्ञेयाः, केवलमत्र जिननाम्नो बन्धभावेन तस्य जघन्यवृद्ध्यादिस्वामिनो देवौघवद् बोध्या इति । **सनत्कुमारादि-सहस्रारान्ता मार्गणा** प्रथमनरकवत् सर्वासां जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामित्वमवधार्यमिति । **आनतादिनवग्रैवेयकान्ता** मिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो नरकौघवद् विज्ञेयाः । जिननाम्नोऽविरतसम्यग्दृष्टिस्वस्थानसंक्लिष्टः । पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणत्रस--चतुष्काणां मनुष्यद्विकस्य चेत्येकोनविंशतेर्मिथ्यादृष्टिः स्वस्थानसंक्लिष्टो जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी विज्ञेयः । मतिज्ञानावरणादीनामशुभध्रुवबन्धिनीनां चतुर्थगुणस्थाने जघन्यरसबन्धप्रायोग्याणां पञ्चत्रिंशतो हास्यरतिपुरुषवेदानां चेत्यष्टात्रिंशतः स्वस्थानतीव्रविशुद्धोऽविरतसम्यग्दृष्टिः जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी भवति । शोकारत्योस्तु स एव तत्प्रायोग्यविशुद्धः । स्त्रीनपुंसकवेदयोस्तु तत्प्रायोग्यविशुद्धमिथ्यादृष्टिर्जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी भवति । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यरसबन्धानां स परावर्तमानपरिणामो जघन्यवृद्ध्यादित्रयाणां स्वामी भवति । ताः प्रकृतयो नामत इमाः-वेदनीयद्वय-गोत्रद्वय-मनुष्यायुः-संहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्कास्थिरषट्कनामानीति ।

हास्यरतिपुरुषवेदानां चेति षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां मार्गणाप्रायोग्यतीव्रविशुद्धः स्वस्थानस्थो जघन्यरसबन्धं करोति । शोकारतिस्त्रीनपुंसकवेदानां प्रकृतीनां स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धो जघन्यरसबन्धं करोति । शेषाणां परावर्तमानेन जघन्यरसबन्धं करोति, ता: परावर्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धवत्यः प्रकृतयः पुनर्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां दर्शिताः पञ्चाशत् ता एव देवत्रिकनरकत्रिकयजोत्रसचतुष्कपञ्चेन्द्रियजातिसहिता एकोनपञ्चाशदिति । आसु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य श्रेणिमभिमुखावस्थां च विहायान्यत्र भावेन जघन्यरसबन्धस्थानं तदनन्तरं विद्यमानानन्तभागोत्तरं च स्थानमवलम्ब्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो विज्ञेया इति ।

एकेन्द्रियसूक्ष्मसमार्गणास्वेवमेव, केवलं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानतीव्रविशुद्धतेजोवायुकायिकस्यैव भावेन तदपेक्षया तीव्रविशुद्धाः त्रिविधस्वामिनो वाच्याः । अत एव परावर्तमानप्रकृतिषु तिसृणां वर्जनात् षट्चत्वारिंशदिति । यथैकेन्द्रियभेदेषु जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः प्राप्यन्ते तथैव **सप्ततेजस्कायभेदेषु सप्तवायुकायभेदेषु** च बन्धप्रायोग्याणां स्वामित्वं विज्ञेयम् , केवल प्रस्तुतचतुर्दशमार्गणासु मनुष्यत्रिकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धाभावेन परावर्तमानपरिणामे जघन्यरसबन्धा द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयो वाच्या इति ।

मनुष्यमार्गणात्रये सर्वासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वमोघवद्भवति, केवलमौदारिकद्विकातपोद्योतनाम्नां सर्वसंक्लिष्टस्य बन्धाभावेन तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टापेक्षया स्वामित्वं प्राप्यत इति । तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरोघे सप्तमनारकापेक्षया त्रिविधस्वामिनो गदिताः, किन्तु प्रस्तुते उक्तप्रकृतित्रयस्य जघन्यरसबन्धः परावर्तमानपरिणामेन भवति, अतः प्रस्तुते परावर्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धकानाश्रित्य स्वामित्वभावना कार्येति, प्रस्तुते परावर्तमाने जघन्यरसबन्धाः प्रकृतयः पञ्चाशत् ; ताश्च पुनः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावद् भवन्तीति ।

देवौघे स्त्यानर्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो नरकमार्गणावद् विज्ञेयाः, जिननाम्नोऽविरतसम्यग्दृष्टिः स्वस्थानसंक्लिष्टो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि करोति, पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणाऽऽतपोद्योतत्रसचतुष्काणामेकोनविंशतेः स्वस्थानसर्वसंक्लिष्टा जघन्यवृद्ध्यादित्रयाणां स्वामिनो भवन्तीति । चतुर्थगुणस्थाने बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चत्रिंशदशुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां चेत्यष्टात्रिंशतोऽविरतसम्यग्दृष्टिः स्वस्थानतीव्रविशुद्धो जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामी भवति, शोकारत्योः स एव, परं तत्प्रायोग्यविशुद्धः । स्त्रीनपुंसकवेदयोस्तु स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धो जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी भवति । शेषाणां सातवेदनीया-

दीनामष्टात्रिंशतः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यबन्धस्वामिनमनुसृत्य जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामिनो विज्ञेया इति। शेषाः प्रकृतयो नामत इमाः—वेदनीयद्वयं मनुष्यायुस्तिर्यगायुष्कद्वयं तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकैकेन्द्रियजातिसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्कस्थावरनामाऽस्थिरषट्कनामानि गोत्रद्वयं चेति।

भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कमार्गणास्वेवमेव, नवरं जिननाम्नो बन्धो नास्ति, पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्जघन्यरसबन्धः परावर्तमानपरिणामेन भवत्यतस्तदनुसारेण जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामिनो भावनीयाः। अतः परावर्तमानपरिणामेनात्र जघन्यरसबन्धाः प्रकृतयश्चत्वारिंशद् भवन्तीति। अत एव च स्वस्थानसंक्लिष्टानां जघन्यरसबन्धवत्यः प्रकृतयोऽत्र सप्तदशेति, तत्रापि औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामिनो भवन्तीति।

सौधर्मेशानमार्गणाद्वये भवनपतिवदेव जघन्यवृद्ध्यादिस्वामिनो विज्ञेयाः, केवलमत्र जिननाम्नो बन्धभावेन तस्य जघन्यवृद्ध्यादिस्वामिनो देवौघवद् बोध्या इति। **सनत्कुमारादि-सहस्रारान्ता मार्गणा** प्रथमनरकवत् सर्वासां जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामित्वमवधार्यमिति। **आनतादिनवमग्रैवेयकान्ता** मिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो नरकौघवद् विज्ञेयाः। जिननाम्नोऽविरतसम्यग्दृष्टिस्वस्थानसंक्लिष्टः। पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणत्रस-चतुष्काणां मनुष्यद्विकस्य चेत्येकोनविंशतेर्मिथ्यादृष्टिः स्वस्थानसंक्लिष्टो जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी विज्ञेयः। मतिज्ञानावरणादीनामशुभध्रुवबन्धिनीनां चतुर्थगुणस्थाने जघन्यरसबन्धप्रायोग्याणां पञ्चत्रिंशतो हास्यरतिपुरुषवेदानां चेत्यष्टात्रिंशतः स्वस्थानतीव्रविशुद्धोऽविरतसम्यग्दृष्टिः जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी भवति। शोकारत्योस्तु स एव तत्प्रायोग्यविशुद्धः। स्त्रीनपुंसकवेदयोस्तु तत्प्रायोग्यविशुद्धमिथ्यादृष्टिर्जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी भवति। शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यरसबन्धानां स परावर्तमानपरिणामो जघन्यवृद्ध्यादित्रयाणां स्वामी भवति। ताः प्रकृतयो नामत इमाः-वेदनीयद्वय-गोत्रद्वय-मनुष्यायुः-संहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्कास्थिरषट्कनामानीति।

पञ्चानुत्तरमार्गणासु मतिज्ञानावरणादीनामष्टात्रिंशतः शोकारत्योः सातासातस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नां मनुष्यायुषश्चानतादिमार्गणावद् जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो विज्ञेया इति। स्वस्थानसंक्लेशेन जघन्यरसबन्धाः प्रकृतयो मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिशुभवर्ण---

चतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणत्रसचतुष्कसुभगत्रिकजिननामानीति षड्विंशतिप्रकृतयस्तासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि स्वस्थानसंक्लिष्टस्य भवतीति। अत्र केवलं चतुर्थगुणस्थानकस्यैव भावेन तत्रापि मिथ्यात्वाभिमुखानामभावेन स्वस्थानसंक्लिष्टाविरतसम्यग्दृष्टिर्जघन्यरसबन्धस्वामिवज्जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामी विज्ञेय इति भावः।

त्रसकायौघ--पर्याप्तत्रसकाय--पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघ ायचतुष्क चक्षुदर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-सञ्ज्याहारकमार्गणासु त्रयोविंशतौ चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् विज्ञेयाः, ओघोक्तस्वामिनामत्र लाभात्, केवलं कषायत्रिके यः कश्चिद्विशेषः स स्वयं परिभावनीय इति।

औदारिककाययोगे सर्वासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन यथासम्भवमोघवद् भवन्ति, केवलं तिर्यग्द्विकस्य नीचैर्गोत्रस्य च जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसर्वविशुद्धतेजोवायुकायिकानां भावेन जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनस्त एव भवन्ति, अतो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि तुल्यानि भवन्ति इत्येतावानोघतो विशेषः।

औदारिकमिश्रे स्वस्थाने संक्लिष्टत्वविशुद्धत्वयोरभ्युपगमे स्वप्रायोग्याणामेकेन्द्रियमार्गणावज्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो विज्ञेयाः, केवलं देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां तु स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टाविरतसम्यग्दृष्टिर्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामी भवति। शरीरपर्याप्तिप्राक्क्षण एव मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठसंक्लेशविशुद्धी प्राप्येते इत्येवं स्वीकर्तुं मते संक्लेशेन जघन्यरसबन्धानामौदारिक--द्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणातपोद्योतनाम्नां चतुर्दशानां देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां पञ्चानां चेत्येकोनविंशतेस्तथा विशुद्धौ जघन्यरसबन्धानां मतिज्ञानावरणादित्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां शोकारत्योः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्चेति पञ्चाशतः समुदितानामेकोनसप्ततेर्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वयं बहुश्रुतेभ्यः परिभावनीया इति।

वैक्रियकाययोगे नरकौघवद् बन्धप्रायोग्याणां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो विज्ञेयाः, केवलं नरकगतावेकेन्द्रियस्थावरातपनाम्ना बन्धो नास्ति अतस्तासां त्रयाणां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो देवौघवद्विज्ञेयाः, आतपस्य संक्लिष्टः, एकेन्द्रियस्थावरयोः परावर्तमानमध्यमपरिणाम इति, विशेषस्तु स्वयमेव परिभावनीयः।

वैक्रियमिश्रयोगे पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणातपोद्योतत्रसचतुष्कनामानि, आसां मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टस्य

मिथ्यादृष्टेर्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामित्वं भवति, जिननाम्नोऽविरतसम्यग्दृष्टेः सम्भवत्तीव्रसंक्लिष्टस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वं भवति। मतिज्ञानावरणादीनां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां शोकारतिस्त्रीवेदनपुंसकवेदानां चेति पञ्चाशत्प्रकृतीनां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च तत्तद्बन्धकेषु स्वस्थानसर्वविशुद्ध आसां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामी भवति। उक्तत्रिसप्ततिप्रकृतीनां शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्राक्समये ज्येष्ठसंक्लेशविशुद्धयोरभ्युपगन्तुर्मतेन स्वामित्वं स्वयं परिभावनीयमिति। शेषाणां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यरसबन्धस्य लाभेन त एव जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानरसबन्धानां स्वामिनो विज्ञेयाः, उभयमतेनासां जघन्यरसबन्धस्वामित्वे भेदाभावात्। शेषास्त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः-वेदनीयद्वयोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकैकेन्द्रियजातिसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थावरस्थिरषट्कास्थिरषट्कनामानीति।

आहारककाययोगे तन्मिश्रयोगे च देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिनामशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणजिननामत्रसचतुष्कसुभगत्रिकरूपाणामुच्चैर्गोत्रस्य चेति षड्विंशतेः स्वस्थाने यथासम्भवं तीव्रसंक्लिष्टस्य जघन्यरसबन्धभावेन ते जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो भवन्ति, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्साहास्यरतिपुरुषवेदाशुभवर्णचतुष्कोपघातान्तरायपञ्चकानि, आसां त्रिंशत्प्रकृतीनां स्वस्थानतीव्रविशुद्धा जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो भवन्ति, शोकारत्योस्तत्प्रायोग्यविशुद्धा इति। सातासातस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनामानि देवायुश्चाऽऽसां परावर्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धो भवत्यतो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वं तत्रैव भवतीति। अत्राऽऽहारकमिश्रे तीव्रसंक्लेशस्य तीव्रविशुद्धेश्च शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्राक्समय एव सद्भाव इति मते तु संक्लेशविशुद्धौ जघन्यरसबन्धानां प्रकृतीनां स्वामित्वं स्वयं परिभावनीयमिति।

कार्मणकाययोगाऽनाहारकमार्गणयोः ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्काद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्साशुभवर्णचतुष्कोपघातान्तरायपञ्चकानि हास्यरतिपुरुषवेदाश्चेत्यष्टात्रिंशत्प्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टिस्तीव्रविशुद्धो मार्गणाद्वितीयसमये जघन्यां वृद्धिं हानिं वा करोति। शोकारत्योस्तत्प्रायोग्यविशुद्धाविरतसम्यग्दृष्टयो मार्गणाद्वितीयसमये तयोः स्वामिनो भवन्ति। स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वप्रकृतीनां तथा स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मार्गणाद्वितीयसमये जघन्यवृद्धिं हानिं वा करोति। तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च तत्प्रायोग्यविशुद्धः सप्तमनारको मार्गणाद्वितीयसमये जघन्यां वृद्धिं हानिं वा करोति। पञ्चे-

न्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघु पराघातोच्छ्वासनिर्माणातपोद्योतत्रसचतुष्काणामेकोनविंशतिप्रकृतीनां तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्मार्गणाद्वितीयसमये जघन्यवृद्धिं हानिं वा करोति। देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां पञ्चानामविरतसम्यग्दृष्टिः तत्प्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टो मार्गणाद्वितीयसमये जघन्यवृद्धिहान्योः स्वामी भवति। शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन भावात् तासां जघन्यहानिवृद्ध्योः स्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामी भवति, स च मार्गणाद्वितीयसमये तृतीयसमये वा वर्तमानो विज्ञेयः इति। शेषाः प्रकृतयो नामत इमाः—वेदनीयद्विक-गोत्रद्विक-मनुष्यद्विक-जातिचतुष्क-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-स्थिरषट्क-स्थावरदशकनामानीति। उक्तमार्गणाद्वयेऽवस्थानबन्धस्य स्वामित्वं मूलगाथया दर्शितम् तत्रैव वृत्तौ भावितमिति।

स्त्रीवेदमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो मनुष्यौघमार्गणावद्विज्ञेयाः, केवलं ज्ञानावरणाद्यष्टादशानां नवमदशमगुणस्थानकयोर्जघन्यरसबन्धानां बध्यमानध्रुवबन्धिप्रकृतीनां मार्गणाचरमसमयादिगता जघन्यवृद्धिहान्यादिस्वामिनो वक्तव्या इति।

पुरुषवेदमार्गणायामोघवज्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो विज्ञेयाः, केवलं जघन्यहानिमधिकृत्य ज्ञानावरणाद्यष्टादशप्रकृतीनां भावना मार्गणाचरमसमयस्थितमपेक्ष्य कार्या। तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः प्रस्तुते सप्तमनारकाणां तेजोवायुकायिकानां चाप्रवेशात् परावर्तमानमध्यमपरिणामेन त्रयाणां जघन्यरसबन्धस्य निर्वर्तनात्ते तासां जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामिनो विज्ञेया इति।

नपुंसकवेदमार्गणायां स्त्रीवेदवज्जघन्यवृद्ध्यादिस्वामिनो विज्ञेयाः, केवलं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यवृद्ध्यादिस्वामिन ओघवद् भवन्ति, ओघोक्तजघन्यरसबन्धस्वामिनां सप्तमनरकरूपाणां स्त्रीवेदमार्गणायामप्रवेशेऽप्यत्र प्रवेशात्।

अपगतवेदमार्गणायां ज्ञानावरणाद्यष्टादशशुभप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्योः स्वाम्योघवद् भवति, सातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राणां जघन्यवृद्धिरारोहकोपशमकानां मार्गणाद्वितीयसमये भवति, जघन्या हानिस्तु श्रेणितोऽवरोहकाणामुपशमकानां मार्गणाचरमसमये भवति। अवस्थानं त्वत्र नैव सम्भवतीति।

मतिश्रुतावधिज्ञानमार्गणात्रयेऽवधिदर्शनमार्गणायां सम्यक्त्वौघे चेति पञ्चसु मार्गणासु श्रेणौ जघन्यरसबन्धानां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-संज्वलनचतुष्क-हास्य रतिभयजुगुप्सा-पुरुषवेदा-ऽशुभवर्णचतुष्कोपघातान्तरायपञ्चकानां त्रिंशतस्तथा प्रत्याख्यानावरणचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्कयोः शोकारत्योराहारकद्विकजिननाम्नोश्चेति द्विचत्वारिंशतो जघन्य वृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, ओघेऽप्यासां जघन्यवृद्ध्यादिस्वामिनां सम्यग्दृष्टि-

त्वात् । मनुष्यद्विकदेवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरवज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगतिशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणजिननाम-त्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामान्युच्चैर्गोत्रं चेत्येकत्रिंशत्प्रकृतयस्तासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो यथौघे जिननाम्नो निरूपितास्तथैव द्रष्टव्याः, तद्यथा—आसां जघन्यहानिमविरतसम्यग्दृष्टिर्मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणाचरमसमये करोति, जघन्यां वृद्धिं तु स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिस्तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कृत्वा ततोऽनन्तभागविशुद्धः सन् करोति, तदनन्तरं चावस्थानं कुर्वन् स एव जघन्यावस्थानस्य स्वामी विज्ञेयः । सातासातवेदनीयस्थिरास्थिरशुभाशुभयश:कीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नां देवमनुष्यायुषोश्चेति दशानां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामानां भावेन जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां ते स्वामिनो भवन्तीति ।

मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां ज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिन ओघवद् भवन्ति, एवमाहारकद्विकस्य शोकारत्योश्च । देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणजिननामत्रसचतुष्कसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां षड्विंशतिप्रकृतीनां जघन्यां हानिमविरतगुणाभिमुखो मार्गणाचरमसमये तीव्रसंक्लिष्टः करोति, अत्र मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां मिथ्यात्वाभिमुखत्वाभावादविरतगुणाभिमुखस्य कथनमिति । जघन्यां वृद्धिमवस्थानं च स्वस्थानसंक्लिष्टः करोतीति । सातवेदनीयाद्यष्टानां देवायुषश्च प्रमत्तसंयतः परावर्तमानपरिणामेषु जघन्यपरिणामो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि करोति ।

संयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणात्रये मतिज्ञानावरणादित्रिंशदशुभप्रकृतीनां श्रेणौ यासां जघन्यवृद्धिर्हानिश्च भवतः तासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिन ओघवद् भवन्ति, केवलं सामायिकच्छेदोपस्थानीयसंयमद्वये मतिज्ञानावरणादिचतुर्दशानां नवमगुणस्थानकप्रान्तकालमपेक्ष्य भावना संज्वलनलोभेन सह कार्या, यत उक्तमार्गणाद्वये दशमगुणस्थानकस्यैवाभाव इति । शेषाणामाहारकद्विकस्य शोकारत्योर्देवद्विकादिषड्विंशतेः सातवेदनीयादीनां नवानां च जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो मनःपर्यवज्ञानमार्गणावद्विज्ञेयाः, केवलं तत्र देवद्विकादिप्रकृतीनां जघन्यहानिस्वामित्वं चतुर्थगुणस्थानाभिमुखानां दर्शितम्, प्रस्तुते तु तासां जिननाम विहाय पञ्चविंशतेर्मिथ्यात्वाभिमुखानां जघन्यहानेः स्वामित्वं प्राप्यत इति । जिननाम्नस्तु तद्बन्धकसंयमिनां स्वभावत एव मिथ्यात्वाभिमुखत्वं नास्तीति विशेषः ।

परिहारविशुद्धिकमार्गणायां मतिज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां स्वस्थानतीव्रविशुद्धोऽप्रमत्तसंयतो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामी भवति । शोकारत्योः स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धः

प्रमत्तसंयतो जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी विज्ञेयः। आहारकद्विकस्यौघवज्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो भवन्ति। देवद्विकादिषड्विंशतेः शुभप्रकृतीनां जघन्या हानिस्तु छेदोपस्थापनीयाभिमुखानां मार्गणाचरमसमये भवति, जघन्यवृद्ध्यवस्थानस्वामी पुनः स्वस्थानसंक्लिष्टो मनःपर्यायज्ञानमार्गणावद् विज्ञेयः, सातवेदनीयादिनवप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो मनःपर्यायज्ञानमार्गणावद् विज्ञेया इति।

सूक्ष्मसंपरायसंयतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्योः स्वामिनोऽपगतवेदमार्गणावद् भवन्ति। तद्यथा—ज्ञानावरणादिचतुर्दशानामोघवज्जघन्यवृद्धिहान्योः स्वामित्वं भवति, सातवेदनीयादित्रयाणामारोहकोपशामकस्य मार्गणाप्रथमसमयतो द्वितीयसमयं प्राप्तस्य जघन्या वृद्धिर्भवति, उपशमश्रेणितोऽवरोहकस्य मार्गणाद्विचरमसमयबन्धतश्चरमसमयबन्धे जघन्या हानिः प्राप्यत इति, अवस्थानं त्वत्र नैव भवतीति।

देशविरतिमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्साहास्यरतिपुरुषवेदाशुभवर्णचतुष्कोपघातान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यां हानिं संयमाभिमुखो मार्गणाचरमसमये करोति, आसां चतुस्त्रिंशतो जघन्यवृद्धिं संयमतः प्रपतन् तत्प्रायोग्यजघन्यसंक्लिष्टो देशविरतिं प्राप्य बन्धद्वितीयसमये करोति। जघन्यावस्थानं स्वस्थानतीव्रविशुद्धस्य भवति, शोकारत्योर्जघन्यहानिवृद्ध्यवस्थानानि तत्प्रायोग्यविशुद्धः करोति। देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणत्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामान्युच्चैर्गोत्रं चेति पञ्चविंशतिप्रकृतयस्तासां जघन्या हानिर्मिथ्यात्वाभिमुखस्य मार्गणाचरमसमये भवति, जिननाम्नः पुनर्जघन्या हानिरविरतसम्यक्त्वाभिमुखस्य मार्गणाचरमसमये भवति। जघन्यवृद्ध्यवस्थाने स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टस्य भवतः। सातासातवेदनीयस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नां देवायुषश्च परावर्तमध्यमपरिणामेन जघन्यवृद्ध्यादित्रयं करोतीति।

कृष्णलेश्यामार्गणायां मिथ्यात्वाद्यष्टानां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेत्येकादशानां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनो नरकौघवद्विज्ञेयाः। आसां जघन्या हानिः सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां मिथ्यात्वचरमसमये भवति। जघन्या वृद्धिः सम्यक्त्वतः प्रपततो बन्धद्वितीयसमये भवति। जघन्यावस्थानं तु स्वस्थानतीव्रविशुद्धस्य भवति। जिननाम्नो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद्विज्ञेयाः। तद्यथा—मिथ्यात्वाभिमुखो जघन्यहानेः स्वामी भवति, स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्जघन्यवृद्धेरवस्थानस्य च स्वामी भवतीति। पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासातपोद्योतनि-

मार्गणत्रसचतुष्काणामेकत्रिंशतेर्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद्विज्ञेयाः, ओघोक्तस्वामिनामत्र प्रवेशात् । मतिज्ञानावरणादित्रिशत्प्रकृतीनामप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कयोः शोकारतिस्त्रीनपुंसकवेदाना चेति द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानाना स्वामिनः सप्तमनरकमार्गणावद्विज्ञेयाः, तेषामस्यामां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां लाभात् । शेषाणां सातवेदनीयादीनां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धः परावर्तमानपरिणामेन भवत्यतस्तासां जघन्यवृद्ध्यादिस्वामिनस्त एव ज्ञातव्याः, ते चौघवदित्योघतो विभावनीया इति । ओघेऽपि एता एव प्रकृतयो भवन्तीत्यासां नामान्यप्योघत एवावसातव्यानि ।

एवमेव **नीललेश्यायां कापोतलेश्यायां च** स्वामित्वमवधार्यम् , केवलं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि स्वस्थानविशुद्धस्तेजोवायुकायिका निर्वर्तयन्ते, तथा वैक्रियद्विकस्य संज्ञिनस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाः इति विशेषः ।

तेजोलेश्यायाम् अनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानामप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणचतुष्कयोश्चौघवत् संयमाभिमुखो जघन्यां हानिं करोति, जघन्ये वृद्ध्यवस्थाने त्वोघवत् स्वस्थानविशुद्धो निर्वर्तयति।आहारकद्विकस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद्भवन्ति । मतिज्ञानावरणादित्रिशत्प्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि स्वस्थानतीव्रविशुद्धोऽप्रमत्तसंयतः करोति, शोकारत्योर्जघन्यवृद्ध्यादित्रयं स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तसंयतः करोति । स्त्रीनपुंसकवेदयोर्जघन्यवृद्ध्यादित्रयं स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः करोति। औदारिकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणातपोद्योतबादरत्रिकाणां षोडशप्रकृतीनां तीव्रसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिदेवा जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो भवन्ति । जिननाम्नस्तु अविरतसम्यग्दृष्टिस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः स्वस्थानस्थो देवो जघन्यवृद्ध्यादित्रयं करोति, औदारिकाङ्गोपाङ्गस्य वैक्रियद्विकस्य च तत्प्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिर्जघन्यवृद्ध्यादित्रयस्य स्वामी भवति । शेषाणां सातासातवेदनीयोच्चैर्नीचैर्गोत्रतिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकदेवद्विकैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयत्रसस्थावरस्थिरषट्कास्थिरषट्कनामानि देवमनुष्यतिर्यगायूंषि चेति तासां त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यरसबन्धभावेन त एव जघन्यवृद्ध्यादित्रयस्य स्वामिनो विज्ञेयाः ।

एवं **पद्मलेश्यामार्गणायामपि**, केवलमौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य तत्र तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वेऽप्यत्र तीव्रसंक्लिष्टः, पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोस्तत्र परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यरसबन्धकत्वेऽपि प्रस्तुत एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोर्बन्धाभावेन पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोस्तीव्रसंक्लिष्टो जघन्यवृद्ध्यादित्रयं करोति । तथा परावर्तमानपरिणामेन जघन्यवृद्ध्यादिस्वामिकाः प्रकृतयः पुनरत्रैकेन्द्रियस्थावरनाम्नोर्बन्धाभावात् पञ्चेन्द्रियत्रसनाम्नोः पृथग्दर्शितत्वाच्च तद्वर्जा-

स्तेजोलेश्यामार्गणोक्ता एकोनचत्वारिंशदिति । अत्र पद्मलेश्यायामातपनाम्नो बन्धाभावात् स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टजघन्यरसबन्धासु ता न भणनीया इति ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां मतिज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां तथा स्त्यानर्धित्रिकादि-षोडशध्रुवबन्धिप्रकृतीनामाहारकद्विकस्य च जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद्विज्ञेयाः, एवं शोकारत्योः । स्त्रीनपुंसकवेदयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्देवो जघन्यवृद्ध्यादित्रयं करोति, जिननाम्नः स्वस्थानतत्प्रायोग्यसंक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्देवो जघन्यवृद्ध्यादित्रयस्य स्वामी भवतीति । पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वास

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां श्रेणौ जघन्यरसबन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादित्रिंशदशुभप्रकृतीनां मध्यमकषायाष्टकस्याहारकद्विकस्य शोकारत्योश्च जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, केवलं जघन्यहानौ क्षपकश्रेणिस्थान उपशमश्रेणिर्वाच्या इति । देवद्विकादित्रिंशतः शुभप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो मत्यादिज्ञानत्रयमार्गणावद् भवन्ति, ताः प्रकृत्योऽपि जिननाम विहाय तत्रोक्ता एवात्राप्यवगातव्या इति । जिननाम्नः पुनर्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थानसंक्लिष्टा अविरतसम्यग्दृष्टिमनुष्या', अत्र उपशमश्रेणियोग्योपशमसम्यक्त्ववतामेवास्य बन्धभावेन नरकायुष्कसत्ताकानां तूपशमश्रेणियोग्योपशमसम्यक्त्वस्यैवासंभवेन च जिननामबन्धकानां मिथ्यात्वाभिमुखत्वं न सम्भवति, अत. स्वस्थानसंक्लिष्टत्वं दर्शितम्, विशेषतस्तु जघन्यरसबन्धस्वामित्वानुसारेण भावनीयमिति । सातासातवेदनीयस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नामष्टानां परावर्तमानपरिणामी जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामी भवति ।

क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मतिज्ञानादिमार्गणावत्सर्वासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वमवगातव्यम् , केवलं मतिज्ञानावरणादित्रिंशदशुभप्रकृतीनां श्रेणौ जघन्यरसबन्धप्रायोग्याणां तत्र जघन्यवृद्धिहान्योः स्वामिन ओघवद् भावेऽपि प्रस्तुते श्रेणेरेवाभावात्स्वस्थानतीव्रविशुद्धाप्रमत्तसंयतास्तासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो भवन्ति ।

क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मतिज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां मध्यमकषायाष्टकस्याहारकद्विकस्य शोकारत्योश्चौघवज्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वं भवति । सातवेदनीयाद्यष्टानां देवमनुष्यायुषोश्च जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः परावर्तमानमध्यमपरिणामा जघन्यरसबन्धस्थानगतास्तदासन्ना वा विज्ञेया इति । देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-तैजसकार्मणशरीर-समचतुरस्र सुखगति-शुभवर्णचतुष्का-गुरुलघुपराघातोच्छ्वासजिननाम-निर्माण-त्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपा एकत्रिंशत्प्रकृतयः, प्रस्तुतमार्गणायां चतुर्थगुणस्थानतोऽधस्ताद् गमनाभावादविरतसम्यग्दृष्टिः स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्ट आसां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामी भवतीति मतिज्ञानादिमार्गणातः प्रस्तुते विशेषः ।

सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्का-द्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्साहास्यरतिपुरुषवेदाशुभवर्णचतुष्कोपघातान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां सम्यक्त्वाभिमुखस्य मार्गणाचरमसमये जघन्या हानिर्भवति, जघन्यवृद्धि तु सम्यक्त्वतः पतित्वा बन्धद्वितीयसमये तत्प्रायोग्यजघन्यसंक्लेशवान् करोति । जघन्यावस्थानं तु स्वस्थानविशुद्धस्य प्राप्यते । देवद्विक-मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विक-वैक्रियद्विक-तैजसकार्मणशरीर-

स्तेजोलेश्यामार्गणोक्ता एकोनचत्वारिंशदिति । अत्र पद्मलेश्यायामातपनाम्नो बन्धाभावात् स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टजघन्यरसबन्धासु ता न भणनीया इति ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां मतिज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां तथा स्त्यानर्धित्रिकादिषोडशध्रुवबन्धिप्रकृतीनामाहारकद्विकस्य च जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद्विज्ञेयाः, एवं शोकारत्योः । स्त्रीनपुंसकवेदयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्देवो जघन्यवृद्ध्यादित्रयं करोति, जिननाम्नः स्वस्थानतत्प्रायोग्यसंक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्देवो जघन्यवृद्ध्यादित्रयस्य स्वामी भवतीति । पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वास निर्माणत्रसचतुष्काणां सप्तदशानां मनुष्यद्विकस्य च मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टो देवो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि करोति । देवद्विकस्य वैक्रियद्विकस्य च तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मनुष्यस्तिर्यङ्वा जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी भवति । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां वेदनीयद्वयगोत्रद्वयसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्कास्थिरषट्कनामानि देवमनुष्यायुषी, एतासां द्वात्रिंशतः परावर्तमानपरिणामेन जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि प्राप्यन्त इति ।

अज्ञानत्रिके मिथ्यात्वमार्गणायां च मतिज्ञानावरणादित्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां च संयमाभिमुखमिथ्यादृष्टेर्मार्गणाचरमसमये जघन्या हानिर्भवति, जघन्या वृद्धिस्तु संयमतो मिथ्यात्वं प्राप्तस्य बन्धद्वितीयसमये, जघन्यावस्थानं तु स्वस्थानविशुद्धस्य तत्र सम्भवदनन्तभागवृद्ध्यनन्तरं भवति । तिर्यक्त्रिकनीचैर्गोत्रयोस्तु जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, ओघोक्तस्वामिनामत्र प्रवेशात् । पञ्चेन्द्रियजात्याद्येकविंशतिप्रकृतीना जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टा विज्ञेयाः, भावना त्वोघवत् कार्या, ओघोक्तस्वामिनामपि तथात्वात्, ता नामतः पुनरिमाः—पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणातपोद्योतत्रसचतुष्कनामानि । शोकारतिस्त्रीनपुंसकवेदयोर्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धस्य भवति । शेषाणां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन लाभात्तासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनस्त एव जघन्यरसबन्धस्थान तदुत्तरस्थानं चावलम्ब्य यथासम्भवं भावनीयाः । एताः सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुनरोघोक्ता एवेति तासां नामानि तत एवाधार्याणीति ।

अभव्यमार्गणायां मतिज्ञानावरणादित्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति नवचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि स्वस्थानविशुद्धस्य भवति, शेषबन्धप्रायोग्याणां स्वामित्वमज्ञानत्रिकमार्गणावद् विभावनीयमिति ।

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां श्रेणौ जघन्यरसबन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादित्रिंशदशुभप्रकृतीनां मध्यमकषायाष्टकस्याहारकद्विकस्य शोकारत्योश्च जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिन ओघवद् भवन्ति, केवलं जघन्यहानौ क्षपकश्रेणिस्थाने उपशमश्रेणिर्वाच्या इति। देवद्विकादित्रिंशतः शुभप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो मत्यादिज्ञानत्रयमार्गणावद् भवन्ति, ताः प्रकृतयोऽपि जिननाम विहाय तत्रोक्ता एवात्राप्यवगन्तव्या इति। जिननाम्नः पुनर्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः स्वस्थानसंक्लिष्टा अविरतसम्यग्दृष्टिमनुष्या, अत्र उपशमश्रेणियोग्योपशमसम्यक्त्ववतामेवास्य बन्धभावेन नरकायुष्कसत्ताकानां तूपशमश्रेणियोग्योपशमसम्यक्त्वस्यैवासंभवेन च जिननामबन्धकानां मिथ्यात्वाभिमुखत्वं न सम्भवति, अत. स्वस्थानसंक्लिष्टत्वं दर्शितम्, विशेषतस्तु जघन्यरसबन्धस्वामित्वानुसारेण भावनीयमिति। सातासातवेदनीयस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नामष्टानां परावर्तमानपरिणामी जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामी भवति।

क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मतिज्ञानादिमार्गणावत्सर्वासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वमवगन्तव्यम्, केवलं मतिज्ञानावरणादित्रिंशदशुभप्रकृतीनां श्रेणौ जघन्यरसबन्धप्रायोग्याणां तत्र जघन्यवृद्धिहान्योः स्वामिन ओघवद् भावेऽपि प्रस्तुते श्रेणेरेवाभावात्स्वस्थानतीव्रविशुद्धाप्रमत्तसंयतास्तासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो भवन्ति।

क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मतिज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां मध्यमकषायाष्टकस्याहारकद्विकस्य शोकारत्योश्चौघवज्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वं भवति। सातवेदनीयाद्यष्टानां देवमनुष्यायुषोश्च जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः परावर्तमानमध्यमपरिणामा जघन्यरसबन्धस्थानगतास्तदासन्ना वा विज्ञेया इति। देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-तैजसकार्मणशरीर-समचतुरस्र सुखगति-शुभवर्णचतुष्का-गुरुलघुपराघातोच्छ्वासजिननाम-निर्माण-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिकनामोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपा एकत्रिंशत्प्रकृतयः, प्रस्तुतमार्गणायां चतुर्थगुणस्थानतोऽधस्ताद् गमनाभावादविरतसम्यग्दृष्टिः स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्ट आसां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामी भवतीति मतिज्ञानादिमार्गणातः प्रस्तुते विशेषः।

सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्का-द्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्साहास्यरतिपुरुषवेदाशुभवर्णचतुष्कोपघातान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां सम्यक्त्वाभिमुखस्य मार्गणाचरमसमये जघन्या हानिर्भवति, जघन्यवृद्धि तु सम्यक्त्वतः पतित्वा बन्धद्वितीयसमये तत्प्रायोग्यजघन्यसंक्लेशवान् करोति। जघन्यावस्थानं तु स्वस्थानविशुद्धस्य प्राप्यते। देवद्विक-मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विक-वैक्रियद्विक-तैजसकार्मणशरीर-

वज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थान-सुखगति शुभवर्णचतुष्का-गुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माण-त्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामान्युच्चैर्गोत्रं चेति त्रिंशत्प्रकृतयः, तासां जघन्यां हानिं मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणाचरमसमये करोति, जघन्यवृद्ध्यवस्थाने तु स्वस्थानसंक्लिष्टः। शोकारत्योर्जघन्यवृद्धि-हान्यवस्थानानि तत्प्रायोग्यस्वस्थानविशुद्धो निर्वर्तयति। सातासातवेदनीयस्थिरास्थिरशुभाशुभ-यशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नां परावर्तपरिणामो जघन्यरसबन्धस्थाने तदासन्ने च स्थितो जघन्य-वृद्धिहान्यवस्थानानि करोति।

सास्वादनमार्गणायां मिथ्यात्वं विहाय मतिज्ञानावरणादीनां द्विचत्वारिंशदशुभध्रुव-बन्धिप्रकृतीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां स्वस्थानविशुद्धो जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामी भवति, मतान्तरे संयमाच्च्युतो मनुष्य इति विशेषः। तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः स्वस्थानविशुद्धः सप्तमना-रको जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामी भवति। पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकवैक्रियद्विकतैजसकार्मण-शरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणनामोद्योतत्रसचतुष्कनाम्नां मिथ्यात्वाभिमुखो जघन्यां हानिं करोति, स्वस्थानसंक्लिष्टः पुनर्जघन्यवृद्ध्यवस्थाने करोति, सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती मनुष्यद्विकं देवद्विकं सेवार्तवर्जसंहननपञ्चकं हुंडकवर्जसंस्थान-पञ्चक खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमायुष्कत्रयमुच्चैर्गोत्रं चेति चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनः परावर्तमानपरिणामा विज्ञेया इति। शोकारतिस्त्रीवेदानां तत्प्रायोग्यस्वस्थानविशुद्धो जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामी भवति।

असञ्ज्ञिमार्गणायां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां तीव्र-विशुद्धो जघन्यरसबन्धं करोति, स एव तदुत्तरानन्तभागवृद्ध्यादिस्थानापेक्षया जघन्यवृद्धिहान्य-वस्थानस्वामी विज्ञेयः, शोकारतिस्त्रीनपुंसकवेदानां तत्प्रायोग्यविशुद्धो जघन्यवृद्ध्यादित्रिविध-बन्धस्य स्वामी भवति। तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च तेजोवायुकायिकौ तीव्रविशुद्धौ जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामिनौ भवतः। औदारिकद्विकातपोद्योतनाम्नां तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियो जघन्य-वृद्ध्यादित्रिविधबन्धस्य स्वामी भवति। पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशुभवर्णचतुष्का-गुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणत्रसचतुष्करूपाणां सप्तदशानां तीव्रसंक्लिष्टः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि करोति। शेषाणां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां परावर्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धस्य भावाज्जघन्यवृद्ध्यादिपदत्रयस्यापि परावर्तमानपरिणामी जघन्यरसबन्धस्थाने तदुत्तरस्थाने च स्थितो यथासंभवं स्वामी भवतीति ॥११२--१२०॥ तदेवं मार्गणासु जघन्य-वृद्धिहान्यवस्थानस्वामिनो निरूपिताः। तदेवं गत पदनिक्षेपे स्वामित्वद्वारम्।

॥ तृतीयमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

अथ पदनिक्षेपस्वामित्वद्वारे निरूपितानामुत्कृष्टवृद्ध्यादेर्जघन्यवृद्ध्यादेश्च स्वामिनां ज्ञाने जाते ज्येष्ठवृद्ध्यादेस्तारतम्यं कियदिति स्पष्टमवगम्यते, विज्ञाते च तस्मिञ्ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानपदानामल्पबहुत्वावगमोऽनायासेन स्यादतः स्वामित्वद्वारानन्तरमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

तत्रादौ तावज्ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानामोघादेशाभ्यां बन्धप्रायोग्यप्रकृतिषु तद्वर्णयन्नाह–

ताण गुरुमवट्ठाणं सव्वप्पं जाण जेट्ठवुड्ढिए ।
खवगो तहा अहिमुहो सुहाण उज्जोअवज्जाणं ॥१२१॥
ताउ कमाऽणंतगुणा हवेज्ज जेट्ठाउ हाणिवुड्ढिओ ।
परमप्पाइं देसे परोप्परसमाणि जेट्ठाणि ॥१२२॥
हाणिअवट्ठाणाइं तत्तो वुड्ढी गुरू अणंतगुणा ।
होज्जुवसमे विउवछगवज्जाणं गुरुअवट्ठाणं ॥१२३॥
वुड्ढी य अणंतगुणा गुरू विसेसाहिया तओ हाणी ।
जेसिं गुरुवुड्ढीए उज्जोअस्स तह असुहाणं ॥१२४॥
सामी भवे अहिमुहो तेसिं थोवाणि अत्थि जेट्ठाइं ।
हाणि अवट्ठाणाइं तो गुरुवुड्ढी अणंतगुणा ॥१२५॥
गुरुहाणि जाण मरिअ जाओ एगिंदिओ गुरू वुड्ढी ।
सिं थोवा तोऽब्भहिया कमा अवट्ठाणहाणीओ ॥१२६॥
सेसाण जेट्ठवुड्ढी थोवा तत्तो विसेसअहियाइं ।
हाणि–अवट्ठाणाइं परोप्परसमाणि णेयाणि ॥१२७॥
णवरं जेट्ठा वुड्ढी देवविउवदुगजिणाण सव्वप्पा ।
कम्माणाहारेसुं तो गुरुहाणी विसेसहिया ॥१२८॥
सेसाण अवट्ठाणं जेट्ठं थोवं तओ अणंतगुणा ।
जेट्ठा वुड्ढी ताओ जेट्ठा हाणी विसेसहिया ॥१२९॥

सव्वाण जेट्ठहाणी अवेअसुहमेसु होइ सव्वप्पा ।
ताओ अणंतगुणिआ जेट्ठा वुड्ढी मुणेयव्वा ॥१३०॥
गुरुहाणी परिहारे तेउपउमवेअगेसु थोवा तो ।
वुड्ढिअवट्ठाणाइं जेट्ठाणि अणंतगुणिआइं ॥१३१॥

(प्रे०) 'ताण'' इत्यादिगाथैकादशकम्, ओघतः सातवेदनीयादिद्वात्रिंशतः शुभप्रकृतीनामादेशतो मार्गणासु यासां ज्येष्ठवृद्धेः स्वामी क्षपको भवति, यदि वोद्योतनामवर्जशुभप्रकृतीनां गुणाभिमुखो भवति, तासां ज्येष्ठहानेः स्वाम्युपशामको भवति, यदि वा संयमादिगुणतोऽवरोहन् भवति, तासामेव ज्येष्ठावस्थानं स्वस्थाने भवत्यतो ज्येष्ठावस्थानं सर्वस्तोकं भवति, ततो ज्येष्ठा हानिरनन्तगुणा ततो ज्येष्ठा वृद्धिरनन्तगुणा भवति, उत्तरोत्तरविशुद्धेरप्यनन्तगुणत्वेन तत्प्रमाणस्यानन्तगुणत्वात् ।

केवलं देशविरतौ सातवेदनीयादित्रिंशतः शुभानां ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये च, स्वस्थाने तयोर्लाभात्, ततो ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा, संयमाभिमुखस्य लाभात् । तथा उपशमसम्यक्त्वमार्गणायामुपशमश्रेणौ बन्धप्रायोग्याणां शुभप्रकृतीनां देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकवर्जानां षड्विंशतेः प्रकृतीनां ज्येष्ठा वृद्धिर्द्विचरमसमयबन्धतश्चरमसमयबन्धगतस्य भवति । ज्येष्ठा हानिस्तु तस्यैवारोहकस्य चरमसमयबन्धानन्तरं कालगतस्य भवति, तत्र च बन्धविच्छेदात्प्राग्द्विचरमसमयगतरसबन्धतोऽप्यनन्तगुणहीनरसबन्धो जायतेऽतस्तासां ज्येष्ठावस्थानमल्पं ततो ज्येष्ठा वृद्धिरनन्तगुणा ततो ज्येष्ठा हानिर्विशेषाधिका इति । देवद्विकादिषण्णां तु दिवि बन्धाभावात् श्रेणितोऽवरोहकस्यैव बन्धप्रारम्भद्वितीयसमये ज्येष्ठा हानिः प्राप्यते, अतो ज्येष्ठाऽवस्थानतोऽनन्तगुणत्वेऽपि ज्येष्ठवृद्धितोऽनन्तगुणहीना सा भवति, तासामल्पबहुत्वं त्वेवम्—अवस्थानमल्पं ततो हानिरनन्तगुणा ततो वृद्धिरनन्तगुणा इत्यपवादद्वयम् ।

यत्र यासामशुभप्रकृतीनां मिथ्यात्वाद्यभिमुखस्य ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, तत्र तासां, तथा यत्रोद्योतनाम्नो ज्येष्ठरसबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखो भवति, तत्र तस्यापि ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये च, ज्येष्ठहान्यनन्तरं ज्येष्ठावस्थानस्य जायमानत्वात्, ततो ज्येष्ठा वृद्धिरनन्तगुणाः, तत्स्वामिनस्ततोऽनन्तगुणसंक्लिष्टत्वाद् विशुद्धत्वाद्वा, अयम्भावः—एतासां ज्येष्ठहानिस्थानगमनप्रायोग्यो यो ज्येष्ठरसबन्धो भवति, ततोऽनन्तगुणो ज्येष्ठवृद्धिस्थानगमनप्रायोग्यजघन्यरसबन्धो भवति; अतः सुतरां ज्येष्ठवृद्धेरनन्तगुणत्वं विज्ञेयमिति ।

ओघत आदेशतो वा यासां प्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धं कृत्वैकेन्द्रियेषूत्पन्नस्य ज्येष्ठा हानिर्भवति तत्रौघ आदेशे वा तासां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठावस्थानं विशेषाधिकम्, ज्येष्ठरसबन्धे चतुःस्थानकयवमध्योपरितनस्थानत एव गमनम्, प्रत्यागमश्च साकारोपयोगक्षयेण

द्विस्थानकेऽनाकारप्रायोग्ये स्थाने भवतीति कृत्वा, ततोऽपि ज्येष्ठा हानिर्विशेषाधिका, एकेन्द्रियेष्वेव तस्या लाभेनावस्थानप्रायोग्यस्थानतोऽप्यधस्तनगमनात् ।

"**सेसाणं**"इत्यादि,ओघत आदेशतो वा यासां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि स्वस्थाने प्राप्यन्ते; तासां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका,ततो ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके भवतः; द्विस्थानकरसबन्धे गमनात् ।

एवं प्रकारचतुष्केण सामान्यत ओघे मार्गणासु च बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामल्पबहुत्व दर्शितम्, केवल **कार्मणानाहारकयो**रवस्थानस्यैकेन्द्रियेष्वेव लाभादपगतवेदे सूक्ष्मसम्पराये तदलाभाच्च मार्गणाचतुष्के पृथग्दर्शयति-"**णवर**"मित्यादि, कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां पञ्चानां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका ततो हानिर्विशेषाधिका, सामान्यत आरोहकस्योत्पतनतोऽवरोहकावपतनस्याधिक्यात्, एतासामवस्थानं नैव भवतीति पदद्वयमेवाल्पबहुत्वे । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकादशोत्तरशतस्य ज्येष्ठावस्थानं सर्वस्तोकम्, एकेन्द्रियेष्वेव तल्लाभात्, ततो ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा, पञ्चेन्द्रियसंज्ञिषु तल्लाभात्, एकेन्द्रियज्येष्ठरसबन्धतः पञ्चेन्द्रियज्येष्ठरसबन्धस्यानन्तगुणत्वात्, ततो ज्येष्ठा हानिर्विशेषाधिका, हेतुस्तु पूर्ववत् । अपगतवेद एकविंशतिप्रकृतीनां सूक्ष्मसंपराये सप्तदशानां हानिः स्तोका, शुभानामवरोहकोपशामकस्य, अशुभानामारोहकोपशामकस्य ज्येष्ठहानेर्लाभेन ज्येष्ठवृद्धिबन्धहेतुकविशुद्धिसंक्लेशतोस्तयोरनन्तगुणहीनत्वात् । ततो ज्येष्ठा वृद्धिरनन्तगुणा, शुभानां क्षपकस्य बन्धचरमसमय अशुभानामुपशमश्रेणितोऽवरोहकाणा मार्गणाचरमसमये तल्लाभात् । विशेषभावना तु स्वामित्वमवधार्य विधेयेति ।

अत्र स्वामित्वस्यासन्ने एव भणितत्वात्तदनुसारेण प्रकारचतुष्केण बन्धप्रायोग्याणामल्पबहुत्वस्य सुखेनावगमस्य संभवेऽपि स्थानाऽशून्यार्थं केवलमल्पबहुत्वं वक्ष्यामः;हेत्वादिभावना तु स्वामित्वानुसारेण स्वयं कार्या इति । ओघतोऽल्पबहुत्वं त्वेवम्—सातवेदनीय--देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिनामशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासनिर्माणजिननामत्रसदशकोच्चैर्गोत्रनामानि, आसां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठावस्थान स्तोकम्, ततो ज्येष्ठा हानिरनन्तगुणा ततो ज्येष्ठा वृद्धिरनन्तगुणा इति । उद्योतनाम्नो ज्येष्ठहान्यवस्थाने सर्वस्तोके परस्परं तुल्ये, ततो वृद्धिरनन्तगुणा । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वशोकारतिनपुंसकवेदहास्यरति—मोहनीयासातवेदनीयतिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिहुण्डकसंस्थानाशुभवर्णचतुष्कोपघातस्थावरास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामनीचैर्गोत्रान्तरायपञ्चकानि,आसां षष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठावस्थानं विशेषाधिकम्, ततो ज्येष्ठा हानिर्विशेषाधिका इति । आतपनाम्नो मतिज्ञानावरणवदल्पबहुत्व प्राप्यते इति संभावयामः । ग्रन्थकृदभिप्रायेण हान्यवस्थाने तुल्ये ज्ञेये, शेषाणां

स्त्रीवेदपुरुषवेदनरकद्विकमनुष्यद्विकविकलत्रिकौदारिकद्विकसंहननषट्कमध्यमसंस्थानचतुष्काशुभविहायोगतिनामसूक्ष्मत्रिकदुःस्वरनामान्यायुश्चतुष्कं चेति त्रिंशत्तासां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठाहान्यवस्थाने परस्परं तुल्ये अनन्तगुणे च भवत इति ।

अथ मार्गणास्वल्पबहुत्वम्—**नरकगत्योघे** उद्योतनाम्नो ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये, ततो ज्येष्ठा वृद्धिरनन्तगुणा शेषाणां मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां चतुरुत्तरशतस्य ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका,ततो ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके। एवं **सप्तमनरकमार्गणायाम्** ,केवल शेषप्रकृतयो द्व्युत्तरशतं विज्ञेयाः । **आद्यनरकषट्क-सर्वतिर्यग्भेदाऽपर्याप्तमनुष्य-त्रिंशद्देवभेदैकेन्द्रियभेदसप्तक–नवविकलाक्षा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदाऽपर्याप्तत्रसकायाहारकसास्वादनाऽसञ्ज्ञिषु** द्व्युत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सायुष्काणा सर्वासां ज्येष्ठवृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च । **मनुष्यौघ–पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यौदारिकयोगेषु स्त्रीपुरुषवेदयोः शुक्ललेश्यायां** च सातवेदनीयादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठावस्थानं स्तोकम् , ततो ज्येष्ठा हानिरनन्तगुणा, ततो ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा भवति, शेषाणां द्वानवतेः शुक्ले च षट्सप्ततेः प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च । **पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-नपुंसकवेद–चक्षुर्दर्शनसञ्ज्ञिषु** सप्तदशमार्गणासु सातवेदनीयादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनामोघवत् पदत्रयस्याल्पबहुत्वं भवति, स्वामिनामोघतुल्यत्वात् अल्पबहुत्वमेवम् । ज्येष्ठावस्थानं स्तोकम्, ततो ज्येष्ठा हानिरनन्तगुणा,ततो ज्येष्ठा वृद्धिरनन्तगुणेति । उद्योतस्यौघवदल्पबहुत्वम् , तच्चैवम्-ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये च, ततो ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणे, शेषाणामेकनवतेर्ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठा हान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च । स्वस्थाने एव त्रयाणां ज्येष्ठपदस्य लाभात् ।

काययोगौघ-कषायचतुष्काऽचक्षुर्दर्शन-भव्याहारिमार्गणास्वष्टसु चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानामल्पबहुत्वमोघवद्विज्ञेयम् । **मिश्रकाययोगत्रये** ज्येष्ठा हानिः स्तोका, ततो ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थाने अनन्तगुणे परस्परं तुल्ये च, मतान्तरेण शरीरपर्याप्तिप्रागनन्तरक्षणे एव ज्येष्ठरसबन्धाभ्युपगमेन बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्पर तुल्ये च, ततो ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा, केवलमौदारिकमिश्रे तिर्यग्मनुष्यायुषो ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ज्येष्ठे हान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च । **वैक्रियकाययोगे** उद्योतनाम्नो ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके तुल्ये च, ततो वृद्धिरनन्तगुणा । शेषाणा सप्तोत्तरशतस्य ज्येष्ठावृद्धिः स्तोका, ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च । **कार्मणानाहारकमार्गणयो-**

देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां पञ्चानामवस्थितपदस्य अभावात् ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठा हानिर्विशेषाधिका इति । शेषाणामेकादशोत्तरशतस्य ज्येष्ठावस्थानं स्तोकम्, ततो ज्येष्ठा वृद्धिरनन्तगुणा, ततो ज्येष्ठा हानिर्विशेषाधिका इति । **अपगतवेदसूक्ष्मसपरायमार्गणयो**र्बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनां ज्येष्ठहानिः स्तोका, ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा इति । अवस्थानाभावात् नात्राऽवस्थानपदस्य कथनमिति ।

मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघेषु पञ्चसु सातवेदनीयादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनामोघवदल्पबहुत्वं भवति । ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्काऽऽद्यवर्जद्वादशकषाय-शोकारतिभयजुगुप्सा-पुरुषवेदा-सातवेदनीया-शुभवर्णचतुष्कोपघातास्थिराशुभाऽयशःकीर्तिनामान्तरायपञ्चकानां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये च, ततो ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचनाम्नां हास्यरत्योः देवमनुष्यायुषोश्च ज्येष्ठवृद्धिः स्तोका ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च ।

मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयेषु सातवेदनीयादिद्वात्रिंशतो ज्येष्ठावस्थानं स्तोकम्; ततो ज्येष्ठा हानिरनन्तगुणा ततो ज्येष्ठा वृद्धिरनन्तगुणेति । मध्यमकषायाष्टकवर्जानामनन्तरोक्तमतिज्ञानावरणादिचतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये, ततो ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा । हास्यरत्योर्देवायुषश्च ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका; ततो ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके इति ।

मत्यज्ञानश्रुताज्ञानमिथ्यात्वमार्गणासु तिसृषु आहारकद्विकजिननामवर्जानां देवप्रायोग्याणां शुभैकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां मनुष्यद्विकौदारिकद्विक वज्रर्षभनाराचनाम्नां च ज्येष्ठावस्थानं स्तोकम्, ज्येष्ठा हानिरनन्तगुणा ज्येष्ठा वृद्धिरनन्तगुणा । उद्योतनाम्नो ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये च । मतान्तरे ज्येष्ठावस्थानतो ज्येष्ठा हानिरनन्तगुणा ततो ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा । मतिज्ञानावरणाद्येकषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठावस्थानं विशेषाधिकम्, ततो ज्येष्ठा हानिरनन्तगुणा । एकषष्टिप्रकृतय ओघवद्विज्ञेयाः । शेषाणां स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नरकद्विक-विकलत्रिकाद्यवर्जसंहननपञ्चकमध्यमसंस्थानचतुष्का-ऽशुभखगति-सूक्ष्मत्रिक-दुःस्वरायुष्कचतुष्करूपाः पञ्चविंशतिः प्रकृतयः, तासां ज्येष्ठवृद्धिः स्तोका; ततो ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्पर तुल्ये च ।

विभङ्गज्ञानमार्गणायामप्येवमेव, केवलं मतिज्ञानावरणाद्येकषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठे हान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये इति । **परिहारविशुद्धौ** सातवेदनीयादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठा हानिः स्तोका; ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थाने अनन्तगुणे परस्परं तुल्ये च । मतिज्ञानावरणादिचतुस्त्रिंशतो हास्यरत्योः देवायुषश्च संयमौघवदल्पबहुत्वं विज्ञेयम् ।

देशविरतौ आहारकद्विकबन्धाऽभावात् सातवेदनीयादित्रिंशतो ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये च, ततो ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा। मतिज्ञानावरणाद्यष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये च,ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा। हास्यरत्योर्देवायुषश्च वृद्धिस्स्तोका हान्यवस्थाने विशेपाधिके। **असंयमे** सर्वासां बन्धप्रायोग्याणां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानामल्पबहुत्वमोघवद्विज्ञेयम् , केवलं देवद्विकादित्रिंशतः ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये च, ततो वृद्धिरनन्तगुणा इति।

कृष्णलेश्यायाम, उद्योतनाम्नो ज्येष्ठहान्यवस्थाने स्तोके परस्परं तुल्ये च, ज्येष्ठवृद्धिरनन्तगुणा। ओघोक्तानां मतिज्ञानावरणाद्येकषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठावस्थानं विशेषाधिकं ततो ज्येष्ठहानिर्विशेषाधिका। शेषाणां षष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च। ताः प्रकृतयो नामत इमाः—सातवेदनीय-देवद्विक-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विक-वैक्रियद्विक-तैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्र-सुखगति शुभवर्णचतुष्का-गुरुलघुपराघातोच्छ्वासातपनिर्माणजिननामत्रसदशकोच्चैर्गोत्राणि स्त्रीपुरुषवेद-नरकद्विक- विकलत्रिकाद्यवर्जसंहननपञ्चक- मध्यमसंस्थानचतुष्क-कुखगति-सूक्ष्मत्रिक-दुःस्वरनामानि आयुष्कचतुष्कं च। मतान्तरे मतिज्ञानावरणाद्येकषष्टेः प्रकृतीनामल्पबहुत्वमेवम्—ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च। **नीलकापोतयोरपि** उद्योतवर्जसर्वासामेकविंशत्युत्तरशतस्याल्पबहुत्वं कृष्णलेश्यावद्विज्ञेयम्। उद्योतस्य पुनरेवम्—ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च।

तेजःपद्मलेश्ययोरोघोक्तानां सातवेदनीयादिद्वात्रिंशतो ज्येष्ठा हानिः स्तोका, ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थाने अनन्तगुणे परस्परं तुल्ये च। शेषाणां मार्गणाद्वयबन्धप्रायोग्याणां तेजोलेश्यायां त्र्यशीतेः, पद्मायामशीतेः, ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये। यद्वा तेजोलेश्यायां शेषत्र्यशीतिप्रकृतिभ्य ओघोक्तानां मतिज्ञानावरणाद्येकषष्टेरोघवदल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, तद्यथा—ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ज्येष्ठावस्थानं विशेषाधिकं ज्येष्ठा हानिर्विशेषाधिका।

अभव्यमार्गणायामोघोक्तमतिज्ञानावरणाद्येकषष्टेर्ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ज्येष्ठावस्थानं विशेषाधिकम्, ज्येष्ठा हानिर्विशेषाधिकाः। शेषाणां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च। **उपशमसम्यक्त्वे** मतिज्ञानमार्गणावत् सर्वासामल्पबहुत्वं विज्ञेयम्। केवलं सातवेदनीयादिषड्विंशतेर्ज्येष्ठहानिर्ज्येष्ठवृद्धितो विशेषाधिकेति। **क्षयोपशमसम्यक्त्वे** सातवेदनीयादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठा हानिः स्तोका, ततो ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थाने अनन्तगुणे परस्परं तुल्ये च। मतिज्ञानावरणादिद्वाचत्वारिंशतः प्रकृतीनां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानां हास्यरत्योर्देवमनुष्यायुषोश्चाल्पबहुत्वं मतिज्ञानमार्गणावद्विज्ञेयम्। **क्षायिकसम्यक्त्वे** सातवेदनीयादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनामोघवदल्पबहुत्वं भवति। शेषाणां मतिज्ञानावरणाद्येकपञ्चाशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठा वृद्धिः स्तोका, ततो ज्येष्ठहान्यवस्थाने विशेषाधिके

णस्य भवति तासाम्, एवं प्रकारद्वयोक्तप्रकृतीनां जघन्या हानिः स्तोका, अशुभानां जघन्यहाने-स्तीव्रविशुद्ध्या जायमानत्वेन तत्र रसबन्धस्यैव स्तोकत्वात्तत्र भवा हानिरपि स्तोकैव शुभप्रकृतीनां जघन्यहानेस्तु मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टस्य तत्प्रकृतिबन्धप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टस्य वा जायमानत्वेनोत्तरत्र च मार्गणायास्तद्बन्धस्य वा विच्छेदेन अत्रैव रसबन्धस्य स्तोकत्वा-ज्जघन्या हानिरपि स्तोका भवति । ततो जघन्यवृद्ध्यवस्थानेऽनन्तगुणे परस्परं तुल्ये च, अशुभप्रकृतीनां कृतकरणं विहाय स्वस्थानतीव्रविशुद्धोऽनन्तभागाधिकतदुत्तरस्थानं प्राप्य जघन्यवृद्धिं तदनन्तरसमये तावद्रसं बध्नञ्जघन्यावस्थानं च करोति, अत्र च कृ रणापेक्षया विशुद्धेरनन्तगुणहीनत्वाद् रसबन्धोऽनन्तगुणो भवति, अतोऽत्रानन्तभागमात्रापि वृद्धिर्जघन्य-हानितोऽनन्तगुणा भवति, वृद्ध्यवस्थानयोः स्वामिनस्तुल्यत्वादवस्थानबन्धस्य वृद्ध्या सह तुल्यत्वम् । शुभप्रकृतीनां तु जघन्या वृद्धिः स्वस्थानसंक्लिष्टस्य ततोऽनन्तभागसंक्लेशमांद्ये सति अनन्तभागोत्तरविशुद्धिं प्राप्तस्य भवति; मिथ्यात्वाद्यभिमुखतीव्रसंक्लेशतो स्वस्थानतीव्रसंक्लेश-स्यानन्तगुणहीनत्वेन स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टस्य रसबन्धोऽनन्तगुणो भवति; अतोऽत्रानन्तभाग-मात्रा वृद्धिरपि जघन्यहानितोऽनन्तगुणहानिलक्षणतोऽनन्तगुणा इति, अत्रापि वृद्ध्यवस्थानयो-स्तुल्यस्वामित्वेन तुल्यत्वमिति ।

तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्तु यत्राभिमुखावस्थायां जघन्यरसबन्धो भवति; तत्र जघन्या हानिः स्तोका, ततो जघन्यवृद्ध्यवस्थानेऽनन्तगुणे परस्परं तुल्ये च, एतदल्पबहुत्वं तु वृद्धेः स्वस्थान-लाभे विज्ञेयम् । सम्यक्त्वत' पतितस्य मिथ्यात्वद्वितीयसमये जघन्या वृद्धिर्भवतीत्यभिप्राये पुन-रल्पबहुत्वमेवम्—जघन्या हानिः स्तोका, ततो जघन्या वृद्धिरनन्तगुणा, ततो जघन्यावस्थानमन-न्तगुणं भावना त्वत्र प्रथमप्रकारवत्कार्येति ।

ओघत आदेशतो वा यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धः स्वस्थानविशुद्धस्य स्वस्थानसंक्लि-ष्टस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्य परावर्तमानपरिणामवतो वा भवति; तासामत्रो-क्तप्रकारद्वयातिरिक्तत्वेन शेषप्रकृतितया गृहीतत्वात्तासां जघन्यरसबन्धस्थानं तदनन्तरस्थानतो प्राप्तस्य जघन्यहानिर्भवति, एवं जघन्यरसबन्धस्थानतस्तदनन्तरस्थानं प्राप्तस्य जघन्या वृद्धि-र्भवति, उभयोरपि तुल्यत्वेनोभयबन्धानन्तरमवस्थानबन्धस्य संभवेन जघन्यवृद्ध्यनन्तरं जघन्यहान्यनन्तरं च जघन्यावस्थानं प्राप्यत इति तासां प्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि तुल्यानि भवन्तीति ।

एवमोघतो मार्गणासु च बन्धप्रायोग्याणां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानामल्पबहुत्वस्य करणत्रयेण दर्शितत्वेऽपि **कार्मणानाहारकमार्गणयोः** परावर्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धाः

प्रकृतीर्विवर्ज्य याः शेषाः प्रकृतयस्तासां जघन्यरसबन्धस्य सक्लिष्टावस्थायां विशुद्धावस्थायां वा भावेन संज्ञिष्वेव तल्लाभाज्जघन्यवृद्धिहान्योः प्राग्दर्शितप्रकारेण परस्परं तुल्यत्वेऽपि तासां प्रकृतीनां जघन्यावस्थानस्यैकेन्द्रियेष्वेव लाभेनैकेन्द्रियेषु च सञ्ज्ञिनस्तीव्रसंक्लेशतोऽनन्तगुणहीन-संक्लेशत्वेन शुभप्रकृतीनां जघन्यरसस्यानन्तगुणत्वम्, एवं संज्ञिनो ज्येष्ठस्वस्थानविशुद्धितोऽनन्त-गुणहीनविशुद्धित्वेन शुभप्रकृतीनामेकेन्द्रियसत्कजघन्यरसबन्धस्य संज्ञिनो जघन्यरसतोऽनन्तगुणत्वं भवति, अत एवैतादृक्प्रकृतीनां जघन्यावस्थानस्यैकेन्द्रियस्यैव लाभेन तासां जघन्यवृद्धिहानिभ्यां जघन्यावस्थानमनन्तगुणं भवति, एतच्चापवादपदं सातिरेकसार्धगाथया प्रदर्शितमिति । उक्तापवादविषयाः प्रकृतयो नामतो पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणनवक-मोहनीयषड्विंशत्य-नन्तरायपञ्चकानि तिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्काशुभ-वर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणातपोद्योतत्रसचतुष्कनामानि नीचैर्गोत्रमिति द्वासप्ततिः प्रकृतय इति । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धः परावर्तमानपरिणामेन न भवति, अत एता अपवादविषया भवन्त्योऽपि तासामग्रहणं तु एतासां प्रकृतीनां प्रस्तुतेऽव-स्थानस्यैवाभावादिति ।

अथ उक्तप्रक्रियया प्राप्तं जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानामल्पबहुत्वं संक्षेपतः प्रदर्शयामः ।

तद्यथा-ओघे क्षपकश्रेणौ बन्धप्रायोग्याशुभप्रकृतीनां त्रिंशतः स्त्यानर्द्धित्रिकाद्य-द्वादशकषायमिथ्यात्वानां च जघन्या हानिः स्तोका, ततो जघन्या वृद्धिरनन्तगुणा, ततो जघन्यावस्थानमनन्तगुणम् । आहारकद्विकजिननाम्नोस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च जघन्या हानिः स्तोका, ततो ह्रस्ववृद्ध्यवस्थाने अनन्तगुणे परस्परं च तुल्ये । शेषाणां द्वासप्ततेर्जघन्य-वृद्धिहान्यवस्थितानि त्रीणि तुल्यानि । त्रिंशत्प्रकृतयो नामत इमाः ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक संज्वलनचतुष्क-पुरुषवेद-हास्यरतिभयजुगुप्साऽशुभवर्णचतुष्को-पघातनिद्राद्विकानि । द्वासप्ततिरिमाः--शोकारति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-वेदनीयद्वयोच्चैर्गोत्रायुष्क-चतुष्क--देवद्विक--मनुष्यद्विक-नरकद्विक-जातिपञ्चकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकतैजसकार्मण--संहनन-षट्कसंस्थानषट्कखगतिद्विकशुभवर्णादिचतुष्कागुरुलघुपराघातोच्छ्वासातपोद्योतनिर्माणत्रसदशक-स्थावरदशकनामानि ।

अथ मार्गणासु-नरकौघे स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वानां हानिः स्तोका, वृद्धिरनन्तगुणा, अवस्थानमनन्तगुणम् । तिर्यग्द्विकस्य नीचैर्गोत्रस्य च हानिरल्पा, वृद्ध्यवस्थाने अनन्तगुणे परस्परं तुल्ये । शेषाणां चतुर्नवतेस्त्रीण्यपि तुल्यानि । अत्र वर्णचतुष्कस्य शुभाशुभ-भेदेन प्रकृत्यष्टकं विवक्षितम्, एवमाप्रकरणपरिसमाप्ति विज्ञेयमिति । **आद्यनरकत्रये** नरकौघवदेव,

केवलं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपप्रकृतित्रयस्य शेषप्रकृतिवत् त्रीण्यपि तुल्यानि वाच्यानि । **चतुर्थादिनरकत्रये** आद्यनरकवत्, केवलं जिननाम्नोऽत्र बन्धाभावात् तस्य शेषप्रकृतिमध्ये गणनं न कार्यमिति । **सप्तमनरके** नरकौघवदल्पबहुत्वं विज्ञेयम् । केवल जिननाममनुष्यायुषोरत्र बन्धाभावात् ते वर्जनीये, तथा मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्या हानिः स्तोका, ततो जघन्यवृद्धयवस्थाने परस्परं तुल्ये अनन्तगुणे च भवतः अतोऽत्र सप्तमनरके शेषैकोननवतेः त्रयाणामपि पदाना तुल्यत्वं विज्ञेयमिति । **तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीमार्गणासु** चेति चतसृषु स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यद्वादशकषायमिथ्यात्वानां जघन्या हानिः स्तोका, ततो ह्रस्वा वृद्धिरनन्तगुणा, ततो लघ्ववस्थानमनन्तगुणम् । शेषाणां पञ्चोत्तरशतस्य त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यसप्तैकेन्द्रियनवविकलाक्ष-सप्तपृथ्वीकायसप्ताप्कायैकादशवनस्पतिकायाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकायेषु पञ्चचत्वारिंशति त्रयोदशोत्तरशतस्य **सप्ततेजस्कायसप्तवायुकायेषु** नवोत्तरशतस्य **पञ्चानुत्तरेषु** षट्सप्ततेः, **आहारकयोगे** सप्तषष्टेः, **अभव्यासञ्ज्ञिनो**रेकत्रिंशत्युत्तरशतस्य बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि तुल्यानि । **मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणात्रये औदारिकयोगस्त्रीपुरुषवेदेषु** च ओघवदल्पबहुत्वं भवति, केवलं तिर्यग्द्विकस्य नीचैर्गोत्रस्य च त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि वाच्यानीति विशेषः । **देवौघादिनवमग्रैवेयकान्तेषु** स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वानां जघन्या हानिः स्तोका, वृद्धिरनन्तगुणा, अवस्थानमनन्तगुणम् । शेषाणा बन्धप्रायोग्याणां त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि । शेषबन्धप्रायोग्याः प्रकृतयो देवौघे सौधर्मेशानयोः प्रत्येकं शतम्, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्केषु नवनवतिः, सनत्कुमारादिषट्सु सप्तनवतिः, आनतादित्रयोदशसु त्रिनवतिः बोध्याः ।

पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क--काययोगौघ-नपुंसकवेदकषायचतुष्क-चक्षुरचक्षुर्दर्शन-भव्य सञ्ज्या-हारिमार्गणासु पञ्चविंशतौ चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति । **औदारिकमिश्रे**ऽष्टादशोत्तरशतस्य, **वैक्रियमिश्रे** षडुत्तरशतस्य, **आहारकमिश्रे** सप्तषष्टेः स्वस्थानजघन्यरसबन्धस्वामित्वमते त्रीण्यपि तुल्यानि, अन्यमते तु यासां शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्राक्समये एव जघन्यरसबन्धो भवति, तासा पदत्रयसत्काल्पबहुत्वं स्वयं परिभावनीयं बहुश्रुतादागमानुसारेणेति । शेषाणां तु त्रीण्यपि तुल्यानि । **वैक्रिययोगे** स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वानामष्टानां जघन्या हानिः स्तोका, ततो वृद्धिर-

न्तगुणा ततोऽवस्थानमनन्तगुणम् । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां त्रयाणां जघन्या हानिः स्तोका, ततः जघन्यवृद्ध्यवस्थाने अनन्तगुणे तुल्ये च । **कार्मणानाहारकमार्गणयोः** ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवकमोहनीयषड्विंशत्यन्तरायपञ्चकानि तिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरशुभवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्काणि आतपोद्योतत्रसचतुष्कनामानि नीचैर्गोत्रं चेति द्वासप्ततेर्जघन्यवृद्धिहानी स्तोके परस्परं च तुल्ये, ततो जघन्यावस्थानमनन्तगुणम् । देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां जघन्यवृद्धिहानी परस्परं तुल्ये अवस्थानस्यैतासामत्राभावात् नात्र तदल्पबहुत्वस्य निरूपणम् । शेषाणां मार्गणाप्रायोग्याणामेकोनचत्वारिंशतः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यरसबन्धानां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि त्रीण्यपि तुल्यानि । ताः प्रकृतयो नामत इमाः-वेदनीयद्वयोच्चैर्गोत्र–मनुष्यद्विक-जातिचतुष्क--संहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वय-स्थिरषट्कस्थावरदशकनामानि । **अपगतवेदसूक्ष्मसंपरायमार्गणयोर्बन्धप्रायोग्यैकविंश**तेरपि प्रकृतीनां जघन्या हानिः स्तोका, ततो जघन्या वृद्धिरनन्तगुणेति ।

मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वेषु षड्मार्गणासु ज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां मध्यमकषायाष्टकस्य चौघवत् स्वामित्वादोघवदल्पबहुत्वं विज्ञेयम् । देवद्विकमनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विक-वैक्रियद्विकाहारकद्विकतैजस–कार्मणशरीर वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-शुभवर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-पराघातो-च्छ्वास-जिननाम-निर्माण-त्रसचतुष्कसुभगादेययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राणां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्या हानिः स्तोका, ततो जघन्या वृद्धिरनन्तगुणा अवस्थानं तत्तुल्यमिति । सातासातवेदनीयाऽरतिशोकस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशः कीर्तिनामानि देवमनुष्यायुषी चेति द्वादश, तासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि त्रीण्यपि तुल्यानि । अत्र क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकादित्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनामपि जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि तुल्यानि भवन्तीत्यवधेयम् । **मनःपर्यवज्ञानसंयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयमेषु** मतिज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनामल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम् । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपपञ्चप्रकृतीर्विहायानन्तरोक्तदेवद्विकाद्यष्टाविंशतिप्रकृतीनां जघन्या हानिः स्तोका, ततो जघन्या वृद्धिरनन्तगुणा, जघन्यावस्थानं वृद्धितुल्यम् । सातवेदनीयाद्येकादशप्रकृतीनां मनुष्यायुर्विहायानन्तरोक्तानां त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि भवन्ति ।

अज्ञानत्रिके मिथ्यात्वे च अशुभध्रुवबन्धिनीनां त्रिचत्वारिंशतो हास्यरतिपुरुषवेदानां चेति षट्चत्वारिंशतो जघन्या हानिः स्तोका, ततो वृद्धिरनन्तगुणा, ततोऽवस्थानमनन्तगुणम् । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां त्रयाणामोघवत् जघन्या हानिः स्तोका, जघन्यवृद्ध्यवस्थानेऽनन्तगुणे परस्परं तुल्ये च । शेषाणां द्वासप्ततिप्रकृतीनामोघवत् त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि ।

परिहारविशुद्धौ कृतकरणापेक्षया मतिज्ञानावरणादित्रिंशतो देवद्विकाद्यष्टात्रिंशतेश्च जघन्या हानिः स्तोका, जघन्या वृद्धिरनन्तगुणा, जघन्यावस्थानं तत्तुल्यमिति । सातवेदनीयाद्येकादशानां स्वस्थानस्वाम्यपेक्षया मतिज्ञानावरणादित्रिंशतश्च त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि । **देशविरतौ** मतिज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य च जघन्या हानिः स्तोका, जघन्या वृद्धिरनन्तगुणा जघन्यावस्थानमनन्तगुणम् । देवद्विकादिषड्विंशतिप्रकृतीनां जघन्या हानिःस्तोका, जघन्या वृद्धिरनन्तगुणा, अवस्थानं वृद्धितुल्यमिति । सातवेदनीयाद्येकादशानां त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि । **असंयममार्गणाया**मज्ञानमार्गणावत् प्रस्तुताल्पबहुत्वं विज्ञेयम् । केवलं जिननाम्नोऽत्र बन्धभावात् तस्याप्यल्पबहुत्वमोघवद्विज्ञेयमिति ।

कृष्णलेश्यायां स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वतिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रजिननाम्नां द्वादशानामोघवत् प्रस्तुताल्पबहुत्वं विज्ञेयम् । शेषाणां मार्गणाया बन्धप्रायोग्याणां दशोत्तरशतस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि ज्ञेयानि । **नीलकापोतयो**रेवमेव, केवलं तिर्यग्द्विकस्य नीचैर्गोत्रस्य च त्रीण्यपि जघन्यपदानि तुल्यानि भवन्ति, जिननाम्नः पुनः कापोते त्रयाणामपि पदानां तुल्यत्वम्; नीलायां लेश्यान्तरसंक्रमे जघन्यरसबन्धस्य लाभात् जघन्या हानिः स्तोका, ततो वृद्धिरनन्तगुणा, जघन्यावस्थानं वृद्धितुल्यमिति ।

तेजोलेश्यायां स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्ध्यादिद्वादशकषायमिथ्यात्वानां षोडशानामोघवदल्पबहुत्वं भवति, तद्यथा—आसां जघन्या हानिः स्तोका, ततो जघन्या वृद्धिरनन्तगुणा ततो जघन्यावस्थानमनन्तगुणम् । मतिज्ञानावरणादित्रिंशदशुभप्रकृतीनामाहारकद्विकस्य च जघन्या हानिः स्तोका ततो जघन्यवृद्ध्यवस्थाने अनन्तगुणे परस्परं तुल्ये च । शेषाणां सप्तषष्टेर्जघन्यपदानि त्रीणि तुल्यानि । **एवं पद्मायां** केवलं शेषप्रकृतयः चतुःषष्टिर्विज्ञेयाः, एकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नां बन्धाभावात् । **शुक्ललेश्यायां** मतिज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां स्त्यानर्द्धित्रिकादिषोडशानामाहारकद्विकस्य च जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानामल्पबहुत्वमोघवद्विज्ञेयम् । शेषाणां मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां षष्टेः प्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि त्रीण्यपि तुल्यानि ।

उपशमसम्यक्त्वे मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां जिननामवर्जानामशीतेर्मतिज्ञानमार्गणावत्प्रस्तुताल्पबहुत्वं विज्ञेयम् । जिननाम्नः पुनस्त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि । **क्षयोपशमसम्यक्त्वे** मध्यमकषायाष्टकस्यौघवदल्पबहुत्वं भवति, तद्यथा—जघन्या हानिः स्तोका, ततो जघन्या वृद्धिरनन्तगुणा, ततो जघन्यावस्थानमनन्तगुणम् । मतिज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां परिहारविशुद्धिवदल्पबहुत्वं विज्ञेयम् । तद्यथा—जघन्यहानिः स्तोका ततो जघन्यवृद्ध्यवस्थाने तुल्ये अनन्तगुणे । देवद्विकादित्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनामल्पबहुत्वमेवमेवावधेयम् । सातासातवेदनीयारतिशोक-

स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नां देवमनुष्यायुषोश्चेति द्वादशानां त्रीण्यपि जघन्यपदानि तुल्यानि भवन्ति । **सम्यग्मिथ्यात्वे** मतिज्ञानावरणादित्रिंशत्प्रकृतीनां मध्यमकषायाणां चेत्यष्टात्रिंशतो जघन्या हानिः स्तोका, जघन्यवृद्ध्यवस्थाने परस्परं तुल्ये अनन्तगुणे । एवं देवद्विकादित्रिंशत्शुभप्रकृतीनामपि विज्ञेयम् । सातवेदनीयादिदशानां त्रयाणामपि पदानां तुल्यत्वं विज्ञेयमिति । **सास्वादने** स्वस्थाने जघन्यरसबन्धप्रायोग्यत्वमते पञ्चोत्तरशतस्य जघन्यपदे त्रयाणामपि पदानां तुल्यत्वम् । तदन्यमते तु स्वयं परिभावनीयम् । अकषाय–यथाख्यातसंयम-केवलज्ञान-दर्शनमार्गणाचतुष्के प्रस्तुतप्ररूपणा एव न सम्भवतीत्यवधेयम् ॥१३२-१३६॥

तदेवं समाप्तं पदनिक्षेपाधिकारे तृतीयमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

श्रीप्रेमप्रभाटीकाविभूषिते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे तृतीयः पदनिक्षेपाधिकारः समाप्तः ॥



॥ चतुर्थो वृद्ध्यधिकारः ॥

अथ रसबन्धे चतुर्थवृद्ध्यधिकारस्यावसरः, तत्रादौ तावदत्र संभवद्द्वाराणां नामानि निरूपयन्नाह—

णेयाणि वड्ढिबंधे अहिगारम्मि तुरिअम्मि दाराइं ।
तेरस संतपयं तह सामी कालंतराइं च ॥१३७॥
भंगविचयो य भागो परिमाणं खेत्तफोसणा उ तहा ।
कालो अंतरभावा अप्पाबहुगं जहाकमसो ॥१३८॥

(प्रे०) "**णेयाणि**" इत्यादि, उत्तरप्रकृतिरसबन्धमाश्रित्य

"**इह खलु कमसो णेया अहिगारा पंच पढमभूगारा ।**
पयणिक्खेवो वड्ढी अज्झवसाणसमुदाहारो ॥ ॥"

इत्यनेनोद्दिष्टानां पञ्चाधिकाराणामन्तःप्रविष्टे चतुर्थे वृद्धिबन्धाधिकारे त्रयोदशद्वाराणि क्रमशो ज्ञेयानीति क्रियासम्बन्धः । तानि येन क्रमेण ज्ञातव्यानि सन्ति तेनैव क्रमेण नामग्राहमाह—"**संतपयमि**' त्यादि, (१) प्रथमं सत्पदद्वारम् (२) द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् (३) तृतीयमेकजीवाश्रितकालद्वारम् (४) चतुर्थमेकजीवाश्रितमन्तरद्वारम् (५) पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् (६)षष्ठं भागद्वारम् (७) सप्तमं परिमाणद्वारम् (८) अष्टमं क्षेत्रद्वारम् (९) नवमं स्पर्शनाद्वारम् (१०) दशममनेकजीवानधिकृत्य कालद्वारम् (११) एकादशमनेकजीवानधिकृत्यान्तरद्वारम् (१२) द्वादशं भावद्वारम् (१३) त्रयोदशं बन्धकजीवानामल्पबहुत्वद्वारम् । आसां द्वाराणां स्वरूपं तु प्रागनेकशोऽस्मिन्नेव ग्रन्थे बन्धविधानाख्येऽनेकटीकाकृद्भिर्व्याख्यातम्, अतो नात्र विव्रियत इति ॥१३७-१३८॥

अथावक्तव्यावस्थितरसबन्धयोः सत्पदादिभावपर्यवसानानि द्वाराणि भूयस्काराधिकारवदेकगाथयाऽतिदिशन्नाह—

संतपयाईसु तहा सव्वाण अवट्ठियो अवत्तव्वो ।
विणेयो जहविहिअं भूओगाराहिगारम्मि ॥१३९॥

(प्रे०) "**संते**"त्यादि, अवक्तव्यावस्थितरसबन्धसत्कप्ररूपणाया भूयस्काराधिकारे वृद्ध्यधिकारे च समानत्वादल्पबहुत्वद्वारं विहाय शेषद्वाराणां तद्भूयस्काराधिकारवद् ज्ञातव्यमिति, केवलं भङ्गविचयद्वारे भूयस्काराधिकारवत्तयोर्ध्रुवाध्रुवत्वे ज्ञात्वा शेषद्वादशपदैः सह भङ्गा निरू-

पणीया इति । अत एव भावद्वारपर्यवसानेषु न तन्निरूपणं करिष्यते, सर्वस्याः प्ररूपणायास्तत्स- दृशत्वात् ॥१३९॥

अथौघे मार्गणासु च बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां रसबन्धस्य षड्वृद्धिभ्यः षड्हानिभ्यश्च संभवत्पदानां सद्भावं सत्पदसंज्ञकं निरूपयन्नाह—

हविरे छवुड्ढिहाणी सव्वाणोमेव सव्वहि णवरं ।
अत्थि अवेए सुहमे अणंतगुणवुड्ढिहाणी अ ॥१४०॥

(प्रे०) "हविरे" इत्यादि, ओघतो विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां तथाष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सर्वप्रकृतीनां प्रत्येकमनन्तभागासंख्येयभागसंख्येयभागसंख्येयगुणासंख्येय- गुणानन्तगुणलक्षणाः षड्विधा वृद्धयः षड्विधा हानयश्च भवन्ति । अपगतवेदसूक्ष्मसंपरायमार्गणा- द्वयं विहाय शेषासु सर्वमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामसंख्येयलोकप्रमितषट्- स्थानगतानां रसबन्धाध्यवसायानां सद्भावात् । रसबन्धस्य षट्स्थानकस्वरूपं मूलप्रकृतिरस- बन्धे रसस्थानप्ररूपणायां विस्तरतो निरूपितम्, अतस्ततस्तदवधार्यमिति । अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां च श्रेणिद्वयस्यारोहकाणामुपशमश्रेणितोऽवरोहकाणां रसबन्धकतया लाभात् तेषां च क्रमेण प्रतिक्षणमनन्तगुणविशुद्धत्वादनन्तगुणसंक्लिष्टत्वाद्वा मार्गणाद्वये बन्धप्रायोग्य- प्रकृतीनां रसबन्ध एका अनन्तगुणा वृद्धिर्भवति, एका चानन्तगुणा हानिर्भवति, शेषपञ्चवृद्धिहानीनां सम्भवोऽपि नास्तीत्यपवादभणनम् । उक्तगाथाभ्यां दर्शितातिदेशद्वयेन रसबन्धवृद्ध्यधिकारे ओघतो विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं षड् वृद्धयः षड्हानयोऽवस्थितावक्तव्यौ चेति चतुर्दश पदानि सत्तया प्राप्यन्ते, एवमष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्येभ्यः सर्वप्रकृतिभ्यो यासामवक्तव्य- पदस्य सत्तया सम्भवस्तासां चतुर्दश पदानि सत्तया विज्ञेयानि, यासामवक्तव्यपदस्यासम्भ- वस्तासां तद्वर्जानि त्रयोदश पदानि सत्तया प्राप्यन्त इति । यासामवक्तव्यरसबन्धस्य सत्त्वं भवति तासां तत् प्रतिमार्गणासु भूयस्काराधिकारे दर्शितत्वान्नात्र भूयः प्रदर्श्यत इति ॥१४०॥

अथ षड्हानीः षड्वृद्धीश्च स्वामित्वादिद्वादशद्वारेषु सातिदेशं सापवादं निरूपयन्नाह—

सामित्ताईसु खलु अवट्ठिअव्व पणवुड्ढिहाणीओ ।
भूओगारप्पयरव्व कमाऽणंतगुणवुड्ढिहाणीणं ॥१४१॥ (गीतिः)
परमोहाएसेहि सव्वेसि पंचवुड्ढिहाणीणं ।
तइए काले जेट्ठो आवलिआए असंखंसो ॥१४२॥

तहवि खणूणगुरुठिई सो सव्वाण पणवुड्ढिहाणीणं ।
कम्माणाहारेसुं तहि दोसुं अंतरं णो सि ॥१४३॥
दसमे कालदुवारे सव्वेसि पंचवुड्ढिहाणीणं ।
आवलिआऽसंखंसो गुरू तहि जहाऽत्थि संखखणा ॥१४४॥

(प्रे०) "**सामित्ताईसु**"मित्यादि, अनन्तभागवृद्धिरसंख्यभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिरसंख्यातगुणवृद्धिश्चेति या अनन्तगुणरहिताः पञ्च वृद्धयः, एवं याः पञ्च हानयश्चेति दशानां पदानां स्वामित्वादिभावद्वारान्तेषु निरूपणं वक्ष्यमाणापवादपदानि विहाय यथा भूयस्काराधिकारेऽवस्थितरसबन्धस्य दर्शितम्, तथैव ज्ञेयमिति । अवस्थितरसबन्धवदनन्तभागादीनां पञ्चानां वृद्धीनां पञ्चानां च हानीनां क्वचित् कस्यचिल्लाभात्, यथा च यथाप्रवृत्त्यादिकरणाद्यभिमुखावस्था विहाय सर्वत्राऽवस्थितरसबन्धस्य प्रायोग्यत्वं तथा पञ्चानां वृद्धीनां हानीनां प्रायोग्यत्वाच्च तद्वदतिदेशो विहितः ।

अत्र किञ्चिद् भाव्यते—ओघे मार्गणासु च यथाऽवस्थितरसबन्धमन्यतरजीवः करोति इत्यत्राऽन्यतरशब्देन यो जीवः कस्मिंश्चिदपि रसबन्धाध्यवसाये द्विसमयाद्यवस्थितिं करोति तस्य द्वितीयादिसमयेऽवस्थितरसबन्धो भवतीति प्रदर्शितम्, तथाऽत्राऽनन्तभागवृद्ध्यादावन्यतरस्वामी भवति, अत्रान्यतरशब्देन प्राक्समयगतरसबन्धाध्यवसायतोऽनन्तभागवृद्धरसबन्धाध्यवसायं प्राप्तो जीवो रसस्यानन्तभागवृद्धिं करोति ।

कस्मादपि रसबन्धाध्यवसायस्थानतः कण्डकप्रमाणतोऽतिरिक्तानि रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यनन्तभागवृद्धिविषयत्वेन न प्राप्यन्ते । कण्डकप्रमाणानन्तभागस्थानादूर्ध्वमसंख्यभागवृद्धस्थानस्य लाभेन तदनन्तरस्थितानि तदनन्तरपूर्वस्थानापेक्षयाऽनन्तभागवृद्धियुतान्यपि स्थानान्यसंख्यभागवृद्धस्थानतोऽधस्तनगतानन्तभागस्थानापेक्षयाऽसंख्येयभागवृद्धान्येव प्राप्यन्ते, अतो विवक्षितस्थानादनन्तभागवृद्धिप्रायोग्यस्थानानि कण्डकप्रमाणान्येवोत्कृष्टतः प्राप्यन्ते, एतेषु सञ्चरन्ननन्तभागवृद्धिं हानिं वा करोति ।

तथा कुतश्चिदपि रसबन्धाध्यवसायस्थानाद् निरन्तरस्थितानन्तभागवृद्धस्थानानि विहायासंख्यभागवृद्धस्थाने तदूर्ध्वस्थितेष्वनन्तभागवृद्धस्थानेष्वसंख्यभागवृद्धस्थानेषु च यावत् संख्येयभागवृद्धस्थानं न प्राप्यते तावत् कण्डकवर्गप्रमाणान्यनन्तभागवृद्धरसबन्धस्थानानि, कण्डकप्रमाणानि चासंख्येयभागवृद्धस्थानानि उत्कृष्टतोऽसंख्येयभागवृद्धिविषयत्वेन प्राप्यन्ते, एतेष्वसंख्येयभागे तदुपरि चानन्तभागे गच्छन्नसंख्येयभागवृद्धिं करोति । एवमवतरन् यथाक्रममसंख्येयभागादारभ्य हानिं विदधाति ।

एवं सख्यातभागवृद्धिविपयत्वेन संख्यातकण्डकवर्गप्रमाणानि सख्यातकण्डकप्रमाणानि चानन्तभागवृद्धस्थानानि, संख्यातकण्डकप्रमाणानान्यसंख्यभागवृद्धस्थानानि संख्येयानि संख्यातभागवृद्धस्थानानि प्राप्यन्ते, विवक्षितस्थानादेतेषु स्थानेष्वेव संख्यातभागवृद्धिर्भवति। एवमवतरतश्च संख्येयभागमादौ कृत्वा हानिर्भवति ।

यदा तु सञ्चरेण विवक्षितैकाध्यवसायस्थानतः सख्यातभागवृद्धिविपयभूतानि स्थानानि विचार्यन्ते तदा तु दर्शितसंख्याकानि भवन्ति । किन्तु मण्डूकप्लुतिचारेण विचार्यन्ते तदा तु तानि एककण्डकधनैककण्डकवर्गप्रमाणान्यनन्तभागवृद्धिस्थानानि तथा कण्डकवर्गप्रमाणान्यसख्येयभागवृद्धिस्थानानि तथा संख्यातभागवृद्धिस्थानानि तु कण्डकमात्राणि सख्येयभागवृद्धिविपयतया प्राप्यन्ते । परमेकप्लुतौ तु विपयभूतानि स्थानानि सञ्चरेण दर्शितस्थानेभ्यो नैवाधिकानीति स्ववधेयमिति ।

एवं संख्यातगुणादिविपयेऽपि भावनीयम् ।

एतेषु स्थानेषु प्राक्समयत उत्तरसमय उक्तरूपां पञ्चविधां वृद्धिं हानिं वा करोति, इत्येवं स्वामिनां स्वरूपं परिभावनीयम् ।

तृतीय एकजीवाश्रितकालद्वार ओघतो विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां मार्गणासु चापगतवेदसूक्ष्मसंपराय-कार्मणानाहारकमार्गणाचतुष्कं विहाय शेपासु पट्पञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सायुपां सर्वकर्मणां पञ्चविधवृद्धीनां पञ्चविधहानीनां च प्रत्येकमुत्कृष्टतः काल आवलिकाया असंख्येयभागमात्रो भवति, संक्लेशविशुद्धौ अनन्तगुणत्वं विहाय पञ्चप्रकारवृद्धिहानीनां कालस्याऽऽवलिकाया असंख्येयभागमात्रत्वात् । अपगतवेदसूक्ष्मसम्पराययोः पञ्चविधवृद्धिहानीनामभावान्न तद्विचारणम् ।

कार्मणानाहारकमार्गणाद्वयकायस्थितेरेव प्रस्तुते समयत्रयप्रमाणत्वम् । तत्रापि प्रथमसमयेऽवस्थितरसबन्धस्यैव विवक्षितत्वाद् द्वितीयतृतीयसमयरूपः समयोनमार्गणाज्येष्ठकायस्थितिलक्षणः पञ्चवृद्धिहानीनां ज्येष्ठकालो भवति, जघन्यकालस्तु समयप्रमितोऽतिदेशानुसारेण प्राप्यत इति । कासाञ्चिद् देवद्विकादिप्रकृतीनां तु समयमेकमुत्कृष्टतोऽपि पञ्चानां हानिवृद्धीनां बन्धकालः प्राप्यते । एवं कालद्वारेऽपवादद्वयम् ।

चतुर्थेऽन्तरद्वारे कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये पञ्चानां वृद्धिहानीनामन्तरं नास्ति । उक्तापवादपदं विहाय शेषमन्तरद्वारमतिदेशानुसारेणावस्थितरसबन्धवद्विज्ञेयमिति ।

भङ्गविचयद्वारेऽवस्थितरसबन्धो यत्र ध्रुवस्तत्र पञ्चानां वृद्धिहानीनां ध्रुवत्वम्, यत्राऽवस्थितरसबन्धस्याध्रुवत्वं तत्र पञ्चानां वृद्धिहानीनामध्रुवत्वम्, भङ्गसंख्या त्वत्र पदानामाधिक्यात् पदानुसारेण स्वयं कार्या सुगमा चेति ।

तहवि खणूणगुरुठिई सो सव्वाण पणवुड्ढिहाणीणं ।
कम्माणाहारेसु तहि दोसु अंतरं णो सिं ॥१४३॥
दसमे कालदुवारे सव्वेसि पंचवुड्ढिहाणीणं ।
आवलिआऽसंखंसो गुरू तहि जहाऽत्थि संखखणा ॥१४४॥

(प्रे०) "सामित्ताईसु"मित्यादि, अनन्तभागवृद्धिरसंख्यभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिरसंख्यातगुणवृद्धिश्चेति या अनन्तगुणरहिताः पञ्च वृद्धयः, एवं याः पञ्च हानयश्चेति दशानां पदानां स्वामित्वादिभावद्वारान्तेषु निरूपणं वक्ष्यमाणापवादपदानि विहाय यथा भूयस्काराधिकारेऽवस्थितरसबन्धस्य दर्शितम्, तथैव ज्ञेयमिति । अवस्थितरसबन्धवदनन्तभागादीनां पञ्चानां वृद्धीनां पञ्चानां च हानीनां क्वचित् कस्यचिल्लाभात्, यथा च यथाप्रवृत्त्यादिकरणाद्यभिमुखावस्था विहाय सर्वत्राऽवस्थितरसबन्धस्य प्रायोग्यत्वं तथा पञ्चानां वृद्धीनां हानीनां प्रायोग्यत्वाच्च तद्वदतिदेशो विहितः ।

अत्र किञ्चिद्भाव्यते—ओघे मार्गणासु च यथाऽवस्थितरसबन्धमन्यतरजीवः करोति इत्यत्राऽन्यतरशब्देन यो जीवः कस्मिँश्चिदपि रसबन्धाध्यवसाये द्विसमयाद्यवस्थितिं करोति तस्य द्वितीयादिसमयेऽवस्थितरसबन्धो भवतीति प्रदर्शितम्, तथाऽत्राऽनन्तभागवृद्ध्यादावन्यतरस्वामी भवति, अत्रान्यतरशब्देन प्राक्समयगतरसबन्धाध्यवसायतोऽनन्तभागवृद्धरसबन्धाध्यवसायं प्राप्तो जीवो रसस्यानन्तभागवृद्धिं करोति ।

कस्मादपि रसबन्धाध्यवसायस्थानतः कण्डकप्रमाणतोऽतिरिक्तानि रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यनन्तभागवृद्धिविषयत्वेन न प्राप्यन्ते । कण्डकप्रमाणानन्तभागस्थानादूर्ध्वमसंख्यभागवृद्धस्थानस्य लाभेन तदनन्तरस्थितानि तदनन्तरपूर्वस्थानापेक्षयाऽनन्तभागवृद्धियुतान्यपि स्थानान्यसंख्यभागवृद्धस्थानतोऽधस्तनगतानन्तभागस्थानापेक्षयाऽसंख्येयभागवृद्धान्येव प्राप्यन्ते, अतो विवक्षितस्थानादनन्तभागवृद्धिप्रायोग्यस्थानानि कण्डकप्रमाणान्येवोत्कृष्टतः प्राप्यन्ते, एतेषु सञ्चरन्ननन्तभागवृद्धिं हानिं वा करोति ।

तथा कुतश्चिदपि रसबन्धाध्यवसायस्थानाद् निरन्तरस्थितानन्तभागवृद्धस्थानानि विहायासंख्यभागवृद्धस्थाने तदूर्ध्वस्थितेष्वनन्तभागवृद्धस्थानेष्वसंख्यभागवृद्धस्थानेषु च यावत् संख्येयभागवृद्धस्थानं न प्राप्यते तावत् कण्डकवर्गप्रमाणान्यनन्तभागवृद्धरसबन्धस्थानानि, कण्डकप्रमाणानि चासंख्येयभागवृद्धस्थानानि उत्कृष्टतोऽसंख्येयभागवृद्धिविषयत्वेन प्राप्यन्ते, एतेष्वसंख्येयभागे तदुपरि चानन्तभागे गच्छन्नसंख्येयभागवृद्धिं करोति । एवमवतरन् यथाक्रममसंख्येयभागादारभ्य हानिं विदधाति ।

एवं संख्यातभागवृद्धिविषयत्वेन संख्यातकण्डकवर्गप्रमाणानि संख्यातकण्डकप्रमाणानि चानन्तभागवृद्धस्थानानि, संख्यातकण्डकप्रमाणानान्यसंख्यभागवृद्धस्थानानि संख्येयानि संख्यातभागवृद्धस्थानानि प्राप्यन्ते, विवक्षितस्थानादेतेषु स्थानेष्वेव संख्यातभागवृद्धिर्भवति। एवमवतरतश्च संख्येयभागमादौ कृत्वा हानिर्भवति ।

यदा तु सञ्चरेण विवक्षितैकाध्यवसायस्थानतः संख्यातभागवृद्धिविषयभूतानि स्थानानि विचार्यन्ते तदा तु दर्शितसंख्याकानि भवन्ति। किन्तु मण्डूकप्लुतिचारेण विचार्यन्ते तदा तु तानि एककण्डकधनैककण्डकवर्गप्रमाणान्यनन्तभागवृद्धिस्थानानि तथा कण्डकवर्गप्रमाणान्यसंख्येयभागवृद्धिस्थानानि तथा संख्यातभागवृद्धिस्थानानि तु कण्डकमात्राणि संख्येयभागवृद्धिविषयतया प्राप्यन्ते। परमेकप्लुतौ तु विषयभूतानि स्थानानि सञ्चरेण दर्शितस्थानेभ्यो नैवाधिकानीति त्ववधेयमिति ।

एवं संख्यातगुणादिविषयेऽपि भावनीयम् ।

एतेषु स्थानेषु प्राक्समयत उत्तरसमय उक्तरूपां पञ्चविधां वृद्धिं हानिं वा करोति, इत्येवं स्वामिनां स्वरूपं परिभावनीयम् ।

तृतीय एकजीवाश्रितकालद्वारे ओघतो विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां मार्गणासु चापगतवेदसूक्ष्मसंपराय-कार्मणानाहारकमार्गणाचतुष्कं विहाय शेषासु षट्पञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सायुषां सर्वकर्मणां पञ्चविधवृद्धीनां पञ्चविधहानीनां च प्रत्येकमुत्कृष्टतः काल आवलिकाया असंख्येयभागमात्रो भवति, संक्लेशविशुद्धौ अनन्तगुणत्वं विहाय पञ्चप्रकारवृद्धिहानीनां कालस्याऽऽवलिकाया असंख्येयभागमात्रत्वात् । अपगतवेदसूक्ष्मसम्पराययोः पञ्चविधवृद्धिहानीनामभावान्न तद्विचारणम् ।

कार्मणानाहारकमार्गणाद्वयकायस्थितेरेव प्रस्तुते समयत्रयप्रमाणत्वम्। तत्रापि प्रथमसमयेऽवस्थितरसबन्धस्यैव विवक्षितत्वाद् द्वितीयतृतीयसमयरूपः समयोनमार्गणाज्येष्ठकायस्थितिलक्षणः पञ्चवृद्धिहानीनां ज्येष्ठकालो भवति, जघन्यकालस्तु समयप्रमितोऽतिदेशानुसारेण प्राप्यत इति। कासाञ्चिद् देवद्विकादिप्रकृतीनां तु समयमेकमुत्कृष्टतोऽपि पञ्चानां हानिवृद्धीनां बन्धकालः प्राप्यते। एवं कालद्वारेऽपवादद्वयम् ।

चतुर्थेऽन्तरद्वारे कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये पञ्चानां वृद्धिहानीनामन्तरं नास्ति । उक्तापवादपदं विहाय शेषमन्तरद्वारमतिदेशानुसारेणावस्थितरसबन्धवद्विज्ञेयमिति ।

भङ्गविचयद्वारेऽवस्थितरसबन्धो यत्र ध्रुवस्तत्र पञ्चानां वृद्धिहानीनां ध्रुवत्वम्, यत्रावस्थितरसबन्धस्याध्रुवत्वं तत्र पञ्चानां वृद्धिहानीनामध्रुवत्वम्, भङ्गसंख्या त्वत्र पदानामाधिक्यात् पदानुसारेण स्वयं कार्या सुगमा चेति ।

भागद्वारे यत्र प्रकृतिबन्धका असंख्येया अनन्ता वा, तत्र यथाऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयैकभागमिता भवन्ति; तथा पञ्चानां वृद्धीनां पञ्चानां च हानीनां बन्धका असंख्येयैकभागमात्रा भवन्ति। यत्र प्रकृतिबन्धका संख्येया एव तत्र यथाऽवस्थितरसबन्धकाः संख्यातैकभागप्रमाणा उत्कृष्टपदे प्राप्यन्ते, तथैवानन्तगुणवृद्धिहानी विहाय शेषाः पञ्चवृद्धिहानिबन्धका अपि संख्यातैकभागमात्राः प्राप्यन्त इति।

परिमाणद्वारे यत्राऽवस्थितरसबन्धकाः संख्येयास्तत्र पञ्चवृद्धिहानिबन्धका अपि संख्येयाः, एवं यत्रावस्थितरसबन्धका असंख्येयास्तत्र पञ्चवृद्धिहानिबन्धका असंख्येयाः, यत्रावस्थितरसबन्धका अनन्तास्तत्र पञ्चवृद्धिहानिबन्धका अप्यनन्ताः। एवं क्षेत्रद्वारे स्पर्शनाद्वारे च केवलिसमुद्घातगतस्पर्शनां विहाय यथा प्रकृतिबन्धकानां क्षेत्रं स्पर्शना च प्राप्येते तथैवानुत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रं स्पर्शना च प्राप्येते, एवमेवावस्थितरसबन्धस्य पञ्चवृद्धिहानीनां क्षेत्रं स्पर्शना च प्राप्येते। केवलं कार्मणानाहारके देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां पञ्चवृद्धिहानिसत्कस्पर्शना स्वयं परिभावनीया, मार्गणाप्रथमसमयेऽवस्थितबन्धस्य विवक्षितत्वेऽपि तत्र भूयस्कारबन्धस्याविवक्षणवदासामप्यविवक्षणात्।

नानाजीवाश्रयकालद्वारे यत्र यासां प्रकृतिबन्धकानां संख्येयत्वेनावस्थितबन्धकानां संख्येयत्वादवस्थितरसबन्धस्य नानाजीवाश्रितज्येष्ठकालः संख्यातसमयप्रमितः प्राप्यते, तत्र पञ्चवृद्धिहानीनामेकजीवाश्रितकालस्यावलिकाया असंख्येयभागमात्रत्वान्नानाजीवानधिकृत्य पञ्चवृद्धिहानीनां ज्येष्ठकालः संख्येयजीवानां बन्धकत्वे आवलिकाऽसंख्येयभागप्रमाणो भवतीत्यपवादः। यत्र बन्धकानामसंख्येयत्वेप्यसंख्येयलोकतो न्यूनत्वम्, तत्रातिदेशानुसारेण पञ्चवृद्धिहानीनां ज्येष्ठकाल आवलिकाऽसंख्येयभागप्रमितः प्राप्यते, यत्र प्रकृतिबन्धका असंख्येयलोकमिता अनन्ता वा तत्रावस्थितरसबन्धकवत् पञ्चानां वृद्धिहानीनां बन्धकालः सर्वाद्धा भवति।

अन्तरद्वारेऽसंख्यलोकमितमन्तरमन्तराभावं वातिदेशानुसारेण प्राप्यत इति नान्तरद्वारेऽपवादः। भावद्वारे पञ्चवृद्धिहानीनां बन्ध औदयिकभावेन भवति। पञ्चानां वृद्धिहान्योरतिदेशार्थो लेशतो दर्शितः। एवमाद्यगाथया उत्तरार्धं विहाय सार्धगाथात्रयार्थो भावितः।

आद्यगाथाया उत्तरार्धे अनन्तगुणवृद्धेस्तादृगहानेश्च क्रमेण भूयस्कारवदल्पतरवच्चातिदेशो विहितस्तद्यथा—अनन्तगुणवृद्धेः स्वामित्वादीनि भावद्वारपर्यवसानान्येकादशद्वाराणि भूयस्काररसबन्धे यथा लभ्यन्ते, तथैव भावनीयानि। पञ्चानां वृद्धिहानीनां प्रतिजीवं क्वचिदेव प्रवर्तनाद् भूयस्काररसबन्धे प्रवर्तमाने बाहुल्यतोऽनन्तगुणवृद्धेरेव प्रवर्त्तनं भवतीति

तद्वदतिदेशः, एवमल्पतरसबन्धे प्रवर्तमाने बाहुल्यतोऽनन्तगुणहानेः सद्भावात्तथातिदेशः, भावना तु तदनुसारेण कार्या सुगमा च । केवलं भङ्गविचयद्वारेऽनन्तगुणवृद्धेर्हानेश्च ध्रुवत्वमध्रुवत्वं वा भूयस्काराल्पतरवद् विज्ञेयम् , भङ्गास्तु शेषपदानां ध्रुवत्वमध्रुवत्वं च विज्ञाय यथासंभवं कार्येति । तदेवं रसबन्धे वृद्ध्यधिकारे स्वामित्वादिभावपर्यवसानानां द्वितीयादिद्वादशद्वारान्तानां द्वाराणां निरूपणं समाप्तम् ॥१४१-१४४॥

अथोत्तरप्रकृतिरसबन्धे वृद्ध्यधिकारे त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारं निरूपयितुकाम आह—

धुवबंधिउरालाणं अवत्तव्वस्सऽत्थि बंधगा थोवा ।
ताउ अणंतगुणाऽवट्ठिअस्स तत्तो असंखगुणा ॥१४५॥
हुन्ति कमसो अणंतअसंखियसंखेज्जभागहाणीणं ।
ताओ कमसो संखियअसंखणंतगुणहाणीणं ॥१४६॥
एवं तित्थस्स णवरि असंखियगुणा अवट्ठिअस्सऽत्थि ।
सेसाणेवं णवरमवत्तव्वस्स उ असंखगुणा ॥१४७॥
पंचमहाणीअ चरमहाणीओ उण असंखगुणहीणा ।
हुन्ति असंखगुणथले आहारदुगस्स संखगुणा ॥१४८॥
सव्वत्थ स-हाणिसमा वुड्ढीणं बंधगाऽत्थि णवरि समं ।
जहसंभवमणाणं अणंतगुणवुड्ढिहाणीणं ॥१४९॥
सव्वाण अवत्तव्वाऽवट्ठिअऽणंतगुणवुड्ढिहाणीणं ।
अप्पबहु अत्थि सव्वह भूओगाराहिगारव्व ॥१५०॥
संखाऽत्थि जाण तेसि पणऽणंतसाइवुड्ढिहाणीणं ।
संखगुणा हुन्ति कमा अवट्ठिइहरा असंखगुणा ॥१५१॥

(प्रे०) "धुवे"त्यादि, ओघतो रसबन्धसत्कानन्तभागाऽसंख्यभागसंख्यातभागसंख्यातगुणासंख्यगुणानन्तगुणरूपाणां षड्विधवृद्धिबन्धकानां षड्विधहानिबन्धकानामवस्थितरसबन्धकानामवक्तव्यरसबन्धकानां चेति चतुर्दशानां पदानामल्पबहुत्वं निरूपयन्नाह—सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितरसबन्धका अनन्तगुणाः, भावना तु भूयस्काराधिकारवत् कार्या सुगमा

च । ततोऽनन्तभागहानिबन्धका असंख्यगुणाः, अवस्थितरसबन्धेन सह बन्धप्रायोग्यस्वामिनां समानत्वेऽप्येवमन्तरकालस्याप्येकजीवापेक्षया उभयोरसंख्येयलोकप्रमाणत्वेन समत्वेऽप्यवस्थितरसबन्धस्यैकजीवसत्कसप्तसमयप्रमाणज्येष्ठकालत आवलिकाऽसंख्येयभागप्रमाणानन्तभागहानिसत्कज्येष्ठकालस्यासंख्यगुणत्वेन तत्र तावत्कालमध्ये सञ्चितजीवानामसंख्येयगुणत्वादिति ।

ततोऽसंख्येयभागहानिबन्धका असंख्येयगुणाः, अनन्तभागहानिविषयतोऽसंख्यभागहानेर्विषयस्यासंख्येयगुणत्वात्तन्निरन्तरकालस्याऽप्यनन्तभागहानिनिरन्तरकालतोऽसंख्येयगुणत्वाच्च । ततः संख्यातभागहानिबन्धका असंख्येयगुणाः ।

संख्येयभागहानिस्थानानामुत्कृष्टसंख्यातप्रमाणानामुल्लङ्घनेन संख्येयगुणहानिलाभादुत्कृष्टसंख्यातप्रमितसंख्यातभागस्थानेष्वेव परम्परोपनिधया संख्यातभागहानिर्दर्शिता इति कृत्वा केचित्तु तानि स्थानान्यसंख्येयभागहानिस्थानतः संख्येयगुणान्येवातः संख्येयभागहानेर्विषयः संख्येयगुण इति प्रतिपादयन्ति तच्च न सम्यगीक्षामहे, यतः परम्परोपनिधया तत्स्थानानां संख्येयगुणत्वेऽपि तत ऊर्ध्वं यानि स्थानानि सख्यासंख्यानन्तभागवृद्धिगतानि, पश्चानुपूर्व्या वा हानियुतानि यावत् संख्येयगुणवृद्धं हीनं वा स्थानं न प्राप्यते तत्स्थानं तावद् मण्डूकप्लुतिन्यायेन संख्येयभागवृद्धिहान्योः गमनप्रायोग्यत्वस्य संभवात् ।

यथाऽनन्तभागहानिस्थानानि कण्डकप्रमितानि यथा वाऽसंख्येयभागहानेर्विषयभूतानि स्थानानि कण्डकवर्गयुतकण्डकप्रमितानि भवन्ति, अर्थात् पूर्वस्थानतः कण्डकगुणितानि कण्डकाधिकानि भवन्ति, तथैव संख्येयभागहानिविषयभूतानि स्थानान्यसंख्यभागहानिविषयकस्थानेभ्यः कण्डकगुणानि कण्डकाधिकानि प्राप्यन्ते, अतो विषयतोऽसंख्येयगुणत्वमेवास्माकं मण्डूकप्लुतिन्यायेन प्रतिभाषते । एव संख्येयगुणहानेरपि विषयोऽसंख्येयगुणो मण्डूकप्लुतिन्यायेन भावनीयः । असंख्यगुणहानेर्विषयस्तु तन्मतेऽप्यसंख्येयगुण एवेति ।

पञ्चवृद्धिहानिषु यद्यप्यावलिकाया असंख्येयभागमात्रकालो भवति तथापि तासां विषयस्योत्तरोत्तरासंख्येयगुणत्वेन अनन्तभागहान्यादीनां निरन्तरकालस्योत्तरोत्तरमसंख्येयगुणत्वं स्यात् तर्हि न काचित् क्षतिर्दृश्यते । यदि पुनरुत्तरोत्तरकालोऽसंख्यगुणः स्यात् तदाऽपि तासां पञ्चानां सञ्चरणविषयस्योत्तरोत्तरमसंख्येयगुणत्वेन जीवानामसंख्येयगुणत्वस्योत्तरोत्तरलाभे न क्षतिः । अपि तु सुसङ्गतमेवेति ।

ततः संख्यातगुणहानिबन्धका असंख्येयगुणास्ततोऽसंख्येयगुणहानिबन्धका असंख्येयगुणास्ततोऽनन्तगुणहानिबन्धका असंख्येयगुणाः, अत्रानन्तगुणहानेर्विषयस्य निरन्तरकालस्य चासंख्येयगुणत्वेन बन्धकजीवानामसंख्येयगुणत्वमिति ।

अत्र हानेर्विषयभूतस्थानानां वृद्धेर्विषयभूतस्थानानां च समानप्रायस्त्वाद् हानेर्वृद्धेश्च कालस्य समानप्रायस्त्वाच्च पञ्चानामनन्तभागादीनामसंख्येयगुणपर्यवसानानां हानीनां वृद्धीनां च बन्धका ज्येष्ठपदे तुल्या भवन्ति, अतोऽत्र वृद्धिबन्धकानामल्पबहुत्वमप्रदर्श्य पञ्चमगाथयौघ आदेशे च बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां षड्विधवृद्धिबन्धकानामल्पबहुत्वं षड्विधहानिबन्धकसमं प्रदर्शितम्, नवरमनन्तगुणवृद्धिहान्योः परस्परं विशेषस्तु स्वयं परिभावनीयः, एतच्च भूयस्काराधिकारे भागद्वारेऽल्पबहुत्वद्वारे च भूयस्काराल्पतरपदयोर्युगपद्भणनावसरे यथा भावितं तथा प्रस्तुते भावनीयमिति। "एव"मित्यादि, यथा ध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतीनां चतुर्दशपदानामल्पबहुत्वं प्रदर्शितम्, तथा जिननाम्नोऽपि विज्ञेयम्, केवलं जिननामप्रकृतिबन्धकानामेवासंख्येयत्वादवक्तव्यबन्धकेभ्योऽवस्थितरसबन्धकानामसंख्येयगुणत्वमेव द्वितीयस्थाने पठनीयम्, न त्वतिदेशानुसारेणानन्तगुणत्वमिति।

उक्तशेषाणामेकसप्ततेः प्रकृतीनां बन्धकजीवानां बहुभागेषु प्रत्यन्तमुहूर्तमवक्तव्यबन्धस्यावश्यं प्रवर्तनादनन्तगुणवृद्धिहानी विहाय शेषपञ्चवृद्धिहान्यवस्थानेभ्योऽवक्तव्यबन्धकानामाधिक्यं भवतीति मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिप्रकृतिसत्कालपबहुत्वतः प्रस्तुते विशेषः।

अल्पबहुत्वं पुनरासामेवम्—अवस्थितरसबन्धकाः स्तोकास्ततोऽनन्तभागहानिवृद्ध्योर्बन्धका असंख्येयगुणाः परस्परं तुल्याः, ततोऽसंख्येयभागहानिवृद्ध्योर्बन्धका असंख्येयगुणाः परस्परं तुल्याः, ततः संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका असंख्येयगुणाः परस्परं तुल्याः, ततः संख्येयगुणहानिवृद्ध्योर्बन्धका असंख्येयगुणाः परस्परं तुल्याः, ततोऽसंख्येयगुणहानिवृद्ध्योर्बन्धका असंख्येयगुणाः परस्परं तुल्याः, ततोऽवक्तव्यरसबन्धका असंख्येयगुणाः, ततोऽनन्तगुणहानिवृद्धिरसबन्धका असंख्येयगुणाः, परस्परं विशेषः स्वयं ज्ञातव्यः। शेषप्रकृतयो नामतः पुनरिमाः—हास्यादियुगलद्वयवेदत्रयवेदनीयद्वयगोत्रद्वयायुष्कचतुष्कगतिचतुष्कजातिपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियद्विकाहारकद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयानुपूर्वीचतुष्कपराघातोच्छ्वासातपोद्योतत्रसदशकस्थावरदशकनामानि। आभ्य एकषष्टिप्रकृतीनामेकेन्द्रियेषु बन्धो भवति, तथैवावक्तव्यबन्धश्चेति नानन्तगुणत्वस्य कस्मिंश्चिदपि पदेऽवकाशः। शेषा दश एकेन्द्रियेषु न बध्यन्ते ताश्चेमाः वैक्रियाष्टकमाहारकद्विकं च।

अत्राऽऽहारकद्विकस्य प्रकृतिबन्धकानामेव संख्येयत्वादुक्ताल्पबहुत्वे यत्र यत्रासंख्येयगुणत्वं दर्शितं तत्र तत्राऽऽहारकद्विकसत्काल्पबहुत्वे संख्येयगुणमेव वाच्यम्, अल्पबहुत्वसत्कपदाना क्रमे न कश्चिद् भेद इति। तदेवं गाथापञ्चकेनौघतश्चतुर्दशरसबन्धसत्कपदबन्धकानामल्पबहुत्वं निरूपितम्।

॥ पञ्चमोऽध्यवसानसमुदाहाराधिकारः ॥

अथ पञ्चममध्यवसायसमुदाहारनामाधिकारं निरूपयितुकाम आदावत्र प्ररूपणीयद्वारयोर्नाम्नी प्रदर्शयन्नाह—

अहिगारे अज्झवसाणसमुदाहारम्मि पंचमे णेया।
दुविहा परूवणा खलु भेआओ ठाणजीवाणं ॥१५२॥

(प्रे०) "अहिगारे" इत्यादि, 'अज्झवसण' त्ति, अत्र अध्यवसायसामान्यस्य निर्देशेऽपि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायाद् रसबन्धस्याध्यवसाया ग्राह्याः, रसबन्धस्य प्रस्तुतत्वात्। तेषां यत्र तत्तत्प्रकृतिबन्धे तत्तत्स्थितिबन्धस्थानेषु स्थितिबन्धस्थानकारणभूतकषायोदयस्थानेषु च प्ररूपणं करिष्यते; तदाधेयप्राधान्यादध्यवसायस्थानद्वारम्। रसबन्धकजीवेषु रसबन्धाध्यवसायानामवतारणं जीवसमुदाहारः। एवमध्यवसायसमुदाहारे पञ्चमाधिकारे द्वारद्वयं भवति—स्थानसमुदाहारद्वारं जीवसमुदाहारद्वारमिति। यद्यपि रसबन्धाध्यवसायेन गृहीतकर्मपुद्गलेषूत्पन्नः कार्यरूपो यो रसाविभागादिसमूहस्तस्य निरूपणमत्राध्यवसायस्थानद्वारेऽन्तर्भवति, तथाऽपि तत्स्वरूपस्य मूलप्रकृतिरसबन्धे विस्तरतो निरूपितत्वात्तद्वदत्रापि तेषां स्थानानां प्ररूपणाया आवश्यकत्वेऽपि पूर्वोक्तेनैव गतत्वात् न पृथक् प्ररूपणा इति। अत्र रसबन्धाध्यवसायानामेव तत्तत्प्रकृतिषु तत्तत्स्थितिस्थानेषु कषायोदयस्थानेषु च पृथक् प्ररूपणं करिष्यते। नन्विमा प्ररूपणा तत्राऽपि सम्भवति कस्मात् सा तत्र न विहिता इति चेत्, सुगमप्रायस्त्वात् यद्वा "अत्रोक्ता प्ररूपणा तत्राऽपि द्रष्टव्या, तत्रोक्ता अत्रापि" इति न्यायप्रदर्शनार्थमिति परिकल्पयामः। एवं च सत्यध्यवसायस्थानसमुदाहारे रसबन्धाध्यवसायकार्यरूपस्य रसबन्धस्थानस्याविभागादिद्वारैर्निरूपणं तथा रसबन्धाध्यवसायानां तत्तत्प्रकृतिषु स्थितिस्थानेषु कषायोदयस्थानेषु च संख्यया निरूपणं तथा तत्तत्स्थितिस्थानगतानां रसबन्धाध्यवसायस्थानानां यादृशं नानास्थितिस्थानेष्वनुकर्षणं भवति तन्निरूपणीयम्। तथा स्थितिस्थानान्यधिकृत्य अनुकृष्ट्यादिना वर्तमानानां रसबन्धाध्यवसायानां तीव्रमन्दत्वमपि प्रस्तुते स्थानद्वारे कथनीयमिति। तत्र विंशत्युत्तरशतप्रकृतिसत्करसबन्धाध्यवसायकार्यभूतानां रसबन्धस्थानानामविभागादिद्वारैः प्ररूपणं तु यथा मूलप्रकृतिबन्धे कृतं तद्वदत्राऽपि यथायोग्यं विभावनीयमित्यत्र न तन्निरूपणं करिष्यामः ॥१५२॥

अतोऽध्यवसायस्थानद्वारे प्रकृत्यादिषु स्थानसमुदाहारः रसबन्धाध्यवसायानां निरूपण कुर्वन्नादौ अध्यवसायस्थाने द्वारे निरूपणीयप्रकृतिसमुदाहाराद्यवान्तरद्वारनामानि प्राह—

अज्झवसाणट्ठाणे हवन्ति दाराणि तिण्णि जहक्कमसो।
दो पयडिट्ठिइसमुदाहारा तह तिव्वमंदत्तं ॥१५३॥

(प्रे०) "अज्झवसाणे"त्यादि, रसबन्धाध्यवसायान्येव स्थानानि जीवानां तत्रावस्थानात्, तान्यध्यवसायस्थानानि, तेषां प्ररूपणं त्रिविधं भवति, तत्र तत्तत्प्रकृतिषु सम्भवद्रसबन्धाध्यवसायानां परिमाणनिरूपणम्, तथा परिमाणमाश्रित्य स्वस्थानप्रकृतिषु स्वस्थानपरस्थानप्रकृतिषु तेषां सख्याया न्यूनाधिकत्वज्ञापकमल्पबहुत्वस्य निरूपणं यस्मिन् तत्प्रकृतिसमुदाहारद्वारम् ।

द्वितीयं पुनरेवम्—तत्तत्प्रकृतिसत्केषु स्थितिस्थानेषु रसबन्धाध्यवसायानां प्रमाणनिदर्शनम् । तथा तेषामध्यवसायानां प्रमाणस्य जघन्यस्थितिस्थानत ऊर्ध्वमुत्तरोत्तरस्थितिस्थानेषूत्कृष्टस्थितिस्थानतो वाऽधः क्रमभाविस्थितिस्थानेषु संभवद् वृद्धेर्हानेर्वा तथा तद्‌द्विगुणवृद्धिहानिस्थानानां च प्रकटनम् । एवं स्थितिस्थानान्तर्गतेषु कषायोदयस्थानेष्वपि रसबन्धाध्यवसायानां प्रमाणमुत्तरोत्तरकषायोदयस्थानेषु वृद्धयादिश्च यत्र प्ररूप्यते तत्स्थितिसमुदाहारद्वारम् ।

तृतीयन्तु तत्तत्प्रकृतिसत्कानां स्थितिभेदेनावस्थितानां रसबन्धाध्यवसायानां कियत्सु स्थितिस्थानेषु कियत्प्रमाणानामध्यवसायानामनुकर्षणं भवति, यद्वानुकर्षणं न भवतीत्यस्य चिन्तनं तथाऽनुकृष्टयानुसारेण प्रतिस्थितिस्थाने वर्तमानयोर्जघन्योत्कृष्टरसबन्धाध्यवसाययोः समुदितं तीव्रत्वरूपं मन्दत्वरूपं वाऽल्पबहुत्वं निरूप्यते यस्मिन्तत्तीव्रमन्दताख्यद्वारमिति । अत्राऽनुकृष्टेः पृथग् गणनं न विहितं तथाऽपि तत्कार्यरूपस्य तीव्रमन्दत्वस्य निरूपणेन तस्य च स्वकारणाविनाभावित्वेनानुकृष्टेर्ग्रहणं तीव्रमन्दताद्वारे भवतीति तदन्तर्गतैव द्रष्टव्याऽनुकृष्टिरिति ॥१५३॥

॥ प्रथमं प्रकृतिसमुदाहारद्वारम् ॥

अथोत्तरप्रकृतिषु प्रत्येकं रसबन्धाध्यवसायप्रमाणं निरूपयन्नाह—

सव्वाणऽज्झवसायट्ठाणाइं खलु असंखलोगाऽत्थि ।
एवं सव्वह नवरं अवेअसुहमेसु य असंखा ॥१५४॥

(प्रे०) "सव्वाणे"त्यादि, ओघतो विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं रसबन्धप्रायोग्यान्यध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति, अपूर्वकरणान्तानां वक्ष्यमानसर्वस्थितिस्थानेषु प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाध्यवसायानां भावात् । एवमपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयवर्जास्वष्टषष्ठ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्यसर्वासां प्रकृतीनामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिता रसबन्धाध्यवसाया भवन्ति । अपगतवेदे सूक्ष्मसम्पराये च रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यन्तर्मुहूर्तसमयप्रमितान्यसंख्येयानि भवन्ति, रसबन्धकजीवापेक्षया मार्गणाकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्प्रतिसमयं नानाजीवापेक्षयाऽप्येकैकाध्यवसायस्य लाभाच्च समुदिता अपि तेऽन्तर्मुहूर्तसमयतो नातिरिच्यन्ते । अयम्भावः—अष्टमगुणस्थानचरमसमयपर्यन्तं यासां प्रकृतीनां बन्धो लभ्यते, तासामसंख्येयलोकप्रमाणान्येव स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि रस-

रसबन्धाध्यवसायस्थानानि च सम्पद्यन्ते । यासां पुनर्नवम-दशमगुणस्थानद्वये तदन्यतमे एव वा बन्धस्तत्र तासां प्रकृतीनां रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यन्तर्मुहूर्तगतसमयसंख्याकानि भवन्ति । अत्र केचिद्-वेदकषायभेदैः श्रेणिद्वयारोहणोपशमश्रेण्यवरोहणभेदैश्च परस्परं गुणिते षट्त्रिंशमागच्छति, षट्त्रिंशता च नवमगुणस्थानकसमया गुणयितव्याः, अतः षट्त्रिंशद्गुणनवमगुणस्थानगतसमयप्रमितान्यध्यवसायस्थानानि नवमगुणस्थाने भवन्तीति प्रतिपादयन्ति, तच्चागमानुसारेण सद्धेतूपन्यासेन च विमर्षणीयं श्रुतपरिकर्मितमतिमद्भिः; नाऽत्र वयं विशेषनिर्णयं कुर्म इति । तदेवमोघादेशाभ्यां बन्धप्रायोग्यासु सर्वासु प्रकृतिषु रसबन्धाध्यवसायस्थानानामवतारणरूपे प्रकृतिसमुदाहारे रसबन्धाध्यवसायानां संख्या निरूपिता ॥१५४॥

अथ प्रतिप्रकृतिषु रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयलोकप्रमाणत्वेऽपि न ताः संख्याः परस्परं समाना इत्यतस्तद्विशेषज्ञापनार्थं प्रतिप्रकृतिगतानां रसबन्धाध्यवसायानां न्यूनाधिकत्वादिकमल्पबहुत्वरूपेण निरूपयन्नाह —

तिव्वरसस्स जहुत्तं ओहाएसेहि सव्वपयडीणं ।
दुविहं अप्पाबहुगं सठाणपरठाणभेएहि ॥१५५॥
तहिह वि अज्झवसायट्ठाणाणं जाणियव्वं तु ।

(प्रे०) "तिव्वरसस्से"त्यादि, रसबन्धाध्यवसायानामल्पबहुत्वं स्वस्थानतः परस्थानतश्च भवति । तत्र तत्तन्मूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य तत्तत्प्रकृतिसत्करसबन्धाध्यवसायाना स्तोकत्वं तुल्यत्वमधिकत्वं वा यत्र प्रतिपादयिष्यते तत्स्वस्थानाल्पबहुत्वं ज्ञातव्यम् । एवं सर्वोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य यदल्पबहुत्वं कथयिष्यते तत्परस्थानाल्पबहुत्वं ज्ञातव्यम् । इदं द्विविधमपि स्वस्थान-परस्थानसत्काल्पबहुत्वमोघादेशाभ्यां तीव्ररससत्काल्पबहुत्ववज्ज्ञातव्यम् । इदमत्र हृदयम्—ओघतः सर्वासां प्रकृतीनां तथाऽऽदेशतो मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां तीव्ररससत्काल्पबहुत्वं यथा दर्शितं तद्वदेव रसबन्धाध्यवसायानामल्पबहुत्वमपि ज्ञातव्यमिति । एवं सामान्येनातिदेशेनाल्पबहुत्वं कथितं किन्तु रसबन्धाल्पबहुत्वे सर्वपदानामुत्तरोत्तरमनन्तगुणता उक्ता, प्रस्तुतेऽध्यवसायानामनन्तगुणा हानिर्वृद्धिर्वा न सम्भवति, यतो रसबन्धाध्यवसायानामसंख्यलोकप्रमाणता एवातोऽनन्तगुणहानिस्थाने रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयगुणा हानिर्वक्तव्या ॥१५५॥ उक्तविशेषमेवापवादरूपेण दर्शयन्नाह—

णवरि अणंतगुणत्थले असंखगुणहीणाणि ॥१५६॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) "णवरी" त्यादि, सुगमं भावितार्थं चेति ॥१५६॥

अथ सापवादातिदेशेन प्राप्तं यदल्पबहुत्वं तत्र परस्थानाल्पबहुत्वे ये विशेषाः, तानपवादरूपेण क्रमशो दर्शयति——

ओहेणाऽऽएसेण वि जहि बंधो तहि विसेसहीणाणि ।
न्ते केवलणाणावरणाइतिगा असायस्स ॥१५७॥

(प्रे०) "ओहे" इत्यादि, ओघेन—सामान्यप्ररूपणायां तथाऽऽदेशेन नाम विशेषप्ररूपणायां मार्गणास्थानान्यश्रित्य, यत्र यत्राऽसातवेदनीयस्य बन्धस्तत्र तत्र केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणवीर्यान्तरायाऽसातवेदनीयानां ज्येष्ठरसबन्धस्य तुल्यत्वेऽपि प्रस्तुते केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणवीर्यान्तरायसत्काध्यवसायानां तुल्यत्वे सति ततो विशेषहीनान्यध्यवसायस्थानान्यसातवेदनीयस्य भवन्ति । अत्र "यत्र बन्धस्तत्र" इति कथनेनाऽपगतवेदसूक्ष्मसम्परायर्योर्वर्जनम् । अन्यत्राष्टषष्टयुत्तरशतमार्गणासु केवलज्ञानावरणादिप्रकृतिचतुष्कस्य बन्धसद्भावः, इति तत्र प्रस्तुतापवादविषयः, अयमपवादः परस्थानाल्पबहुत्वविषयक इत्यवधार्यम् ॥१५७॥

अथ परस्थानाल्पबहुत्वविषयकं द्वितीयमपवादपदमाह——

मणणाणाइदुगाओ थीणद्धीए विसेसहीणाणि ।

(प्रे०) "मणणाणे"त्यादि, परस्थानाल्पबहुत्वे ओघत आदेशतश्च यासु यासु मार्गणासु स्त्यानर्द्धर्या बन्धः, तासु तस्या ज्येष्ठरसबन्धो मनःपर्यवज्ञानावरणदानान्तरायाभ्यां तुल्यो भवति, तथाऽपि तस्या अध्यवसायास्तु तयोरध्यवसायतो विशेषहीना भवन्ति, प्रकृतिविशेषात् ॥

अथ तृतीयमपवादं परस्थानाल्पबहुत्वे दर्शयति——

सुद्धीउ णीअलहुरसबंधो जत्थ अजसस्स तहि णीआ ॥१५८॥ (गीतिः)

"सुद्धी" इत्यादि, परस्थानाल्पबहुत्वे ओघत आदेशतश्च यत्र नीचैर्गोत्रस्य बन्धे सति स्वस्थानविशुद्धौ सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां वा जघन्यरसबन्धस्तत्र यद्यपि ज्येष्ठरसबन्धोऽयशःकीर्तिनाम-नीचैर्गोत्रयोस्तुल्यो भवति, तथाऽपि नीचैर्गोत्रतोऽयशःकीर्तिनाम्नोऽध्यवसाया विशेषहीना भवन्ति, प्रकृतिविशेषाद् विशुद्ध्यवस्थाभाविनामध्यवसायानामाधिक्याद्वा । ता मार्गणाः पुनरिमाः-नरकौघ-सप्तमनरक-तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रिय-सप्ततेजस्काय-सप्तवायुकाय-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायोघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क- काययोगौघौदारिकौ-दारिकमिश्र--वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणयोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णनीलकापोतलेश्या-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्व-सास्वादन संज्ञ्यसंज्ञ्याहारका-णाहारकमार्गणाः षट्षष्टिरिति॥१५८॥

अथ चतुर्थमपवादपदं परस्थानाल्पबहुत्वे दर्शयन्नाह—

तिरियतिपणिंदियतिरियणरउरलेसुं सुराउगा हुन्ते ।
नरगइउरलतणूणं कमा असंखगुणहीणाणि ॥१५९॥

(प्रे०) "तिरिये"त्यादि, यासु मार्गणासु केवलं तिर्यग्मनुष्याणामेव सम्भवः, देवप्रायोग्यस्यापि बन्धसद्भावः, तथा तुल्यैकगुणस्थानगतस्य शेषगतित्रयस्य ज्येष्ठरसबन्धो भवति, तासु ज्येष्ठरसबन्धाल्पबहुत्वे नीचैर्गोत्रज्येष्ठरसबन्धतो नरकगतेस्ततो मनुष्यगतेस्तत औदारिकशरीरस्य ततस्तिर्यग्गतेस्ततः पुरुषवेदस्य ततो रतिमोहनीयस्य ततो हास्यस्य ततो नरकायुषस्ततो देवायुषो ज्येष्ठरसबन्धः क्रमेणानन्तगुणहीनो भवति, तथाऽपि तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु देवायुष्कतोऽपि मनुष्यगतिनाम्नस्ततोऽप्यौदारिकशरीरनाम्नश्च रसबन्धाध्यवसायाः क्रमशोऽसंख्यगुणहीना भवन्तीत्यत्रधार्यम्। उक्तापवादविषयभूता मार्गणा नामत इमाः—तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्ची--मनुष्यौघ--पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यौदारिककाययोगमार्गणाः ॥१५९॥

अथ पञ्चममपवादपदं निरूपयन्नाह--

(णरगइउरलतणूणं कमा असंखगुणहीणाणि) ॥१५९॥
हस्साउ उणा अपज्जगपणिंदितिरिणरपणिंदियतसेसुं ।
सव्वेगविगलइंदियपणकायोरालमीसेसुं ॥१६०॥

(प्रे०) "उणाउ" इत्यादि, प्राग्गाथाया उत्तरार्धमत्रापि सम्बन्धनीयमिति । केवलं परस्थानाल्पबहुत्वे यत्र तिर्यक्प्रायोग्यस्य तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यस्य वा बन्धः, औदारिकमिश्रं विहाय यत्र प्रथममेव गुणस्थानकं यद्वा आद्यगुणस्थानद्वयस्य भावेऽपि प्रथमगुणस्थानके एव बन्धप्रायोग्याणां ज्येष्ठरसबन्धः, तास्वऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु ज्येष्ठरसबन्धाल्पबहुत्वे उच्चैर्गोत्रतो मनुष्यगतेस्ततः कार्मणशरीरस्य ततस्तैजसशरीरस्य तत औदारिकशरीरस्य ततः केवलज्ञानावरणादिप्रकृतीनां ज्येष्ठरसबन्धोऽनन्तगुणहीनक्रमेण प्रतिपादितः, तथाऽपि प्रस्तुते हास्यमोहनीयतो मनुष्यगतेरध्यवसायस्थानान्यसंख्यगुणहीनानि, तत औदारिकशरीरस्याध्यवसायस्थानान्यसंख्यगुणहीनानि भवन्ति । एवं परस्थानविषयकमपवादपञ्चकम् ।

स्वस्थानाल्पबहुत्वे तु न कश्चिदपवादः, यद्वाऽत्र वेदद्वये मतद्वयं भवति, एकमतेन तु यथा ज्येष्ठरसबन्धाल्पबहुत्वं तथैवासंख्यगुणरसबन्धाध्यवसायानां हान्या प्रस्तुताल्पबहुत्वम्। अन्यमतेन तु वेदत्रयेऽसंख्यगुणहान्या रसबन्धाध्यवसायान्यभिधायाऽरत्यादीनामसंख्यगुणहान्या रसबन्धाध्यवसाया वक्तव्या इति ॥१६०॥

अत्र स्वस्थान-परस्थानाध्यवसायाल्पबहुत्वे तुल्यस्थितिस्थाने विच्छिद्यमाने रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयगुणहीनाधिक्ये प्रकृतिविशेषो हेतुतयाऽनुसर्तव्यः। अन्यत्राऽपि प्रकृतिविशेषत्वं शुभप्रकृतित्वमुत्तरत्र विच्छिद्यमानत्वं चात्र हेतुतया द्रष्टव्यम्।

यथा तुल्ये स्थितिबन्धे तदध्यवसायानां तुल्यत्वं भवति स्थितीनां न्यूनाधिकत्वे तु तदध्यवसायानां न तुल्यत्वं किन्त्वसंख्येयगुणन्यूनाधिकत्वं भवति, एवं प्रस्तुतेऽपि यासां ज्येष्ठरसबन्धस्तुल्यो भवति तासां रसबन्धाध्यवसायास्तुल्या भवन्ति, यत्र रसबन्धस्य न्यूनत्वं तत्र तदध्यवसायानामपि न्यूनत्वम्, यत्राधिकत्वं तत्र तेषामप्यधिकत्व विज्ञेयम्। केवलं दर्शितपवादपदानि विमुच्येति विशेषः। अत्र स्थितीनां तुल्यत्वेऽपि परस्पर ज्येष्ठरसबन्धस्याधिक्ये तदध्यवसायानां यदसंख्येयगुणत्वं भवति, तत्र न तत् केवलं चरमस्थितिगतस्थानापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वं किन्तु प्रथमस्थितिस्थानादारभ्य सर्वस्थितिस्थानेष्वाधिक्यं पुनर्यथासम्भवं विज्ञेयमिति।

ओघतः स्वस्थानाल्पबहुत्वमेवम्, ज्ञानावरणे-सर्वस्तोकानि मनःपर्यवज्ञानावरणस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततोऽवधिज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणानि, ततः श्रुतज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणानि, ततो मतिज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणानि, ततः केवलज्ञानावरणस्याऽसंख्येयगुणानि। एवमष्टषट्युत्तरशतमार्गणास्वप्यल्पबहुत्वं विज्ञेयमिति। अपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराययोरल्पबहुत्वं स्वयं परिभावनीयम्।

दर्शनावरणे-सर्वस्तोकानि प्रचलाया रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततो निद्रायाः ततः प्रचलाप्रचलायाः, ततो निद्रानिद्रायाः, ततः स्त्यानर्द्धेः, ततोऽवधिदर्शनावरणस्य, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य ततः केवलदर्शनावरणस्य रसबन्धाध्यवसायानि क्रमशोऽसंख्येयगुणान्यसंख्यगुणानि ज्ञातव्यानीति।

मार्गणास्वपि यत्र नवाऽपि प्रकृतयो बध्यन्ते, तत्राल्पबहुत्वमेवमेव भवति, यासु मार्गणासु स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धाभावस्तासु स्त्यानर्द्धित्रिकं विहाय शेषपट्प्रकृतीनामल्पबहुत्वमेवमेव निरूपणीयम्।

यत्र निद्राद्विकस्यापि बन्धाभावः, ते मार्गणेऽपगतवेदसूक्ष्मसम्परायरूपे द्वे, तयोर्मार्गणयोः प्रस्तुताल्पबहुत्वं स्वयं परिभावनीयमिति।

असातवेदनीयस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततः सातवेदनीयस्यासंख्येयगुणानि। एवमेवाष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु भावनीयमिति। मार्गणाद्वये तु पूर्ववत् स्वयमिति।

मोहनीयप्रकृतिषु—हास्यस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि सर्वस्तोकानि, ततो रतेः, ततः पुरुषवेदस्य, ततः स्त्रीवेदस्य, ततो जुगुप्सायाः, ततो भयस्य, ततः शोकस्य, ततोऽरतेः, ततो नपुंसकवेदस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततः

प्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततः संज्वलनमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततो मिथ्यात्वमोहनीयस्य क्रमशः पूर्वपूर्वपदादुत्तरोत्तरपदे रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति । अत्र मतान्तरेण पुनर्हास्यषट्कतोऽसंख्येयगुणानि पुरुषवेदस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, ततोऽसंख्येयगुणानि स्त्रीवेदस्य ततोऽसंख्येयगुणानि नपुंसकवेदस्येति । मार्गणास्वपि यासु यासु मार्गणासु यावतीनां प्रकृतीनां बन्धः, तासु तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां रसबन्धाध्यवसायानामल्पबहुत्वमुक्तक्रमेणावगातव्यमिति । अपगतवेदमार्गणायां पुनर्यथाऽऽगममल्पबहुत्वं भावनीयमिति ।

आयुष्केषु पुनरेवमल्पबहुत्वम्–तिर्यगायुष्कस्यानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततो मनुष्यायुषः, ततो नरकायुषः, ततो देवायुषो रसबन्धाध्यवसायस्थानानि क्रमेणासंख्येयगुणानि भवन्ति, एवं यासु मार्गणासु यद्यदायुषां बन्धः, तासु मार्गणासु तत्तदायुषामुक्तक्रमेणाल्पबहुत्वमवसातव्यम् । केवलं तिर्यग्गत्योघ–पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ–पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्ची–मत्यज्ञान–श्रुताज्ञान–विभङ्गज्ञाना–ऽसंयम-कृष्णनीलकापोतलेश्या–ऽभव्य मिथ्यात्वाऽसंज्ञि–मार्गणासु चतुर्दशसु देवायुष्कस्थितितो नरकायुष्कस्य स्थितेरधिकत्वान्नरकायुष्कस्याध्यवसाया देवायुष्केभ्योऽसंख्येयगुणा भवन्तीति विशेषः । तथा यासु मार्गणास्वेकमेवायुर्बन्धप्रायोग्यं भवति तत्र तस्याल्पबहुत्वचिन्तैव न भवतीति, स्वस्थाने इति तु सुगमम् ।

नामकर्मसत्कप्रकृतिषु स्वस्थानरसबन्धाध्यवसायाल्पबहुत्वे विचार्यमाणे गतिष्वेवम्–ओघतः तिर्यग्गतेः स्तोकानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततो नरकगतेरसंख्येयगुणानि ततो मनुष्यगतेरसंख्येयगुणानि ततो देवगतेरसंख्येयगुणानि, एवं मार्गणास्वपि यत्र गतिचतुष्कं बन्धप्रायोग्यम्, यासु नरकगतिवर्जतिसृणां गतीनां बन्धस्तासु नरकगतिवर्जशेषगतित्रयसत्काध्यवसायानामल्पबहुत्वमेवमेव विज्ञेयम् । यासु पुनर्देवमनुष्यगत्योः, यदि वा तिर्यग्मनुष्यगत्योर्बन्धस्तास्वपि बन्धप्रायोग्ययोरल्पबहुत्वमेवमेव विज्ञेयम्, तद्यथा–देवमनुष्यगत्योर्मध्ये मनुष्यगतेरध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततो देवगतेरध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि । तिर्यग्मनुष्यगत्योर्मध्ये तिर्यग्गतेः स्तोकानि, मनुष्यगतेरसंख्येयगुणानि । यासु मार्गणासु केवला एकैव गतिर्बध्यते तासु देवगतेर्मनुष्यगतेस्तिर्यग्गतेर्वा प्रकृतेर्बन्धस्तस्या अल्पबहुत्वं नास्तीति ।

जातिपञ्चके–ओघतश्चतुरिन्द्रियजातेः स्तोकानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततस्त्रीन्द्रियजातेरसंख्येयगुणानि ततो द्वीन्द्रियजातेरसंख्येयगुणानि तत एकेन्द्रियजातेरसंख्येयगुणानि ततः पञ्चेन्द्रियजातेरसंख्येयगुणानि । मार्गणासु पुनर्यासु पञ्चानामपि जातीनां बन्धस्तास्वल्पबहुत्व-

अत्र स्वस्थान-परस्थानाध्यवसायाल्पबहुत्वे तुल्यस्थितिस्थाने विच्छिद्यमाने रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयगुणहीनाधिक्ये प्रकृतिविशेषो हेतुतयाऽनुसर्तव्यः । अन्यत्राऽपि प्रकृतिविशेषत्वं शुभप्रकृतित्वमुत्तरत्र विच्छिद्यमानत्वं चात्र हेतुतया द्रष्टव्यम् ।

यथा तुल्ये स्थितिबन्धे तदध्यवसायानां तुल्यत्वं भवति स्थितीनां न्यूनाधिकत्वे तु तदध्यवसायानां न तुल्यत्वं किन्त्वसंख्येयगुणन्यूनाधिकत्वं भवति, एवं प्रस्तुतेऽपि यासां ज्येष्ठरस बन्धस्तुल्यो भवति तासां रसबन्धाध्यवसायास्तुल्या भवन्ति, यत्र रसबन्धस्य न्यूनत्वं तत्र तदध्यवसायानामपि न्यूनत्वम् , यत्राधिकत्वं तत्र तेषामप्यधिकत्व विज्ञेयम् । केवलं दर्शितपवादपदानि विमुच्येति विशेषः । अत्र स्थितीनां तुल्यत्वेऽपि परस्पर ज्येष्ठरसबन्धस्याधिक्ये तदध्यवसायानां यदसंख्येयगुणत्वं भवति, तत्र न तत् केवलं चरमस्थितिगतस्थानापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वं किन्तु प्रथमस्थितिस्थानादारभ्य सर्वस्थितिस्थानेष्वाधिक्यं पुनर्यथासम्भवं विज्ञेयमिति ।

ओघतः स्वस्थानाल्पबहुत्वमेवम् , ज्ञानावरणे-सर्वस्तोकानि मनःपर्यवज्ञानावरणस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततोऽवधिज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणानि, ततः श्रुतज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणानि, ततो मतिज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणानि, ततः केवलज्ञानावरणस्याऽसंख्येयगुणानि । एवमष्टषट्युत्तरशतमार्गणास्वप्यल्पबहुत्वं विज्ञेयमिति । अपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराययोरल्पबहुत्वं स्वयं परिभावनीयम् ।

दर्शनावरणे-सर्वस्तोकानि प्रचलाया रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततो निद्रायाः ततः प्रचलाप्रचलायाः, ततो निद्रानिद्रायाः, ततः स्त्यानर्द्धेः, ततोऽवधिदर्शनावरणस्य, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य ततः केवलदर्शनावरणस्य रसबन्धाध्यवसायानि क्रमशोऽसंख्येयगुणान्यसंख्यगुणानि ज्ञातव्यानीति ।

मार्गणास्वपि यत्र नवाऽपि प्रकृतयो बध्यन्ते, तत्राल्पबहुत्वमेवमेव भवति, यासु मार्गणासु स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धाभावस्तासु स्त्यानर्द्धित्रिकं विहाय शेषषट्प्रकृतीनामल्पबहुत्वमेवमेव निरूपणीयम् ।

यत्र निद्राद्विकस्यापि बन्धाभावः, ते मार्गणेऽपगतवेदसूक्ष्मसम्परायरूपे द्वे, तयोर्मार्गणयोः प्रस्तुताल्पबहुत्वं स्वयं परिभावनीयमिति ।

असातवेदनीयस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततः सातवेदनीयस्यासंख्येयगुणानि । एवमेवाष्टषट्युत्तरशतमार्गणासु भावनीयमिति । मार्गणाद्वये तु पूर्ववत् स्वयमिति ।

मोहनीयप्रकृतिषु—हास्यस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि सर्वस्तोकानि, ततो रतेः, ततः पुरुषवेदस्य, ततः स्त्रीवेदस्य, ततो जुगुप्सायाः, ततो भयस्य, ततः शोकस्य, ततोऽरतेः, ततो नपुंसकवेदस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततः

प्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततः संज्वलनमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततो मिथ्यात्वमोहनीयस्य क्रमशः पूर्वपूर्वपदादुत्तरोत्तरपदे रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानि भवन्ति । अत्र मतान्तरेण पुनर्हास्यषट्कतोऽसङ्ख्येयगुणानि पुरुषवेदस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, ततोऽसङ्ख्येयगुणानि स्त्रीवेदस्य ततोऽसङ्ख्येयगुणानि नपुंसकवेदस्येति । मार्गणास्वपि यासु यासु मार्गणासु यावतीनां प्रकृतीनां बन्धः, तासु तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां रसबन्धाध्यवसायानामल्पबहुत्वमुक्तक्रमेणावसातव्यमिति । अपगतवेदमार्गणायां पुनर्यथाऽऽगममल्पबहुत्वं भावनीयमिति ।

आयुष्केषु पुनरेवमल्पबहुत्वम्–तिर्यगायुष्कस्यानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततो मनुष्यायुषः, ततो नरकायुषः, ततो देवायुषो रसबन्धाध्यवसायस्थानानि क्रमेणासङ्ख्येयगुणानि भवन्ति, एवं यासु मार्गणासु यद्यदायुषां बन्धः, तासु मार्गणासु तत्तदायुषामुक्तक्रमेणाल्पबहुत्वमवसातव्यम् । केवलं तिर्यग्गत्योघ–पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ–पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्–तिरश्ची–मत्यज्ञान–श्रुताज्ञान–विभङ्गज्ञाना–ऽसंयम–कृष्णनीलकापोतलेश्या–ऽभव्य मिथ्यात्वाऽसंज्ञि–मार्गणासु चतुर्दशसु देवायुष्कस्थितितो नरकायुष्कस्य स्थितेरधिकत्वान्नरकायुष्कस्याध्यवसाया देवायुष्केभ्योऽसङ्ख्येयगुणा भवन्तीति विशेषः । तथा यासु मार्गणास्वेकमेवायुर्बन्धप्रायोग्यं भवति तत्र तस्याल्पबहुत्वचिन्तैव न भवतीति, स्वस्थाने इति तु सुगमम् ।

नामकर्मसत्कप्रकृतिषु स्वस्थानरसबन्धाध्यवसायाल्पबहुत्वे विचार्यमाणे गतिष्वेवम्–ओघतः तिर्यग्गतेः स्तोकानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततो नरकगतेरसङ्ख्येयगुणानि ततो मनुष्यगतेरसङ्ख्येयगुणानि ततो देवगतेरसङ्ख्येयगुणानि, एवं मार्गणास्वपि यत्र गतिचतुष्कं बन्धप्रायोग्यम्, यासु नरकगतिवर्जतिसृणां गतीनां बन्धस्तासु नरकगतिवर्जशेषगतित्रयसत्काध्यवसायानामल्पबहुत्वमेवमेव विज्ञेयम् । यासु पुनर्देवमनुष्यगत्योः, यदि वा तिर्यग्मनुष्यगत्योर्बन्धस्तास्वपि बन्धप्रायोग्ययोरल्पबहुत्वमेवमेव विज्ञेयम्, तद्यथा–देवमनुष्यगत्योर्मध्ये मनुष्यगतेरध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततो देवगतेरध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि । तिर्यग्मनुष्यगत्योर्मध्ये तिर्यग्गतेः स्तोकानि, मनुष्यगतेरसंख्येयगुणानि । यासु मार्गणासु केवला एकैव गतिर्बध्यते तासु देवगतेर्मनुष्यगतेस्तिर्यग्गतेर्वा प्रकृतेर्बन्धस्तस्या अल्पबहुत्वं नास्तीति ।

जातिपञ्चके–ओघतश्चतुरिन्द्रियजातेः स्तोकानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततस्त्रीन्द्रियजातेरसङ्ख्येयगुणानि ततो द्वीन्द्रियजातेरसङ्ख्येयगुणानि तत एकेन्द्रियजातेरसङ्ख्येयगुणानि ततः पञ्चेन्द्रियजातेरसङ्ख्येयगुणानि । मार्गणासु पुनर्यासु पञ्चानामपि जातीनां बन्धस्तास्वल्पबहुत्व-

अत्र स्वस्थान-परस्थानाध्यवसायाल्पबहुत्वे तुल्यस्थितिस्थाने विच्छिद्यमाने रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयगुणहीनाधिक्ये प्रकृतिविशेषो हेतुतयाऽनुसर्तव्यः। अन्यत्राऽपि प्रकृतिविशेषत्वं शुभप्रकृतित्वमुत्तरत्र विच्छिद्यमानत्वं चात्र हेतुतया द्रष्टव्यम्।

यथा तुल्ये स्थितिबन्धे तदध्यवसायानां तुल्यत्वं भवति स्थितीनां न्यूनाधिकत्वे तु तदध्यवसायानां न तुल्यत्वं किन्त्वसंख्येयगुणन्यूनाधिकत्वं भवति, एवं प्रस्तुतेऽपि यासां ज्येष्ठरसबन्धस्तुल्यो भवति तासां रसबन्धाध्यवसायास्तुल्या भवन्ति, यत्र रसबन्धस्य न्यूनत्वं तत्र तदध्यवसायानामपि न्यूनत्वम्, यत्राधिकत्वं तत्र तेषामप्यधिकत्व विज्ञेयम्। केवलं दर्शितपवादपदानि विमुच्येति विशेषः। अत्र स्थितीनां तुल्यत्वेऽपि परस्पर ज्येष्ठरसबन्धस्याधिक्ये तदध्यवसायानां यदसंख्येयगुणत्वं भवति, तत्र न तत् केवलं चरमस्थितिगतस्थानापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वं किन्तु प्रथमस्थितिस्थानादारभ्य सर्वस्थितिस्थानेष्वाधिक्यं पुनर्यथासम्भवं विज्ञेयमिति।

ओघतः स्वस्थानाल्पबहुत्वमेवम्, ज्ञानावरणे-सर्वस्तोकानि मनःपर्यवज्ञानावरणस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततोऽवधिज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणानि, ततः श्रुतज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणानि, ततो मतिज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणानि, ततः केवलज्ञानावरणस्याऽसंख्येयगुणानि। एवमष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वप्यल्पबहुत्वं विज्ञेयमिति। अपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराययोरल्पबहुत्वं स्वयं परिभावनीयम्।

दर्शनावरणे-सर्वस्तोकानि प्रचलाया रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततो निद्रायाः ततः प्रचलाप्रचलायाः, ततो निद्रानिद्रायाः, ततः स्त्यानर्द्धेः, ततोऽवधिदर्शनावरणस्य, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य ततः केवलदर्शनावरणस्य रसबन्धाध्यवसायानि क्रमशोऽसंख्येयगुणान्यसंख्यगुणानि ज्ञातव्यानीति।

मार्गणास्वपि यत्र नवाऽपि प्रकृतयो बध्यन्ते, तत्राल्पबहुत्वमेवमेव भवति, यासु मार्गणासु स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धाभावस्तासु स्त्यानर्द्धित्रिकं विहाय शेषषट्प्रकृतीनामल्पबहुत्वमेवमेव निरूपणीयम्।

यत्र निद्राद्विकस्यापि बन्धाभावः, ते मार्गणेऽपगतवेदसूक्ष्मसम्परायरूपे द्वे, तयोर्मार्गणयोः प्रस्तुताल्पबहुत्वं स्वयं परिभावनीयमिति।

असातवेदनीयस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततः सातवेदनीयस्यासंख्येयगुणानि। एवमेवाष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु भावनीयमिति। मार्गणाद्वये तु पूर्ववत् स्वयमिति।

मोहनीयप्रकृतिषु-हास्यस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि सर्वस्तोकानि, ततो रतेः, ततः पुरुषवेदस्य, ततः स्त्रीवेदस्य, ततो जुगुप्सायाः, ततो भयस्य, ततः शोकस्य, ततोऽरतेः, ततो नपुंसकवेदस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततः

प्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततः संज्वलनमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य, ततः क्रोधस्य, ततो मायायाः, ततो लोभस्य, ततो मिथ्यात्वमोहनीयस्य क्रमशः पूर्वपूर्वपदादुत्तरोत्तरपदे रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति । अत्र मतान्तरेण पुनर्हास्यषट्कतोऽसंख्येयगुणानि पुरुषवेदस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, ततोऽसंख्येयगुणानि स्त्रीवेदस्य ततोऽसंख्येयगुणानि नपुंसकवेदस्येति । मार्गणास्वपि यासु यासु मार्गणासु यावतीनां प्रकृतीनां बन्धः, तासु तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां रसबन्धाध्यवसायानामल्पबहुत्वमुक्तक्रमेणावसातव्यमिति । अपगतवेदमार्गणायां पुनर्यथाऽऽगममल्पबहुत्वं भावनीयमिति ।

आयुष्केषु पुनरेवमल्पबहुत्वम्—तिर्यगायुष्कस्यानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततो मनुष्यायुषः, ततो नरकायुषः, ततो देवायुषो रसबन्धाध्यवसायस्थानानि क्रमेणासंख्येयगुणानि भवन्ति, एवं यासु मार्गणासु यद्यदायुषां बन्धः, तासु मार्गणासु तत्तदायुषामुक्तक्रमेणाल्पबहुत्वमवसातव्यम् । केवलं तिर्यग्गत्योघ–पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ–पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्ची–मत्यज्ञान–श्रुताज्ञान–विभङ्गज्ञाना–ऽसंयम-कृष्णनीलकापोतलेश्या–ऽभव्य मिथ्यात्वाऽसंज्ञि–मार्गणासु चतुर्दशसु देवायुष्कस्थितितो नरकायुष्कस्य स्थितेरधिकत्वान्नरकायुष्कस्याध्यवसाया देवायुष्केभ्योऽसंख्येयगुणा भवन्तीति विशेषः । तथा यासु मार्गणास्वेकमेवायुर्बन्धप्रायोग्यं भवति तत्र तस्याल्पबहुत्वचिन्तैव न भवतीति, स्वस्थाने इति तु सुगमम् ।

नामकर्मसत्कप्रकृतिषु स्वस्थानरसबन्धाध्यवसायाल्पबहुत्वे विचार्यमाणे गतिष्वेवम्—ओघतः तिर्यग्गतेः स्तोकानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततो नरकगतेरसंख्येयगुणानि ततो मनुष्यगतेरसंख्येयगुणानि ततो देवगतेरसंख्येयगुणानि, एवं मार्गणास्वपि यत्र गतिचतुष्कं बन्धप्रायोग्यम्, यासु नरकगतिवर्जतिसृणां गतीनां बन्धस्तासु नरकगतिवर्जशेषगतित्रयसत्काध्यवसायानामल्पबहुत्वमेवमेव विज्ञेयम् । यासु पुनर्देवमनुष्यगत्योः, यदि वा तिर्यग्मनुष्यगत्योर्बन्धस्तास्वपि बन्धप्रायोग्ययोरल्पबहुत्वमेवमेव विज्ञेयम्, तद्यथा—देवमनुष्यगत्योर्मध्ये मनुष्यगतेरध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततो देवगतेरध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि । तिर्यग्मनुष्यगत्योर्मध्ये तिर्यग्गतेः स्तोकानि, मनुष्यगतेरसंख्येयगुणानि । यासु मार्गणासु केवला एकैव गतिर्बध्यते तासु देवगतेर्मनुष्यगतेस्तिर्यग्गतेर्वा प्रकृतेर्बन्धस्तस्या अल्पबहुत्वं नास्तीति ।

जातिपञ्चके—ओघतश्चतुरिन्द्रियजातेः स्तोकानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततस्त्रीन्द्रियजातेरसंख्येयगुणानि ततो द्वीन्द्रियजातेरसंख्येयगुणानि ततः एकेन्द्रियजातेरसंख्येयगुणानि ततः पञ्चेन्द्रियजातेरसंख्येयगुणानि । मार्गणासु पुनर्यासु पञ्चानामपि जातीनां बन्धस्तास्वल्पबहुत्व-

मेवमेव भवति । यासु विकलत्रिकस्य बन्धाभावः, तास्वेकेन्द्रियजातेरसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततः पञ्चेन्द्रियजातेरसंख्येयगुणानि । यासु मार्गणासु पञ्चेन्द्रियजातेरेकस्या एव बन्धस्तासु तस्या अल्पबहुत्वं नास्ति ।

शरीरपञ्चके–ओघत औदारिकशरीरस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि ततो वैक्रियशरीरस्यासंख्येयगुणानि तत आहारकशरीरस्यासंख्येयगुणानि ततस्तैजसशरीरस्यासंख्येयगुणानि ततः कार्मणशरीरस्यासंख्येयगुणानि । मार्गणासु पुनर्यासु यासु यावतां शरीरनाम्नां बन्धस्तासु मार्गणासु तावतां प्रस्तुताल्पबहुत्वमेवमेव विज्ञेयम् ।

अङ्गोपाङ्गनामत्रिके–ओघत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्यासंख्येयगुणानि तत आहारकाङ्गोपाङ्गस्यासंख्येयगुणानि । मार्गणास्वपि बन्धप्रायोग्याणामेवमेवेति । यत्र पुनरेकमेवाङ्गोपाङ्गनाम बध्यते तत्र नास्त्यल्पबहुत्वम् ।

संहनननामसु–ओघत ऋषभनाराचसंहननस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततो नाराचस्यासंख्येयगुणानि, ततोऽर्धनाराचस्यासंख्येयगुणानि, ततः कीलिकाख्यसंहननस्यासंख्येयगुणानि ततः सेवार्तस्यासंख्येयगुणानि ततो वज्रर्षभनाराचस्यासंख्येयगुणानि । मार्गणास्वपि यासु षण्णां बन्धः, तास्वेवमेवाल्पबहुत्वं भवति । सास्वादने पुनः सेवार्तं विहाय पञ्चानां बन्धः, तत्र पञ्चानामल्पबहुत्वमेवमेव विज्ञेयम् , यासु पुनः संहननषट्कात् केवलं वज्रर्षभनाराचसंहननं बध्यते तत्राल्पबहुत्वमेव नास्ति ।

संस्थाननामसु–ओघतो न्यग्रोधसंस्थानस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततः सादिसंस्थानस्यासंख्येयगुणानि, ततो वामनसंस्थानस्यासंख्येयगुणानि, ततः कुब्जस्यासंख्येयगुणानि, ततो हुण्डकसंस्थानस्यासंख्येयगुणानि, ततः समचतुरस्रसंस्थानस्यासंख्येयगुणानि । मार्गणास्वपि यासु षण्णां संस्थाननाम्नां बन्धस्तास्वेवमेवाल्पबहुत्वं भवति । सास्वादने पुनर्हुण्डकसंस्थानं विहाय पञ्चानां बन्धः, तत्र पञ्चानामल्पबहुत्वमेवमेवेति । यासु पुनः समचतुरस्रस्यैव बन्धः, तासु संस्थाननाम्नोऽल्पबहुत्वं नास्ति ।

गतिनामवदानुपूर्वीनामसत्करसबन्धाध्यवसायानामल्पबहुत्वमोघत आदेशतश्च विज्ञेयम् ।

वर्णादिचतुष्के–सामान्यतोऽशुभानां स्तोकानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततः शुभानामसंख्येयगुणानि । विशेषतो हारिद्रनाम्नो रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततो लोहितनाम्नोऽसंख्येयगुणानि, ततो नीलवर्णस्यासंख्येयगुणानि, ततः कृष्णवर्णस्यासंख्येयगुणानि, ततः शुक्लवर्णस्यासंख्येयगुणानि । दुरभिगन्धस्य स्तोकानि, ततः सुरभिगन्धस्यासंख्येयगुणानि । आम्लरसस्य स्तोकानि, ततः कषायरसस्यासंख्येयगुणानि, ततः कटुरसस्या-

संख्येयगुणानि, ततस्तिक्तरसस्यासंख्येयगुणानि, ततो मधुररसस्य रसबन्धाध्यवसायान्यसंख्येयगुणानि। एवमष्टसु स्पर्शनामसु यथाक्रमयं प्रस्तुताल्पबहुत्वं भावनीयम्। मार्गणास्वपि वर्णादिचतुष्कस्याल्पबहुत्वमेवमेवावसातव्यम्।

स्थावरनाम्नो रसबन्धाध्यवसायानि स्तोकानि, ततस्त्रसनाम्नोऽसंख्येयगुणानि। एवं सूक्ष्मनामादिनवकात् प्रतिपक्षशुभनाम्नां रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति। मार्गणास्वपि यत्र यद्यद् युगलं सप्रतिपक्षं बध्यते तत्राऽशुभतः शुभस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि भवन्तीत्यवधार्यम्। प्रत्येकप्रकृतीनामष्टानां तु प्रस्तुते स्वस्थानाल्पबहुत्वस्य भावान्नाधिकारः।

गोत्रकर्मणोः–नीचैर्गोत्रस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, तत उच्चैर्गोत्रस्यासंख्येयगुणानि भवन्ति। मार्गणासु यासु गोत्रद्वयस्य बन्धस्तास्वेवं वक्तव्यम्। यासु पुनरेकस्यैव गोत्रस्य बन्धस्तासु गोत्रसत्काल्पबहुत्वं नास्ति।

अन्तरायकर्मसु पुनरेवम्-उपभोगान्तरायस्य रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततो भोगान्तरायस्यासंख्येयगुणानि, ततो लाभान्तरायस्यासंख्येयगुणानि, ततो दानान्तरायस्यासंख्येयगुणानि, ततो वीर्यान्तरायस्यासंख्येयगुणानि। एवमेव अष्टपष्ठ्युत्तरशतमार्गणास्वन्तरायपञ्चकस्याल्पबहुत्वं विज्ञेयम्। गतवेदसूक्ष्मसंपरायद्वये तु तत्स्वयं ज्ञेयमिति। तदेवमोघादेशाभ्यां स्वस्थानाल्पबहुत्वं समाप्तम्।

अथ परस्थानाल्पबहुत्वमोघतः प्ररूप्यते–सर्वस्तोकानि तिर्यगायुषो रसबन्धाध्यवसायस्थानानि, ततोऽसंख्येयगुणानि मनुष्यायुषोऽध्यवसायस्थानानि, ततो नरकायुषोऽसंख्येयगुणानि, ततो देवायुषोऽसंख्येयगुणानि, ततो हास्यस्यासंख्येयगुणानि, ततो रतेरसंख्येयगुणानि, ततस्तिर्यग्गतेरसंख्येयगुणानि, ततो नरकगतेरसंख्येयगुणानि, ततोऽयशःकीर्तिनाम्नोऽसंख्येयगुणानि, ततो नीचैर्गोत्रस्य विशेषाधिकानि, ततः प्रचलाया असंख्येयगुणानि, ततो निद्राया असंख्येयगुणानि, ततः प्रचलाप्रचलाया असंख्येयगुणानि, ततो निद्रानिद्राया असंख्येयगुणानि, ततो जुगुप्साया असंख्येयगुणानि, ततो भयस्यासंख्येयगुणानि, ततः शोकमोहनीयस्यासंख्येयगुणानि, ततोऽरतिमोहनीयस्यासंख्येयगुणानि, ततः पुरुषवेदस्यासंख्येयगुणानि, ततः स्त्रीवेदस्यासंख्येयगुणानि, ततो नपुंसकवेदस्यासंख्येयगुणानि, ततः स्त्यानर्द्धित्रिकस्यासंख्येयगुणानि, ततो मनःपर्यायज्ञानावरणदानान्तराययोरसंख्येयगुणानि, परस्परं तुल्यानि, ततोऽवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणलाभान्तरायाणां त्रयाणां प्रत्येकं रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि परस्परं च तुल्यानि, ततः श्रुतज्ञानावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणभोगान्तरायाणां प्रत्येकमसंख्येयगुणानि परस्परं च तुल्यानि, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्यासंख्येयगुणानि, ततो मतिज्ञानावरण-परिभो-

गान्तराययोः प्रत्येकमसंख्येयगुणानि परस्परं च तुल्यानि, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमानस्यासंख्येयगुणानि, ततः क्रोधस्य विशेषाधिकानि, ततो मायाया विशेषाधिकानि, ततो लोभस्य विशेषाधिकानि, ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्यासंख्येयगुणानि, ततः क्रोधस्य विशेषाधिकानि, ततो मायाया विशेषाधिकानि, ततो लोभस्य विशेषाधिकानि, ततः संज्वलनमानस्यासंख्येयगुणानि, ततः क्रोधस्य विशेषाधिकानि, ततो मायाया विशेषाधिकानि, ततो लोभस्य विशेषाधिकानि, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्यासंख्येयगुणानि, ततः क्रोधस्य विशेषाधिकानि, ततो मायाया विशेषाधिकानि, ततो लोभस्यासंख्येयगुणानि ततोऽसातवेदनीयस्यासंख्येयगुणानि, ततः केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणवीर्यान्तरायाणां प्रत्येकं रसबन्धाध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि परस्परं च तुल्यानि, ततो मिथ्यात्वस्यासंख्येयगुणानि, तत औदारिकशरीरस्यासंख्येयगुणानि, ततो मनुष्यगतेरसंख्येयगुणानि, ततो वैक्रियशरीरस्यासंख्येयगुणानि, तत आहारकशरीरस्यासंख्येयगुणानि, ततस्तैजसशरीरस्यासंख्येयगुणानि, ततः कार्मणशरीरस्यासंख्येयगुणानि, ततो देवगतेरसंख्येयगुणानि, ततो यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येयगुणानि परस्परं च तुल्यानि, ततः सातवेदनीयस्य रसबन्धाध्यवसायान्ययसंख्येयगुणानि भवन्ति । अत्र स्त्रीपुरुषवेदयोः स्वस्थानाल्पबहुत्ववद् मतान्तरं वक्तव्यम् । प्रस्तुताल्पबहुत्वे नामभिन्नसर्वप्रकृतीनां गतिशरीरनाम्नां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योः सग्रहः कृतः । **जातिनामाङ्गोपाङ्गसंहननादिशेषनाम्नामल्पबहुत्वं तु श्रुतानुसारेण निरूपणीयमिति** । मार्गणासु पुनर्ज्येष्ठरसबन्धाल्पबहुत्वानुसारेण दर्शितापवादपदान्यवधार्य पूर्वापरं चोपयुज्य बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां रसबन्धाध्यवसायाल्पबहुत्वं निरूपणीयम्, सुगमत्वादिना वयं पुनर्न दर्शयामः ॥१६०॥

॥ द्वितीयं स्थितिसमुदाहारद्वारम् ॥

तदेवमध्यवसायस्थानसमुदाहारे प्रथमं प्रकृतिसमुदाहारद्वारं निरूपितम्, अथ द्वितीयं स्थितिसमुदाहारं निरूपयन्नाह—

ओहेणाएसेण वि पइठिइठाणं च पइकसाउदयं ।
सव्वाणऽज्झवसाणट्ठाणाणि असंखलोगाऽत्थि ॥१६१॥
गच्चा गच्चा पल्लासंखियभागं असंखलोगा य ।
अत्थि ठिइकसायउदयठाणेसु कमा दुगुणवुड्ढी ॥१६२॥
अंगुलमूलच्छेयणआवलियाणं कमा असंखंसो ।
दुगुणाणि अप्पगाणि य तो एगंतरमसंखगुणं ॥१६३॥

णवरि असंखेज्जगुणा वुड्ढी आऊण जाव उक्कोसं।
होएज्ज जहण्णाओ अज्झवसायाण ठाणाणं ॥१६४॥

(प्रे०) "ओहेणे" त्यादि, ओघतो विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनाम्, आदेशतो बन्धप्रायोग्याणां सर्वप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्थानादारभ्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानं यावद् यावन्ति स्थितिबन्धस्थानानि भवन्ति, तेषु प्रत्येकं रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति। उक्तस्थितिस्थानेषु प्रत्येकं कषायोदयस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायसंज्ञितान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितानि भवन्ति, तेष्वपि प्रत्येकं रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्तीति।

अत्र जघन्यस्थितिबन्धस्थानं तु यथासमयमष्टमगुणस्थानपर्यवसानं यावत्प्राप्यमाणमेव ग्राह्यम्, न पुनर्नवमदशमगुणास्थानप्राप्तमपि; यतस्तत्रैकैकाध्यवसायस्यैव भावेनासंख्यलोकप्रमाणस्यैवानुपपत्तेरिति।

अन्यच्च द्वितीयगाथया स्थितिस्थानेषु तथा कषायोदयस्थानेषु वक्ष्यमाणरसबन्धाध्यवसायानां वृद्धेर्या अनन्तरोपनिधादिप्ररूपणां करिष्यते तत्राऽष्टमगुणस्थानपर्यवसानेष्वपि यत्र स्थितिबन्धस्थानानां बन्धप्रायोग्यत्वेन निरन्तरत्वं सम्भवति तत्रैव साऽवसातव्या, अन्यत्र पुनः प्रतिस्थितिस्थानेऽसंख्यलोकप्रमाणरसबन्धाध्यवसायानां भावेऽपि तेषामनन्तरोपनिधा परम्परोपनिधा वा न नियतैकरूपा, किन्तु नानारूपा प्राप्यते, अतो यत्र बाहुल्यतः प्रभूतनिरन्तरस्थितिस्थानेषु या अनन्तरोपनिधादयः प्राप्यन्ते ता अत्र निरूपिताः। शेषप्ररूपणा पुनरागमानुसारेण ऊहनीया इति। अत एव ओघे मतिज्ञानावरणमधिकृत्यैकेन्द्रियसत्कजघन्यस्थितिबन्धस्थानादारभ्य संज्ञ्यभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धस्थानादधस्तनस्थानेषु प्रस्तुतप्ररूपणा स्वयं परिभावनीया।

प्रस्तुते तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियसत्काभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिस्थानादारभ्योत्कृष्टस्थितिस्थानं यावत्स्थितिस्थानेषु रसबन्धाध्यवसायानां निरूपणं करिष्याम इति। एवं मार्गणास्वपि यथासम्भव विभावनीयमिति।

प्रतिस्थितिस्थाने प्रतिकषायोदयस्थाने चाऽसंख्यलोकप्रमाणरसबन्धाध्यवसायानां भावेऽपि न ते सर्वत्र तुल्याः, किन्तूत्तरोत्तरस्थानेषु ते विशेषाधिका भवन्ति, अतोऽत्रानन्तरोपनिधा परम्परोपनिधा च वक्तव्ये, तथा द्विगुणवृद्धिस्थानानि द्विगुणवृद्धिद्वयान्तरालवर्तिस्थानानि च वक्तव्यानि।

तत्रानन्तरोपनिधायाः प्ररूपणा त्वेवम्—सर्वत्र सर्वाऽशुभप्रकृतीनां प्रत्येकं स्व-स्वजघन्यस्थितिबन्धस्थाने रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि; समयाधिकजघन्यस्थितिस्थाने विशेषा-

धिकानि भवन्ति, द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिस्थाने विशेषाधिकानि भवन्ति, एवमुत्तरोत्तरस्थितिस्थाने विशेषाधिकानि विशेषाधिकानि प्राप्यन्ते, एवं तत्तत्प्रकृतेर्ज्येष्ठस्थितिस्थानं यावद्वक्तव्यम् ।

अत्रोत्तरत्राऽस्मिन्नेव ग्रन्थे वक्ष्यमाणानुकृष्टित इदं स्पष्टमवगम्यते यत्-प्रथमस्थितिस्थाने यावन्त्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति तेभ्योऽसंख्येयभागं मुक्त्वा द्वितीयस्थितिस्थाने तान्येवासंख्येयबहुभागप्रमाणाध्यवसायानि प्राप्यन्ते, पूर्वपूर्वस्थितिस्थानादननुवृत्ता अत एव त्यक्ता येऽध्यवसायास्तेभ्यो विशेषाधिका परिमाणतस्तु असंख्यलोकप्रमिता अध्यवसाया उत्तरोत्तरस्थितिस्थानेषु नूतनैव प्राप्यते, अतः प्रथमस्थितिस्थानाध्यवसायेभ्यो द्वितीयस्थितिस्थानेऽध्यवसायानां यद् विशेषाधिकत्वं तदनुकृष्ट्या प्राप्ताध्यवसायस्थानसहितमवसातव्यम् , न तु द्वितीयसमये यान्यपूर्वाण्यध्यवसायस्थानानि प्राप्तानि तानि पूर्वेभ्यो विशेषाधिकानीति ।

परावर्तमानाशुभप्रकृतीनां जघन्यस्थितिसत्कसर्वाध्यवसायानामेव द्वितीयस्थितौ गमनेऽपि तत्र द्वितीयसमये यान्यपूर्वाण्यध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते तानि पूर्वसमयगताध्यवसायस्थानानामसंख्येयभागमात्राण्येवेति तत्राऽपि द्वितीयस्थितिस्थानगतपूर्वाऽपूर्वाध्यवसायानां समीलने विशेषाधिकत्वं भवति । एवं तृतीयादिसमयेषु, एवमेव स्व-स्वज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानं यावद् भावनीयम् , विशेषस्त्वनुकृष्ट्यधिकारे वक्ष्यते इति ।

आयुर्वर्जशुभप्रकृतीनां तु स्व-स्वज्येष्ठस्थितिस्थाने रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततः पश्चादानुपूर्व्या=द्विचरमस्थाने विशेषाधिकानि, ततस्त्रिचरमस्थितिस्थाने विशेषाधिकानि, एवमधस्तनाधस्तनस्थितिस्थानेषु विशेषाधिकानि विशेषाधिकानि कथनीयानि यावत्स्वजघन्यस्थितिबन्धस्थाने सर्वाधिकानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । अत्राऽपि अध्यवसायानां विशेषाधिकत्वमनन्तरदर्शिताशुभप्रकृतिवद् विभावनीयमिति ।

परम्परोपनिधायाः प्ररूपणायां पुनरशुभप्रकृतीनां जघन्यस्थितिस्थानादारभ्योर्ध्वगमने तथा शुभप्रकृतीनां ज्येष्ठस्थितिस्थानादारभ्याऽधस्तात् संचरणे उत्तरोत्तरस्थितिस्थाने रसबन्धाध्यवसायानां विशेषाधिकत्वं भवति, एव च सति पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानि स्थितिस्थानानि व्यतिक्रम्य यत्स्थितिस्थानं प्राप्यते, तत्र प्रथमस्थितिस्थानगताध्यवसायसंख्यापेक्षया द्विगुणा अध्यवसायाः संख्यया भवति, एवं पल्योपमस्यासंख्येयभागं गत्वा गत्वा पुनः पुनर्द्विगुणानि द्विगुणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति, एवं चरमस्थितिस्थानं यावज्ज्ञातव्यम् , एवं चाऽत्र द्विगुणवृद्धिस्थानान्यसंख्येयानि भवन्ति । तेषां द्विगुणस्थानानां सख्यां विशेषतो दर्शयन्नाह—'अंगुलमूलच्छेयणो'

स्यादि, सूच्यङ्गुलस्य यत्प्रथमवर्गमूलं तस्मिन् यावन्त आकाशप्रदेशाः, तेषामर्धार्धच्छेदनकाः कर्त-व्याः, यावन्तस्ते, तेषामसंख्येयभागप्रमाणानि प्रस्तुते स्थितिबन्धस्थानेषु द्विगुणवृद्धिस्थानानि प्राप्यन्ते। एतानि च द्विगुणवृद्धिस्थानान्यावलिकाऽसंख्येयभागमात्राणि सम्भवन्ति, तथाऽप्यु-क्तपद्धत्या प्ररूपणं तु आवलिकाऽसंख्येयभागस्य विशेषावबोधार्थमिति।

शुभप्रकृतीनां तु ज्येष्ठस्थितिस्थानादारभ्याधो द्विगुणवृद्धिस्थानानि रसबन्धाध्यवसाया-नामवसातव्यानीति।

अथ कषायोदयस्थानेषु रसबन्धाध्यवसायानां द्विगुणवृद्धिश्चिन्त्यते-जघन्यकषायोदय-स्थानेऽशुभप्रकृतीनां रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, ततो विशेषाधिकानि विशेषाधि-कानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि उत्तरोत्तरकषायोदयस्थानेषु भवन्ति, असंख्यलोकप्रमित-कषायोदयस्थानान्यतिक्रम्य यत्कषायोदयस्थानं तत्र तानि प्रथमकषायोदयस्थानतो द्विगुणानि भवन्ति। एवं द्विगुणवृद्धं द्विगुणवृद्धं च स्थानमसंख्येयलोकप्रमितकषायोदयस्थानान्यतिक्रम्या-तिक्रम्य प्राप्यते, समुदितानि पुनस्तानि द्विगुणवृद्धिस्थानान्यावलिकाऽसंख्येयभागप्रमितानि भवन्ति।

शुभप्रकृतीनां तु तत्तत्प्रकृतिबन्धप्रायोग्यचरमस्थितिबन्धसत्कचरमकषायोदयस्थानगत-रसबन्धाध्यवसायस्थानानि स्तोकानि, तत आरभ्याध उक्तप्रकारेण रसबन्धद्विगुणवृद्धिस्थानान्य-वसातव्यानीति।

स्थितिबन्धस्थानेषु कषायोदयस्थानेषु च रसबन्धाध्यवसायानां द्विगुणवृद्धिस्थानानि स्तोकानि, यथासंख्यं सूच्यङ्गुलप्रथमवर्गमूलस्यार्धच्छेदनकानामसंख्यभागमात्रत्वादावलिकाऽ-संख्येयभागमात्रत्वाच्च। तत एकद्विगुणवृद्धिद्वयान्तरालवर्तिस्थानान्यसंख्येयगुणानि, अत्र गुणक-संख्या तु स्थितिस्थानगतरसबन्धाध्यवसायप्ररूपणायामसंख्येयानि पल्योपमप्रथमवर्गमूलमिता, कषायोदयस्थानगतरसबन्धाध्यवसायप्ररूपणायामसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा भवति। अतः स्थितिस्थानेषु कषायोदयस्थानेषु च रसबन्धाध्यवसायस्थानानां द्विगुणवृद्धिस्थानानि स्तोकानि, ततो द्विगुणवृद्धिस्थानद्वयान्तरालवर्तिस्थानान्यसंख्यगुणानि।

एवमोघत आयुर्वर्जसर्वप्रकृतीनामादेशतस्तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जसर्व-प्रकृतीनां प्रत्येकं स्थितिसमुदाहारप्ररूपणं सर्वमपि विज्ञेयमिति।

आयुष्कर्मण्यशुभप्रकृतितया नरकायुष्कमेव, तस्य जघन्यस्थितिबन्धस्थाने यावन्ति रसबन्धाध्य-वसायस्थानानि भवन्ति, ततः समयोत्तरे स्थितिस्थानेऽसंख्येयगुणानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, उत्तरोत्तरस्थितिस्थाने तद्बन्धहेतुभूतानां कषायोदयस्थानानामसंख्येयगुणत्वेन रसबन्धा-ध्यवसायस्थानानामसंख्येयगुणत्वात्। शुभायुस्त्रयेऽपि जघन्यस्थितिबन्धस्थानादारभ्योत्कृष्टस्थि-

तिस्थानं यावत्स्थितिबन्धाध्यवसायानां कषायोदयस्थानरूपाणामसंख्येयलोकप्रमाणत्वमुत्तरोत्तरमसंख्येयगुणत्वं च भवति, एवं स्थितिस्थानेषु रसबन्धाध्यवसाया' क्रमेणासंख्येयगुणा असंख्येयगुणा भवन्ति, यत आयुर्वर्जशेषशुभप्रकृतीनां स्थितिवृद्धौ वक्ष्यमानरसस्य हानेरेव भावेन रसबन्धाध्यवसायानां न्यूनत्वस्य संभवेनोत्कृष्टस्थितिप्रभृति पश्चानुपूर्व्या रसबन्धाध्यवसायानामाधिक्यसम्भवेऽपि देवादिशुभायुस्त्रये स्थितिवृद्धौ रसस्याऽपि वृद्धिरवश्यं भवति, अतस्तद्धेतुभूतानां रसबन्धाध्यवसायानां वृद्धिः सम्भवति, अतो जघन्यस्थितिस्थानप्रभृत्या उत्तरोत्तरस्थितिस्थाने रसबन्धाध्यवसायानां वृद्धिरसंख्यगुणकारेणैव प्राप्यते, तथा जघन्यस्थितिगताद्यकषायोदयस्थानादारभ्योत्तरोत्तरकषायोदयस्थाने विशेषाधिकानि विशेषाधिकानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति ।

ये पुनरेके शुभायुस्त्रिके स्थितिस्थानान्यवलम्ब्य जघन्यस्थितिस्थानात् क्रमेण रसबन्धाध्यवसायान्यसंख्यगुणरूपेण प्रतिपाद्य कषायोदयस्थानेषु तूत्कृष्टकषायोदयादारभ्य ततो मन्दमन्दतरकषायोदयस्थानेषु क्रमेण रसबन्धाध्यवसायान्यसंख्येयगुणान्यसंख्येयगुणानि भवन्तीति प्रतिपादयन्ति, तत्प्ररूपणमपि पूर्वोक्तप्रतिपादनानुकूलमेव, न पुनर्मतान्तरम्, यतः शुभायुष्कत्रय उत्कृष्टकषायोदयस्थानं जघन्यस्थितिगताद्यकषायोदयस्थानरूपं भवति, तत उत्तरोत्तरस्थानं मन्द-मन्दतरकषायोदयरूपं विशुद्धिस्थानं प्राप्यते, अत उक्तप्रकृतीनां शुभत्वेऽपि स्थितिवृद्धौ रसवृद्धिर्भवति, न च शुभानां विशुद्धेर्वृद्धिं विहाय रसवृद्धिसम्भव इति । एवं प्रतिस्थितिस्थानेषु रसबन्धाध्यवसायानां परिमाणमनन्तरोपनिधा परम्परोपनिधा च दर्शिता । विशेषतो भावना एतदनुसारेण स्वयं कार्या सुगमा चेति ॥१६२-१६५॥

॥ तदेवं द्वितीयं स्थितिसमुदाहारद्वारं समाप्तम् ॥

॥ तृतीयं तीव्रमन्दताद्वारम् ॥

अथ तृतीयं तीव्रमन्दताद्वारम् , सा च तीव्रमन्दताऽत्र रसबन्धाऽध्यवसायानां तत्तत्प्रकृतिसत्कस्थितिबन्धस्थानेषु वक्तव्या, अतस्तस्याः स्पष्टाऽवबोधार्थं स्थितिस्थानेषु रसबन्धाऽध्यवसायानां याऽनुकृष्टिः सा प्रथमतया वक्तव्या । अनुकृष्टेः कोऽर्थः ? उच्यते, अनुकृष्टिरनुवर्तनाऽनुगम इत्येकार्थाः, किमुक्त भवति ? जघन्यादिस्थितिबन्धस्थानवर्तिनामनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानां या प्रवृत्तिरुत्तरोत्तरस्थितिस्थानेषु साऽनुकृष्टिरित्युच्यते ।

अत्र चाऽऽयुर्वर्जानामनुकृष्टेरोघतो निरूपणायां संज्ञिनि पञ्चेन्द्रियेऽभवसिद्धिकप्रायोग्या या जघन्यस्थितिस्ततः प्रारभ्योत्कृष्टस्थितिं यावत्प्रस्तुते स्थितिबन्धस्थानेष्वनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानाऽनुकृष्टेरधिकारः, यतस्तत्तज्जघन्यस्थितिबन्धस्थानादुत्कृष्टस्थितिस्थानं यावन्नैरन्तर्येणैक जीवाऽपेक्षया कालभेदेन, नानाजीवाऽपेक्षया त्वेकस्मिन्नपि काले स्थितिबन्धस्थानानि बन्धे लभ्यन्ते,

धस्तात्त्वेकेन्द्रियादिषु स्वस्थानापेक्षया निरन्तराणि, परस्थानापेक्षया सान्तराणि निरन्तराणि च स्थितिस्थानानि प्राप्यन्ते, न च नैरन्तर्येण बन्धे सर्वस्थितिस्थानानां सद्भावः, किन्तु केषांचित्कियतामपि स्थितिस्थानानां नैरन्तर्येण बन्धः स्यात्, तत्राऽपि स्वजघन्यस्थितिबन्धस्थानादुत्कृष्टस्थितिस्थानं यावद्यथासम्भवमनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानवृद्धिः, तदनुसारेण चैकान्तरप्रमाणस्थानान्यनुकृष्टिं च परिभाव्य सुधिया वाच्येति । अत एव चूर्णिकृतोक्तम्–"संत्तिपंचिंदियम्मि पगय अभवसिद्धियपाउग्ग बज्झमाणम्मि" त्ति । अत्राऽनुकृष्टिनिरूपणायां चत्वारो वर्गा भवन्ति । वर्गो नाम समूहरूपविभागः । स च प्रस्तुते प्रकृतीनामवगन्तव्यः । एते पुनश्चत्वारो वर्गाः– अपरावर्तमानाऽशुभप्रकृतिवर्गः, अपरावर्तमानशुभप्रकृतिवर्गः, परावर्तमानशुभप्रकृतिवर्गः परावर्तमानाऽशुभप्रकृतिवर्गश्चेति । अथ वर्गभेदेनाऽनुकृष्टिं निरूपयन्नाह—

जाणि जहरणठिईए अज्झवसाणाणि घाइकधुवाणं ।
पल्लासंखंसं जा तदेगदेसो य अरणाणि ॥१६६॥
तो जा अणंतरखणं दुइआए जा गुरुट्ठिई; एवं ।
अणुकड्ढी विवरीआ सुहाण अपरित्तमाणीयं ॥१६७॥
जाणि गुरुठिईए सुहपरित्तमाणीण सत्तयहीणाए ।
ताणि य अरणाणि य जा पडिवक्खलहुट्ठिई एवं ॥१६८॥
उप्पिं उरलसमा, पडिलोमा असुहपरियत्तमाणीयं ।
णवरि चरमणिरये तिरिदुगणीयाणं लहुट्ठिई जा ॥१६९॥
तो अभवरिहलहुं जा घाइसमाऽट्ठारकोडिकोडुदहि ।
जा गुरुओ उरलसमा अत्थि पणिंदितसचउगाणं ॥१७०॥

(प्रे०) "जाणि" इत्यादि, अत्र देशोनाऽऽद्यसार्धगाथया प्रथमवर्गगतप्रकृतीनामनुकृष्टिर्निरूपिता, साधिकार्धगाथया च द्वितीयवर्गगतप्रकृतीनामनुकृष्टिर्गदिता, तदनु सातिरेकगाथया शुभपरावर्तमानप्रकृतीनामनुकृष्टिस्ततो देशोनगाथार्धेन चतुर्थवर्गस्याऽनुकृष्टिर्दर्शिता । तदनु सार्धगाथया तृतीयचतुर्थवर्गगतप्रकृत्यष्टकस्य स्व-स्ववर्गदर्शिताऽनुकृष्टितो विशेषो दर्शित इति ।

प्रथमवर्गस्याऽनुकृष्टिरेवम्–पञ्चचत्वारिंशद्मतिज्ञानावरणादिदेशसर्वघातिसत्कसर्वप्रकृतीनामशुभवर्णचतुष्कस्य यदि वा कृष्णनीलदुरभिगन्धतिक्तकटुगुरुकर्कशरूक्षशीतरूपाणां नवानामुपघातनाम्नश्चे ति पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धस्थाने असंख्येयलोकप्रमाणान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि भवन्ति । द्वितीयस्थितिबन्धस्थाने तदेकदेशः–प्राक्समयस्थिता-

नामसंख्यभाग मुक्त्वा शेषबहुभागप्रमाणानि तान्येव तदेकदेशप्रमाणान्यन्यानि च द्वितीयस्थितिबन्धेऽधिकान्यायान्ति । किमुक्तं भवति ? द्वितीयस्थितिस्थाने यान्यपूर्वाण्यध्यवसायान्यायान्ति तानि पूर्वस्थितिस्थानगताऽध्यवसायानाममंख्येयभागप्रमाणानि भवन्ति । तथा प्रथमस्थितिबन्धस्थाने यान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति, तेषाममंख्येयतमभागंमुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि द्वितीयस्थितिस्थानबन्धाऽऽरम्भे प्राप्यन्तेऽन्यानि चोक्तापूर्वाणि भवन्ति । तदुक्तम्—"मोत्तुमसख भाग जहन्नठिइठाणगाण सेसाइ । गच्छन्ति उवरिमाए तदेक्कदेसेण अण्णाईं ।" इति, एवं द्वितीयस्थितिस्थाने च यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि तृतीयस्थितिबन्धस्थाने गच्छन्ति तदेकदेशप्रमाणानि चाऽन्यान्यपूर्वाणि भवन्ति । तृतीयस्थितिबन्धस्थाने च यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तेषाममंख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि चतुर्थस्थितिबन्धस्थाने गच्छन्ति तदेकदेशप्रमाणानि चाऽन्यान्यपूर्वाणि भवन्ति । एवं तावद्वाच्यं यावत्स्वज्येष्ठस्थितिरूपं चरमस्थितिबन्धस्थानम् । **अयमत्र भावार्थः**-समयोत्तरजघन्यस्थितिस्थानादारभ्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानं यावत्पूर्वपूर्वसमयगताऽध्यवसायानामसंख्येयभागं मुक्त्वाऽसंख्येयबहुभागप्रमाणान्यध्यवसायस्थानान्युपरितनोपरितनस्थितिषु व्रजन्ति, अन्यानि चाऽसंख्येयभागप्रमाणान्यध्यवसायस्थानान्यपूर्वाण्यागच्छन्तीति ।

यदा जघन्यस्थितिस्थानतः पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति, तदा तत्र जघन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविनामनुकृष्टिः परिसमाप्ता । द्वितीयस्थितिबन्धस्थानसम्बन्धिनामपूर्वाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः "तस्मात् तदनन्तरक्षणे द्वितीयाया" अनुकृष्टिः परिसमाप्तेति गम्यते । तद्यथा—यत्र जघन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्ता, ततोऽनन्तरे क्षणे=अनन्तरस्थितिस्थाने द्वितीयस्थितिस्थानसम्बन्धिनामपूर्वाऽध्यवसायानामनुकृष्टिः परिनिष्ठां याति । **"जा गुरुट्ठिइं एव"** एवं तत्तत्कर्मणां ज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानं यावद्वक्तव्यम् । तच्चैवम्—ततश्चाऽनन्तरे क्षणे यत्र द्वितीयस्थितिबन्धस्थानारम्भभाविनामनुभागबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टिः परिसमाप्ता तदनन्तरस्थितिस्थाने तृतीयस्थितिबन्धस्थानारम्भभाविनामनुकृष्टिर्निष्ठां याति । एवममुना प्रकारेण "यावदुत्कृष्टस्थितिम्" उत्कृष्टस्थितिं यावदवगन्तव्यम् । एवं च सति ज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानासन्नपल्योपमाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमितस्थितिबन्धस्थानाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टिश्चरमे स्थितिबन्धस्थाने युगपन्निष्ठां यातीत्यवधार्यम् । तदेवं ज्ञानावरणादिपञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रथमवर्गरूपेण संगृहीतानामनुत्कृष्टिरुक्ता ।

अथ द्वितीयवर्गस्य शुभाऽपरावर्तमानानां शरीरपञ्चक-संघातनपञ्चक-पञ्चदशबन्धनाऽङ्गोपाङ्गत्रय-शुभवर्णाद्येकादशा-ऽगुरुलघु-निर्माणाऽऽतपो-द्योत-पराघातो-च्छ्वासनाम्नां पञ्चचत्वारि-

इतो जिननाम्नश्च स्थितिबन्धस्थानेषु रसबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टिर्मा ज्ञानावरणदर्शितनीत्या पश्चानुपूर्व्याऽभिधातव्या । तद्यथा—एतासां प्रकृतीनां स्व-स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भे यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयभागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्येकसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भे प्राप्यन्तेऽन्यानि च तदसंख्येयभागप्रमाणान्यपूर्वाणि प्राप्यन्ते । एकसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्थाने च यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयतम भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भे प्राप्यन्तेऽन्यानि च तदसंख्येयभागप्रमाणान्यपूर्वाणि प्राप्यन्ते । एवं तावद्वाच्यं यावत्स्वजघन्यस्थितिबन्धस्थानरूपं जघन्यस्थितिस्थानं प्राप्यते ।

एवं च सति यदा चरमस्थितिबन्धस्थानतः पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितयोऽधोऽधोऽतिक्रान्ता भवन्ति, तदा तस्मिन् स्थितिस्थाने सर्वोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानां स्थितिस्थाने स्थितिस्थानेऽसंख्यया॰संख्येयभागमोचनेनाऽनुकृष्टिः परिसमाप्ता । ततोऽनन्तरमधस्तने स्थितिस्थान एकसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टिः परिनिष्ठां याति । ततोऽप्यधस्तनतरे स्थितिस्थाने द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिमियर्ति । एवं क्रमशः प्रत्येकस्थितिबन्धस्थानाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टिर्विवक्षिततत्तत्स्थितिस्थानात्पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितीरधोऽतिक्रम्य परिनिष्ठिता भवन्ति । केवलं पश्चानुपूर्व्या याश्चरमपल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितयस्तत्सम्बन्धिनामपूर्वाणामनुभागबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टयो जघन्यस्थितिबन्धस्थानं प्राप्य सर्वा अपि युगपत् परिनिष्ठां यान्ति ।

एताश्च पञ्चचत्वारिंशत्प्रकृतयोऽपरावर्तमानाः शुभाश्चेति स्वस्वज्येष्ठस्थितिस्थानादारभ्य जघन्यस्थितिं यावत्पश्चानुपूर्व्याऽनुकृष्टिर्द्वितीयवर्गे निरूपिता, विशेषार्थिना तु श्रीशिवशर्मसूरिपुङ्गवकृतः कर्मप्रकृतिग्रन्थोऽवलोकनीय इति । एवं जिननाम्नोऽनुभागबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टेर्भावेऽपि तस्याऽनुकृष्टिः कर्मप्रकृतौ अनुकृष्टिप्रकरणप्रान्ते द्वितीयवर्गवत्पृथगतिदिष्टा । अत्र तु "सुहाण अपरित्तमाणीण" इत्यनेन जिननाम्नोऽपि संग्रहो द्रष्टव्यः । द्वितीयवर्गे जिननाम्नश्च परस्परमयं विशेषः—पञ्चचत्वारिंशतोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धं यावदनुकृष्टिर्निरूपणीया । जिननाम्नस्तु चतुर्थगुणस्थानगतजघन्यस्थितिं यावत्प्रस्तुतेऽनुकृष्टिर्निरूपणीयेति । तदनु संख्येयगुणहानेरेव भावेनान्तरालस्थितिबन्धस्थानानां शून्यत्वात् नास्ति तत् प्ररूपणाया निरन्तरमवकाश इति ।

अथ परावर्तमानशुभप्रकृतीनां तृतीयवर्गस्याऽनुकृष्टिर्दर्शनीया । अत्र शुभप्रकृतयो द्विधा—स्ववर्गज्येष्ठस्थितितो न्यूनस्वोत्कृष्टस्थितिकाः, स्ववर्गोत्कृष्टस्थितिकाश्च । तत्र प्रथमाः स्ववर्गज्येष्ठस्थितितो न्यूनस्वज्येष्ठस्थितिबन्धाः, अत एव स्वज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानेऽपि स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां स्थितेस्तत्समानत्वेन तदधिकत्वेन वा परावर्तमानभावेन बन्धप्रायोग्याः, यथा सातवेदनीयाद्याः । द्वितीया यासां शुभप्रकृतीनां ज्येष्ठस्थितिबन्धः स्ववर्गज्येष्ठस्थितिबन्धतुल्यप्रमाणो भवति, अथ च तस्या ज्येष्ठस्थितिबन्धे तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां ज्येष्ठस्थितेन्यूनत्वेन बन्धो नैव भवति, यदि वा तस्या विवक्षितशुभप्रकृतेर्ज्येष्ठस्थितिबन्धे प्रवर्तमाने तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धस्यैवाऽप्रायोग्यत्वं भवति, ता विज्ञेयाः, यथा पञ्चेन्द्रियजातिनामत्रसनामाद्याश्च ।

अत्र तृतीयवर्गे प्रथमप्रकारगताः शुभप्रकृतयः पठनीयाः, द्वितीयप्रकारगतानां पुनर्नामानि गृहीत्वैव तदनुकृष्टिं वक्ष्यति ग्रन्थकारः ।

तृतीयवर्गगताः प्रकृतयः पुनरिमाः—सातवेदनीय-देवद्विक-मनुष्यद्विक-समचतुरस्र-वज्रर्षभनाराचसंहनन-प्रशस्तविहायोगति-स्थिरषट्कोच्चैर्गोत्राणि ।

तासामनुकृष्टिः पुनरेवम्—सातवेदनीयस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नतो यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि प्रायोग्याणि भवन्ति, समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽपि तानि सर्वाणि भवन्ति तदसंख्येयभागप्रमितान्यन्यानि नूतनान्यपूर्वाणि च भवन्ति । अत्र यान्यपूर्वाण्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति तानि पूर्वसमयवर्तिज्येष्ठरसबन्धाऽध्यवसायस्थानतस्तीव्रतराणि भवन्ति, असंख्यलोकप्रमितानि चेति । एवं यानि समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्थाने भवन्ति, द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानेऽपि तान्यन्यानि च भवन्ति । अत्राऽपि समयोनज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानगतरसबन्धाऽध्यवसायानां सर्वेषामनुकृष्टिर्भवति; तदसंख्येयभागमात्राणि चाऽपूर्वाण्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति, तानि चाऽपूर्वाण्यध्यवसायस्थानानि समयोनज्येष्ठस्थितिबन्धे प्राप्ताऽपूर्वाऽध्यवसायेभ्यो विशेषाऽधिकानि भवन्ति । एवं पूर्वपूर्वाऽध्यवसायानां सर्वेषामनुकर्षणेन सहाऽन्येषां नूतनाऽध्यवसायानां वृद्ध्या च रसबन्धाऽध्यवसायाना वृद्धिस्तावद्वाच्या यावदसातवेदनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः । अथ भावार्थः—सप्रतिपक्षाणां प्रकृतीनामन्तःकोटाकोट्यादीनि स्थितिस्थानानि स्थापनीयानि, अभव्यस्य संज्ञिनो हि जघन्यः स्थितिबन्धः सर्वस्तोकोऽप्यन्तःकोटाकोटीप्रमाणः, तेषु स्थानेषु प्रायोऽनुकृष्टिर्वक्तव्येति हेतोः । स्थापनायां च सातस्योपरिभागादारभ्याऽधोमुखमसातस्य जघन्यस्थितिं यावत् , असातस्य चाऽधोभागादारभ्योर्ध्वमुखं सातस्य ज्येष्ठस्थितिं यावत्सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाणा याः स्थितयस्ताः परस्परमाक्रान्ततयाः स्थापयितव्याः । एतावत्यो हि स्थितयः परावर्त्य परावर्त्याऽपि बध्यन्ते, तत आक्रान्ताः स्थाप्याः । शेषास्तु सातस्याऽधोमुखा या अभव्यप्रायोग्या असातस्य जघन्यस्थितिबन्धतो हीनाः

स्थितयो यावदभव्यप्रायोग्यमातस्य जघन्यस्थितिः । यान्यऽभव्यप्रायोग्यासातजघन्यस्थितिबन्धस्थानतो हीनानि स्थितिबन्धस्थानान्येकैकहान्या नैरन्तर्येण लभ्यन्ते तत्प्रान्तस्थितिस्थानं यावद्याः स्थितयस्तेषु स्थितिबन्धस्थानेषु वर्तमानस्याऽपान्तराले प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽप्रायोग्यत्वेन परावृत्य परावृत्य बन्धाऽभावाच्छुद्धाः स्थितय उच्यन्ते । अत्राऽसातस्य जघन्यस्थितिबन्धस्थानं यावदधोमुखतया सातस्य स्थितयः प्रतिपक्षाऽऽक्रान्ताः सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाणा लभ्यन्ते । पृथक्त्वशब्दोऽत्र बहुत्ववाची द्रष्टव्यः, तेनाऽत्र सातिरेकचतुर्दशकोटीकोटिसागरोपमप्रमाणाः स्थितयः सागरोपमशतपृथक्त्वेन ग्राह्या, एतावत्प्रमाणेषु सातस्य स्थितिस्थानेषु तानि चाऽन्यानि चेत्येवं क्रमोऽनुसरणीयश्च ।

"उप्पि उरलसमा" त्ति, अत्र "उप्पि" मिति, असातस्य जघन्यस्थितिबन्धस्थानतोऽधस्तात्सातस्य शुद्धेषु स्थितिबन्धस्थानेष्वौदारिकनाम्नि यथा तदनुभागबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टिः कथिताः तद्वदत्राऽपि वाच्या । तथाहि—स्थापनायामसातस्य यो जघन्यस्थितिबन्धोऽभव्यप्रायोग्यस्तत्समानं यत्स्थितिस्थानं तत्र यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाणि तदधस्तने स्थितिस्थाने प्राप्यन्तेऽन्यानि च तदसंख्येयभागमात्राणि मुच्यमानाऽध्यवसायतो विशेषाऽधिकानि भवन्ति । तत्राऽपि यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाणि तदधस्तने स्थितिस्थाने प्राप्यन्तेऽन्यानि चाऽधिकानि नूतनानि भवन्ति । अनेन क्रमेण तावद्वाच्यं यावत्पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । तत्राऽसातजघन्यस्थितिबन्धतुल्यस्थितिस्थानसत्कानामनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिर्निष्ठामेति । ततोऽसातजघन्यस्थितिबन्धतुल्यस्थितिस्थानादधस्तनस्थितिस्थानसत्कानामनुकृष्टिः स्वप्रारम्भस्थानतः पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रस्थानान्यतिक्रम्याधःस्थितौ निष्ठामेति । एवं तावद्वाच्यं यावत्सातस्य जघन्यस्थितिः ।

अत्राऽऽक्रान्तस्थितितोऽनाक्रान्तस्थितिषु सञ्चरत आक्रान्तस्थितिस्थानसत्कानि यान्यपूर्वाऽपूर्वाऽध्यवसायस्थानानि तत्तत्स्थितिस्थानत आरभ्याऽधोऽनुवर्तमानानि कस्मिन्स्थितिस्थाने निष्ठितानि भवन्ति तत्प्रदर्शयामः-असातजघन्यस्थितिबन्धस्थानतुल्यसातवेदनीयस्थितिबन्धस्थाने यान्यपूर्वाण्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि भवन्ति तानि ततः स्थानात्पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राणि स्थितिबन्धस्थानान्यधोऽवतीर्य यस्मिन्स्थितिस्थाने निष्ठां यान्ति तावत्प्रमाणानि स्थितिस्थानानि निर्वर्तनकण्डकमुच्यते । तस्मिन्निर्वर्तनकण्डके यावन्ति स्थितिस्थानानि तेषामसंख्येयबहुभागेषु प्रत्येकं स्थितिस्थाने यानि रसबन्धाऽध्यवसायस्थानानि निष्ठामाप्नुवन्ति तानि सर्वाणि सातस्य ज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानगतानि ततस्तेषां प्रारब्धाऽनुकृष्टिः क्रमेणाऽसातजघन्यस्थितिबन्धतुल्यस्थानं यावत्सर्वाण्यागत्य ततस्तेषां ज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानगतरसबन्धाऽध्यवसायस्थानानां निर्व-

र्तनकण्डकाऽसंख्येयबहुभागगतस्थितिस्थानप्रमाणसंख्याकान्युत्तरोत्तरविशेषाऽधिकानि च खण्डानि कृत्वैकैकं खण्डमसातजघन्यस्थितिबन्धतुल्यस्थितिस्थानात्प्रारभ्य निर्वर्तनकण्डकाऽसंख्येयबहुभागगतस्थितिस्थानानां चरमस्थितिबन्धस्थानं यावन्निष्ठां प्राप्नोति । एवं च सति कण्डकस्याऽसंख्येयबहुभागव्यतिक्रमे सातस्य ज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानगतानि सर्वाण्यध्यवसायस्थानानि निष्ठितानि भवन्ति, न ततोऽधस्तनस्थितिस्थाने सातस्य ज्येष्ठस्थितिस्थानसत्कैकोऽप्यध्यवसायोऽनुकृष्ट्या लभ्यत इति भावः । किञ्च यस्मिन् स्थितिबन्धस्थाने सातस्य ज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानसत्करसबन्धाऽध्यवसायस्थानानां चरमखण्डं निष्ठां प्राप्नोति तस्मिन्नेव स्थितिबन्धस्थान उत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानादारभ्य निर्वर्तनकण्डकप्रमाणस्थितिस्थानेषु यावन्त्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानान्यपूर्वाणि सन्ति तानि सर्वाण्यपि सममेव निष्ठां यान्ति । सातस्य ज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानादारभ्याऽसातजघन्यस्थितिबन्धस्थानतुल्यस्थितिबन्धस्थानं यावद्यावन्ति स्थितिबन्धस्थानानि भवन्ति तेषां निर्वर्तनकण्डकगतस्थितिबन्धस्थानप्रमाणमेकैकं खण्डं कृत्वा प्रत्येकखण्डे प्राप्तेषु स्थितिबन्धस्थानेषु यावन्त्यपूर्वाण्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तानि युगपदेकैकस्थितिस्थाने निष्ठां प्राप्नुवन्ति । एवं च सति यस्मिन्स्थितिस्थाने ज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानतः पश्चानुपूर्व्या प्रथमकण्डकगतरसबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टेर्निष्ठापनं भवति । तदनन्तराऽधस्तनस्थितिस्थाने द्वितीयकण्डकगतानामपूर्वरसबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टेर्निष्ठापनमियर्ति तदनन्तराऽधस्तनस्थितिस्थाने तृतीयकण्डकगतानामपूर्वरसबन्धाध्यवसायानामनुकृष्टेर्निष्ठापनं भवति, एवं तावद्वाच्यं यावदाक्रान्तस्थितिस्थानसत्कचरमकण्डकगतानामपूर्वरसबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टेर्निष्ठापनम् । यस्मिन्स्थितिस्थान आक्रान्तस्थितिसत्कचरमकण्डकगतानामपूर्वरसबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टिः समाप्ता तस्मिन्नेव स्थितिस्थानेऽसातवेदनीयजघन्यस्थितिबन्धतुल्यसातस्थितिबन्धस्थाने यान्यपूर्वाणि रसबन्धाऽध्यवसायस्थानानि प्राप्तानि तेषामप्यनुकृष्टिर्निष्ठामेति । इतः प्रारभ्यैकैकस्थितिस्थाने प्राप्ताऽपूर्वरसबन्धाऽध्यवसायस्थानानि कण्डकमात्रस्थितिस्थानेष्वनुवर्त्यैकैकस्थितिबन्धस्थाने निष्ठामियर्ति । एवं च यावन्निरन्तरप्राप्यमाणस्थितिस्थानसत्कजघन्यस्थितिस्थानमिति । एषा चाऽनाक्रान्तस्थितिस्थानेषु प्राप्ताऽपूर्वरसबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टिरौदारिकशरीरनामवद्भवतीति तथैव दर्शिता । एवं सातवेदनीयादिपञ्चदशानामनुकृष्टिर्द्रष्टव्येति तृतीयवर्गस्याऽनुकृष्टिः ।

अथ तुरीयवर्गेऽनुकृष्टिं निरूपयन्नाह–"**पडिलोमा असुहपरियत्तमाणेण**"मिति, अशुभानां परावर्तमानप्रकृतीनामसातवेदनीयादीनामनुकृष्टिर्यादृशी सातवेदनीयस्य दर्शिता ततो वैपरित्येन जघन्यस्थितिबन्धस्थानादारभ्याऽऽक्रान्तज्येष्ठस्थितिस्थानं यावत्तदूर्ध्वं स्वस्वज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानं यावदनाक्रान्तस्थितिस्थानेषु चाऽनुकृष्टिर्निरूपणीयेति । तद्यथा–असातस्य जघन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भे यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तानि सर्वाणि समयाऽधिकजघ-

न्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भे भवन्ति, अन्यानि च तदसंख्येयभागमात्राण्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमितानि अपूर्वाण्यध्यवसायान्यधिकानि भवन्ति। यानि समयाऽधिकजघन्यस्थितिबन्धस्थानेऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तानि सर्वाणि द्विसमयाऽधिकजघन्यस्थितिबन्धस्थानेऽपि भवन्त्यन्यानि तदसंख्येयभागमात्राण्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसंख्याकानि द्वितीयसमये प्राप्ताऽपूर्वाऽध्यवसायेभ्यो विशेषाऽधिकान्यपूर्वाण्यध्यवसायस्थानान्यधिकानि च भवन्ति। एवं तावद्वाच्य यावत्सागरोपमशतपृथक्त्वं भवति। अय भावः-यावन्मात्रासु सातवेदनीयस्थितिष्वधोमुखेन तानि चाऽन्यानि चेत्येवं क्रमोऽनुत्कृष्टेरुक्तस्तावत्प्रमाणास्वेवाऽसातवेदनीयस्थितिषूर्ध्वमुखेन तानि चाऽन्यानि चेत्येव जघन्यस्थितेरारभ्य क्रमोऽभिधेयः। आक्रान्तस्थितीनामुभयत्र तुल्यत्वात्। एताः स्थितयः कर्मप्रकृतौ सागरोपमशतपृथक्त्वशब्देन निरूपिताः।

एता एव स्थितयोऽसातस्य सर्वजघन्याऽनुभागबन्धप्रायोग्याः यत एतावत्यः स्थितयः सातवेदनीयेन सह परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते, परावर्तमानश्च प्रायो मन्दपरिणामो भवति, तत एतासु जघन्याऽनुभागबन्धसंभवः। इत ऊर्ध्वं त्वसातमेव केवलं बध्यते तच्च तीव्रतरेण परिणामेन ततो न तत्र जघन्यानुभागबन्धसंभव इति।

तत उपरि ज्ञानावरणतुल्याऽनुत्कृष्टिर्वक्तव्या। तथाहि-असातजघन्याऽनुभागबन्धप्रायोग्यस्थितीनां चरमस्थितिबन्धे अर्थात्सातवेदनीयज्येष्ठस्थितितुल्यस्थितिस्थाने प्राक्तनसर्वस्थितिबन्धस्थानगतसर्वरसबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टया प्राप्तिर्भवति अतोऽसातवेदनीयजघन्यस्थितिबन्धत आरभ्य सातवेदनीयज्येष्ठस्थितिबन्धतुल्यस्थितिस्थानं यावत्तान्यन्यानि चेत्येवमनुकृष्टिः प्रवर्तते। तत ऊर्ध्वं समयाऽधिकपञ्चदशकोटाकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिबन्धे तत्प्राक्तनस्थितिस्थाने यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि भवन्ति तेषामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि तदुपरितनस्थितिबन्धस्थानेऽनुवर्तन्तेऽन्यानि च भवन्ति। ततोऽप्युपरितनस्थितिबन्धस्थाने प्राक्तनस्थितिस्थानसत्काऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यनुवर्तन्तेऽन्यानि च भवन्ति। एवं तावद्वाच्यं यावदसातवेदनीयस्य ज्येष्ठस्थितिः। अत्र च पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रस्थितयो यदा गता भवन्ति तदा जघन्याऽनुभागबन्धप्रायोग्यचरमस्थितिसत्कानामनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्यते। ततोऽप्युपरितनस्थितिबन्धस्थाने जघन्याऽनुभागबन्धप्रायोग्यचरमस्थित्यनन्तरस्थितिसत्काऽनुभागबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टिः समाप्यते। एवं तावद्वाच्यं यावदसातस्योत्कृष्टस्थितिः। अत्राऽपि पञ्चदशकोटाकोटीसागरोपमत उपरि कण्डकस्याऽसंख्येयबहुभागेषु गतेष्वसातवेदनीयजघन्यस्थितिस्थानादारभ्य प्रथमकण्डकसत्काऽपूर्वाऽनुभागबन्धाऽध्यवसायानामनुकृष्टिः समाप्ता। तत उपरितनस्थितिस्थाने द्वितीयकण्डकसत्काऽपूर्वाऽध्यवसायानामनुकृष्टिः समाप्ता, एवमुपरितनैकैकस्थिति-

वन्धस्थानेऽधस्तनैकैककण्डकप्रमाणस्थितिस्थानसत्काऽपूर्वरसबन्धाऽध्यवसायानां तत्तत्स्थानतः प्रारब्धा अनुत्कृष्टिः समाप्यते, एवं तावद्वाच्यं यावत्सातज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानतुल्याऽसातस्थितिस्थानसत्काऽध्यवसायानामनुकृष्टिर्निष्ठामेति। तदूर्ध्वं त्वेकैकस्थितिस्थाने एकैकस्थितिस्थानसत्काऽपूर्वाऽध्यवसायानामेवाऽनुकृष्टिः परिसमाप्तिमियर्ति। अत्र विस्तरभावना तु सातवेदनीयसत्काऽनुकृष्टिवद्यथासंभवं भावनीयेति। यथाऽसातवेदनीयस्यानुकृष्टिर्दर्शिता तथैव तद्वर्गगतानामपि सा भावनीया।

तुरीयवर्गगताः प्रकृतयः पुनरिमाः—नरकद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्जशेषजातिचतुष्कप्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकप्रथमवर्जसंहननपञ्चकाऽप्रशस्तविहायोगतिस्थावरसूक्ष्मसाधारणाऽपर्याप्ताऽस्थिराऽशुभदुर्भगदुःस्वराऽनादेयाऽयशःकीर्तिरूपाः सप्तविंशतिरसातवेदनीयं च।

अत्रेदमवधार्यम्—विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकमध्यमसंहननचतुष्कमध्यमसंस्थानचतुष्करूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां प्रत्येकं स्वस्वजघन्यस्थितिबन्धस्थानादारभ्य स्वस्वज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानं यावत् स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वेनाऽऽक्रान्तत्वात्तानि चाऽन्यानि चेत्येवमनुकृष्टिः संभवति न पुनस्तदेकदेशं विमुच्य शेषाण्यन्यानि च। अतः शतकचूर्णिकृता जघन्याऽनुभागबन्धस्वामित्वप्रस्तावे "छसठाणछसंघयणाण वि हुंडासंपत्तवज्जाण अप्पप्पणो उक्कोसठितीओ आढवेत्तु समचउरसवज्जरिसभनारायवज्जाण जाव अप्पप्पणो जहन्निया ठिति त्ति एत्थंतरे सव्वजहन्नणुभागो लब्भति" इति भणितम्। ननु किमर्थं चतुर्थवर्गे ताः पठिता इति चेत् ? उच्यते स्वजघन्यस्थितिबन्धादारभ्य "तान्यन्यानि चे"त्येवं रूपाऽनुकृष्टिर्न वर्गत्रयेऽपि संभवति, तथा तुरीयवर्गस्याऽऽद्यांशः संपूर्णोऽत्र संभवति, एवमुत्तरांशस्याऽसंभवेऽपि नाऽन्यः कश्चिद्विशेषः, अतस्तुरीयवर्ग एव तासां संग्रहो ज्ञातव्यः। व्याख्या तु व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायाद्यथासंभवं कार्येति।

अथ तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरनुकृष्टिं दर्शयामः। तत्र तिर्यग्गतिमधिकृत्य भावना क्रियते—सप्तमपृथिव्यां वर्तमानस्य नारकस्य सम्यक्त्वं प्रतिपत्तुकामस्य तिर्यग्गतेर्जघन्यां स्थितिं बध्नतो यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वाऽन्यानि सर्वाण्यपि द्वितीयस्थितिबन्धस्थानेऽनुवर्तन्तेऽन्यानि च भवन्ति। द्वितीयां च स्थितिं बध्नतो यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वाऽन्यानि सर्वाण्यपि तृतीयस्थितिबन्धस्थानेऽनुवर्तन्तेऽन्यानि च भवन्ति। एवं तावद्वाच्यं यावत्पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति। अत्र जघन्यस्थितिसत्काऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिमियर्ति। तत उपरितनस्थितिबन्धस्थाने द्वितीयस्थितिसत्काऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिं याति। ततोऽप्युपरितनस्थितिबन्धस्थाने तृतीयस्थितिसत्काऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिमेति। एवं तावद्वाच्यं यावदभव्यप्रायोग्यो जघन्यस्थितिबन्धः।

अत्राऽभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिर्यत्र मनुष्यगतेर्बन्धस्तत्र वर्तमानस्य तिर्यग्गतेर्यावती भव ति तावती ग्राह्या, न पुनः सप्तमनारकसत्काऽभव्यप्रायोग्यबन्धस्य जघन्यस्थितिः । यतः सप्रतिपक्ष-बन्धे तिर्यग्गतेरभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धतो मनुष्यगत्यादेरभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धस्य सागरोपमपृथक्त्वेन न्यूनत्वेऽपि सप्रतिपक्षबन्धे यावन्मात्रो मनुष्यगतेरभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थि-तेर्बन्धो भवति तावन्मात्र एव तिर्यग्गतेरभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धः सप्तमनारकस्य भवति । अतः सप्तमनरकसत्काऽभव्यप्रायोग्यतिर्यग्गतेर्जघन्यस्थितिबन्धतः पश्चान्तनारकसत्काऽभव्यप्रायो-ग्यतिर्यग्गतेर्जघन्यस्थितिबन्धं यावद्यानि स्थितिबन्धस्थानानि सागरोपमपृथक्त्वप्रमाणानि; तेषु तिर्यग्गतेरपरावृत्त्यैव बन्धात् तदेकदेशोऽन्यानि चेत्येवमनुकृष्टिः प्रवर्तते । तदनु मनुष्यगतेरपि बन्धप्रायोग्यत्वादाक्रान्तत्वेन "तानि अन्यानि च" इत्यादिरूपाऽनुकृष्टिः प्रवर्तते यावत्तिर्यग्ग-तेराक्रान्तस्थितिर्लभ्यते, सा चाऽऽक्रान्तस्थितिरष्टादशकोटाकोटीसागरोपमसत्कचरमस्थितिस्थान यावल्लभ्यते । पञ्चदशकोटाकोटिन उपर्यष्टादशकोटाकोटिसागरोपमं यावन्नरकगत्या सहाऽऽक्रा-न्तत्वात् । पुनरग्रे द्विकोटाकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिस्थानेषु "तदेकदेशोऽन्यानि च" इत्येवं-रूपाऽनुकृष्टिः प्रवर्तते; यावत्सर्वज्येष्ठा स्थितिः । अत्र यस्मात् स्थानात् 'तान्यन्यानि च' इत्येवं-रूपाऽनुकृष्टिः प्रवर्तते ततो ज्येष्ठस्थितिस्थान यावत्सर्वाऽप्यनुकृष्टिरसातवेदनीयवद्भवति ।

विशेषभावना पुनरेवम्—अभव्यप्रायोग्यां जघन्यस्थितिं बध्नतो यान्यनुभागबन्धाऽध्य-वसायस्थानानि तानि तत उपरितनस्थितौ सर्वाणि भवन्ति, अन्यानि च । तस्यामपि यान्यनु-भागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तान्युपरितनस्थितौ सर्वाणि भवन्ति, अन्यानि च । एव ताव-द्वाच्यं यावत्सागरोपमशतपृथक्त्वम् , अष्टादशसागरोपमकोटाकोटि यावदित्यर्थः । एताश्च प्रायो-ऽभव्यप्रायोग्यजघन्याऽनुभागबन्धविषयाः स्थितयः । एता हि नरकमनुष्यगत्यादिरूपया प्रति-पक्षप्रकृत्या सह परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते, परावृत्य बन्धे च प्रायः परिणामो मन्द उपजायते ।

तत एता जघन्यानुभागबन्धविषयाः । एतासां चरमस्थितौ यान्यनुभागबन्धाध्यवसाय-स्थानानि तेषामसंख्येयं भाग मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि तदुपरितनस्थितिबन्धस्थानेऽनुवर्तन्ते, अन्यानि च भवन्ति । तत्रापि यान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि, तेषामसंख्येयं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाणि तत उपरितनस्थाने वर्तन्ते, अन्यानि च भवन्ति । एवं तावद् वाच्य यावत्पल्यो-पमासंख्येयभागमात्रा' स्थितयो गता भवन्ति । अत्राऽभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषय-चरमस्थितिसत्कानुभागबन्धाध्यवसायानामनुकृष्टि परिसमाप्ता । तत उपरितने स्थितिबन्धे जघ-न्यानुभागबन्धविषयचरमस्थित्यनन्तरस्थितिसत्कानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परि समाप्तिं याति । एव तावद् वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः । अत्राऽष्टादशसागरोपमकोटिकोटिस्थि-

तित उपरि कण्डकप्रमाणस्थितिस्थानेषु या नानास्थितिबन्धस्थानसत्काऽपूर्वाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टेः परिसमाप्तिः सा असातवेदनीयवद् विशेषतः परिभावनीयेति ।

ननु तिर्यग्द्विकस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्य मिथ्यात्वचरमस्थितिबन्धे सम्भवज्जघन्यबन्धस्थानादारभ्यैकैकोत्तरस्थितिबन्धस्थानान्यभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धस्थानं यावन्निरूपितानि, किन्त्वपूर्वकरणं यावन्नानाजीवाऽपेक्षया नैरन्तर्येण स्थितिबन्धस्थानानां सम्भवेऽप्यनिवृत्तिकरणे नानाजीवानधिकृत्याप्यध्यवसायानां मुक्तावलिसंस्थानभावेन तदद्धायां प्रतिसमय नानाजीवापेक्षयैकैकाध्यवसायस्य भावात् प्रत्यन्तर्मुहूर्तं पल्योपमसंख्येयभागप्रमाणन्यूनन्यूनतरस्थितिबन्धस्य भावाच्च नैरन्तर्येण स्थितिबन्धस्थानानां कुतो लाभः, तदलाभे च कुतो निरूपिता उक्तस्वरूपा अनुकृष्टिः संगच्छेत ? इति चेद् उच्यते, अत्रैके पुनरेवं समादधते "अभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धादधस्तात् तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राणां सामान्येन संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य तावद्बन्ध एव नास्ति । यश्च सप्तमपृथिव्यां सम्यक्त्वलाभाभिमुखस्य प्रतिपाद्यते, स प्रत्यन्तर्मुहूर्त पल्योपमसंख्येयभागहान्या तावत्प्रवर्तते यावदन्तरकरणोपान्त्यसमय इति । एवं च न सर्वाणि स्थितिस्थानानि बध्यमानानि लभ्यन्ते । तथाप्येतत् स्थितिस्थानानां शेषप्रकृतीनामिव तीव्रमन्दता [अनुकृष्टिस्तीव्रमन्दता च] नैरन्तर्यमुपलभ्य दर्शिता । अन्यथा तस्याः प्रज्ञापयितुमशक्यत्वात् । अन्ये पुनरेवं समादधते—करणत्रयेण ये उपशमसम्यक्त्वं प्राप्नुवन्ति तान् विहायाऽष्टाविंशतिसत्ताकस्य क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनप्राप्त्यभिमुखस्य या चरमान्तर्मुहूर्तगता विशुद्धिः सा नानाजीवापेक्षयाऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाध्यवसायानुगता तत्स्थानसम्भवज्जघन्यस्थितिबन्धादारभ्यैकैकोत्तरस्थितिबन्धस्थानवृद्ध्या निरन्तरा लभ्यते, अतो नोक्ता अनुपपत्तिः, न चानिवृत्तिकरणतुल्या अधिका वा विशुद्धिः करणं विना क्षयोपशमसम्यक्त्व प्राप्तुमुद्यतस्य न स्यादिति शङ्कनीयम्, यतो मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्ध्यादीनां जघन्यानुभागोदीरणा ससयमसम्यक्त्वाभिमुखस्यानिवृत्तिकरणे समयाधिकावलिकाशेषायामप्रदर्श्य मिथ्यात्वगुणस्थानचरमसमय एव प्रदर्शिता, सा च क्षयोपशमसम्यक्त्वाभिमुखानामेव भवति, अनुभागोदीरणायां जघन्यतायां हेतुर्मोहनीयप्रकृतिषु विशुद्धिर्भवति, अतो विशुद्धिप्रकर्षोऽनिवृत्तिकरणतुल्योऽधिको वा यथासंभवं क्षयोपशमसम्यक्त्वाभिमुखस्य सम्भवति, तत्र च नानाजीवापेक्षयैकोत्तरवृद्ध्या स्थितिबन्धस्थानानां सम्भवादुक्तरूपाऽनुकृष्टिः सुसंगता भवतीति । अत्र तत्त्वं पुनर्बहुश्रुता विदन्ति ।

तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राणामनुकृष्टिर्वर्गचतुष्कात् काचिद् विलक्षणा भवति, यतोऽधस्तनस्थितिस्थानेष्वपरावर्तमानज्ञानावरणादिप्रकृतितुल्या अनुकृष्टिर्भवति, उपरितनस्थितिस्थानेष्वपि प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावेनानाक्रान्तत्वेनाऽपरावर्तमानत्वात् तदेकदेशोऽन्यानि चेत्येवमेवानुकृष्टिः प्रवर्तते । मध्यवर्तिषु स्थितिस्थानेषु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रायोग्यत्वेनाऽऽक्रान्तत्वेन परावर्तमानत्वात् तान्य-

न्यानि चेत्येवमनुकृष्टिः प्रवर्तते । अत्र प्रकृतीनामशुभत्वाज्जघन्यस्थितिबन्धादारभ्योत्कृष्टस्थिति-बन्धं यावदनुकृष्टिर्भणनीया ।

त्रसचतुष्के पुनरुत्कृष्टस्थितिबन्धादारभ्याऽभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धस्थानं यावद्त्रिधा विभक्ता अनुकृष्टिः, आद्या तदेकदेशोऽन्यानि चेत्येवंरूपाऽनुकृष्टिः, द्वितीया—तान्यन्यानि चेत्येवं रूपा, तृतीया—पुनस्तदेकदेशोऽन्यानि चेत्येवंरूपा अनुकृष्टिः । एषा चानुकृष्टिः तिर्यग्द्विक-दर्शिताऽनुकृष्टितो विपरीताऽभिधेयेति । एतामेव ग्रन्थकारो दर्शयति—"णवरि" इत्यादि, त्रस-बादरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नामनुकृष्टिरुपरितनस्थितिस्थानादारभ्याधोऽधोऽवतरणेन यावदधस्तादष्टा-दशकोटीकोटचः सागरोपमाणा शेषाः तिष्ठन्ति तावत् पराघाततुल्या द्रष्टव्या । ततोऽधस्तात् सातेन तुल्यानुकृष्टिरभिधेया । अत्र त्रसनाम्नो भाव्यते । त्रसनाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धारम्भे यान्य-नुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि समयोनोत्कृष्ट-स्थितिबन्धारम्भेऽनुवर्तन्ते अन्यानि च भवन्ति । एकसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धारम्भे च यान्यनु-भागबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयभागं मुक्त्वा शेषसर्वाणि द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धा-रम्भे प्राप्यन्ते, अन्यानि च भवन्ति । एवं तावद्वाच्य यावत्पल्योपमासंख्येयभागमात्राः स्थितयो गच्छन्ति । अत्रोत्कृष्टस्थितिसत्कानामनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः समाप्तिमियर्ति । ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने समयोनोत्कृष्टस्थितिसत्कानां तेषामनुकृष्टिर्निष्ठामुपैति । एवं तावद् वाच्यं यावदधस्तादष्टादशसागरोपमकोटीकोट्यस्तिष्ठन्ति । ततोऽष्टादशसागरोपमकोटाकोटीचरम-स्थितौ यान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तान्यधस्तनस्थितिबन्धारम्भे सर्वाण्यपि भवन्त्यन्यानि च । तत्स्थानभावीनि च सर्वाण्यपि ततोऽप्यधस्तने स्थितिस्थाने भवन्त्यन्यानि च । एवं तावद्वाच्यं यावदभव्यसंज्ञिप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषयस्थावरनामसत्कस्थितिप्रमाणाः स्थितयो गता भवन्ति । ततोऽनन्तरमधस्तने स्थितिस्थाने प्राक्तनानन्तरस्थितिस्थानसत्कानामनुभागबन्धाध्य-वसायस्थानानामसंख्येयं भागं मुक्त्वा सर्वाण्यपि तान्यनुवर्तन्तेऽन्यानि च भवन्ति । ततोऽप्य धस्तने स्थितिस्थाने प्राक्तनानन्तरस्थितिस्थानसत्कानां तेषामसंख्येयं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि तान्यनुवर्तन्ते अन्यानि च भवन्ति । एव तावद्वाच्यं यावत्पल्योपमासंख्येयभागमात्राः स्थितयो गच्छन्ति । अत्र जघन्यानुभागबन्धविषयस्थावरनामसत्कस्थितिप्रमाणतया अभिहितानां स्थितीनां प्रथमस्थितेर्यान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषामनुकृष्टिर्निष्ठिता । ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने द्वितीयस्थितिस्थानसत्कानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिनिष्ठामेति । एव तावद्वाच्यं यावत्सर्वजघन्या स्थितिः । अत्राध्यवसायानामनुकृष्टेर्विशेषभावना तु तीव्रमन्दता-नुसारेणापि कार्येति । एवं बादरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नामनुकृष्टिर्भावनीया । पञ्चेन्द्रियजातेरनुकृष्टिरप्ये वमेव सम्भवति, यतोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीत उपरि विंशतिकोटाकोटीप्रान्तस्थिति यावत्

त्रसनामवदनाक्रान्ता स्थितिर्भवति, तद्यथा–येषां त्रसनाम्नोऽष्टादशकोटाकोटीसागरोपमत उपरि बन्धप्रायोग्यत्वं तेषां यदि स्थावरनाम्नो बन्धस्तर्हि तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धोऽष्टादशकोटाकोटीसागरोपमप्रमाण एव भवति । न पुनस्तत उपरि द्विकोटाकोटीसागरोपमप्रमाणाः स्थितयस्तेषां स्थावरनाम्नो बन्धप्रायोग्या भवन्ति । येषां पुनः स्थावरनाम्नोऽष्टादशकोटिकोटिसागरोपमत उपरि बन्धप्रायोग्यत्वं तेषां त्रसनाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यत्वमष्टादशकोटाकोटीसागरोपमप्रमाणमेव भवति, अतस्त्रसनाम्नः स्थावरनाम्नश्च चरमद्विकोटाकोटीसागरोपमप्रमाणा स्थितयः परस्परमनाक्रान्ता एव भवन्ति । तथैव पञ्चेन्द्रियैकेन्द्रियजातिद्वयेऽपि भवति यतस्त्रसनाम्ना सहाष्टादशकोटाकोटीसागरोपमत उपरि केवलं पञ्चेन्द्रियजातिरेव बन्धप्रायोग्या, एवं स्थावरनाम्ना सहैकेन्द्रियजातिरेव, अतस्त्रसस्थावरनाम्नोर्ज्येष्ठस्थितिबन्धस्वामिनो भिन्नत्वेन चरमद्विकोटीकोटीसागरोपमाणां स्थितयः परस्परमनाक्रान्ता लभ्यन्ते, एवमेव पञ्चेन्द्रियजातिनाम्न एकेन्द्रियजातिनाम्नोऽपि, अतस्तयोरपि चरमद्विकोटीकोटीसागरोपमाणां स्थितयोऽनाक्रान्ता भवन्तीति एके व्याचक्षते युक्तिसंगतश्चायं दृश्यते । केवलं कर्मप्रकृतिचूर्णौ–पञ्चेन्द्रियजातेरनुकृष्टिः सातवेदनीयवदतिदेशेन दर्शिता, कर्मप्रकृतिमूलकृताऽपि त्रसचतुष्कस्यैव विशेषरूपेणानुकृष्टिर्दर्शिता न पुनस्तत्र पञ्चेन्द्रियजातेर्ग्रहणं कृतमिति । तत्त्वं पुनरत्र बहुश्रुतैर्निर्णेतव्यमिति ।

आयुष्कचतुष्कस्यानुकृष्टिरत्र न दर्शिता, कर्मप्रकृत्यादिष्वपि तन्निरूपणं नास्ति, अतः सम्भावयामो यच्चतुर्णामायुषामनुकृष्टिरेव न स्यात् , उत्तरोत्तरमेकैकस्थितिस्थाने गणनातोऽसंख्येयगुणानां स्थितबन्धाध्यवसायानां रसबन्धाध्यवसायानां च सद्भावात्तत् तीव्रतायास्त्वनन्तगुणत्वेन रसबन्धाध्यवसायानामुत्तरोत्तरस्थितिस्थानेऽपूर्वाणां केवलानां सद्भावादिति ॥१६९-१७०॥ अथ तीव्रमन्दताद्वारम्—

सुहअसुहाणं गुरुलहुठिईअ कमसो रसो अणंतगुणो ।
कंडगमज्झं जा लहुरसोऽत्थि अपरित्तमाणीणं ॥१७१॥
कंडगमेगं तत्तिअपल्लासंखंसठिइगयं णेयं ।
जा होइ जित्तिअठिइं अज्झवसाणाण अणुकड्ढी ॥१७२॥
तो पढमकंडगस्स उ पढमखणे गुरुरसोऽत्थि ताउ लहू ।
बीअस्स पढमसमये तो पढमस्स परमो बीए ॥१७३॥
तो बीअस्स जहण्णो दुइअखणे चरमकंडगंतखणं ।
जा लहुमेवं तत्तो जहुत्तरं चरमकंडगे जेट्ठो ॥१७४॥ (गीतिः)

(प्रे०) "सुहअसुहाण" मित्यादि, अपरावर्तमानशुभप्रकृतीनां स्वज्येष्ठस्थितिस्थाना-दारभ्याधस्तनस्थितिस्थानेषु तथाऽपरावर्तमानाशुभप्रकृतीनामभव्यप्रायोग्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्त-सत्कजघन्यस्थितिस्थानादूर्ध्वस्थितिस्थानेष्वनुकृष्टिवत्तीव्रमन्दता वक्तव्या । तद्यथा-पञ्चचत्वा-रिंशद्घातिप्रकृतिनामप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शानां नवानामुपघातस्य चेति पञ्चपञ्चाशत् प्रकृतीनां संज्ञ्यभव्यप्रायोग्यस्वस्वजघन्यायां स्थितौ जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः । ततो द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितौ जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावन्निवर्तनकण्डकं भवति । **निवर्तनकण्डकं नाम** यत्र जघन्यस्थितिबन्धारम्भभाविनामनु-भागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्ता, तत्पर्यन्ता मूलत आरभ्य याः स्थितयः पल्यो-पमासंख्येयभागमात्रप्रमाणास्ता अन्या वा तावत्यः स्थितयः समुदिता निर्वर्तनकण्डकमुच्यत इति ।

ततो निवर्तनकण्डकस्य चरमस्थितौ जघन्यानुभागाज्जघन्यस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्त-गुणः । ततः कण्डकादुपरि प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽधस्तनद्वितीयस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः कण्डकादुपरि द्वितीयस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽधस्तनतृतीयस्थिता उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः कण्डकादुपरि तृतीयस्थितौ जघन्यो-ऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमेकैकाधस्तनादुपरि च यथाक्रमं ज्येष्ठो जघन्यश्चानुभागोऽनन्तगुण-तया तावद् वाच्यो यावदुत्कृष्टायां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । कण्डकमात्राणां चोत्कृष्टस्थितिसंबन्धिस्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽद्याप्यनुक्तस्तिष्ठति । शेषः सर्वोऽप्युक्तः ।

इदमुक्तं भवति-अपरावर्तमानाशुभप्रकृतिसत्कजघन्यस्थितिस्थानादारभ्य चरमकण्डकं विमुच्य शेषस्थितीनां जघन्यो ज्येष्ठश्चेति द्विविधोऽप्यनुभागश्चरमकण्डकगतसर्वस्थितीनां जघन्यो-ऽनुभागश्चोक्तपद्धत्या निरूपितः, अवशिष्टं च चरमकण्डकगतसर्वस्थितिसत्कज्येष्ठानुभागस्य तीव्रमन्दत्वस्य निरूपणम्, तच्च चतुर्थगाथायां सातिरेकचरमपादेन "**तत्तो जहुत्तर चरम-कण्डगे जेट्ठा**" इत्यनेन दर्शितम्, तद्यथा-ततः सर्वोत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्यानुभागात् कण्डक-मात्राणां स्थितीनां प्रथमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः । ततोऽप्यनन्तरायामुपरि-तनस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं निरन्तरमुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वक्तव्यो यावदुत्कृष्टा स्थितिः । चरमकण्डकसत्कपल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागो यथोत्तर स्थितिस्थानेष्वनन्तगुणतया नेतव्य इत्यर्थः ।

इदानीमपरावर्तमानशुभप्रकृतीनां या तीव्रमन्दता उक्तगाथाचतुष्केणैव ग्रन्थकृता दर्शिता तां भावयामः अपरावर्तमानशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टात् स्थितिबन्धस्थानादारभ्याधोमुखमुक्तपद्धत्या-ऽनन्तगुणनया तीव्रमन्दता वाच्या । तथाहि-पराघातोच्छ्वासातपोद्योतशुभवर्णाद्येकादशागुरुलघु-

निर्माणशरीरपञ्चकसंघातनपञ्चकबन्धनपञ्चदशकाङ्गोपाङ्गत्रयाणां जिननाम्नश्चेति षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं स्वस्वोत्कृष्टायां स्थितौ जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः । ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्विसमयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि त्रिसमयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्य यावत्पल्योपमासंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । निवर्तनकण्डकमतिक्रान्तं भवतीत्यर्थः । तत उत्कृष्टायां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो निवर्तनकण्डकादधः प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः समयोनामुत्कृष्टस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो निवर्तनकण्डकादधो द्वितीयस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं कण्डकान्तरित उत्कृष्टो जघन्यश्चानुभागः क्रमात्तावद्वाच्यो यावन्निरन्तरप्राप्यमाणस्थितिस्थानेषु स्वस्थानविशुद्धौ प्राप्यमाण जघन्यस्थितिस्थानसत्को जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं च कण्डकमात्राणा स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽद्याप्यनुक्तस्तिष्ठति शेषः सर्वोऽप्युक्तः । ततो जघन्यस्थितेरारभ्योर्ध्वं कण्डकमात्राः स्थितयस्तस्याश्चरमायां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः । ततोऽधस्तनस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावज्जघन्यस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एव गाथाचतुष्केण प्रथमद्वितीयवर्गयोरपरावर्तमानशुभाशुभप्रकृतीनां तीव्रमन्दता निरूपिता ॥१७१-१७४॥

अथ गाथाचतुष्केण परावर्तमानशुभाशुभप्रकृतीनां तीव्रमन्दतां दर्शयन्नाह—

ताणि य अराणाणि य जा परित्तमाणीण लहुरसो तुल्लो ।
ताउ अणंतगुणो जा हवेज्ज कंडगअसंखंसा ॥१७५॥
ताउ जहुत्तरमज्जे ताणराणाणि त्ति कंडगे जेट्ठो ।
ताउ लहू एगखणे तओ गुरू कंडगे बीए ॥१७६॥
एवं ताणऽणाणित्ति चरमसमये गुरू तओ अ लहू ।
कंडगअंतिमसमये एत्तो उड्ढमपरित्तमाणिसमो ॥१७७॥ (गीतिः)
णवरि तिरिदुगाईसुं अट्ठसु पुव्वमपरित्तमाणिव्व ।
गुरुचरमकंडगरसो परित्तमाणऽज्जकंडजेट्ठथले ॥१७८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "ताणि अण्णाणि य" इत्यादि, यावतीनामशुभपरावर्तमानप्रकृतीनां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाभव्यप्रायोग्यस्वजघन्यस्थितिबन्धस्थानादारभ्य तथा यावतीनां परावर्तमानशुभानां स्वज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानादारभ्य यावत्सु स्थितिस्थानेषु 'तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टिः' कथिता, तावत्सु स्थितिस्थानेषु तावतीनां शुभाशुभपरावर्तमानप्रकृतीना जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव द्रष्टव्यः ।

"तानि चान्यानि च" इत्येवमनुकृष्टिविषयात् परतोऽपि जघन्यो यथोत्तरमनन्तगुणस्तावद् वक्तव्यो यावत्कण्डकस्याऽसंख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते। अत्र केचित् कण्डकस्य संख्येयबहुभागेष्वनन्तगुणत्वं वर्णयन्ति तच्च न सम्यक्, तत्पाठस्य प्रतिलेखकानाभोगजन्यत्वात् कर्मप्रकृत्यां तथाऽदर्शनाच्च। कण्डकासंख्यबहुभागात्परं एकत्र कण्डकमात्राणामन्यत्रैकैकस्याश्च स्थितेर्यथासंख्यमुत्कृष्टा जघन्याश्चानुभागा अनन्तगुणा ज्ञेयाः।

इदमुक्तं भवति–तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टेः परं जघन्योऽनुभागो यथोत्तरमनन्तगुणस्तावद्वाच्यो यावत्कण्डकमात्राणां स्थितीनामसंख्येया भागा गता भवन्ति, एको भागोऽवतिष्ठते। ततो यस्मात् स्थितिस्थानादारभ्य तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टिरारब्धा, तत्प्रभृतीनां कण्डकमात्राणां स्थितीनां यथोत्तरमुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणोऽनन्तगुणो वक्तव्यः। ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्ततोऽनन्तरे स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः। ततो द्वितीयानुभागकण्डके ज्येष्ठरसबन्धो यथोत्तरमनन्तगुणतया वक्तव्यः, ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्तदनन्तरे स्थितिस्थाने जघन्यानुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः। एवमेकैकस्यां स्थितौ जघन्यानुभागमुत्कृष्टानुभागस्थितिनां च कण्डकं कण्डकं तावद् वदेद्यावज्जघन्यानुभागविषयाणां स्थितीनां तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टेः परं कण्डकं परिपूर्णं भवति। उत्कृष्टाश्चानुभागा आक्रान्तसर्वस्थितौ दर्शितास्ते च सागरोपमशतपृथक्त्वतुल्या भवन्ति। पृथक्त्वशब्दोऽत्र बहुत्ववाची द्रष्टव्यः। सागरोपमशतपृथक्त्वं ह्यत्रासत्कल्पनया लक्षम्, कण्डकं च सहस्रम्, तदेकासंख्यभागः शतम्, असंख्यभागगतैकैकस्थितिस्थानं सहस्रप्रमाणाक्रान्तस्थितिस्थानसत्ककण्डकैरनुविद्धम्, एवं सहस्राधिकालक्षमितानि स्थितिस्थानानि भवन्ति।

ततः कण्डकसत्कचरमस्थितिसत्कजघन्यानुभागोऽनन्तगुणः,-पश्चादुपर्येकस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः, ततः पुनरप्येकस्यां जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः पुनरप्येकस्यामुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। एवं एकैकस्यामुपर्यधो जघन्यमुत्कृष्टं चानन्तगुणमनुभागं तावद्वदेद्यावत् सर्वस्थितिसत्कानुभागेषु जघन्यपदं निरूपितं भवति, सर्वस्थितिस्थानेषु जघन्यानुभागसत्कतीव्रमन्दतापरिपूर्णा निरूपिता भवतीति भावः। तदा चोत्कृष्टानुभागविषया याश्चरमकण्डकमात्राः स्थितयोऽनुक्तास्तिष्ठन्ति, तासामुत्कृष्टानुभागो यथोत्तरमनन्तगुणो वाच्यः। गाथार्थः पुनरेवम्–परावर्तमानप्रकृतीनां यावत्सु स्थितिस्थानेषु **"तानि चान्यानि च"** इत्येवमनुकृष्टिस्तावत्सु स्थितिस्थानेषु-शुभप्रकृतिषु स्वप्रायोग्यज्येष्ठस्थितिस्थानादारभ्याऽशुभप्रकृतिषु तु स्वप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धादारभ्य जघन्यरसो बन्धे तुल्यो भवति, तेभ्यः शुभप्रकृतिषु स्वप्रतिपक्षाशुभप्रकृतिजघन्यस्थितितुल्यस्थितिस्थानभाविजघन्यरसादधस्तात्तथाऽशुभप्रकृतिषु स्वप्रतिपक्षशुभप्रकृत्याक्रान्तज्येष्ठस्थितितुल्य-

स्थितिस्थानभाविजघन्यरसादूर्ध्वं कण्डके यावत्यः स्थितयो भवन्ति, तासामसंख्यबहुभागप्रमित स्थानपर्यन्तं क्रमशो जघन्यरसोऽनन्तगुणोऽनन्तगुणो भवतीति प्रथमगाथार्थः। ततः शुभप्रकृतिषु स्वज्येष्ठस्थितिस्थानप्रभृत्यधस्तात्कण्डकप्रमितेषु स्थितिस्थानेषु यथोत्तर ज्येष्ठरसबन्धोऽनन्तगुणो भवति, अशुभप्रकृतिषु स्वजघन्यस्थितिस्थानात्प्रारभ्योर्ध्वं कण्डकप्रमितेषु स्थितिस्थानेषु यथोत्तरं ज्येष्ठरसबन्धोऽनन्तगुणो भवति।

"ताउ" त्ति, तस्मात्, "जहुत्तर" यथोत्तर क्रमश इति यावत्, "अज्जे" इतिपदं कण्डक इति पदेन सह संबन्धनीयम्, तेनाऽऽद्ये कण्डके इत्यर्थो लभ्यते, अत्राद्य कण्डकमाक्रान्तस्थितिसंबन्धि ग्राह्यम्, उत अनाक्रान्तस्थितिसत्कम्? इत्यत आह "ताणण्णाणित्ति" त्ति तानि अन्यानि इत्येवं येषु स्थितिस्थानेष्वनुकृष्टिर्भवति तत्सत्कमाद्य कण्डकं ग्राह्यम्। तच्च शुभप्रकृतिषु स्वप्रायोग्याक्रान्तज्येष्ठस्थितिस्थानादारभ्याधोमुखम्, तथाऽशुभप्रकृतिषु स्वप्रायोग्याक्रान्तजघन्यस्थितिस्थानादारभ्योर्ध्वमुखम्, यानि स्थितिस्थानानि तत्सत्क प्रथमकण्डकमिति। "ताउ" इत्यादि, आद्यकण्डकसत्कचरमस्थितिस्थानसत्कज्येष्ठरसात् 'लहू एगखणे' त्ति, आक्रान्तस्थित्यनन्तरस्थिताऽनाक्रान्तस्थितिसत्कप्रथमकण्डकस्यासंख्यबहुभागादूर्ध्वमवशिष्टैकभागसत्कप्रथमस्थानगतजघन्यरसबन्धोऽनन्तगुणो भवति। 'अणतगुणो' इतिपदं पूर्वगाथातोऽत्राऽग्रे चानुकर्षणीयम्।

"तओ गुरुकडगे बोए" ततः—दर्शितस्थितिस्थानसत्कजघन्यरसबन्धानन्तर द्वितीयकण्डकसत्कासु स्थितिषु यथोत्तरं ज्येष्ठरसोऽनन्तगुणोऽनन्तगुणो वाच्यो यावद् द्वितीयकण्डकस्य चरमस्थितिरिति द्वितीयगाथार्थः। 'एव' मित्यादि, एवमिति उक्तप्रकारेणैकैककण्डकसत्कस्थितिस्थानेषु यथोत्तरं निरन्तरं चानन्तगुणज्येष्ठानुभागमवशिष्टासंख्यभागसत्कस्थितिभ्य एकैकस्थितिसत्कजघन्यानुभागेनान्तरयित्वा तावद्वाच्यं यावदवशिष्टासंख्यभागसत्कचरमस्थिति विहाय शेषस्थितीनां जघन्यानुभागो निरूपितो भवति, तदूर्ध्वं च कण्डकप्रमितेष्वाक्रान्तस्थितिसंबन्धिस्थितिस्थानेषु ज्येष्ठानुभागस्य यथोत्तरमनन्तगुणेन निरूपिते सति आक्रान्ताः स्थितयः समाप्ता भवन्ति। तत आक्रान्तस्थितिसत्कचरमस्थितिगतज्येष्ठानुभागतोऽनाक्रान्तस्थितिसत्कप्रथमकण्डकचरमस्थितौ जघन्यानुभागोऽनन्तगुणो भवति। इत ऊर्ध्वं केवलास्वनाक्रान्तस्थितिष्वेव जघन्योत्कृष्टानुभागो निरूपणीयः, स च सर्वोऽपि शुभप्रकृतिषु पराघातनामवद् विभावनीयः, अशुभप्रकृतिषु तु मतिज्ञानावरणवद् द्रष्टव्य इति।

अत्र परावर्तमानशुभप्रकृतयः पुनरिमाः—सातवेदनीयमनुष्यगतितदानुपूर्वीदेवगतितदानुपूर्वी-समचतुरस्रसस्थान-वज्रर्षभनाराच-सुखगति-स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वरा-देय-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्राणि-

पञ्चदशेति । परावर्तमानाऽशुभप्रकृतय इमाः—असातवेदनीयनरकद्विकैकेन्द्रियादिजातिचतुष्काद्य-धर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिस्थावरदशकनामानीत्यष्टाविंशतिरिति । तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रत्रसचतुष्कपञ्चेन्द्रियजातिनाम्नामशुभानां शुभानां च परावर्तमानत्वेपि तासां स्थिति-स्थानानां प्रारम्भे प्रान्ते चानाक्रान्तस्थितिस्थानानां सद्भावादुक्ततीव्रमन्दतायां यः कश्चि द्विशेषः, स 'पणवरिं' इत्यादिना वक्ष्यति । अतः पञ्चदशस्वष्टात्रिंशतां वा तासामग्रह इति ।

अत्र सातासाते अधिकृत्य भावना विधीयते—सातस्योत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागः सर्व-स्तोकः । ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । द्विसमयोनायामप्यु-त्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । एवमधोऽधोऽवतीर्य तावद्वक्तव्यो यावत्सागरोपम-शतपृथक्त्वमतिक्रान्तं भवति, यावदसातवेदनीयेन सहाक्रान्ता स्थितिर्लभ्यत इत्यर्थः ।

ततोऽधस्तनस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽप्यधस्तनस्थितौ जघन्योऽनुभागो-ऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावत्कण्डकस्यासंख्येया भागा गता भवन्ति एकोऽवशिष्यते । एताश्च स्थितयोऽसंख्येयभागहीनकण्डकमात्राः साकारोपयोगा इति व्यवह्रियन्ते । साकारोपयोगे-नैवैतासां बध्यमानत्वादिति । तत उत्कृष्टस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः । ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्विसमयोनायामुत्कृष्टस्थि-तावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमधोऽधोऽवतरणेनोत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणस्तावद्वक्तव्यो यावत्कण्डकमात्राः स्थितयोऽतिक्रान्ता भवन्ति । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः ।

ततः पुनरपि प्रागुक्तानामुत्कृष्टानुभागविषयाणां स्थितीनामधस्तात्कण्डकमात्रासूत्कृष्टोऽ-नुभागः क्रमेणाऽनन्तगुणो वाच्यः । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्त-तोऽधस्तने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः । ततः पुनरपि कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमेकस्याः स्थितेर्जघन्योऽनुभागः कण्डकमात्राणा च स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वाच्यो यावज्जघन्यानुभागविषयाणामेकैकस्थितीनां तथा तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टेश्चरमस्थितौ ज्येष्ठानुभागानन्तगुणमुक्त्वाऽधस्तनप्रथमकण्डक-सत्कचरमस्थितिगतजघन्यानुभागस्यानन्तगुण इति उक्ते कण्डकं परिपूर्णं भवति ।

अत्र पर्यन्तमुत्कृष्टानुभागविषयाः स्थितयो या उक्तास्ता आक्रान्ताः स्थितय एव भवन्ति, ताश्च सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाणा भवन्ति, अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची सातवेदनीयापेक्षया च तानि स्थितिस्थानानि साधिकचतुर्दशकोटाकोटीसागरोपमसत्कसमयप्रमितानि भवन्ति । एवं शेषप्रकृतिष्वपि यथासम्भवं विभावनीयमिति । तत आक्रान्तस्थितितोऽधस्तनप्रथमस्थितावुत्कृष्टो-ऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः पुनरपि प्रागुक्तस्थितिस्थानादधस्तनस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्त-

गुणः । तत आक्रान्तस्थितितोऽधस्तनद्वितीयस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमेकैकं जघन्यमुत्कृष्टं चानुभागमनन्तगुणतया वदन् तावद् व्रजेद् यावत्संज्ञिपञ्चेन्द्रियाभव्यप्रायोग्या सर्वजघन्या स्थितिः । कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याप्यनुक्तास्तिष्ठन्ति, शेषाः सर्वेऽप्युक्ताः । ततो ये शेषास्तेऽप्यधोऽधः क्रमेणानन्तगुणा वक्तव्या यावत् सर्वजघन्या स्थितिः ।

तदेवं परिपूर्णा सातवेदनीयसत्कस्थितिषु रसस्य तीव्रमन्दताया वक्तव्यता । तदनुसारेण शुभपरावर्तमानानां तीव्रमन्दता बोद्धव्येति ।

अथ चतुर्थवर्गगतानां प्रकृतीनां तीव्रमन्दताया ग्रन्थकृता तृतीयवर्गेण सममेव दर्शितत्वेऽपि तदर्थस्य च गाथार्थप्रसङ्गे भावितत्वेऽपि स्पष्टबोधार्थमसातवेदनीयमधिकृत्य दर्शयामः । तद्यथा––असातवेदनीयस्य जघन्यस्थितौ जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः । द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । तृतीयस्यामपि स्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । एवं तावद्वाच्यं यावत्सागरोपमशतपृथक्त्वं भवति । अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची ज्ञेयः । तेनाक्रान्तस्थितिसत्कचरमस्थितिस्थानं यावत्, पञ्चदशकोटाकोटिसागरोपमसत्कचरमस्थितिं यावदित्यर्थः । तत उपरितनस्थितौ समयाधिकपञ्चदशकोटाकोटिसागरोपमस्थितावनाक्रान्तस्थितिसत्कप्रथमस्थितावित्यर्थः, जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः, ततो द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः ।

एवं तावद्वाच्यं यावत्कण्डकस्याऽसंख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते । ततोऽसातस्य जघन्यस्थितावुत्कृष्टपदे उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्वितीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावत्कण्डकमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्तत उपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः प्रागुक्तादुत्कृष्टानुभागविषयात्कण्डकादुपरि प्रथमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्वितीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावत्पुनरपि कण्डकमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । ततः पुनरपि यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यानुभागमुक्त्वा निवृत्तस्तस्योपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः ।

ततो भूयोऽपि प्रागुक्तकण्डकद्वयादुपरि कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागो यथोत्तरमनन्तगुणो वक्तव्यः । एवमेकैकस्याः स्थितेर्जघन्योऽनुभागः कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वक्तव्यो यावज्जघन्यानुभागविषयाणामेकैकस्थितीनां तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टेः परं कण्डकं परिपूर्णं भवति । उत्कृष्टानुभागविषयाश्च स्थितयः सागरोपमशतपृथक्त्वमात्राः । अत्राक्रान्तस्थितिसमाप्त्यनन्तरं आक्रान्तस्थितिस्थानतो उपरितनस्थितितः प्रारब्धप्रथमकण्डकसत्कचरमस्थितिगतजघन्यानुभागोऽनन्तगुणतया वाच्य इति ।

तत आक्रान्तस्थितित उपरितनप्रथमस्थितावुत्कृष्टानुभागोऽनन्तगुणः। ततः पुनरपि प्रागुक्तात् स्थितिस्थानादुपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। तत आक्रान्तस्थितित उपरि द्वितीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। एवमेकैकं जघन्यमुत्कृष्टं चानुभागमनन्तगुणं वदन् तावद् व्रजेद् यावदसातवेदनीयस्य सर्वोत्कृष्टा स्थितिर्भवति। कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याप्यनुक्ता अवतिष्ठन्ते। शेषाः सर्वेऽप्युक्ताः। ततस्तेऽपि यथोत्तरमनन्त गुणा वक्तव्या यावदुत्कृष्टा स्थितिः। एवं नरकगत्यादीनामष्टाविंशतेरपि प्रकृतीनां तीव्रमन्दता भावनीया। केवलं विकलत्रिकसूक्ष्मत्रिकमध्यमसंस्थानचतुष्कमध्यमसंहननचतुष्करूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिस्थानात्प्रारभ्य ज्येष्ठस्थितिस्थानं यावत्सप्रतिपक्षप्रकृत्याऽऽक्रान्तत्वाज्जघन्यस्थितितः प्रारभ्य ज्येष्ठस्थितिं यावज्जघन्यानुभागस्तुल्यो वाच्यस्तदनु जघन्यस्थितिस्थानतो ज्येष्ठस्थितिस्थानं यावत्क्रमशः प्रतिस्थितिस्थानसत्कज्येष्ठरसोऽनन्तगुणो भवतीत्येवं शतकचूर्णीसत्कमध्यमसंहननसंस्थानजघन्यरसबन्धस्वामितोऽवगम्यते। यतस्तत्र स्वजघन्यस्थितितः स्वज्येष्ठस्थितिं यावत् सर्वत्र जघन्यरसबन्धस्वामिनो दर्शिता इति **कर्मप्रकृतितः शतकचूर्णौ** एतावान् विशेषोऽवसेयः, न पुनर्विरोधो मतान्तरं वा।

अथ परावर्तमानशुभप्रकृतिष्ववशिष्टा याः पञ्च प्रकृतयस्त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकपञ्चेन्द्रियजातिनामानि, तासामनुकृष्टिर्यथा सातवेदनीयतः किञ्चित्सविशेषा भवति तथैव तासां तीव्रमन्दताऽपि, अतस्तासां पृथक् प्ररूपणा कर्तव्या भवति। तद्यथा-त्रसनाम्न उत्कृष्टस्थितौ जघन्यपदे जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः। ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततोऽपि द्विसमयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। एवमधोऽधोऽवतरणेन जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वक्तव्यो यावत्कण्डकमात्राः स्थितयोऽतिक्रान्ता भवन्ति। तत उत्कृष्टायां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः कण्डकादधः प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः कण्डकादधस्तन्यां द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततो द्विसमयोनायामुत्कृष्टस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः कण्डकादधस्तन्यां तृतीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। एवं तावद् वाच्य यावदष्टादशसागरोपमकोटिकोटीनां चरमस्थितित उपरितनस्थितिसत्को जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः।

एवं च विंशतिकोटीकोटीसागरोपमसत्कचरमस्थितिप्रभृत्यष्टादशकोटीकोटीसागरोपमाणामुपरितनस्थितिं यावत्तीव्रमन्दता निरूपिता, केवलमष्टादशकोटीकोटीनां चोपरि कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याप्यनुक्ताः सन्ति, शेषं सर्वमुक्त ।

गुणः । तत आक्रान्तस्थितितोऽधस्तनद्वितीयस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमेकैकं जघन्यमुत्कृष्टं चानुभागमनन्तगुणतया वदन् तावद् व्रजेद् यावत्संज्ञिपञ्चेन्द्रियाभव्यप्रायोग्या सर्वजघन्या स्थितिः । कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याप्यनुक्तास्तिष्ठन्ति, शेषाः सर्वेऽप्युक्ताः । ततो ये शेषास्तेऽप्यधोऽधः क्रमेणानन्तगुणा वक्तव्या यावत् सर्वजघन्या स्थितिः ।

तदेवं परिपूर्णा सातवेदनीयसत्कस्थितिषु रसस्य तीव्रमन्दताया वक्तव्यता । तदनुसारेण शुभपरावर्तमानानां तीव्रमन्दता बोद्धव्येति ।

अथ चतुर्थवर्गगतानां प्रकृतीनां तीव्रमन्दताया ग्रन्थकृता तृतीयवर्गेण सममेव दर्शितत्वेऽपि तदर्थस्य च गाथार्थप्रसङ्गे भावितत्वेऽपि स्पष्टबोधार्थमसातवेदनीयमधिकृत्य दर्शयामः । तद्यथा––असातवेदनीयस्य जघन्यस्थितौ जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः । द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । तृतीयस्यामपि स्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । एवं तावद्वाच्य यावत्सागरोपमशतपृथक्त्वं भवति । अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची ज्ञेयः । तेनाक्रान्तस्थितिसत्कचरमस्थितिस्थानं यावत् , पञ्चदशकोटाकोटिसागरोपमसत्कचरमस्थिति यावदित्यर्थः । तत उपरितनस्थितौ समयाधिकपञ्चदशकोटाकोटिसागरोपमस्थितावनाक्रान्तस्थितिसत्कप्रथमस्थितावित्यर्थः, जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः, ततो द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः ।

एवं तावद्वाच्यं यावत्कण्डकस्याऽसंख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते । ततोऽसातस्य जघन्यस्थितावुत्कृष्टपद उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्वितीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्य यावत्कण्डकमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्तत उपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः प्रागुक्तादुत्कृष्टानुभागविषयात्कण्डकादुपरि प्रथमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्वितीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावत्पुनरपि कण्डकमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । ततः पुनरपि यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यानुभागमुक्त्वा निवृत्तस्तस्योपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः ।

ततो भूयोऽपि प्रागुक्तकण्डकद्वयादुपरि कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागो यथोत्तरमनन्तगुणो वक्तव्यः । एवमेकैकस्याः स्थितेर्जघन्योऽनुभागः कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वक्तव्यो यावज्जघन्यानुभागविषयाणामेकैकस्थितीनां तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टेः परं कण्डकं परिपूर्णं भवति । उत्कृष्टानुभागविषयाश्च स्थितयः सागरोपमशतपृथक्त्वमात्राः । अत्राक्रान्तस्थितिसमाप्त्यनन्तरं आक्रान्तस्थितिस्थानतो उपरितनस्थितितः प्रारब्धप्रथमकण्डकसत्कचरमस्थितिगतजघन्यानुभागोऽनन्तगुणतया वाच्य इति ।

तत आक्रान्तस्थितित उपरितनप्रथमस्थितावुत्कृष्टानुभागोऽनन्तगुणः। ततः पुनरपि प्रागुक्तात् स्थितिस्थानादुपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। तत आक्रान्तस्थितित उपरि द्वितीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। एवमेकैकं जघन्यमुत्कृष्टं चानुभागमनन्तगुणं वदन् तावद् व्रजेद् यावदसातवेदनीयस्य सर्वोत्कृष्टा स्थितिर्भवति। कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याप्यनुक्ता अवतिष्ठन्ते। शेषाः सर्वेऽप्युक्ताः। ततस्तेऽपि यथोत्तरमनन्त गुणा वक्तव्या यावदुत्कृष्टा स्थितिः। एवं नरकगत्यादीनां सप्तविंशतेरपि प्रकृतीनां तीव्रमन्दता भावनीया। केवलं विकलत्रिकसूक्ष्मत्रिकमध्यमसंस्थानचतुष्कमध्यमसंहननचतुष्करूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिस्थानात्प्रारभ्य ज्येष्ठस्थितिस्थानं यावत्सप्रतिपक्षप्रकृत्याऽऽक्रान्तत्वाज्जघन्यस्थितितः प्रारभ्य ज्येष्ठस्थितिं यावज्जघन्यानुभागस्तुल्यो वाच्यस्तदनु जघन्यस्थितिस्थानतो ज्येष्ठस्थितिस्थानं यावत्क्रमशः प्रतिस्थितिस्थानसत्कज्येष्ठरसोऽनन्तगुणो भवतीत्येवं **शतकचूर्णी**सत्कमध्यमसंहननसस्थानजघन्यरसबन्धस्वामितोऽवगम्यते। यतस्तत्र स्वजघन्यस्थितितः स्वज्येष्ठस्थितिं यावत् सर्वत्र जघन्यरसबन्धस्वामिनो दर्शिता इति **कर्मप्रकृतितः शतकचूर्णौ** एतावान् विशेषोऽवसेयः, न पुनर्विरोधो मतान्तरं वा।

अथ परावर्तमानशुभप्रकृतिष्ववशिष्टा याः पञ्च प्रकृतयस्त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकपञ्चेन्द्रियजातिनामानि, तासामनुकृष्टिर्यथा सातवेदनीयतः किञ्चित्सविशेषा भवति तथैव तासां तीव्रमन्दताऽपि, अतस्तासां पृथक् प्ररूपणा कर्तव्या भवति। तद्यथा-त्रसनाम्न उत्कृष्टस्थितौ जघन्यपदे जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः। ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततोऽपि द्विसमयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। एवमधोऽधोऽवतरणेन जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वक्तव्यो यावत्कण्डकमात्राः स्थितयोऽतिक्रान्ता भवन्ति। तत उत्कृष्टायां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः कण्डकादधः प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः कण्डकादधस्तन्यां द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततो द्विसमयोनायामुत्कृष्टस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः कण्डकादधस्तन्यां तृतीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। एवं तावद् वाच्य यावदष्टादशसागरोपमकोटिकोटीनां चरमस्थितित उपरितनस्थितिसत्को जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः।

एवं च विंशतिकोटीकोटीसागरोपमसत्कचरमस्थितिप्रभृत्यष्टादशकोटीकोटीसागरोपमाणामुपरितनस्थितिं यावत्तीव्रमन्दता निरूपिता, केवलमष्टादशकोटीकोटीनां चोपरि कण्डकमात्राणां स्थतीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याप्यनुक्ता सन्ति, शेषं सर्वमुक्त ।

ततोऽष्टादशकोटीकोटीसत्कायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव, द्विसमयोनायामप्युत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव। एवमधोऽधोऽवतरणेन तावद्वाच्यं यावदभव्यसंज्ञिप्रायोग्यप्रतिपक्षभूतस्थावरनाम्नो जघन्यस्थितिबन्धः। ततोऽधस्तन्यां प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः, ततो द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। एवं तावद्वाच्यं यावत्कण्डकस्यासंख्येया भागा गता भवन्ति एकोऽवतिष्ठते। ततोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीनामुपरिष्टात्कण्डकमात्राणां स्थितीनां चरमस्थितावुत्कृष्टोनुभागोऽनन्तगुणः। ततो द्विचरमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततस्त्रिचरमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः, एवमधोऽधोऽवतरणेन तावद्वाच्यं यावत्कण्डकमतिक्रान्तं भवति। अष्टादशकोटीकोटीनामुपरि अनन्तरा स्थितिरतिक्रान्ता भवतीत्यर्थः। ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमभिधाय निवृत्तस्ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः पुनरप्यष्टादशसागरोपमकोटीकोटीसत्कायाश्चरमस्थितेरारभ्याधोऽधः कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः। ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यानुभागमभिधाय निवृत्तस्ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः पुनरपि प्रागुक्तात्कण्डकादधः कण्डकमात्राणां स्थितीनामधोऽधः क्रमेणोत्कृष्टा अनुभागा अनन्तगुणा वक्तव्याः। एवमेकस्याः स्थितेर्जघन्यमनुभागं कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टानुभागान् वदता तावद् गन्तव्यं यावदभव्यप्रायोग्यपरावर्तमानजघन्यानुभागबन्धविषया जघन्या स्थितिः। कोऽर्थः? स्थावरनाम्ना सहाक्रान्तस्थितिषु जघन्यस्थितिगतोत्कृष्टानुभागः, संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तेष्वभव्यप्रायोग्यस्थावरनाम्नो या जघन्यस्थितिस्तत्तुल्यत्रसनाम्नः स्थितौ ज्येष्ठानुभागं यावदित्यर्थः। ततोऽधस्तनकण्डकसत्कचरमस्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। अत्र केचिदाक्रान्तस्थितिसत्कजघन्यस्थितिगतज्येष्ठानुभागतस्तदधो द्वितीयकण्डकप्रथमस्थितिस्थाने जघन्यानुभागोऽनन्तगुण इति कथयन्ति। तत आक्रान्तस्थितितोऽधः प्रथमस्थितावुत्कृष्टानुभागोऽनन्तगुणः। ततः प्रागुक्ताज्जघन्यानुभागादधस्तनस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। तत आक्रान्तस्थितितोऽधो द्वितीयस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः। एवमेकस्याः स्थितेर्जघन्यमनुभागमेकस्याश्च स्थितेरुत्कृष्टं वदताऽधोऽधस्तावदवतरितव्यं यावत्संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तेषु त्रसनाम्नोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिगतजघन्यानुभागः। कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टा अनुभागा अद्याप्यनुक्ताः सन्ति, शेषाः सर्वेऽप्युक्तास्ततस्तेऽप्यधोऽधः क्रमेणानन्तगुणास्तावद्वक्तव्या यावज्जघन्या स्थितिः। एवं बादरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नां पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नश्च तीव्रमन्दताऽभिधातव्या।

अत्र पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नस्तीव्रमन्दता पुनरन्यत्र सातवेदनीयेन सममुक्ता। परं सा नास्माभिः सम्यगवबोद्धुं पार्यते, यतोऽष्टादशकोटीकोटीसागरोपमत उपरि विंशतिकोटीकोटीसागरोपमं यावत्

त्र म यथा स्थावरनाम्ना सहानाक्रान्तम् । यतो ये स्थावरनाम्नो विंशतिकोटीकोटीसागरोपम-स्थितिबन्धार्हाः, ते त्रसनाम्नोऽष्टादशकोटीकोटीसागरोपममितामेवोत्कृष्टतोऽपि स्थितिं बध्नन्ति, न पुनस्ततोऽधिकाम्, तादृशास्चेशानान्ता देवा एव, ये च त्रसनाम्नो विंशतिकोटीकोटीसागरोपम-प्रमि स्थितिबन्धार्हास्ते देवनारकापेक्षया स्थावरनाम नैव बध्नन्ति तिर्यग्मनुष्यास्तु स्थावर-नाम्नोऽष्टादशसागरोपमाण्येव प्रकृष्टतः स्थितिं बध्नन्ति, तत उत्कृष्टस्थितिस्थानेषु सातवेदनीयवन्न त्रसनाम्न आक्रान्तत्वमतः सातवेदनीयतोऽस्य वैलक्षण्यम् ।

तथैव पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नो ये ज्येष्ठस्थितिं बध्नन्ति ते एकेन्द्रियनाम्नोऽष्टादशकोटीकोटी-सागरोपमाण्येव स्थितिं बध्नन्ति, ये पुनरेकेन्द्रियजातिसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धार्हास्ते पञ्चेन्द्रिय-जातेरष्टादशकोटिकोटिसागरोपममितान्येवोत्कृष्टतः स्थितिं बध्नन्ति अतस्त्रसनाम्नः पञ्चेन्द्रिय-नाम्नश्च ज्येष्ठस्थितिबन्धस्वामिनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामाक्रान्तस्थितीनां च तुल्यत्वादनुकृष्टि-स्तीव्रमन्दता च तयोस्त्रसनाम्ना सह तुल्या एव वक्तव्या स्यात् । तत्त्वं पुनः पूर्वधरा विदन्ति ।

अथ परावर्तमानाऽशुभप्रकृतिगतस्य तिर्यग्द्विकस्य नीचैर्गोत्रस्य चानुकृष्टिवत्तीव्रमन्दतायाः किञ्चिद्विशेषत्वात् सा पृथक् प्रदर्श्यते, तद्यथा-सप्तमपृथिव्यां वर्तमानस्य नैरयिकस्य सर्वजघन्ये स्थितिस्थाने जघन्यपदे तिर्यग्द्विकस्य जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः । ततः स द्वितीयस्थितावनन्त-गुणः । ततोऽपि तृतीयस्थितौ सोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावन्निवर्तनकण्डकमतिक्रान्तं भवति । ततो जघन्यस्थितावुत्कृष्टपद उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो निवर्तनकण्डकादुपरि प्रथमस्थितौ जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽधस्तनद्वितीयस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः कण्डकादुपरि द्वितीयस्थितौ जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः । एवमेकैकं जघन्यमुत्कृष्टं चानुभाग-मनन्तगुणतया तावन्नयेद् यावदभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धस्याधश्चरमा स्थितिः ।

अत्राऽभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धप्रायोग्यप्रथमस्थितिस्थानं सप्तमनरकप्रायोग्यं न ग्राह्यं किन्त्वाक्रान्तस्थितिस्थानसत्कप्रथमस्थितिस्थानं ग्राह्यम्. तच्च षष्ठनरके तिर्यग्द्विकस्य यज्जघन्यस्थि-तिबन्धस्थानं तद्विज्ञेयम् । यतः षष्ठनरके बन्धप्रायोग्यतिर्यग्द्विकस्य जघन्यस्थितिबन्धतः सप्तम-नरकेऽभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धः संख्येयभागेन संख्यातसागरोपमरूपेण न्यूनो भवति । अतोऽत्राप्याक्रान्तत्वाभावात् पूर्ववदनुकृष्टिस्तीव्रमन्दता च वक्तव्येति । अभव्यप्रायोग्यजघन्यानु-भागबन्धस्य चाधः कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा एतावताप्यनुक्ताः सन्ति, शेषास्तूक्ता-स्ततोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषय आक्रान्तस्थितिस्थानेष्वित्यर्थः, प्रथमस्थितौ जघन्यो-ऽनुभागोऽनन्तगुणः । द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्यानुभागस्तावन्मात्र एव । तृतीयस्यामपि स्थितौ तावन्मात्र एव सः ।

एवं तावद्वाच्यं यावत्सागरोपमशतपृथक्त्वमात्राः स्थितयोऽतिक्रान्ता भवन्ति । अत्र सागरोपमशतपृथक्त्वमष्टादशसागरोपमकोटीकोटीपर्यन्तं ग्राह्यम् । तावत्पर्यन्तं तिर्यग्द्विकस्याक्रान्तत्वात् , तत्र पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीपर्यन्तं मनुष्यद्विकेन सहाऽपि । तदूर्ध्वं तु नरकद्विकेन सहैव यावदष्टादशसागरोपमकोटीकोटीसत्कचरमास्थितिस्थानम् । एतासां च स्थितीनां पूर्वपुरुषैः परावर्तमानजघन्यानुबन्धप्रायोग्या इति सञ्ज्ञा कृता ।एतासां चोपरि प्रथमस्थितौ जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्यां सोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावन्निवर्तनकण्डकस्यासंख्येया भागा गता भवन्ति एकोऽवतिष्ठते । ततो यतः स्थितिस्थानादुत्कृष्टमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्तत उपरितने स्थितिस्थान उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽप्युपरितने द्वितीये स्थितिस्थान उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमुपर्युपर्यनन्तगुणताऽनुभागस्य तावद्वाच्या यावदभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धस्याधश्चरमा स्थितिस्ततो यतः स्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्तत उपरितने स्थितिस्थाने जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागविषये प्रथमकण्डकमात्राणां स्थितीनां यथोत्तरमुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः ।

ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्तत उपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागविषयकण्डकादुपरि कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागो यथोत्तरमनन्तगुणो वाच्यः । एवमेकस्याः स्थितेर्जघन्यानुभागं कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टमनुभागं वदंस्तावद् व्रजेद् यावदभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषये चरमा स्थितिः । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्तत उपरितने स्थितिस्थाने जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धस्योपरि प्रथमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । तत उपरि प्रागुक्तजघन्यानुभागादुपरि द्वितीयस्थितौ जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः ।

ततः प्रागुक्तादुत्कृष्टानुभागादुपरितने स्थितिस्थान उत्कृष्टानुभागोऽनन्तगुणः । एवमुपर्यधश्चैकैकस्याः स्थितेर्जघन्यमुत्कृष्टं चानुभागमनन्तगुणं वदता तावद् गन्तव्य यावदुत्कृष्टस्थितौ जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः । कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याप्यनुक्तास्ते यथोत्तरमनन्तगुणा वाच्या यावदुत्कृष्टा स्थितिः ।

अत्र कश्चित् प्रश्नयति-यदुत प्रस्तुते अनुकृष्टिस्तीव्रमन्दता च संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसत्काऽभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धादारभ्य तत्तत्प्रकृतिसत्कज्येष्ठस्थितिस्थानं यावत्प्ररूपणीया, यतो निरन्तरं स्थितिबन्धस्थानानि लभ्यन्ते । एतदेव चूर्णिकृता उक्तं "सण्णिपचिंदियम्मि पगत

अभवसिद्धियपाउग्गा बधमाणम्मि' इति । तदधस्तात् तु काश्चित्प्रकृतयो बन्धमेव नायान्ति, काश्चित्प्रकृतीनां बन्धभावेऽप्येकजीवापेक्षया सप्रतिपक्षत्वाभावेनाऽनाक्रान्तवदनुकृष्टिस्तीव्रमन्दता च वक्तव्या स्यात् । किञ्च यथाप्रवृत्तकरणादौ एकजीवापेक्षयोत्तरोत्तरस्थितिबन्धः पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनो भवति, ततोऽनाक्रान्तस्थितिषु निरन्तरं प्राप्यमाणस्थितिस्थानेषु दर्शिता याऽनुकृष्टिस्तीव्रमन्दता च सा कथमत्र सङ्गच्छेत, अन्तरालस्थितिस्थानानां तज्जीवापेक्षया बन्धेऽप्राप्यमाणत्वात् ।

यदि पुनर्नानाजीवापेक्षयाऽन्तरालस्थितिस्थानानां प्राप्तिः सम्भवति ततो न काचिदसङ्गतिरिति चेदनिवृत्तिकरणे नानाजीवापेक्षयाऽपि मुक्तावलिसंस्थिताध्यवसायानामेव भावेन तत्र बध्यमानस्थितिबन्धेषु यान्यन्तरालवर्तीनि स्थितिस्थानानि तेषां कथं बन्धे सम्भवः, तदसम्भवे चानुकृष्टिस्तीव्रमन्दता च कथं निरूपणीया, इति, अत्रोच्यते—एके पुनरत्रैवं समाधत्ते—यदनिवृत्तिकरणे सप्तमनैरयिकाणां जघन्यस्थितिबन्धादुत्तरं समयाधिकादिस्थितिबन्धानामसम्भवेन न सर्वस्थितिबन्धस्थानानां लाभः ।

यदुक्तं—अभव्यजघन्यस्थितिबन्धादधस्तात्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राणां सामान्येन संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य तावद्बन्ध एव नास्ति । यश्च सप्तमपृथिव्यां सम्यक्त्वलाभाभिमुखस्य प्रतिपाद्यते स प्रत्यन्तर्मुहूर्तं पल्योपमसंख्येयभागहान्या तावत्प्रवर्तते यावदन्तरकरणोपान्त्यसमय इति । एवं च न सर्वाणि स्थितिस्थानानि बध्यमानानि लभ्यन्ते । तथाप्येतत्स्थितिस्थानानां शेषप्रकृतीनामिव तीव्रमन्दता नैरन्तर्यमुपलभ्य दर्शिता अन्यथा तस्याः प्रज्ञापयितुमशक्यत्वात् ।

अन्ये पुनरेवं समादधते—उपशमसम्यक्त्वप्राप्तानामनिवृत्तिकरणे यावती विशुद्धिर्भवति तावती विशुद्धिः ततोऽधिकतरा वा विशुद्धिः क्षयोपशमसम्यक्त्वाभिमुखस्य मिथ्यात्वगुणस्थानसत्कचरमान्तर्मुहूर्ते भवति अत एवोदीरणाकरणे जघन्यानुभागोदीरणायां स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वानामष्टानां ससम्यक्त्वं संयमं प्रतिपित्सुर्मिथ्यात्वचरमसमये जघन्यानुभागोदीरणां करोतीत्येवं कथितम् । सा च क्षयोपशमसम्यक्त्वं प्रतिपित्सोरेव सम्भवति, यतो मिथ्यादृष्टिः क्षायिकसम्यक्त्वं नैव प्रतिपद्यते । उपशमसम्यक्त्वेन सह संयमं प्रतिपित्सुर्मिथ्यात्वावस्थायामावलिकाशेष आसामुदीरणां नैव करोति, उपशमकापेक्षया या प्राप्यमाणा तत्प्रायोग्यजघन्यानुभागोदीरणा अनिवृत्तिकरणस्थस्य मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितौ समयाधिकावलिकाशेषे वर्तमानस्य भवति ।

ततोऽपि मन्दतररसस्योदीरणा या मिथ्यात्वचरमसमये प्राप्यते ततो ज्ञायते यदनिवृत्तिकरणभाविविशुद्ध्या तुल्या तदधिका वा विशुद्धिः क्षयोपशमसम्यक्त्वप्रतिपित्सोर्भवति, तस्य च नानाजीवापेक्षयाऽनिवृत्तिकरणवदेकैकाध्यवसायो नास्ति, अतोऽसंख्येयलोकप्रमिताध्यवसायानां

प्रतिसमयमऽभिमुखावस्थायां सम्भव एवेति । एवमेव प्रस्तुतेऽपि तिर्यग्द्विकस्य नीचैर्गोत्रस्य च नानाजीवानधिकृत्य मिथ्यात्वावस्थासत्कचरमसमयभाविजघन्यस्थितिबन्धात् प्रारभ्यैकैकस्थिति-वृद्धिगतानि स्थितिबन्धस्थानानि प्राप्यन्ते, तस्मान्नोक्तप्रकारानुकृष्टितीव्रमन्दतयोरुपपत्तौ काचित् बाधा, तत्त्वं पुनरत्र परमर्षयो विदन्ति । यथा तिर्यग्द्विकस्य तीव्रमन्दता भाविता ैव नीचैर्गोत्रस्यापि तीव्रमन्दता भावनीया, केवलमाक्रान्तस्थितयोऽत्रोच्चैर्गोत्रज्येष्ठस्थितिस्थानपर्यन्ता ग्राह्या इति । चतुर्णामायुषां जघन्यस्थितिबन्धादारभ्य ज्येष्ठस्थितिबन्धस्थानं यावत्तीव्रमन्दता बहुश्रुतेभ्य आगामानुसारेण सहेतुकं विज्ञेया । बहुश्रुतसम्मतया चात्र सा पूरणीयेति । तदेवम-ध्यवसायस्थानद्वारे तृतीयं तीव्रतामन्दताद्वारं समाप्तम्, तत्समाप्तौ चाध्यवसाय दाहारे प्र - मध्यवसायस्थानद्वारं समाप्तम् ॥१७५-१७८॥



॥ द्वितीयं जीवसमुदाहारद्वारम् ॥

अथाऽध्यवसायसमुदाहारे द्वितीयं जीवसमुदाहारसंज्ञकं द्वारमवसरप्राप्तं वक्तव्यम् । तच्च मूलप्रकृतिरसबन्धवत् सातिदेशं संक्षेपतो निरूपयन्नाह—

जिवसमुदाहारे अड दारा मूलपयडिव्व णवरि भवे ।
तसथावरपाउग्गप्पयडिविसेसेण उ विसेसो ॥१७६॥

(प्रे०) "जिवसमुदाहारे" इत्यादि, मूलप्रकृतिरसबन्धग्रन्थे यानि जीवसमुदाहारसत्का-न्यष्टौ द्वाराणि निरूपितानि तान्येवाऽत्र ज्ञातव्यानि । तानि नामतः पुनरिमानि—एकस्थान-प्रमाणानुगमः, सान्तरस्थानप्रमाणानुगमः, निरन्तरस्थानप्रमाणानुगमः, नानाजीवकालप्रमाणः, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनाप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा च ।

अत्र रसबन्धाऽध्यवसायस्थाने जीवसमुदाहारे च द्विविधा प्ररूपणा भवति । तत्र प्रथमा बध्यमानसर्वकर्मसत्कसमुदितरसबन्धान् तद्धेतुभूतान् नानाविधाऽध्यवसायसमूहनिष्पन्नाऽध्यव-सायांश्चाऽधिकृत्य प्ररूपणा । तद्यथा जघन्यरसबन्धाऽध्यवसायस्य यत् यच्चतुष्कमवस्थानं निरू-पितं तस्यैषा दिक्-अपगतवेदं सूक्ष्मसम्परायं च विहाय सर्वत्र यथासम्भवं बध्यमानसर्वकर्मणा मध्ये वेदनीयस्य रसबन्धाऽऽधिक्यम्, ततो वेदनीयस्य यदा जघन्यरसो बध्यते तदा ततो न्यून एव शेषसर्वकर्मणां तदा बध्यमानानां र न्धः, तत्र वेदनीयस्य परावर्त्तमानभावेन बन्धभावात्समय-चतुष्कमेव जघन्यरसबन्धप्रायोग्यत्वं सिद्धम् । नो ज्ञानावरणादीनां स्वस्थाने जघन्यरसबन्ध-

प्रकृष्टकालस्य समयद्वयप्रमाणत्वेऽपि तत्र वेदनीयादीनां रसबन्धस्य बध्यमानज्ञानावरणादिरसबन्धत आधिक्यात् वेदनीयस्य च रसबन्ध उत्कृष्टरसबन्धाऽऽसन्न इति कृत्वा समुदितरसबन्धाऽध्यवसायो द्विसामयिक एव प्राप्यते, न पुनश्चतुःसामयिकः। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियान्तेषु ज्येष्ठरसबन्धप्रस्तावे मोहनीयस्य रसबन्धस्य सर्वाऽधिकत्वेऽपि नोक्तनियमे काचित्क्षतिः, तत्र समुदितज्येष्ठरसबन्धस्य तदध्यवसायस्य च समयद्वयमेवाऽवस्थानात्। एवं यथासंभवं सर्वत्रोह्यम्।

एवं जीवसमुदाहारेऽपि प्रकृतिविशेषमनपेक्ष्य समुदितरसबन्धाऽध्यवसायमधिकृत्योक्तप्ररूपणा ज्ञेया, अत एव पर्याप्तबादरतेजोवायुकायद्वये तिर्यग्द्विकजघन्यरसबन्धस्य भावेऽपि, तत्र चाऽसंख्येयजीवानां लाभात् तद्बन्धस्थानस्य सान्तरत्वेऽपि तत्र बध्यमाने रसे वेदनीयरसस्यैवाऽऽधिक्यम्, तथा च तादृग्वेदनीयरसस्य साधारणवनस्पतिष्वपि बध्यमानत्वात् स्थावरप्रायोग्याणि सर्वाऽध्यवसायस्थानानि निरन्तराण्यनन्तजीवाधिष्ठितानि चैव प्राप्यन्ते।

द्वितीयप्रकारे तु प्रतिप्रकृतिसत्करसबन्धाऽध्यवसायानां वस्तुतो भिन्नत्वेन रसबन्धाऽध्यवसायानामल्पबहुत्वस्य च ग्रन्थेषु दर्शितत्वात् यदा प्रतिप्रकृतिमधिकृत्य चिन्त्यते तर्हि तत्र रसबन्धाऽध्यवसायस्थानेषु न चतुःसमयादिद्विसमयान्ताऽवस्थानप्ररूपणा स्यात्, किन्तु ज्ञानावरणमाश्रित्य द्विसमयादिद्विसमयान्ताऽवस्थानं प्राप्यते, एषा प्ररूपणा चाऽतिगम्भीरा नानाविकल्पगहना सूक्ष्माभोगेनाऽपि निरूप्यमाणाऽतिविस्तृता स्यात्, अतो न कर्मप्रकृत्यादिषु तस्या विवरणम्।

अत्र प्रथमविकल्पेन सर्वाऽपि प्ररूपणा रसबन्धाऽध्यवसायस्थानानां जीवसमुदाहारस्य च मूल तिरसबन्धे यथा कृता, यथा वा कर्मप्रकृतौ विहिता तथैवाऽक्षरशः प्रतिपत्तव्या। न पुनरत्र कश्चित्ततो विशेषः।

द्वितीयविकल्पेन तु अत्र कञ्चिद् विशेषं प्रदर्शयामः, सर्वप्ररूपणा तु द्वितीयविकल्पेनाऽस्माभिर्न पार्यते कर्तुमित्यत्र प्रथमद्वितीयविकल्पमिश्रप्ररूपणाऽवगन्तव्येति।

किञ्च यथाऽनुकृष्टिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ताऽभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धादारभ्यैव कृता न पुनस्तदधस्तात्, एवं रसबन्धाऽध्यवसायानां जीवसमुदाहारस्य च प्ररूपणैकेन्द्रियादिजीवानामन्तर्भावेऽपि स्वस्थानमिथ्यादृष्ट्यन्तानां । तदूर्ध्वं तु प्ररूपणा सूक्ष्माभोगेन विशेषमवधार्य कार्येति।

अत्राऽध्यवसायसमुदाहारो जीवसमुदाहारश्च बीजपदरूपेणैव दर्शितौ। तौ अवलम्ब्य तत्तत्प्रकृतिमधिकृत्य तत्तज्जीवभेदेषु तत्तन्मार्गणासु च पूर्वापरमुपयुज्य रसबन्धाऽध्यवसायसमुदाहारो जीवसमुदाहारश्च वक्तव्यौ।

अथ प्रस्तुते जीवसमुदाहारे तत्तत्प्रकृतिसत्करसबन्धाऽध्यवसायेषु प्रत्येकमुत्कृष्टपदे विद्यमानानां जीवानां संख्याया निरूपणं यस्मिन् स एकस्थानप्रमाणाऽनुगमः प्रथमं द्वारम्, तस्मिन्नेकस्थानप्रमाणाऽनुगम एकैकस्मिन् रसबन्धाऽध्यवसायस्थाने केवलं स्थावरप्रायोग्ये त्रसस्थावरोभयप्रायोग्ये चाऽनन्तजीवा भवन्ति । अत्र **'स्थावरप्रायोग्य'** इत्यनेन साधारणवनस्पतिबन्धप्रायोग्यं स्थानमिति बोध्यम्, प्रकृतिविशेषमाश्रित्य स्थावरप्रायोग्यत्वेऽपि साधारणवनस्पतिकायबन्धाप्रायोग्यत्वे मार्गणासु वा तेषामप्रवेशे यदि तत्तत्स्थानस्य साधारणेतराः सूक्ष्मा बादराऽपर्याप्ता वा तद्बन्धकाः स्युस्तदा तेषु प्रत्येकमसंख्येयलोकप्रमाणा बन्धका भवन्ति । ननु रसबन्धाध्यवसायानामपि सूक्ष्मेषु बादराऽपर्याप्तेषु चासंख्यलोकप्रमाणत्वात्प्रतिस्थानमसंख्यलोकप्रमिता जीवाः कथं लभ्येरन् ? इति चेद् उच्यते, सूक्ष्मेषु बादराऽपर्याप्तेषु च जीवराशितोऽसंख्यलोकगुणहीनान्यसंख्यलोकप्रमितान्यध्यवसायस्थानानि इत्यवधार्यताम् । तत्तत्प्रकृतिसत्कयद् यद्रसबन्धाध्यवसायस्थानानां स्थावरप्रायोग्यत्वे सत्यपि साधारणवनस्पत्यप्रायोग्यत्वं सूक्ष्माणां बादरापर्याप्तानां वा तदबन्धकत्वं स्यात्तर्हि तेषां स्थानानां प्रत्येकं बन्धका जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कृष्टतस्त्वावलिकाऽसंख्येयभागमिता असंख्येया भवन्ति ।

यानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि केवलं त्रसप्रायोग्याण्येव, तेभ्यः स्वस्थानमिथ्यादृष्टिषु सम्भवन्ति यानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषां प्रत्येकं बन्धका जघन्यत एको द्वौ वोत्कृष्टतस्त्वावलिकाऽसंख्यभागप्रमिता असंख्यजीवा भवन्ति ।

त्रसेष्वपि यानि रसबन्धस्थानान्युपरितनगुणस्थानप्रायोग्याण्येव यद्वाऽभिमुखावस्थागतानि तेषु प्रत्येकं जीवा जघन्यत एको द्वौ, उत्कृष्टतस्तु संख्येया आवलिकाया असंख्येयभागमिता असंख्येया वा, । तद्यथा-येषां रसबन्धाध्यवसायस्थानानां बन्धकाः संयताः संयमाभिमुखा एव वा, तेषां बन्धका एकस्मिन्समय उत्कृष्टपदे संख्येया एव लभ्यन्ते । तदन्येषां स्वस्थानदेशविरतान्तानां तथा देशविरतान्ताभिमुखावस्थागतानां तु यानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि बन्धप्रायोग्याणि तेषां प्रत्येकं बन्धका उत्कृष्टत आवलिका-ऽसंख्येयभागमिता भवन्तीति सम्भावयामः । एकजीवापेक्षया त्वेकस्थानप्रमाणानुगमो न सम्भवतीति न तन्निरूपणाया अवकाशः ।

द्वितीयः सान्तरस्थानप्रमाणानुगमो नाम विवक्षितसमये बध्यमानस्थानद्वयान्तराले जघन्यत उत्कृष्टतश्च यावन्ति रसबन्धाध्यवसायस्थानानि तद्बन्धकजीवैर्विरहितानि निरन्तराणि प्राप्यन्ते तेषां स्थानानां संख्याया निरूपणं यस्मिन् स सान्तरस्थानप्रमाणानुगमः ।

ननु यथा कालद्वाराऽनन्तरं सर्वत्राऽन्तरद्वारस्य प्ररूपणा श्रूयते यतः कालद्वारेऽविरहलक्षणे कालपरिमाणे कथिते तद्विरहलक्षणस्यान्तरस्योपस्थितौ तत्प्रमाणं वक्तव्यं स्यात् ।

एवं प्रस्तुतेऽपि निरन्तरस्थानप्रमाणानुगमानन्तरं सान्तरस्थानप्रमाणानुगमो वक्तव्यः स्यात् तत्कुतो विपर्ययो विहितः, इति चेत् ? उच्यते—यान्यध्यवसायस्थानानि केवलं त्रसजीवप्रायोग्याणि तान्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशमितानि सर्वरसबन्धाध्यवसायस्थानानामसंख्यबहुभागप्रमाणानि, त्रसजीवास्तु प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः,अतो निरन्तरस्थानानामनुक्तेऽपि रसबन्धस्थानानां बन्धकशून्यत्वं सिद्धमेव, अतः प्रथमं बन्धविरहितस्थानानां निरूपणायामपि न दोषः, किञ्च प्रस्तुते द्वितीयतृतीयद्वारे रसबन्धस्थानानां जघन्यपद उत्कृष्टपदे च बन्धकविरहितस्थानानां बध्यमानस्थानानां च संख्याया एव निरूपणम् । न पुनः कालानुगमोऽत्रेति । ग्रन्थान्तरे पुनः पूर्वं निरन्तरस्थानप्रमाणानुगमः, ततः सान्तरस्थानप्रमाणानुगम इत्यपि क्रमो दृश्यत इति ।

सान्तरस्थानानुगम आयुष्कसत्काध्यवसायान् विहाय येषां रसबन्धाध्यवसायस्थानानां साधारणवनस्पतिकायिकजीवानां सूक्ष्माणां बादरापर्याप्तकानां वा बन्धप्रायोग्यत्वं तानि स्थानानि संख्ययाऽसंख्यलोकप्रमाणानि निरन्तरं बध्यमानानि च, तेभ्यो निरन्तरस्थानेभ्य एकमपि स्थानं बन्धकविरहितं कदापि न प्राप्यते । येषां स्थानानां साधारणवनस्पतिकायिकजीवान् सूक्ष्मान् बादरापर्याप्तांश्च विहाय शेषजीवा एव यथार्हं बन्धप्रायोग्याः, तानि स्थानानि संख्यया असंख्यलोकप्रदेशमितानि, तानि सर्वाण्यऽपि प्रत्येकं नानाजीवैर्विभिन्नकाले बन्धविरहितानि भवितुं योग्यानि, एतेभ्यो यानि यानि यदा यदा बन्धविरहितानि भवन्ति, तानि पुनरेवम्—जघन्यत एक द्वे त्रीणि एवं यावदुत्कृष्टतोऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमितानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि विवक्षितसमये बन्धकशून्यानि सन्ति । एकजीवापेक्षया त्वेषा प्ररूपणा न सम्भवति, एकजीवस्यैकदा एकस्यैव स्थानस्य बध्यमानत्वेन शेषाणि बन्धरहितान्येव भवन्ति, बध्यमानस्थानद्वयान्तरालवर्तिस्थानानां सान्तरस्थानत्वेन गृहीतत्वाद् बध्यमानस्थानद्वयस्य त्वेकजीवापेक्षयाऽभावाच्च ।

(३) निरन्तरस्थानप्रमाणानुगमो नाम बध्यमाननिरन्तरस्थानानां संख्याया निरूपणं यस्मिन् सः । यावन्ति रसबन्धस्थानानि साधारणवनस्पतिकायिकजीवानां सूक्ष्माणां बादराऽपर्याप्तानां च बन्धप्रायोग्याणि, तानि बन्धे निरन्तरस्थितानि भवन्ति । तेषु प्रत्येकं बन्धकानां सदैव प्राप्यमाणत्वात् तानि बध्यमाननिरन्तरस्थानानि संख्यया असंख्यलोकप्रमाणानि भवन्ति । येषु रसबन्धस्थानेषु साधारणानां सूक्ष्माणां बादराऽपर्याप्तानां चाऽसम्भवः,तेषां स्थानानां संख्यातो बन्धकजीवानां संख्याया न्यूनतमत्वाद् नानाजीवापेक्षया तेषां बन्धे भवत्यन्तरम्,अतस्तेभ्यः स्थानेभ्यो नानाजीवैर्बध्यमानानि निरन्तरस्थानानि जघन्यतो द्वे भवतः विवक्षितसमये विवक्षितस्थानद्वयात् पूर्वोत्तरस्थानयोर्बन्धकजीवैः शून्यत्वात्, न च पूर्वोत्तरस्थानयोः शून्यत्वे सति मध्ये बध्यमानैकस्थानस्यापि सम्भवात् कथं निरन्तरे द्वे स्थाने बध्यमाने दर्शिते इति वाच्यम् ,एकस्मिन् निरन्तरप्ररूपणाया एवासम्भवात् । येषु स्थानेषु प्रत्येकं साधारणवनस्पत्यादित्रिविधजीवराशीनामसम्भवे

सति उत्कृष्टतोऽसंख्येयजीवानामेव बन्धकतया सम्भवः, तेषु स्थानेषूत्कृष्टतो बध्यमाननिरन्तरस्थानान्यावलिकाया असंख्यभागगतसमयमितसंख्याकानि भवन्ति ।

संयमाद्यभिमुखावस्थागतेषु संयमादिगुणस्थितेषु वाऽध्यवसायस्थानेषु विवक्षितसमयेऽसंख्यजीवानामेवाभावात् तेषु प्रत्येकमुत्कृष्टतो जीवाः संख्येया भवन्ति, तथैव तेषु स्थानेषु बध्यमाननिरन्तरस्थानान्यपि सख्येयान्येव ज्ञातव्यानि । एकजीवापेक्षया त्वेकस्मिन् समय एकस्य बन्धस्थानस्य सम्भवान्न बन्धे निरन्तरस्थानप्रमाणानुगमः सम्भवतीति न तन्निरूपणाया अवसरः ।

(४) नानाजीवकालप्रमाणानुगमो नाम अध्यवसायस्थानानां प्रत्येकमनेकजीवैः सततं बध्यमानस्य सातत्यकालनिरूपणं यत्र क्रियते । एकस्थानप्रमाणानुगमे येषां स्थानानां बन्धकाः साधारणवनस्पतिकायिकाः सूक्ष्मकायिका बादराऽपर्याप्तैकेन्द्रियाश्च भवन्ति, तेषां स्थानानां बन्धस्य सर्वदैव लाभाद् बन्धकालः सर्वाद्धा भवति । येषां बन्धस्थानानामुक्तत्रिविधजीवा बन्धका न भवन्ति, तथा यदि तेषां स्थानानां बन्धका उत्कृष्टत आवलिकाया असंख्येयभागमिता भवन्ति , तेषां बन्धस्थानानां प्रत्येकं निरन्तरं ज्येष्ठबन्धकाल आवलिकाया असंख्येयभागप्रमाणो भवति ।

येषां बन्धस्थानानां बन्धका विवक्षितसमये प्रकृष्टतोऽपि संख्येया एव लभ्यन्ते तेषां स्थानानां प्रत्येकं नानाजीवैर्निरन्तरो बन्धकालः प्रकृष्टतः संख्येयाः समया एव भवन्ति ।

एकजीवाऽपेक्षया तु कानिचिद् रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यभिमुखाद्यवस्थाभावीनि भवन्ति, तत्र समयमात्रं जीवस्यावस्थानं भवति तदन्येषु पुनर्यथार्हम् अष्टसमयपर्यन्तमुत्कृष्टतोऽवस्थानं भवति तच्चाऽध्यवसायसमुदाहारेऽवस्थानद्वारे दर्शितमिति ।

ननु नानाजीवकालप्रमाणनुगमो निरूपितस्तथा नानाजीवान्तरानुगमोऽपि निरूपणीय इति चेदुच्यते, स च सुगम इति न दर्शितः, स चान्तरानुगम एवं विभावनीयः, तद्यथा—येषामध्यवसायस्थानानां नानाजीवैः सर्वाद्धा कालो नास्ति तेषां स्थानानां बन्धेऽन्तरं जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतोऽनिवृत्तिकरणसूक्ष्मसम्परायसत्काध्यवसायान् विहाय शेषाणां सम्भवदन्तराणां रसबन्धाध्यवसायानां प्रत्येकं नानाजीवैरपि बन्धस्यान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशमितसमयप्रमाणं भवति । येषां पुनः सर्वाद्धा कालो दर्शितः तेषामन्तरं नास्ति । अनिवृत्तिकरणसूक्ष्मसम्परायाध्यवसायानां चोपशमश्रेणिसत्कानामन्तरं वर्षपृथक्त्वमितं भवति । क्षपकश्रेणिसत्कानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसम्परायाध्यवसायानां प्रत्येकं नानाजीवैर्बन्धान्तरं षण्मासा भवति, क्षपकश्रेण्यन्तरस्य षण्मासमितत्वेनानिवृत्तिकरणे सूक्ष्मसम्पराये च मुक्तावलिसंस्थानेनाध्यवसायानां भावेन सर्वेषां क्षपकश्रेण्यारोहकाणां तत्र सर्वाध्यवसायानां नियमेन स्पर्शनात् ।

अष्टमगुणस्थानतोऽधस्तनगुणस्थानकेषु यानि दर्शनमोहोपशमकाऽनन्तानुबन्धिवियोजक-दर्शनमोहक्षपकप्रयुक्तान्यनिवृत्तिकरणानि तत्सम्बन्धिनामध्यवसायानां मुक्तावलिसंस्थानेन संस्थितत्वेऽपि तानि न सकलकर्मोदयसमूहजन्यानि, किन्तु तदेकदेशभूतानि दर्शनमोहोपशम-तत्क्षपणादिनिमित्तानि सम्भवन्ति, अतस्तत्र दर्शनमोहोपशमनादिसत्कानिवृत्तिकरणे तन्निमित्त-भूताध्यवसायानां मुक्तावल्या स्थितत्वेऽपि तेषां प्रत्येकं नानाध्यवसायसम्मिश्रत्वेन प्रस्तुते च कषायोदयसत्काध्यवसायानां रसबन्धं प्रति प्राधान्येन तादृगध्यवसायानामसंख्येयलोकप्रमाणानां भावेन तेषां प्रत्येकं जीवानां स्पर्शनान्तरस्य प्रकृष्टतयाऽसंख्येयलोकप्रमाणात्वं सम्भवति। अत एव चाभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितितोऽधोऽप्यसंख्येयलोकप्रमाणानामध्यवसायानां भावेन निरन्तराः स्थितयस्तत्सम्बन्ध्यध्यवसायानामनुकृष्टिश्च सप्तमनरके तिर्यग्द्विकादीनां प्राप्यन्ते, अतो न कश्चिद्विरोधोऽस्माकं प्रतिभाति। तत्त्वं तु तत्त्वविदो विदन्तु।

एकजीवापेक्षया पुनः स्वस्थानभाविनां रसबन्धाध्यवसायानां बन्धान्तरं जघन्यतः समयो भवति, मोहक्षपणकालभाविनामध्यवसायानां बन्धान्तरं नास्ति, एकजीवस्य सकृदेव तेषां बध्य-मानत्वात्, तान् विहाय शेषाणामभिमुखावस्थाभाविनां रसबन्धाध्यवसायानां बन्धान्तरं सामान्यतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, जिननाम्नस्तु मिथ्यात्वाभिमुखावस्थागतरसबन्धाध्यवसायानामन्तरं नास्त्येव, बद्धजिननाम्नो नरकायुःसत्कर्मणः क्षयोपशमसम्यग्दृष्टेर्मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायाः सकृदेव भावात्। एवमन्यत्रापि यो यो विशेषः स विभावनीयः। उत्कृष्टान्तरं पुनः साधारणवन स्पतिकायावस्थायां यानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि सम्भवन्ति, तेषामन्तरमेकजीवापेक्षयाऽसंख्य-लोकाकाशप्रदेशप्रमितं प्राप्यते। साधारणवनस्पतिकायावस्थायामसम्भविनां स्वस्थानमिथ्यादृष्टि-सत्करसबन्धाध्यवसायानां प्रत्येकं बन्धेऽन्तरमनन्तकालचक्रप्रमाणं भवति। द्वितीयादिगुणस्थान-गतानां प्रत्येकमेकजीवापेक्षया बन्धेऽन्तरं यदि स्यात् तत उत्कृष्टतो देशोनार्धपुद्गलपरावर्त-प्रमाणं भवति। तदूर्ध्वं त्ववश्यं मोक्षे गमनाद् नाधिकान्तरस्य लाभः।

पञ्चमं वृद्धिप्ररूपणा नाम द्वारम्—र न्धाध्यवसायस्थानेषु जीवानां वृद्धिर्हानिश्चानन्तरपर-म्परोपनिधाभ्यां यत्र निरूप्यते सा वृद्ध्युपलक्षितप्ररूपणा वृद्धिप्ररूपणा, अत एव यवमध्यमत ऊर्ध्वं हानिप्ररूपणा कर्तव्या। तत्र साधारणवनस्पतिकायिकानां सूक्ष्माणां बादराऽपर्याप्तैकेन्द्रियाणां च प्रायोग्याणि यानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषु प्रथमरसबन्धाध्यवसायस्थाने जीवा अल्पा भवन्ति, द्वितीये विशेषाधिकाः, तृतीये विशेषाधिकाः, एवं पूर्वपूर्वस्थानत उत्तरोत्तरस्थानेषु जीवानां वृद्धिस्तावद्वाच्या यावज्जीवयवमध्यरूपं स्थानं स्थानद्वयं वा, तदनन्तरस्थाने जीवा विशेष-हीना भवन्ति, ततोऽप्यनन्तरस्थाने जीवा विशेषहीना भवन्ति, एवं तावद्वाच्यं यावदुक्तत्रिविध-जीवानां यच्चरमं ज्येष्ठरसबन्धाध्यवसायस्थानम्। एषा स्थावरप्रायोग्यस्थानेष्वनन्तरोपनिधायाः

प्ररूपणा। एतेषु स्थानेषु परम्परोपनिधया विचार्यमाणे प्रथमस्थानतोऽसंख्येयानि रसबन्धस्थानानि व्यतिक्रम्य यत्स्थानं तस्मिन् प्रथमस्थानगतजीवापेक्षया द्विगुणा जीवा भवन्ति, ततः पुनरपि तावन्ति स्थानानि व्यतिक्रम्य यत्स्थानं तस्मिन् जीवा द्विगुणाः, प्रथमस्थानापेक्षया चतुर्गुणाः।

एवमसंख्येयान्यसंख्येयानि स्थानानि व्यतिक्रम्य द्विगुण–द्विगुणजीवास्तावद् भवन्ति यावद् यवमध्यस्थानम्, तत ऊर्ध्वं तु तावन्ति तावन्ति स्थानान्युल्लङ्घ्य जीवानां द्विगुणहानिर्भवति एवं यावत्स्थावरप्रायोग्यस्थानसत्कचरमस्थानम्। स्थावरप्रायोग्यस्थानेष्वेकगुणहानिमध्यवर्तिस्थानानि स्तोकानि, ततो द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानीति कर्मप्र तिग्रन्थे।

यानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि साधारणवनस्पतिकायिकादित्रिविधजीवानां बन्धाप्रायोग्याण्यत एव तेषां बन्धका असंख्यलोकतो न्यूना एव भवन्ति तेभ्यः स्थानेभ्य आद्यस्थाने जीवा उत्तरस्थानगतजीवेभ्यः स्तोका भवन्ति ततो द्वितीयस्थाने जीवा विशेषाधिकाः, तृतीयस्थाने जीवा विशेषाधिका एवमसंख्यलोकप्रदेशप्रमितानि स्थानानि प्रथमस्थानतो व्यतिक्रम्य जीवा द्विगुणा भवन्ति पुनरपि तत ऊर्ध्वं विशेषाधिकक्रमेण तावन्ति स्थानान्यतिक्रम्य पुनर्जीवा द्विगुणा भवन्ति प्रथमस्थानतश्चतुर्गुणा भवन्ति। एवं तावद् वाच्यं यावद् जीवयवमध्यस्थानं स्थानद्वयं वा। तत उत्तरोत्तरस्थानेषु जीवा विशेषहीना विशेषहीना भवन्तोऽसंख्येयलोकप्रमितानि स्थानानि व्यतिकम्य व्यतिक्रम्य द्विगुणहीना द्विगुणहीना भवन्तः स्वस्थानसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिसत्कचरमस्थानं यावद् गन्तव्यम्।

एतेषु रसबन्धाध्यवसायस्थानेषु जीवानां नानाद्विगुणवृद्धिहानिस्थानानि स्तोकान्यावलिकाऽसंख्यभागप्रमितानि, एकद्विगुणवृद्धिहान्योरन्तरालवर्तिस्थानान्यसंख्येयगुणान्यसंख्यलोकप्रमाणानीति। अत्राऽऽवलिकाऽसंख्येयभागप्रमितजीवानामेकस्थितिस्थाने सम्भवे द्विगुणवृद्धिहान्यन्तरालेऽसंख्यलोकप्रमितस्थानेषु विशेषाधिकवृद्धिः कथं स्यादिति प्रश्नोत्तरं तु सविशेषं मूलप्रकृतिरसबन्धतोऽवसातव्यमिति।

ननु स्थावरप्रायोग्यस्थानेष्वेकद्विगुणवृद्धिहान्योरन्तरालस्थितस्थानानि कियन्ति भवन्ति तथा द्विगुणवृद्धिहानिस्थानानि कियन्ति भवन्तीति चेत्, उच्यते–कर्मप्रकृतौ स्थावरप्रायोग्यरसबन्धाध्यवसायेषु द्विगुणवृद्धिहान्योरन्तरालवर्तिस्थानेभ्यो नानाद्विगुणवृद्धिहानिस्थानान्यसंख्यगुणानि दर्शितानि, स्थावरप्रायोग्यरसबन्धाध्यवसायानामसंख्यलोकप्रमितत्वेन द्विगुणवृद्धिहानिस्थानानां स्थावरप्रायोग्यरसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयभागमितत्वेऽपि तत्प्रथमवर्गमूलतोऽसंख्येयगुणत्वान्नानाजीवद्विगुणवृद्धिहानिस्थानान्यसंख्यलोकप्रमितानि ज्ञायन्ते। तद्यथा–यदि एकद्विगुणवृद्धिहान्यन्तरालवर्तिस्थानानि स्थावरप्रायोग्यसर्वरसबन्धस्थानानां रूपोनप्रथमवर्गमूलप्रमितानि

स्युः, तर्हि एकद्विगुणवृद्धिहान्यन्तरालवर्तिस्थानानि नानाद्विगुणहानिस्थानानि च तुल्यानि स्युः, नानाद्विगुणवृद्धिहानिस्थानानि चासंख्येयगुणानि दर्शितानि, अतस्तदभिप्रायेण तत् प्रथमवर्गमूलतोऽसंख्येयगुणानि नानाद्विगुणवृद्धिहानिस्थानानि द्विगुणहानिवृद्ध्योरन्तरालस्थानानि तु तत्प्रथमवर्गमूलतोऽसंख्येयगुणहीनान्यसंख्यलोकप्रमाणानि च सिध्यन्ति।

षष्ठं द्वारं यवमध्यम्, यथा यवस्य मध्यभागः पृथुलो भवति तथा यद्रसबन्धाध्यवसायस्थानं जीवापेक्षया पृथुलं भवति, शेषस्थानेभ्योऽधिकजीवास्तत्र भवन्ति, तत्स्थानं यवमध्यस्थानमुच्यते रसबन्धाध्यवसायस्थानानामसंख्येयतमे भागे यवमध्यस्थानं भवति, यवमध्यतोऽधस्तनस्थानानि स्तोकानि, तत उपरितनानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि भवन्तीति। आदिस्थानतः सर्वस्थानानामसंख्यभागमात्राणि स्थानानि गत्वा यवमध्यस्थान भवति। अत्राष्टसामयिकरसबन्धाध्यवसायेभ्य उभयपार्श्वस्थितसप्तसमयादिकाध्यवसायानां यदसंख्येयगुणत्वं तत् यदावलिकाऽसंख्येयभागगुणं स्यात् तर्हि अष्टसामयिके जीवयवमध्य प्राप्यते, असंख्यलोकादिगुणकत्वे तु द्विसामयिकाध्यवसायेषु एव जीवयवमध्य प्राप्यत इति। एकजीवापेक्षया तु वृद्धिप्ररूपणा यवमध्यञ्च न सम्भवतः, इति न तन्निरूपणावकाशः।

एकजीवापेक्षया रसबन्धाध्यवसायस्थानानामष्टसामयिकादिभेदभिन्नानां स्पर्शनाकालस्याल्पबहुत्वं सप्तमद्वारे दर्शनीयम्, अत्र चतुःसमयादिषु यथोत्तरं समयवृद्ध्या ततः समयहान्या यावद् द्विसामयिकान्तेष्वध्यवसायेषु त्रसाः स्थावराश्च भवन्ति अतस्त्रसस्थावरजीवापेक्षया न स्पर्शनाया भिन्ना प्ररूपणा। एव चरमद्वारे जीवाल्पबहुत्वेऽपि विज्ञेयमिति।

सप्तमाष्टमद्वारद्वयस्य रसबन्धाध्यवसायेषु निरूपणं मूलप्रकृतिबन्धवद् भावनीयम्, स्थानाऽशून्यार्थमल्पबहुत्व दर्शयामः—एकजीवस्यातीतकाले द्विसामयिकाध्यवसायानां स्पर्शनाकालः सर्वस्तोकस्ततः प्राथमिकेषु चतुःसामयिकाध्यवसायानां स्पर्शनाकालोऽसंख्येयगुणः। तथा यवमध्यत उपरितनेषु चतुस्सामयिकाध्यवसायानां स्पर्शनाकालस्तावन्मात्र यावन्मात्र आद्येषु चतुःसामयिकेषु। ततो यवमध्येषु स्थानेष्वष्टसामयिकेषु स्पर्शनाकालोऽसंख्येयगुणः। ततः कण्डकस्योपरिवर्ति-चतुःसामयिकस्थानसंघातरूपस्योपरितनेषु स्थानेषु त्रिसामयिकेष्वित्यर्थः, स्पर्शनाकालोऽसंख्यगुणः। ततो यवमध्यस्याधस्तात् पञ्च-षट्-सप्तसामयिकेष्वसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः।

ततः क्रमशो यवमध्यादुपरितनेषु कण्डकाच्चतुःसामयिकस्थानसंघातरूपादधस्तनेषु पञ्च-षट्-सप्तसामयिकेषु स्थानेषु तावन्मात्र एव स्पर्शनाकालो यावन्मात्रः पाश्चात्येषु पञ्च-षट्-सप्तसामयिकेषु। ततोऽष्टसामयिकस्थानसंघातरूपस्योपरितनेषु द्विसामयिकपर्यन्तेषु सर्वेषु स्थानेषु यः स्पर्शनाकालः स विशेषाधिकः। ततो कण्डकस्य यवमध्यस्योपरिवर्तिचतुःसामयिकस्थान-

प्ररूपणा । एतेषु स्थानेषु परम्परोपनिधया विचार्यमाणे प्रथमस्थानतोऽसंख्येयानि रसबन्धस्थानानि व्यतिक्रम्य यत्स्थानं तस्मिन् प्रथमस्थानगतजीवापेक्षया द्विगुणा जीवा भवन्ति,ततः पुनरपि तावन्ति स्थानानि व्यतिक्रम्य यत्स्थानं तस्मिन् जीवा द्विगुणाः, प्रथमस्थानापेक्षया चतुर्गुणाः ।

एवमसंख्येयान्यसंख्येयानि स्थानानि व्यतिक्रम्य द्विगुण-द्विगुणजीवास्तावद् भवन्ति यावद् यवमध्यस्थानम्, तत ऊर्ध्वं तु तावन्ति तावन्ति स्थानान्युल्लङ्घ्य जीवानां द्विगुणहानिर्भवति एवं यावत्स्थावरप्रायोग्यस्थानसत्कचरमस्थानम् । स्थावरप्रायोग्यस्थानेष्वेकगुणहानिमध्यवर्तिस्थानानि स्तोकानि, ततो द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानीति कर्मप्र तिग्रन्थे ।

यानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि साधारणवनस्पतिकायिकादित्रिविधजीवानां बन्धप्रायोग्याण्यत एव तेषां बन्धका असंख्यलोकतो न्यूना एव भवन्ति तेभ्यः स्थानेभ्य आद्यस्थाने जीवा उत्तरस्थानगतजीवेभ्यः स्तोका भवन्ति ततो द्वितीयस्थाने जीवा विशेषाधिकाः, तृतीयस्थाने जीवा विशेषाधिका एवमसंख्यलोकप्रदेशप्रमितानि स्थानानि प्रथमस्थानतो व्यतिक्रम्य जीवा द्विगुणा भवन्ति पुनरपि तत ऊर्ध्वं विशेषाधिकक्रमेण तावन्ति स्थानान्यतिक्रम्य पुनर्जीवा द्विगुणा भवन्ति प्रथमस्थानतश्चतुर्गुणा भवन्ति । एवं तावद् वाच्यं यावद् जीवयवमध्यस्थानं स्थानद्वयं वा । तत उत्तरोत्तरस्थानेषु जीवा विशेषहीना विशेषहीना भवन्तोऽसंख्येयलोकप्रमितानि स्थानानि व्यतिक्रम्य व्यतिक्रम्य द्विगुणहीना द्विगुणहीना भवन्तः स्वस्थानसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिसत्कचरमस्थानं यावद् गन्तव्यम् ।

एतेषु रसबन्धाध्यवसायस्थानेषु जीवानां नानाद्विगुणवृद्धिहानिस्थानानि स्तोकान्यावलिकाऽसंख्यभागप्रमितानि, एकद्विगुणवृद्धिहान्योरन्तरालवर्तिस्थानान्यसंख्येयगुणान्यसंख्यलोकप्रमाणानीति । अत्राऽऽवलिकाऽसंख्येयभागप्रमितजीवानामेकस्थितिस्थाने सम्भवे द्विगुणवृद्धिहान्यन्तरालेऽसंख्यलोकप्रमितस्थानेषु विशेषाधिकवृद्धिः कथं स्यादिति प्रश्नोत्तरं तु सविशेष मूलप्रकृतिरसबन्धतोऽवसातव्यमिति ।

ननु स्थावरप्रायोग्यस्थानेष्वेकद्विगुणवृद्धिहान्योरन्तरालस्थितस्थानानि कियन्ति भवन्ति तथा द्विगुणवृद्धिहानिस्थानानि कियन्ति भवन्तीति चेत् , उच्यते-**कर्मप्रकृतौ** स्थावरप्रायोग्यरसबन्धाध्यवसायेषु द्विगुणवृद्धिहान्योरन्तरालवर्तिस्थानेभ्यो नानाद्विगुणवृद्धिहानिस्थानान्यसंख्यगुणानि दर्शितानि, स्थावरप्रायोग्यरसबन्धाध्यवसायानामसंख्यलोकप्रमितत्वेन द्विगुणवृद्धिहानिस्थानानां स्थावरप्रायोग्यरसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयभागमितत्वेऽपि तत्प्रथमवर्गमूलतोऽसंख्येयगुणत्वान्नानाजीवद्विगुणवृद्धिहानिस्थानान्यसंख्यलोकप्रमितानि ज्ञायन्ते । तद्यथा-यदि एकद्विगुणवृद्धिहान्यन्तरालवर्तिस्थानानि स्थावरप्रायोग्यसर्वरसबन्धस्थानानां रूपोनप्रथमवर्गमूलप्रमितानि

स्युः, तर्हि एकद्विगुणवृद्धिहान्यन्तरालवर्तिस्थानानि नानाद्विगुणहानिस्थानानि च तुल्यानि स्युः, नानाद्विगुणवृद्धिहानिस्थानानि चासंख्येयगुणानि दर्शितानि, अतस्तदभिप्रायेण तत् प्रथमवर्गमूलतोऽसंख्येयगुणानि नानाद्विगुणवृद्धिहानिस्थानानि द्विगुणहानिवृद्ध्योरन्तरालस्थानानि तु तत्प्रथमवर्गमूलतोऽसंख्येयगुणहीनान्यसंख्यलोकप्रमाणानि च सिध्यन्ति ।

षष्ठं द्वारं यवमध्यम्, यथा यवस्य मध्यभागः पृथुलो भवति तथा यद्रसबन्धाध्यवसायस्थानं जीवापेक्षया पृथुलं भवति, शेषस्थानेभ्योऽधिकजीवास्तत्र भवन्ति, तत्स्थानं यवमध्यस्थानमुच्यते रसबन्धाध्यवसायस्थानानामसंख्येयतमे भागे यवमध्यस्थानं भवति, यवमध्यतोऽधस्तनस्थानानि स्तोकानि, तत उपरितनानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि भवन्तीति । आदिस्थानतः सर्वस्थानानामसंख्यभागमात्राणि स्थानानि गत्वा यवमध्यस्थानं भवति । अत्राष्टसामयिकरसबन्धाध्यवसायेभ्य उभयपार्श्वस्थितसप्तसमयादिकाध्यवसायानां यदसंख्येयगुणत्वं तत् यदावलिकाऽसंख्येयभागगुणं स्यात् तर्हि अष्टसामयिके जीवयवमध्यं प्राप्यते, असंख्यलोकादिगुणकत्वे तु द्विसामयिकाध्यवसायेषु एव जीवयवमध्यं प्राप्यत इति । एकजीवापेक्षया तु वृद्धिप्ररूपणा यवमध्यश्च न सम्भवतः, इति न तन्निरूपणावकाशः ।

एकजीवापेक्षया रसबन्धाध्यवसायस्थानानामष्टसामयिकादिभेदभिन्नानां स्पर्शनाकालस्याल्पबहुत्वं सप्तमद्वारे दर्शनीयम्, अत्र चतुःसमयादिषु यथोत्तरं समयवृद्ध्या ततः समयहान्या यावद् द्विसामयिकान्तेष्वध्यवसायेषु त्रसाः स्थावराश्च भवन्ति अतस्त्रसस्थावरजीवापेक्षया न स्पर्शनाया भिन्ना प्ररूपणा । एवं चरमद्वारे जीवाल्पबहुत्वेऽपि विज्ञेयमिति ।

सप्तमाष्टमद्वारद्वयस्य रसबन्धाध्यवसायेषु निरूपणं मूलप्रकृतिबन्धवद् भावनीयम्, स्थानाऽशून्यार्थमल्पबहुत्वं दर्शयामः—एकजीवस्यातीतकाले द्विसामयिकाध्यवसायानां स्पर्शनाकालः सर्वस्तोकस्ततः प्राथमिकेषु चतुःसामयिकाध्यवसायानां स्पर्शनाकालोऽसंख्येयगुणः । तथा यवमध्यत उपरितनेषु चतुस्सामयिकाध्यवसायानां स्पर्शनाकालस्तावन्मात्र यावन्मात्र आद्येषु चतुःसामयिकेषु । ततो यवमध्येषु स्थानेष्वष्टसामयिकेषु स्पर्शनाकालोऽसंख्येयगुणः । ततः कण्डकस्योपरिवर्ति-चतुःसामयिकस्थानसंघातरूपस्योपरितनेषु स्थानेषु त्रिसामयिकेष्वित्यर्थः, स्पर्शनाकालोऽसंख्यगुणः । ततो यवमध्यस्याधस्तात् पञ्च-षट्-सप्तसामयिकेष्वसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः ।

ततः क्रमशो यवमध्यादुपरितनेषु कण्डकाच्चतुःसामयिकस्थानसंघातरूपादधस्तनेषु पञ्च—षट्—सप्तसामयिकेषु स्थानेषु तावन्मात्र एव स्पर्शनाकालो यावन्मात्रः पाश्चात्येषु पञ्च-षट्—सप्तसामयिकेषु । ततोऽष्टसामयिकस्थानसंघातरूपस्योपरितनेषु द्विसामयिकपर्यन्तेषु सर्वेषु स्थानेषु यः स्पर्शनाकालः स विशेषाधिकः । ततो कण्डकस्य यवमध्यस्योपरिवर्तिचतुःसामयिकस्थान-

तद्रूपस्याधस्तात् सर्वेष्वपि जघन्यचतुःसामयिकपर्यन्तेषु स्पर्शन लः समुदितो विशेषाधिकः ततोऽपि सर्वेष्वपि स्थानेषु स्पर्शनाकालो विशेषाधिकः। हेत्वादिभावना तु केषुचित्स्थानेषु स्पष्टतयाऽवगम्यमानेऽपि केषुचित्स्थानेषु स्पष्टतयाऽनवगमान्नोक्ता। श्रुतविद्भिश्च श्रुतानुसारेण सा पूर्वापरमनुपयुज्य सहेतुका निरूपणीया, अत्र स्थाने तत्स्थापनीया चेति विज्ञापयामः। यथा स्पर्शन लाल्पबहुत्वमेकजीवस्यातीतकाले, तथैवाऽध्यवसायेषु जीवानामल्पबहुत्वमपि प्ररूपणीयम्। तत्समानत्वात्। आयुष्कचतुष्कमाश्रित्य त्वष्टसु द्वारेषु विशेषो न दर्शितः, स स्वयं परिभावनीयः सुगमश्चेति ॥१७४॥

तदेवमुत्तरप्रकृतिरसबन्धे पञ्चमाधिकारेऽध्यवसायसमुदाहारे द्वितीयं जीवसमुदाहारं ना द्वारं समाप्तम् तत्समाप्तावध्यवसायसमुदाहारसंज्ञकः पञ्चमाधिकारः समाप्तस्तन्निरूपिते च गत उत्तरप्रकृतिरसबन्धाधिकारः।

एतदेव दर्शयन् रसबन्धरूपखण्डग्रन्थापेक्षया-ऽन्तिममङ्गलं रान्तरेण पुनर्मध्यममङ्गलमेव कुर्वन्नाह—

सिरिपंचासरमंडणपासपहुपसायओ परिसमत्तो ।
मुणिवीरसेहरेणं बंधविहाणम्मि रसबंधो ॥१८०॥

(प्रे०) निगदसिद्धा ॥१८०॥

तदेवं रसबन्धः समाप्तः ॥



टीकाकृत्प्रशस्तिः *

ऐन्द्रश्रेण्याभिवन्द्यं हृदयहरगिरं नाभिसूनुं जिनेन्द्रं, कापोतारक्षकारं परमभयकरं शांतिदं शांतिनाथं।
श्रीशैवेयं जिनेशं दुरितशमकरं योगिवृन्दे वरेण्य, पार्श्वेशं त्रैशलेयं चरमजिनवरं भक्तिभावेन वन्दे
॥१॥ (स्रग्धरा)

भव्येभ्यः सुखदां जिनेन्द्रमुखजां वाचं निशम्योन्नतां, प्रव्रज्यां प्रतिपद्य वीरविभवे येनाऽर्पितं जीवनम्।
यन्नामाऽपि निहन्ति पापतिमिरं मार्तण्डरश्म्योघवद् ; वन्देऽहं गुरुगौतमादिगणिनां वृन्दं सदा
तन्मुदा ॥२॥ (शार्दूल०)

भव्यप्राणिसरोरुहाकरविकासार्कप्रभासंनिभा, आसन ये व्रतिनां महाव्रतमहारक्षाविधौ तत्पराः ।
पूज्यैर्यैः प्रविनिर्मितश्च विविधप्रश्नोत्तरग्रन्थको, दानाख्या वरसूरयो विदधतु श्रेयः सतां संततं
॥३॥ (शार्दूल०)

तत्पट्टे जयति प्रशस्तचरणः श्रीप्रेमसूरिप्रभुः सेव्यः सार्धशतद्वयाधिकमुनिव्रातेन वात्सल्यभूः ।
कर्मव्रातविदारणैकसुभटः सर्वत्र वै सम्मतः कर्मग्रन्थविचारणेऽतिचतुरः सिद्धान्तपारङ्गतः ॥४॥
(शार्दूल०)

सद्व्याख्याने वचनविभवो न्यायविद् यस्तपस्वी, योगे शूराः सुभटसदृशाः साधवो यं श्रिताश्च ।
येनापास्तं युवजनतमो ज्ञानदानप्रवृत्त्या, नः सूरीशो जयति भुवनाग्रः स भानुर्गणीशः ॥५॥
(मन्दाक्रान्ता)

स्थविरस्सद्गणी चापि, प्रवर्तको गुणालयः । गणावच्छेदको यश्च गच्छे श्रीप्रेमसूरिणः ॥६॥
पद्मविजय-सत्संज्ञः साधुशिक्षासमर्पकः । नमामि तं त्रियोगेन सहिष्णुशेखरं सदा ॥७॥
प्रेमप्रभाविवृत्ती रचिता मुनिना जितेन्द्रविजयेन । अस्योत्तरप्रकृतिरसबन्धप्रथमाधिकारस्य ॥८॥

यो बाल्येऽपि भवोदधेर्मम पिता मे चाशुनिस्तारकश्चारित्रप्रतिपालने मयि सदा यस्यामितप्रेरणा ।
संसारार्तिनिवारणान्निजपदं चक्रे कृतार्थं च यो भूयान्मुक्तिपथे मदीयगुरुराट् श्रीधर्मघोषाभिधः॥९॥
(शार्दूल)

सच्चारित्रचुडामणिप्रशमभृच्छ्रीप्रेमसूरीश्वराशिर्वादाप्तधिया शिवेच्छुजयघोषाख्येन सुसाधुना ।
भूयस्कारमुखाधिकारविवृत्तिः प्रेमप्रभानामभृत् । व्याख्यातोत्तरकर्मणः प्रकृतिबन्धेऽनुभागस्य हि॥१०॥

श्रीजम्बूसूरिवैराग्यमपट्टुभिः शमादिगुणदीप्तैः । धर्मानन्दव्रतिना जितेन्द्रविजयेन संयमिना ॥११॥
(आर्या)

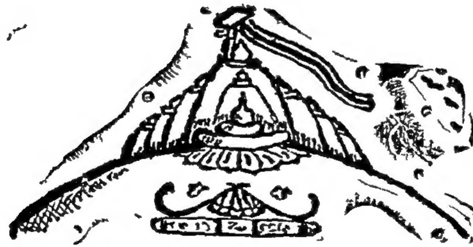
प्राज्ञविजयान्वितजगच्चन्द्रश्रीवीरशेखरमुनिभ्याम् , यत्नात् शुद्धिर्विहिता विचक्षणैः सोपयोगैश्च ।।१२।

सर्वज्ञागमतो यत् किञ्चिद् वितथं तथाऽपि ग्रन्थेऽस्मिन् , स्यादुक्तं तच्छोध्यं बहुश्रुतैर्मयि-
विधाय कारुण्यम् ।।१३।। (गीति·)

ग्रन्थनिर्माणकार्येस्मिन् पाथोधिमन्थनोपमे। सहाया मुनिराजा ये तान् स्मरामोऽत्र सादरम् ।।१४।।
(अनुष्टुप्)

नीरक्षीरविवेकेन विज्ञाः सारजिघृक्षवः, ग्रन्थं कृतार्थयन्त्वेनमिति विज्ञापनाऽस्ति नः ।।१५।।
(,,)

आगमवितथोक्तस्याऽहं मिथ्यादुष्कृतं प्रवितरामि, अस्या निर्माणे यत् कुशल सर्वे तकेन
सुखिनः स्युः ।१६।। (गीति·)



* द्रव्य हायकृत्प्रशस्तिः *



अस्तीह गुर्जरदेशेऽनेकाश्चर्यरत्नाकरं रत्नाकरजलप्रक्षालितपादं पादार्धपूर्णलक्षाधिपतिमहेभ्यसेवित-पूजित-सत्कृतानेकानेकजिनबिम्बालङ्कृतागणितदेवाधीश्वरगृहमंडितं मंडितभूमंडलतलशोभावर्धकश्रीमत्स्थम्भनपार्श्वनाथप्रतिमासनाथं दुरितापहारकृदनेकधर्माराधनस्थानसुशोभितश्रीकं श्रीस्थम्भनपुराभिधानं नगरम् ।

यत्र प्रतिदिनवर्धमानधर्मभावनालङ्कृतमहेभ्य-जनप्रार्थिताः विशालमुनिवृंदोपास्यमानचरणकमलाः रत्नत्रयाराधनोत्कर्षजनितसज्जनहृदयानन्दाः रत्नत्रययोगक्षेमकुशलमतयः उद्योतितजिनशासनाः श्रीमन्तो **प्रेमसूरीश्वराः** महताडम्बरेण भक्तगणकृतप्रवेशमहोत्सवाः मुनिजनसंयमश्रावकगणधर्मभावनाभिवृद्धिमभिसंधाय सुविशालमुनिवृन्देण सह समवसृताः चातुर्मासार्थं संवत्गुप्तिनेत्रेन्दुनेत्रवर्षे ।

प्रवर्त्तिता नैके कल्याणकादिपर्वमहोत्सवा जिनमंदिरेषु । सज्जीभूता बहवो जैना विविधधर्मानुष्ठानाराधनाय । समारब्धा दान-शील तपोभावनाविषयकधर्मोपदेशाः । किंबहुना ? सर्वोपकरणपरिवारमादायातिथिभूतः धर्मसुवर्णयुगः ।

एवं व्यतीत आषाढचातुर्मासे समागता कार्त्तिकचातुर्मासी, साप्येवमेव समाक्रान्ता, तत प्रादुर्भूता फाल्गुनचातुर्मासी शीतकालीनहृस्वदिनहृस्वीभूतस्वाध्यायोत्पन्नसाधुजनखेदजलपरिशोषणाशयेव संप्राप्ता ग्रीष्मर्तु लक्ष्मी, दुर्जनमनःपरितापचिकीर्षुरिव तेजसा प्रज्वलितः सहस्ररश्मिः ।

अत्रान्तरे वैशाखकृष्णैकादश्यां मत्सरीव वसुधराविभूषां दृष्ट्वा प्रकटीभूतो देवदूतः भोगविलासकर्दमाशुचीभूतस्वर्लोकं पवित्रीकर्तुमना इव विज्ञप्तुं सूरीश्वरं पादधारणार्थं देवलोके । स्वीकृतविज्ञप्तय इव सूरीश्वराः झटितिगन्तुमना इवापवर्गे विमुक्तरागा इव पौद्गलिकदेहे निर्लिप्त इव भक्तगणेषु प्रचलितुं लग्ना स्वर्लोकं प्रति । अपहृतसर्वस्वमिव गतजीवितमिव अकाण्डापदागमनमिव विलक्षीभूतं समस्तं नगरम् । विरहवेदनापाकरणार्थं च निर्मापिता नित्यदर्शनार्थं गोक्षीरशुभ्रपाषाणदेवकुलिका । प्रतिष्ठापिता च **श्रीमत्प्रेमसूरीश्वरसद्गुरूणामेका** जनमनश्चमत्कारिणी-दुरितापहारिणी-शोकविदारणीदेहप्रमाणा मूर्त्तिः महताडम्बरेण । अपि च निर्मापितमेकं तदीयसुगुणगणनित्यस्मरणजनकं सुविशालं स्मृतिमंदिरं तदीयदेहज्वलनज्वालितदोषभूभागोपरि, प्रतिष्ठापिता च तत्र भव्यजनहृदयाह्लादनर्धिका चरणपादुका ।

संजातश्च श्रीसंघसदस्ययोः दलालोपाह्व डाह्याभाइपुत्र मूलचन्द्र-शाहोपाह्ववजेचन्दात्मजरमणलालयोः स्वर्गतपूज्याचार्यवर्यभक्तिभरसभरहृदययोः सुकुलजन्मनोः जिनधर्मश्रद्धालङ्कृतान्तःकरणयोः नानाविधधर्मानुष्ठानपरायणयोः पुण्योपार्जनाभिलाषः, श्रीमत्प्रेमसूरीश्वरनिर्मापित-संशोधित नूतनग्रथितकर्मसिद्धान्तप्रतिपादनपेशल 'बन्धविधान' नामकमहाकायग्रन्थांशमुद्रापणाय, वितरितं च महादानं स्वभुजबलोपार्जितद्रव्यकोशात् ।

तदेवं स्थंभनपुरवास्तव्यश्रीसंघसदस्ययुगलमाहात्म्येन मुद्रित प्रकाशितोऽयं ग्रन्थांशः चिरं जयताद् यावच्चन्द्रदिवाकरम् । इति ।

